

चन्द्रकान्त

वेदान्त ज्ञान का मुख ग्रन्थ

3

इच्छाराम सूर्यराम देसाई

॥ चन्द्रकान्त ॥

वेदान्त ज्ञानका मुखग्रन्थ

तीसरा-भाग

चतुर्थ प्रवाह—हिमगिरि की पर्णकुटी

इच्छाराम सूर्यराम देसाई

आर्यावर्त संस्कृति संस्थान

दिल्ली-110094

प्रकाशक : आर्यावर्त संस्कृति संस्थान
बी–216 चन्दू नगर, करावल नगर रोड
दिल्ली–110094

आवरण : जगमोहन सिंह रावत

शब्द-संयोजन : संजय कम्प्यूटर्स
बी-219 चन्दू नगर, दिल्ली-110094

मुद्रक : बी. के. ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

पुष्पांजलि

श्रीसद्गुरु ब्रह्मनिष्ठ श्री अच्युतानन्द स्वामी

आप सद्गुरुवर्य के कृपाकटाक्ष से मैं अद्वैतामृत–रस का आस्वादी बना हूँ। आपकी कृपा से ही अद्वैतात्मदर्शन के प्रति मेरी वृत्तियों की प्रवृत्ति होने लगी है। उसमें लीन होने की भावना होती है। आपने ब्रह्मामृत की वृष्टि से मेरे नीरस हृदयक्षेत्र को सरस बना के उपदेश द्वारा जिन पारमार्थिक बीजों का मेरे हृदय क्षेत्र में वपन किया था, वे ही समय पाकर अंकुरित और नवपल्लवित हुए हैं। इस प्रकार यह आपकी ही विभूति है। उसे मैं आपके पवित्र चरणकमलों में शिष्यभाव से पुष्पांजलि के रूप में समर्पण करता हूँ। आप जहां विराजते हों वहां इसका स्वीकार करते मुझे कृतार्थ करेंगे।

आपका अनृणी शिष्य

इच्छाराम सूर्यराम देशाई

'चन्द्रकान्त' के तृतीय भाग–ग्रन्थकार की प्रस्तावना

आर्यावर्त की पवित्र भूमि में अभेदतत्त्वरूप दिव्यप्रसाद की जो झांकी हुई न हुई हो रही है वह आजकल नूतन स्वरूप में धुंधला दर्शन देने लगी है। राज्य में, व्यवहार में, धर्म में, गद्य-पद्यात्मक काव्यप्रबंध में, समाचारपत्रों के शुष्क लेखों में, शास्त्रीय शोधन में, युद्ध के अनुमोदन में और विद्या के पठन-पाठन में अभेद की झांकी सुघड़ाई और सुंदरता से गुप्त रसवाली देखने में आती है और इससे अभेद के विलासी आनंद पाये बिना नहीं रह सकते। व्यवहार की अनेक प्रकार की प्रवृत्ति होती रहने पर भी विश्व में विहार करने वाले प्राणी के हृदय में एक तरह की नयी भावना किसी रसमय एकान्त में अथवा डेढ़सयानी दुनिया की दौड़धूप में प्रकट हुए बिना रह नहीं सकती, कि इस दुःखदायी संसार की राग-द्वेष-क्लेश वाली–स्थिति का त्याग कर किसी उच्चतर स्थिति में प्रवेश हो, तो ही जन्म लेना सार्थक है। सांप्रत विलासव्यवहार कुशल अथवा परमार्थकुशल के हृदय में रमी हुई यह वासना ऐसी दृढ़ लिपट गई है कि सांप्रत ऐहिक अवदशा का नाश कर उच्चतर दैवी अवस्था का प्राप्त होना उचित है। इसीलिये अनेक प्रकार के व्यामोहक प्रयत्न चल रहे हैं परन्तु बाह्य भेद का प्रविलाप आंतरिक आनंद के लिये करना चाहिये, इसके लिये थोड़े ही प्रयत्नशील दृष्टि आते हैं। विश्वास से बुद्धि के बल पर और बुद्धि से अविश्वास के योग्य मूर्ख और अपनी घातक, परिणाममलिन वासना, मलिन वासना से व्यावहारिक प्रेम में मस्त बनने से, घातक राग-द्वेष और सदा का क्लेशकारी व्यवहार अनुभूत होता है। आर्ष ऋषि महात्माओं ने व्यवहार परमार्थ की जो प्रणाली बांध कर भेद में से अभेद का दर्शन साक्षात् कराया है और 'उच्चतर स्थिति का स्थान कौन सा है,' इसे परोक्ष रीति से दर्शाया है, इतना होने पर भी व्यवहारकुशल जन बुद्धि के आलाप-सलाप में ऐसे जकड़ गये हैं कि शुद्ध उच्चतर स्थिति प्राप्त करने के लिये जिस श्रम, जिस साधन और जिस संपत्ति को प्राप्त करने की आवश्यकता है, (जिसमें बुद्धि भी प्रविलाप पा जाती है और तब ही परम विशुद्ध उच्चतर स्थिति प्राप्त होकर शुद्ध चेतन प्राप्त हो सकता है) उसके अज्ञान से शुद्ध मार्ग की दुर्दशा ही हो रही है। आजकल धर्म और ज्ञान के नाम से मनुष्यवर्ग को अधम स्थिति में विशेष गहरा उतारने वाले बुद्धिविलास के खेल खेले जाते हैं और भौतिक अनर्थो पर मनुष्यवर्ग की श्रद्धा चिपटती जाती है। परन्तु मन और शरीर के व्यवहार के परे परम तत्त्व की जो सुघड़ सुन्दरता दिखायी देकर व्यवहार मात्र को उच्चतर स्थिति में पहुंचा देता है, ऐसे अभेद तत्त्व के लिये जीवन के सार्थक होने की वासना होने पर भी बहुत ही थोड़े जन मंथन करते हैं। नियमित मार्ग में अंधे की तरह एक दूसरे के कंधे पर हाथ रखकर भेड़चाल चले जाते हैं,

फल बहुत तुच्छ मिलता है पर संतोष बहुत मानते हैं। ऐसी स्थिति में से जो जिज्ञासु है, जिसको परम भावना है, जो सायुज्य का अभिलाषी है, उसको शान्ति देनेवाला 'चन्द्रकान्त' मणि हिमगिरि की पर्णकुटी में से प्रकट होता है।

व्यवहार परमार्थ का द्वार है। व्यवहार में रहने से परमार्थ प्राप्त हो सकता है। 'तत्त्वज्ञान का गूढ़ तत्त्व, अभेदत्व की रूपरेखा सुलभता से कैसे प्राप्त हो सके, लोकरुचि को साम्प्रत निर्माल्य रुचि में से पीछे लौटाकर विशुद्ध रुचि कैसे करायी जा सके और उच्चतर स्थिति की आकांक्षा कैसे पूर्ण हो सके,' इसके लिये यथामति सरल प्रयत्न तीन ग्रंथों में किया गया है। पित्तप्रकोप की शान्ति शर्करा से होती हो तो फिर पटोलपत्र का प्रयोग क्यों किया जावे? उपनिषदादि ग्रन्थ जहां ज्ञानियों के लिये भी क्लेशसाध्य हैं, वहां ऐसे ग्रंथ सुकुमार बुद्धि के जिज्ञासु जनों को तत्त्व वस्तु का बोध करा सकते हैं। उनमें भी अभेद-अद्वैतात्मदर्शन है, और इसमें भी वही है। वस्त्रालंकार भिन्न है, यही भेद है। जिस अभेद दर्शन ने आर्यावर्त के पूज्य पुरुषों को उन्नत स्थान में रखा है, उसमें और तत्त्व वा शास्त्र, नीति वा धर्म, आत्मा वा अनात्मा, चेतन और जड़ इनमें कुछ भी भेद ही नहीं, परन्तु इस अभेदभावना से जो व्यवहार में अलिप्त रह सके तो राज्यव्यवहार, कला और शास्त्र सबमें सर्वोपरि हो। जिस क्षणिक सुख के लिये आजकल के मनुष्य उथल-पुथल कर रहे हैं, उस स्थूल और सूक्ष्म के पार पहुंचकर सच्चा सत्त्व-बल प्राप्त कर सके कि जिससे आधुनिक निर्माल्य व्यवहार में प्रकाश प्रकट होकर कोई नया ही रंग दिखा सके। वर्तमान समय में जिन विडंबनाओं से आर्यावर्त तथा सारा जगत् पीड़ित है, उसका मूल कारण अभेदभाव का त्याग और भेद में लोलुपता ही है, जो मनुष्यमात्र शान्ति और मुक्ति के लिये उत्सुक हो, जिज्ञासु हो तो उनका विषय स्वार्थ के त्याग और परमार्थ के पूजन में समाया हुआ है। अभेदभाव और तत्त्वदर्शन को व्यवहार से भिन्न मानने का परिणाम ही जगत् की विडंबना और क्लेश का कारण है। शुद्ध शान्ति और मुक्ति प्राप्त करने के लिये और व्यावहारिक विडम्बनाओं को क्षीण करने के लिये, कुतर्कों का जो जाल फैल रहा है उसे तत्काल कोशकार कीट (रेशम के कीड़े) के कोश के समान समेट लिया जायेगा तो सच्चे सुख का भोक्ता बना जा सकेगा। क्योंकि अद्वैत आत्मदर्शन की चमत्कृति भव्य और असीम है, सामर्थ्य देती है और सुस्थित कर सकती है, जो पुरुष जलकमलवत् सांप्रत प्रवृत्ति को समस्त भावनाओं से अलिप्त रखता है, वही उसमें से बच सकता है। सर्व सामर्थ्य की प्राप्ति के लिये आत्मा शुद्ध, प्रपंचरहित और स्वार्पण करने वाला होना चाहिये, व्यष्टि भावना का समष्टि में आविर्भाव करना चाहिये और यही जीवन, प्रेम-सुख सबका परम फल देता है। जिसको अभेदभावना सिद्ध है उसके हाथ गिरिनार की अमरकुप्पी है और हिमगिरि के महात्मा के शिष्य सुविचार शर्मा का स्पर्शमणि है। वह जो इच्छा करे वही पा सकता है जो चाहे सो करने को बलवान् है, जिसने समष्टि के प्रगाढ़ तत्त्व को

समझा है, वह किसी काम के करने को असमर्थ नहीं है।

चन्द्रकान्त के चतुर्थ प्रवाह में हिमगिरि के महात्मा योगीन्द्र मुनि ने सुविचार और उसकी सहचरी प्रकट प्रज्ञा को जो ज्ञान प्राप्त कराया है, उसका शुद्ध हेतु यही है कि जो सुविचारशील है, उसकी सदासंगिनी अर्धांगना प्रकटप्रज्ञा है। क्षणभर भी दूसरे का वियोग नहीं होता, जहां सुविचार और प्रकटप्रज्ञा एकरस है, वहां द्वैत का आभास ही नहीं। जहां द्वैत का आभास ही नहीं, वहां स्वयं योगीन्द्र मुनि पधारकर परम अद्वैत आत्मदर्शन का लाभ देते हैं और उसमें सकल सुख की परम अवधि है। जहां सुरुचि और सुमति है वहां ही उत्तानपाद है। और जिसका पद ऊंचा है वही ध्रुव और उत्तम पुत्र (फल) प्राप्त कर सकता है। श्रीमद्भागवत के ध्रुवाख्यान में से जो रहस्य लेना है, वह भी यही है। तदुपरांत हिमगिरि की पर्णकुटी में से बहता हुआ अभेदभावना का अमरस्रोत भी यही दिखाता है कि 'व्यवहारकुशल पुरुष के हृदय में जब तक मलिन वासना का अंश होगा, तब तक वह चाहे जैसा जिज्ञासु होने पर भी वह परम सत्त्व की, परब्रह्म की प्राप्ति का अधिकारी न हो सकेगा।' इस अधिकारी पद को प्राप्त करने के लिये भेदरूप मलिन वासना का तथा बंध का सर्वांश में लय करना चाहिये; क्योंकि उनका लेश भी क्लेशसागर में इतने नीचे डाल देता है कि जैसे महासागर में मगरमच्छ के मुख में एक अंगुली पड़ जाने से वह सारे शरीर का नाश कर देती है, वैसी ही व्यवहार की मलिन वासना जीवन में किये हुए अनेक सुकृत होने पर भी पीछे ढकेल देती है। जब तक मलिन वासना को क्षीण करने के लिये श्रम नहीं किया जाता तब तक वह अपने पंजे में से मुक्त नहीं कर सकती। इस मलिन वासना का पराजय करने के लिये प्रणव ब्रह्म की तान में गुलतान होने का प्रयत्न करना चाहिये और द्वैत की धुन को बुहार झाड़ कर हृदय मन्दिर को स्वच्छ करके अद्वैत के इश्क में मस्त होना चाहिये। यह मस्त ही "अहं ब्रह्मास्मि", वही जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त भी वही हे।

चन्द्रकान्त में से निकले हुए प्रवाह में स्नान करके अनेक जिज्ञासु आधिव्याधिरहित बने होंगे। उन्हें यह चतुर्थ प्रवाह विशेष आनन्द देगा और इसके तट पर बैठ निर्मल ज्ञानामृत का पान करते विचारेंगे तो यह परम कल्याणकारी होगा, यह मेरा निश्चय है। प्रथम के तीन प्रवाहों में कितने ही जिज्ञासुओं ने कितनी ही शंकाएं की हैं, उनके समाधान पूछे हैं, परन्तु मैं कोई गुरु नहीं, आचार्य भी नहीं, किसी को बोध करने का दावा भी नहीं करता, किन्तु मैं व्यवहार-व्यवसायी हूं, इससे जिज्ञासुओं की जिज्ञासा का समाधान करने भर का मेरे पास समय भी नहीं। इस कारण ऐसे जिज्ञासुओं से मेरी यही प्रार्थना है, कि किसी सद्गुरु के पास से अपनी जिज्ञासा का समाधान कर लें। संवाद, विवाद अथवा वितण्डवाद करने की मुझमें शक्ति नहीं और ऐसा करने की मेरी इच्छा भी नहीं। सद्गुरुकृपा से मुझे जो कुछ प्राप्त हुआ है, केवल वही मैंने कागज पर लिखकर दिखाया है। इसमें जो समझ पड़े वह पढ़ लीजिये और उसका रहस्य ग्रहण कर लीजिये, जो न समझ

पड़े उसके विषय में सद्गुरुओं के चरणों में प्रणाम कर, विवेकी बन, पूछकर संशय दूर कर लें। यह शंकाशील के लिये सुगम मार्ग है। अपने मन का समाधान करने की जिसको इच्छा है, उसे वह सहज में प्राप्त हो सकेगा, पर जिसको प्रतारणा करनी है, उसका तो अन्त ही नहीं और आजकल प्रतारकों की कमी भी नहीं।

"संत पुरुषों को सदा उपाधि से दूर भागना चाहिये। लोगों का कल्याण करने के निमित्त प्रयास करते हुए जो उसे यह जान पड़े कि लोकसंग भी क्लेशकारक और पतन का कारण है तो अपनी आत्मा की शुद्धि के लिये उसे भी त्याग कर निकल जाना चाहिये। संग आत्मा के विनाश का बीज है।"

जिन-जिन महाग्रन्थों के जिन-जिन व्याख्यानों में से जो-जो खरे संग्रह किये थे, उन सब में से अपनी बुद्धकनुसार चन्द्रकान्त का संग्रह किया है और वही प्रसादी जिज्ञासु जीवों के समक्ष रखी है। वस्तुविचार तो उन महात्माओं का ही है। केवल संग्रह मेरा है। इसमें जिज्ञासु को जो भाग उत्तम लगे वह उन महात्माओं का समझें और जो दूषित लगे उनका भागी लोकमत से मैं ही हूं और उसकी स्वीकृति में मुझे आनन्द ही है। यह जो कुछ है वह सब उन्हीं का है। मैं तो एक निमित्त मात्र हूं। आत्मदर्शन की झांकी भी अभी मुझे हुई नहीं। उस परम रूप का अनुभव तो अभी दूर ही है, किन्तु अद्वैतात्मदर्शन का सिद्धान्त समझने में भी मैं सशक्त नहीं हुआ। यद्यपि मैं एक पामर जीव हूं, तथापि अद्वैतात्मदर्शन का नया रसायन चन्द्रकान्त में से प्राप्त हो सके ऐसा किसी-किसी जिज्ञासु को जान पड़ेगा। जो अभेदत्व-अद्वैत परोक्षता से भी समझा जा सकेगा और अनुभव किया जा सकेगा ओर जीवन के व्यापार में से भी शान्ति का मार्ग प्राप्त होगा तो स्वानन्दसाम्राज्य की प्राप्ति से भी अधिक लाभ मैं मानूंगा, अन्त में यही कहता हूं कि जो एकात्मभाव के विवेकी हैं, रिपु, बंधु और शरीर सब मे समानता से देखते हैं वे कुशल रहें।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिदुःखमाप्नुयात्।।

इच्छाराम सूर्यराम देसाई

चन्द्रकान्त तृतीय भाग

ग्रन्थपरिचय

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म

"चन्द्रकान्त" ग्रन्थ की हिन्दी भाषा में यह कृति जनसमाज को सादर समर्पण की जाती है। मूल ग्रन्थ प्रातः स्मरणीय स्व. शेठ इच्छाराम सूर्यराम देसाई ने गुजराती भाषा में—तीन भागों में—रचा है। ग्रन्थ बड़ा रोचक बोधक, एवं ज्ञानप्रद है।

कोई भी कार्य करने का कुछ भी कारण अवश्य होता ही है। क्योंकि 'कारण सिवाय कार्योत्पत्ति नहीं होती,' इस नियमानुसार 'चन्द्रकान्त ग्रन्थ रचने का क्या प्रयोजन, इसमें कौन सा विषय ग्रहण किया गया है, यह ग्रन्थ किस वस्तु के साथ सम्बन्ध रखता है और ग्रन्थ पढ़ने का अधिकारी कौन है' इस अनुबन्धचतुष्टय का विचार करना चाहिये।

हमारे आर्यावर्त की संस्कृति अति प्राचीन है। इतनी प्राचीन है कि जिसकी संख्या वर्षों में नहीं दी जा सकती। सूर्य और चंद्र स्रष्टा ने जब सर्जे तब उनके साथ ही आर्यावर्त की उच्च संस्कृति भी निपजी, जिसके उदाहरणरूप, वेदवेदाङ्गादि षट्शास्त्र, अष्टादश पुराण एवं श्रुति स्मृतियां आज भी विद्यमान हैं। परन्तु 'कालो जगद्भक्षकः' इस विधानानुसार परिवर्तनशील इस विश्व में काल बल से इस संस्कृति का दिवसानुदिवस ह्रास होता गया-होता जा रहा है- न जाने अभी भी इसका कितना ह्रास होगा!

इस संस्कृति को निबाहने के लिये आर्ष ग्रन्थों का पठनपाठन अत्यावश्यकीय है; लेकिन आज इस बात की किसको पड़ी है! तिस पर भी उच्च ज्ञान प्राप्त कर 'निर्माणमो जितसंगदोषाः' बनना तो दुनिया में रहते हुए व्यवहारबद्ध जनों के लिये कठिन है तो फिर अध्यात्मज्ञान की तो बात ही कहां? "अध्यात्मविद्या विद्यानाम्" अध्यात्मज्ञान ही मुख्य विद्या है, वही कल्याणकारी है। 'इस जीव का आवर्जन विसर्जन मिटकर मोक्षप्राप्तिरूप पुरुषार्थ इसके बिना साध्य नहीं,' यह 'प्रयोजन' दृष्टि समक्ष रखकर इस ग्रन्थ की रचना ग्रन्थकर्ता ने की है, और वेदान्त की जटिल समस्याएं, वेदान्त के अति गूढ़ प्रश्न सामान्य—लौकिक या व्यावहारिक, पौराणिक और वैदिक दृष्टान्तों द्वारा हल किये हैं। परमात्मज्ञान कूट-कूट कर इसमें भर दिया है।

वेदान्त की बातें करनी सहली हैं, लेकिन नियमों का पालन (वेदान्त का ज्ञान होने पर भी) करना व तदनुसार आचरण करना बड़ा कठिन है। और भी अन्य कई कारणों से वेदान्त रूक्ष मालुम होता है, इसलिये उसकी चर्चा करने की भी किसी को इच्छा नहीं होती। लेकिन यहां पर यह बात सर्वथा विरुद्ध

मालुम होती है। वेदान्त का विषय रूक्ष होने पर भी ग्रन्थकर्ता ने यह पुस्तक लिखकर हिन्दी भाषा के साहित्य में बड़ी हलचल पैदा कर दी है, और बड़ी कमाल की है। सचमुच यह 'वेदान्त का मुख ग्रन्थ है' ऐसा कहने में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं। ग्रन्थ पढ़ते-पढ़ते मन इस विषय में तरबतर हो जाता है और वाचक को यह भी ख्याल नहीं रहता कि वह उस समय किस दुनिया में विचरता है। प्रकरण पीछे प्रकरण पढ़ते ही जाइये, जरा भी समय इसके पढ़ने के सिवाय व्यर्थ गँवाना न रुचेगा। संक्षेप में, ग्रन्थ पूरा करने पर 'किसी स्वप्नसृष्टि में से फिर इस दुनिया में किसी ने ला कर डाला हो' इस बात का भान होने पर जीव को यह विचार पैदा होता है कि 'सच क्या?' इसका उत्तर आप ही आ मिलता है कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।' इस ग्रन्थ का 'वेदान्त विषय है,' यह भी अब समझ में आया। समस्त प्राणियों के साथ इसका 'सम्बन्ध' है और मुमुक्षु इसका 'अधिकारी' है।

यद्यपि यह ग्रन्थ तीन भागों में निर्माण किया गया है तथापि यह जतला देना यहां पर जरूरी है कि प्रत्येक भाग एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं तो भी ग्रन्थप्रवाह अविच्छिन्न है। कोई भी भाग प्रथम पढ़ना प्रारम्भ करने मे विषयभंग नहीं होता। 'प्रथम भाग पढ़ने के पीछे ही दूसरा और तत्पश्चात् तृतीय भाग पढ़ने से ही अन्य ग्रन्थों के अनुसार उसका सिलसिला बँधा रहता है' ऐसा इस ग्रन्थ के विषय में नहीं है। मात्र यह ग्रन्थ अति विस्तृत होने के कारण और वाचने में सुभीता रहे इस दीर्घ दृष्टि से ग्रन्थकर्ता ने इसके तीन भाग किये हैं।

ग्रन्थकर्ता ने इसके चतुर्थ भाग का लेखनारंभ किया था लेकिन ग्रन्थकर्ता कालवश होने की वजह से इसका चतुर्थ भाग तैयार न हो सका। अतः चतुर्थ भाग के विषय में इतना ही कथन पर्याप्त है ऐसा मैं मानता हूं। चतुर्थ भाग प्रकाशित होने की अब कोई संभावना नहीं है। यह ग्रन्थ तीन भागों में ही सम्पूर्ण होता है।

इस तीसरे भाग के—चतुर्थ प्रवाह में—हिमगिरि की पर्णकुटी, तत्त्वानुसन्धान—ये दो मुख्य प्रकरण हैं। प्रथम प्रकरण मे बालयोगी को महात्मा का दर्शन होता है। बालयोगी-इन महात्मा गुरु की प्रसादी से अध्यात्मज्ञान प्राप्त करता है और स्त्रियों के लिऐ प्रतिसेवातत्त्व का महिमा का गुरुजी बोध करते हैं। यह बालयोगी ही छद्मलिंग के नाम से ज्ञान ग्रहण करता है। छद्मलिंग यानि 'जिसका चिन्ह गुप्त है' ऐसी यह स्त्री अपने पति की—जो कि इस अपनी ही स्त्री के कुछ कटु वचनों से उद्विग्न होकर, जगत्प्रति औदासीन्य प्राप्त होने से एक अन्य गुरु के पास से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करता है-शोध में निकली है, और अन्त में इस दम्पती का एक ही गुरु के आश्रम में मिलाप हो जाने से वे दोनों एक ही स्थल पर अन्तेवासी बनकर 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का गंभीर अर्थ समझते हुए ज्ञानसमाप्ति पर्यन्त गुरुसेवा में दिन निर्गमन करते हैं। यही छद्मलिंग फिर 'प्रकटप्रज्ञा' नाम से प्रकाश में आती है और अपने पति सुविचारशर्मा की सहधर्मचारिणी बनी रहती है। यह बात स्मरण में

रखनी चाहिये कि महात्मा गुरुजी इस छद्मलिंग की नारी जाति यानि 'यह एक स्त्री है,' ऐसा समझ ही जाते हैं तिसपर भी गुरुजी इस बात का भ्रम अंत तक संभाल रखते हैं, और अंत में इसका स्फोटन होते ही यह दंपती आश्चर्य से दिंग हो जाता है और गुरुजी की प्रसादी से अपने को कृतकृत्य हुआ मानता है।

इसी प्रकरण में यह भी समझाया है, कि 'मनुष्य के हृदय में आशा नामक तत्त्व जन्म से ही साथ में आता है।' और सच पूछो तो आशा से ही उसके तन्तुपर मानव अपना जीवन निर्गमन करता है यानि आशा से ही मनुष्य जीता है, लेकिन उसका अतिरेक होने से मनुष्य विपत्ति भोगता है। इस आशा डाकिन का जो एक भी बार पाला पड़ा तो अपने जो जीये जी मरा ही समझो। इसके तीन पुत्र और दो पुत्रियां हैं। जिनके नाम-लोभ, मोह, काम, तृष्णा और लोलुपता-हैं। इस पांचों के वश हुए प्राणी का सत्यानाश हो जाने पर भी यह कुटुम्ब-आशा, लोभ, मोह, काम, तृष्णा, लोलुपता-माता, पुत्र, पुत्री-उसका पीछा नहीं छोड़ता। अन्त में इनके मोह में पड़नेवाला खुवार हो जाता है, यदि जो सद्गुरुप्राप्ति और सत्संग मिले तो उनसे तर भी जाता है। यह बात आशा भिक्षुकी के दृष्टांत से और उसके कुटुम्ब के प्रत्येक व्यक्ति के पृथक्-पृथक् दृष्टांत से अच्छी तरह समझी जा सकती है। किसी ने सच कहा है कि:-

" आशाया ये दासास्ते दासाः सन्ति सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः ॥"

वे मनुष्य जो कि आशा के दास हैं, वे सबके दास हैं किन्तु जिन्होंने आशा को दासी बना लिया है उनका समस्त विश्व दास है।

'निःस्पृहस्य तृणं जगत्।'

यही बात 'तत्त्वानुसंधान' नामक दूसरे प्रकरण में स्पष्टता से समझा कर उच्च कोटि का वेदान्त-जीव ब्रह्म की एकता से-समझाने का उच्च प्रकार ग्रहण किया है, लौकिक और पौराणिक दृष्टान्तों से वस्तु सरस और सरल बनी है। 'जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है' यह प्रतिपादन किया है। 'षड्रिपु किस प्रकार जीते जा सकते हैं' यह भी स्पष्ट रीति से बतलाया है। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' रक्षण किया हुआ धर्म ही धर्म का रक्षण करता है। धर्म की एक सीढ़ी चूकने से कितना अनर्थ होता है, ईश्वर सिद्धि किस प्रकार होती है, संतोष, प्रारब्ध, पुरुषार्थ ये क्या हैं इनके साथ मनुष्य का क्या संबंध है, सत्संग के क्या लाभ हैं और भक्ताधीन भगवान् इत्यादि बातें ग्रन्थ पढ़ने से ही नहीं किन्तु ग्रन्थ के अभ्यास करने से समझने में आती हैं। विशेषतः उच्च संस्कारी, उत्तम, मध्यम, प्राकृत स्त्री-पुरुषों के लिये यह अति उपयोगी ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ अपनी ही तरह का पहला और अंतिम (First and Last) है।

गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥

इस तरह के इस अनुपम ग्रन्थ का मराठी भाषा में भी तीनों भागों का भाषांतर हुआ है।

—अनुवादक

अनुक्रम

चतुर्थ प्रवाह-हिमागार की पर्णकुटी

प्रथम बिन्दु

द्वितीय बिन्दु

तृतीय बिन्दु

चतुर्थ बिन्दु

पंचम बिन्दु

षष्ठ बिन्दु

सप्तम् बिन्दु

अष्टम बिन्दु

नवम् बिन्दु



चन्द्रकान्त

तृतीय भाग

चतुर्थ प्रवाह—हिमगिरि की पर्णकुटी
महात्मा दर्शन



सुमङ्गलम्

उपहरणं विभवानां संहरणं सकलदुरितजालस्य।
उद्धरणं संसाराच्चरणं वः श्रेयसेऽस्तु विश्वपतेः ॥1॥

वैभवों को देनेवाले, सकल पापजाल को सहार करने वाले और संसार सागर से उद्धार करने वाले विश्वपति के चरणारविंद तुम्हारा कल्याण करें ॥1॥

वृन्दारण्ये चरन्ती विभुरपि सततं भूर्भुवःस्वः सृजन्ती
नन्दोद्भूताप्यनादिः शिशुरपि निगमैर्लक्षिता वीक्षितापि।
विद्युलेखावनद्धोन्नमदमॆलमहाम्भोदसच्छायकाया
माया पायादपायादविदितमहिमा कापि पीताम्बरा वः ॥2॥

व्यापक तथा भूः, भुवः और स्वः इन तीनों लोकों को उत्पन्न करने वाली होने पर भी वृन्दावन में फिरती, नंद से उत्पन्न होने पर भी अनादि स्वरूपवाली, शिशुस्वरूप होने पर भी वेदों से लक्षित तथा अवलोकित की हुई, बिजली की रेखाओं से व्याप्त हुए ऊंचे निर्मल मेघ के समान स्वच्छ कान्तिवाली और जिसकी संपूर्ण महिमा जानने में नहीं आती ऐसी पीत अंबर (वस्त्र) पीताम्बर धारण करनेवाली माया, विनाश से! तुम्हारा रक्षण करे ॥2॥

श्री शंकराचार्य विरचित

साधन पंचक

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतां
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम्।
पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसंधीयता
मात्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम् ॥3॥

वेद का नित्य अध्ययन करो, वेद में कहे हुए कर्म अच्छी तरह करो, वैदिक रीति से ईश्वर का यजन करो, काम्यकर्मो में मति न रखो, पाप के पुंज का नाश करो, संसारसुख में दोप का अनुसंधान करो, आत्मज्ञान सम्पादन करने की इच्छा का व्यवसाय करो और अपने घर में से तुरंत निकलकर वन में वास करो ॥3॥

संगः सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढ़ा धीयतां
शांत्यादिः परिचीयतां दृढ़तरं कर्माशु संत्यज्यताम्।
सद्विद्वानुपसृप्यतां प्रतिदिनं तत्पादुके सेव्यतां
ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यतां श्रुतिशिरोवाक्यं समाकर्ण्यताम् ॥4॥

तत्पुरुषो का सग करो, भगवान मे दृढ़ भक्ति करो, शम दम तितिक्षा आदि का अति दृढ़ परिचय करो, कर्मो का शीघ्र त्याग करो, अच्छे विद्वानों के समीप जाओ, प्रतिदिन उनकी पादुका सेवन करो, ॐकाररूप परब्रह्म के स्वरूप का शोधन करो, उपनिषद के वाक्यों को श्रवण करो ॥4॥"

वाक्यार्थश्च विचार्यतां श्रुतिशिरःपक्षः समाश्रीयतां
दुस्तर्कात्सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसंधीयताम्।
ब्रह्मैवास्मि विभाव्यतामहरहो गर्वः परित्यज्यताम्
देहेऽहंमतिरुझ्यतां बुधजनैर्वादः परित्यज्यताम् ॥5॥

तत्त्वमसि आदि महावाक्यो का विचार करो, उपनिषद के पक्ष का आश्रय करो, मिथ्या तर्क करना छोड़ो, श्रुति (वेद) के अनुकूल तर्क का अनुसंधान करो, "अहं ब्रह्मास्मि" इस प्रकार की भावना करो, प्रतिदिन गर्व का त्याग करो, शरीर पर अहं बुद्धि का त्याग करो, विद्वानों से वितंडावाद करना छोड़ो ॥5॥

क्षुव्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यतां
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात्प्राप्तेन संतुष्यताम्।
शीतोष्णादि विषह्यतां न तु वृथावाक्यं समुच्चार्यता
मौदासीन्यमभीप्स्यतां जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम् ॥6॥

प्रतिदिन भिक्षान्नरूपी औषधिका भोजन करके क्षुधारूपी व्याधिकी चिकित्सा करो (उपचार करो), स्वादिष्ट अन्न की याचना न करो; परंतु दैववशात् जो मिले उतने से ही संतुष्ट रहो। जाड़ा, गर्मी आदि दुःखों को सहन करो, वृथा वाक्य मन बोलो, संसार के विषयों से उदासीनता की इच्छा रखो, मनुष्यों पर अनुग्रह या निग्रह (राग द्वेष) न करो ॥6॥

एकांते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयतां
पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम्।
प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यतां
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम् ॥7॥

एकान्त में सुख से बैठो, माया से जो पर ऐसे ब्रह्म में चित्त को समाधान कर पूर्णात्मा का भली भांति अवलोकन करो, आत्मा के बिना यह संसार आदि कुछ नहीं, ऐसी दृष्टि करो, आत्मा के ज्ञान से पूर्व के कर्म का प्रविलाप न करो, उत्तर कर्म के साथ संबंध न करो, प्रारब्ध कर्म का उपभोग करो और परब्रह्म स्वरूप में स्थिति करके रहो ॥7॥

किं मधुना किं विधुना किं सुधया किं च वसुधयाऽखिलया।
यदि हृदयहारिचरितः पुरुषः पुनरेति नयनयोरयनम् ॥8॥

जिनका चरित्र हृदयहारी है ऐसे परम पुरुष का जो पुनः इन नेत्रों को दर्शन हो तो मधु, विधु, सुधा और सकल बसुधा की क्या आवश्यकता है? सर्व तुच्छ है ॥8॥

चन्द्रकान्त

तृतीय विभाग

चतुर्थ प्रवाह-हिमगिरिकी पर्णकुटी

पीठिका-महात्मा दर्शन

श्रियो दोलालोला विषयजरसाः प्रान्तविरसाः
विपद्गेह देहं महदपि धनं भूरि निधनम्।
बृहच्छोको लोकः सततमबला दुःखबहुला
स्तथाप्यस्मिन्घोरे पथि बत रता हन्त कुधियः

अर्थ—लक्ष्मी दोला के समान चंचल है, विषयरस परिणाम में नीरस है, शरीर विपित्त का घर है, विपुल संपति बड़ी मृत्यु है, लोक बड़े शोक से भरपूर है, और स्त्रियां नित्य बहुत दुःख देने वाली हैं तो भी अरे रे!! अज्ञानी पुरुष इस संसार के घोर मार्ग में ही लवलीन रहते हैं

बालयोगी

पूर्णानद पूर्ण पुरुषोत्तमश्री सर्वेश्वर प्रभु की लीला अपार है, विचित्र है, आश्चर्यमयी है, आनंददायिनी हैं यह चमत्कृति अधिकारी जनों को ठाम-ठाम और क्षण में दृष्टिगोचर होती है,

प्रातःकाल! अलौकिक प्रभात! आनंदी प्रभात! सूर्यनारायण प्रकाशित हुए हैं; कमल प्रफुल्लित हुए हैं; मनुष्य स्नान करने में, नित्य नैमित्तिक कर्म करने में और जप-तप करने में तत्पर हो गये हैं; मंद-मंद पवन बह रहा है; देवालयों में घंटानाद घननन-घननन कर रहे हैं। इस समय अविमुक्त वाराणसी क्षेत्र में 'जय शंभो! हर-हर शंभो!' की मंगलध्वनि हो रही है। हरिपादोदकी भागीरथी के किनारे पर ईश्वरी लीला पूर्णतया प्रकाशित'हो रही है। निर्मल प्रभात समय में पूर्व दिशा में से बालसूर्य की कोमल किरणें तरणतारिणी अधमोद्धारिणी पापहारिणी भागीरथी के दक्षिणोत्तर लंबे विस्तार वाले तट को सुप्रकाशित कर रही हैं। अनेक राजा महाराजा

गृहस्थ और प्रतापी पुरुषों के अपार द्रव्य व्यय कर बनाये हुए श्रीगंगाजी के सुदृढ़ और सुहावने घाट विचित्र वस्त्रालंकारों से सजे हुए स्त्री पुरुषों से भरपूर हो गये हैं; स्थल-स्थल विद्वान विप्रों द्वारा पढ़ते हुए स्नान के संकल्प प्रयोगों से गर्ज रहें हैं। भाविक जन विधिपूर्वक स्नान दानादिक कर रहे हैं; श्रद्धालु और धर्मनिष्ठ मनुष्य स्नानादिक से पवित्र होकर जल संनिध बैठ एकाग्र मन से अपने नित्य नैमित्तिक जप तप ईश्वर स्तवनादिक (स्तवन) कर्म करते हैं, और स्नान के लिये जल में उतरे हुए और घाट पर के मनुष्यों में बार-बार 'जय गंगे! हर-हर गंगे! पापहारिणी! भवतारिणी! अधमोद्धारिणी! जय जाहनवी!' इत्यादि गर्जनाएं सहर्ष कर रहे हैं,किसी-किसी स्थान पर विप्रवृन्द गंगातट पर विराजमान हुए पद, क्रम, जटा, घन, वल्ली इत्यादि वेद विकृतियों द्वारा मधुर और कर्णपावन घोष कर रहे हैं, बड़े चौड़े पाट में गंभीरपन से बहती श्री गंगाजी के निर्मल और पावन जलपर अनके छोटी बड़ी सुशोभित नौकाएं इधर से उधर गमन आगमन कर रही हैं। उनमें बैठे मनुष्य श्रीगंगाजी के प्रत्येक घाट की अलौकिक लीला को आनंद के साथ निहारते हैं। प्रत्येक सुशोभित घाट पर के किनारे पर आये हुए उत्तम-उत्तम जाति के पत्थरों से बड़े शिल्पशास्त्रनिपुण पुरुषों के हाथ से बनाये अति भव्य सुदृढ़ गगनचुंबित सुन्दर प्रासाद—महल शोभायमान हैं। सूर्यबिंब की तरह प्रकाशित असंख्य सुवर्णशिखरों वाले शिवालय तथा दूसरे देवमंदिर बहुत दूर तक सुनाई देते हुए 'जय-जय शंभो! हर-हर शंभों! जय पार्वतीपते!' इत्यादि परम पवित्र शब्दों से, शंखध्वनियों ये, घननं-घननं होते घंटानादों से तथा दुंदुभियों की गर्जनाओं से गर्ज उठे हैं। अति मनोहर और सुकोमल ऐसी भैरवी रागिनी के सुस्वर छाय रहे हैं और उनके पीछे-पीछे मधुरालाप करती हुई नौवत बाज रही है।

आज का दिन पवित्र पर्व का है, इस कारण नित्य की अपेक्षा सर्वत्र विशेष आन्नद छा रहा है। प्रतिदिन गंगापर स्नानादि के लिये न आ सकने वाले व्यवसायी किंवा अशक्त क्षेत्रवासी मनुष्य भी आज इच्छापूर्वक स्नान तथा दर्शनार्थ चले आते हैं। विदेशी यात्री जन भी बहुत दिखाई पडते हैं। अन्य घाटों की अपेक्षा मणिकर्णिका घाट पर मनुष्यों की बड़ी भीड़ हो रही है। ऐसे प्रसंग में वहां एक चमत्कार दिखाई दिया।

घाट के ऊपर मार्ग में चलने वाले लोग एकाएक आपस में ''चलो-चलो हटो-हटो'' ऐसा कहते-कहते एक ओर होने लगे और सब आश्चर्य से देखने लगे कि यह क्या मामला है? इतने में श्रीविश्वेश्वरजी के मंदिर की ओर से आती हुई एक सुन्दर तेजस्वी किशोर मूर्ति दृष्टि पड़ी। इसका अद्‌भुत स्वरूप और अप्रतिम तेज

देखते ही सबको आनंदाश्चर्य के साथ पूज्यभाव उत्पन्न हुआ। जिसने एक बार उसकी ओर देखा उसका दूसरी ओर देखने को मन ही न हुआ! ऐसा रूप, विद्युत समान चमकती चाल, थोड़ी अवस्था होने पर भी इसका तीव्र त्याग, तपतेज और अति मनोहर वेश यह सब देख स्वाभाविकही आश्चर्य पाये हुए लोग, परस्पर अनके बातें करने लगे। अहो! यह बालयोगी कहां से आया होगा? कैसा इसका सौंदर्य है! प्रत्येक अंग का ऐसा सौंदर्य और सुकुमारता होने पर इससे यह कठिन योगासाधन कैसे होता होगा? इतनी लघु वय में ऐसा परम वैराग्य कैसे प्राप्त हुआ होगा? इसके माता-पिता कि जिनका यह पुत्ररत्न है उनसे इसका वियोग कैसे सहा गया होगा? क्या यह तीव्र वैराग्य से अपने माता-पिता को रोता छोड़ वैरागी हुआ होगा, या जन्म से ही यह योगीरूप उत्पन्न हुआ होगा? अथवा ये परम योगीश्वर शंकर आप ही इस पुण्यपूर्ण पर्व के दिन बालयोगी रूप में भाविक जनों का कल्याण करने और श्री भागीरथी के तट पर विहार करने पधारे होंगे। इसका सर्वांग भस्म से चर्चित होने पर भी इसकी सुवर्णरूपी कांति उसमें से कैसी प्रकाशित हो रही है? इसके चन्द्रवत सुप्रकाशित मुख की शोभा बाल्यावस्था की तपश्चर्या के कारण कुम्हिलाये हुए कमलवत् अति अद्भुत है। इसकी बाँकी भ्रुकुटी तथा कमल की पंखुड़ी समान नेत्र, शुकतुंडवत् नासिका, चमकते हुए प्रवाल तथा बिम्बवत् लाल ओष्ठ, तीव्र तपस्या से किंचित कुम्हिलाये कपोलों पर की गुलाबी झलक, तिसपर झुकी हुई मूल में श्याम और अंतिम भाग में किंचित् भूरी विशाल जटाएं; ये सर्व वस्तु प्रत्येक मनुष्य को मोहनेवाली हैं। इसके हस्त पादतल गुलाब के पुष्पसमान लाल और कोमल हैं। तिसपर भी वह इस पाषाणमय भूमि में नंगे पांव बिचर रहे हैं! और ऐसी सुकुमारता होने पर भी अपने शरीर पर कंबल की मोटी गूदड़ी डाल रखी है! यह इनसे कैसे सहारी जाती होगी। हाथ में कमंडल और बगल की मृगछाला को भी ये कैसे उठाते होंगे? कमल के नालवत् गोरे कंठ में कमलाक्ष की बड़ी-बड़ी दानों की माला भी इनको भारी जान पड़ती होगी।

इस प्रकार परस्पर अनेक बातें करते हुए लोगों की भारी भीड़ में होकर वह अद्भूत मूर्ति मणिकर्णिका के अति सुन्दर अठमासे (बुर्जी) पर जा खड़ी हुई। उत्तम जाति के संगमरमर रचित वह घाट जिसके दोनों ओर सुंदर बैठक बनी हुई है, वहां अपनी मृगछाला बिछाकर उसपर कंबल रख कर वह बालयोगी 'जय गंगा मैया' कहकर दोनों हाथ जोड़ खट-खट चौबारे की सीढ़ीयां उतर ठीक प्रवाह के पास खड़े रहे, और अति मंजुल और पवित्र पद्य (श्लोकों) से श्रीभागीरथी गंगाजी की प्रार्थना करके उन्होंने पवित्र जल को वंदन

किया। फिर पुण्यरूप जल का आचमन किया; फिर सप्रेम प्रणाम करके वहां से लौटा और अपनी अदभुत कांति से मनुष्य मात्र के चित्त को आकर्षित करते वह योगी अपने बिछाये हुए आसन पर विराजमान हुए। उस समय इनके ओष्ठ हिल रहे थे, मानों किसी का स्मरण करते हैं; और सबको मोह करनेवाली दृष्टि से वह चारों ओर मनुष्यों की भीड़-भाड़ में आंख फेरकर देखते थे। यह देखना इनका स्वाभाविक न था बल्कि साभिप्राय और सकारण था। परन्तु मर्त्यलोक के मनुष्य समझ न सके इसलिये उसकी संभाल थी।

उस योगी को एक स्थान पर बैठा देख जनसमूह उसके समीप एकत्र होने लगा। देखते-देखते वहां इतनी भीड़ हो गई कि गंगाजी में स्नान करने को उतरना या स्नान करके लौटने का मार्ग मिलना कठिन हो गया। इस अद्‌भुत मूर्ति से भीड़ हटना नहीं चाहती थी; कदाचित् किसी अगत्य काम के लिये अथवा भीड़ से अधिक दबने के कारण लोग हट जाते थे, तो उनसे दूने वहा इकट्ठे हो जाते थे। मध्यान्ह काल हो गया, मस्तक पर धूप आ गई। घाट पर के टकोरखानों में से दुंदुभियों के कडिंगधिंग-कडिंगधिंग शब्द होने लगे; विलंब हुआ देख लोगों की भीड़ भी धीरे-धीरे कम होने लगी। स्त्री और पुरुष उस बालयोगी को प्रणाम कर-कर के जाने लगे।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का अंतःकरण अनेक बातों में बहुत कोमल और श्रद्धालु होता है, इस कारण एक स्त्री ने हाथ जोड़कर उन बालयोगी से विनती की कि, "महाराज! भिक्षा का समय हो गया है, आप कृपापूर्वक प्रसाद लेने पधार कर मेरे घर को पवित्र कीजिये तो मेरा अहोभाग्य हो!"

परन्तु उस योगी ने अपना नूतन योग होने के कारण किसी के घर न जाने और बस्ती के बाहर ही रहने का दृढ़ नियम प्रकट किया। उसके अमृतोपम वचन सुनकर उस स्त्री ने बड़ी पवित्रतापूर्वक निर्लेप सामग्री शुद्धतापूर्वक वहां ही लाने को पूछा तब उस योगी ने स्वीकार किया। तुरन्त ही वह स्त्री अपनी एक सखी के साथ शीघ्रता से अपने घर को चली। मार्ग में उसने अपनी सखी से कहा, "बहिन! इस बालब्रह्मचारी के संबंध में तेरा क्या विचार है? कैसा उसका उद्‌भुत रूप, कैसा उसका त्याग, क्या उसकी अवस्था! उसका वय बिलकुल कम है। अभी उसके कोमल मुखपर रोम भी नहीं छूटे हैं, तब भी कैसा उसका तपस्तेज! भाग्यही परम है!" यह सुन उसकी सखी बोली "बहिन! मैं तो उस बालयोगी से अपने भर्तार के आगमन विषयक प्रश्न करूंगी! क्योंकि वह अल्पवयस्क होने पर भी आगम निगम जानते होंगे!

भूतभविष्य जानने की उसमें शक्ति होगी।'' पहली स्त्री ने कहा, ''योगीयों की अवस्था पर विचार नहीं करना। मैंने कई बार सुना है कि कई योगीश्वरों की परमायु होती है और वे अपना शरीर जीर्ण होने पर उस वृद्ध शरीर को छोड़कर इच्छानुसार नया बाल शरीर धारण करते हैं। योगबल से अपने पुराने शरीर से निकलकर दुसरे किसी मृत्युवश हुए सुंदर और बालवय के शरीर में अपनी आत्मा का प्रवेश कर लेते हैं और फिर आनन्द से जग में विचरते हैं। इस क्रिया को परकायप्रवेश कहते हैं। इससे बहिन! योगीयों की अद्भुत सामर्थ्य के आगे उनकी अवस्था (वय) का विचार करने योग्य नहीं। यदि तेरी इच्छा है तो मैं एकान्त समय में उनसे प्रार्थना करूंगी।''

इस प्रकार बातचीत करती दोनों स्त्रियाँ घर पहुंची और अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर, फलाहारी पवित्र भोजन तैयार कर बहुत शीघ्र गंगा तटपर ले आईं। इस समय भारी भीड़ मिट गई थी; कोई मनुष्य उस बाल योगी के पास नहीं था। अकेले पड़े वह तपस्वी एकाग्र चित्त से अपने इष्ट आराध्य विषय का मनन कर रहे थे। उस स्त्री ने नम्रतापूर्वक वह सामग्री लाकर अर्पण की। वस्त्र में बंधी उस सामग्री को खोलकर गंगाजल से प्रोक्षण कर वह बालयोगी आसपास देखने लगे। उसके आसन के समीप ही एक स्वच्छ और विशाल छत्री थी। वर्षा होती तो या उग्र वायु बहता हो उस समय गंगातट पर बैठ तप-तप करने वाले लोग निश्चित बैठकर नित्यकर्म कर सकें इस निमित्त गंगाजी के प्रत्येक घाट पर अधिकतर ऐसी छत्री बनी हुई हैं। जप, तप, ध्यान, स्मरण, भोजन इत्यादि कार्य एकान्त ही में करने से निरुपद्रव होते हैं। इस प्रकार उस तपस्वनी ने भी एक छत्री में जाकर भोजन करने का निश्चय किया और उन स्त्रियों का दिया हुआ फलाहार का पोटला लेकर आगे जा बैठा और प्रभु का स्मरण कर भोजन का ग्रास लेना ही चाहता था त्योंहि उसके मन में मानों कोई बड़ा दुःख आ खड़ा हो इस प्रकार उसकी मुखमुद्रा बहुत उदास हो गई। उसके नेत्रों में जल भर आया परन्तु बड़े धैर्य से अपनी ऊर्मि को दबाकर भक्ष्य पदार्थों को बार-बार नमन करके उसको जो भाया सो प्राशन कर लिया और गंगाजी में हाथ मुख प्रक्षालन कर जल पीकर फिर आसन पर बैठा। तब उन स्त्रियों में एक ने हाथ जोड़कर पूछा ''योगिराज! भोजन करने को बैठते समय आप इतने बड़े उदास और शोकातुर क्यों हो गये? क्या सामग्री लाने में हमारी कुछ भूल हुई है? अथवा आपकी रुचि के विरुद्ध कोई अभोज्य पदार्थ इसमें दिखाई पड़ा। यदि कुछ अपराध हो तो क्षमाकर आप हमसे कहिये। हम अज्ञात अबलाएं संसारी माया के जीव हैं, बात-बात में हमसे अपराध होना संभव है, इससे कृपापूर्वक कारण

कहिये।" उस स्त्री के ऐसे नम्र वचन सुन योगिराज बोले "साध्वीओ! चिंता न करो। तुम्हारा कुछ अपराध नहीं। उदासीनता का कारण साधारण था। ऐसी उदासीनता मुझे बारबार हो आती है" यह कहकर उसने एक गहरा श्वास लिया तब उन स्त्रियों को कारण पूछने की फिर उत्कंठा हुई परन्तु ऐसे निःस्पृह तपस्वी के साथ अधिक पूछ-पाछ करना ठीक नहीं यह विचार कर वे चूप रह गई। परन्तु जिस कारण को पूछने की उनकी मुख्य इच्छा थी वह तो पूछना ही चाहिये; यह विचार धैर्यपूर्वक एक स्त्री ने हाथ जोड़ प्रश्न किया। एक स्त्री बोली, "योगीदेव! जो आपकी आज्ञा हो तो हमें एक विनति करनी है।" योगी ने कहा "सुख से कहिये।" एक स्त्री ने कहा "महाराज! हम दोनों सखियें ब्राह्मणपुत्री हैं। इस वाराणसी में हमारा कुल ऊंचा और पवित्र गिना जाता है। हमारे मातृकुल और पितृकुल दोनों में आपके आशीर्वाद से और भगवत्कृपा से अब तक सब बात का परम सुख था; आनंद से दिन व्यतीत होते थे। इतने में मेरी कठिन प्रारब्धवश एक बड़ा संकट आ पड़ा। मेरे श्वशुरजी के रूपगुणयौवनसंपन्न एक ही पुत्र था; उसको कार्य भार सौंपकर वे वृद्धावस्था के लिये निश्चिंत होकर परमार्थसाधन में तत्पर हुए। अपने माता-पिता के भी केवल मैं ही एक संतान हूँ। मुझे योग्य वर मिला हुआ देख मेरे माता-पिता परम आनंदपूर्वक समय व्यतीत करने लगे। मैं भी अपने भाग्यवान स्वामी की सेवा में अंगीकृत हुई होने से पति को आनंदित रखती थी और वे मुझसे संतुष्ट थे। पर पूर्वजन्म का मेरा कोई अदृष्ट (पाप) उदय हुआ होने से कोई अपराध न होने पर भी अपने माता-पिता के सुपुत्र मेरे सर्वस्व स्वामिनाथ एक रात मुझे शय्या पर सोती छोड़ गृह कुटुंब तथा काशीपुरी को त्याग कर एकाएक चले गये हैं। इस बात को आज लगभग छः मास व्यतीत हुए। अनेक प्रकार से ठौर-ठौर गांव-गांव तलाश करने पर भी उनका पता नहीं मिलता। मेरे सास ससुर ने कई दिन तक भोजन भी नहीं किया था। मेरे माता-पिता की भी यही दशा थी। अब तक वे सदा शोकातुर ही रहते हैं। मेरे तनमन की जो संकटमय स्थिति है वह मैं वर्णन नहीं कर सकती। हे योगिराज! हे बाल तपस्वी! आपने तो बाल्यावस्था में ही संसार तज दिया है, इस कारण हम जैसी पतिवियोगिनी तरूण अबला के पतिविरह के दुःख का आपको चाहे अनुभव न हो, तथापि अपने तप और योगबल के प्रताप से मुझ जैसे संसारी जीवों के संकट दूर कर डालना आपको कुछ बड़ी बात नहीं। महाराज! हे दयालु! मैं पतिवियोगानल से तप्त हूँ, मेरा जिस प्रकार उद्धार हो वह कृपा करो। आप सरीखें संतों का अवतार तो हम दुखियों के दुःख दूर करने ही को होता है।"

वह स्त्री इस प्रकार योगिराज ने विनती करती थी पर उसकी इस प्रार्थना

सुनने पर बालयोगी का लक्ष्य न था। उस स्त्री का पहला वाक्य, "हे महाराज! मेरे तनमन की कैसी संकटमय स्थिति है उसका आप से वर्णन नहीं कर सकती" यह वाक्य सुनते ही बालयोगी की प्रकृति बड़ी विलक्षण हो गई। उस योगी का हृदय एकदम भर आया। उसका मुखारविंद फीका पड़ गया, वह गद्गद हो गया, नेत्रों में आंसू भर आये। इस दशा में कितनी ही देर तक वह बोल भी न सके। पर बड़े परिश्रम से अपने मन की ऊर्मि को दबाकर बोले "हे सुव्रता! जगत में दुःखी मनुष्य बहुत होते हैं पर जब उन्हें दूसरा दुःखित मिलता है तब परस्पर अपने-अपने दुःख का उभार पूरा-पूरा बाहर निकालते हैं। धैर्य धर! इस तेरी बात को सुनकर अपनी कितनी ही कथा और भोजन समय की उदासीनता का कारण भी मैं तुझसे कहूंगा। हे तरुणी! इस जगत में सबसे कठिन प्रीति का बंधन है। प्रीतिबंधन में से एकाएक छूटने को समर्थ पुरुष भी निर्बल हो जाते हैं तो फिर ऐसे बंधन को बिनाकारण सहज में तोड़कर कोई जुदा हो जाय, यह बात समझ में नहीं आ सकती। कठिन काठ को काट डालने वाला भ्रमर अधिक प्रेम के बंधन के कारण कमल के कोमल कोश में बंध जाता है। यह कैसा प्रेमबंधन! परन्तु ऐसे सुदृढ़ प्रीति के बंधन को भी चित्तविक्षेप क्षणभर में तोड़ डालता है। चित्तविक्षेप प्रीति में असंतोष उत्पन्न करता है और इससे प्रीति का सुदृढ़ बंधन अपने आप निर्बल होकर टूट जाता है। तुम कहती हो कि तुम्हारा भर्ता बिना कारण आधी रात मुझे त्यागकर चला गया है आश्चर्य! यह हो नहीं सकता। ऐसा होने का कारण मेरी समझ में तुम ही हो। तुम्हारी ओर से कुछ असंतोष होने से ही तुम्हारा पति तुम्हें छोड़कर चला गया है।" यह सुन वह स्त्री बोली—"महाराज! आप कहते है सो ठीक! पर अंत तक मेरी दृष्टि में आपस में कुछ असंतोष नहीं हुआ, और न कभी उनकी मनोवृत्ति मेरे कारण मलिन हुई। उनकी मनोवृत्ति के अनुसार ही मैं सदा सेवा करती रही। मेरे प्राणपति मेरे प्रत्येक काम से सदा संतुष्ट रहते थे, पर मेरे हतभाग्य, न जाने क्यों।" उसका यह वाक्य पूरा होते ही बालयोगी ने कहा, "साध्वी! यह कैसे? मेरी समझ में यह बात नहीं आती। इसका कारण तू सुन। स्त्रियां संसार की माया की पुतलियां हैं और वे माया के प्रपंच के अधीन वर्तने वाली हैं, इससे स्त्री चाहे जैसी सुशील हो तो भी किसी समय मायिक आवेश को लेकर अपना स्त्रीधर्म भूलकर अन्यथा आचरण करती हैं, और उस अन्यथा आचरण का जब फल भोगना पड़ता है तब बड़ा पश्चाताप करती हैं। परन्तु फिर क्या? इसलिये अपने प्रत्यक्ष अनुभव की बात मैं तुझसे कहता हूँ सो सुन।"

पतिव्रताख्यान–पतिसेवातत्त्व

क्षणभर योगीराज मौन धारणकर, चित्त स्थिर कर, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर* बैठे रहे, फिर बोले, "हे द्विजपुत्री! तेरे ही समान हतभागिनी पतिवियोगिनी एक स्त्री की बात मैं तुझसे कहता हूँ वह सुन। वह स्त्री भी तेरी भांति उच्च कुलीन ब्राह्मणी है। धनवान माता-पिता की कन्या है। सासरे में पिता के समान संपत्ति न होने पर भी केवल विद्या और विनयसंपन्नता देखकर ही वह ब्याही गई है। उसका पति सुशील, विद्वान, दयालु, धार्मिक, भगवच्चरण में प्रीतिमान, प्रेमी और रूपयौवन संपन्न है। इस स्त्री के सासरे जाने के पश्चात थोड़े-थोड़े अंतर पीछे उसके सास-ससुर स्वर्गवासी हो गये, अब घरमें पतिपत्नी दो ही रह गये। वह स्त्री स्वाभाविक सुशील, शान्त, पतिव्रता और गृहकार्य में कुशल है। सास-ससुर का स्वर्गवास होने के बाद उस स्त्री ने घर का सारा कार्य भार उठा लिया। किसी बात से पहले से चले आये कार्यव्यवहार में कमी न होने दी; कारण कि बालकपन से ही उसके माता-पिता ने गृहसंसार की उत्तम शिक्षा दी थी। इससे वह स्त्री-स्त्री धर्म में बड़ी कुशल है।

स्त्री और पुरुष संसार–रथ में पहिये के समान हैं। जैसे एक पहिये से रथ आगे नहीं चलता† उसे दोनों पहियों की आवश्यकता पड़ती है वैसे ही संसार व्यवहार भी स्त्री और पुरुष इन दोनों की परस्पर सहायता से अच्छी तरह चलता है। व्यवहार की वृद्धि योग और क्षेम के आधार पर ही टिकी है। योग कहते हैं परिश्रम करके वस्तु को संपादन करना; यह काम मुख्यकर पुरुष के लिये निर्माण हुआ है। क्षेम प्राप्त वस्तु का यथोचित रीति से उपयोग करना; यह काम स्त्री जाति के लिये निर्मित हुआ है। ये उभय कार्य कि जिनके ऊपर अर्थशास्त्र का सारा आधार है। ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य स्त्री-पुरुष दोनों ही की सहायता से पार लगते हैं। तिसपर भी योग की अपेक्षा क्षेम करने में अधिक चतुराई है‡ और यह काम स्त्री के अधिकार का है। सच्चरित्रा स्त्री यह कार्य पूर्ण कुशलता से करती है और जो स्त्री व्यवहार कुशल होती है वह अपने पति के कुल की उन्नति करती है। सास-श्वसुर की सेवा करनी, अपने को जैसा भोजन वस्त्रभूषण मिलता हो

*तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा धारयन्नचलं स्थिरः
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।

† यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्।

‡ योगः कर्मसु कौशलम्।

उसके ऊपर संतोष करना, अपने यहां आये हुए सगे संबंधियों का भली-भांति सत्कार करना, बातचीत करते समय प्रसन्न मुख से बातचीत करनी, पराये झगड़े में नहीं पड़ना, यदि अपने से हो सके भली शिक्षा देकर उसका समाधान करना, बारीक वस्त्र जिनमें शरीर दिखाई पड़े न पहनना, उच्च स्वर से न बोलना, खिलखिला कर न हँसना, प्रतिदिन प्रभात पति के उठने से पूर्व उठना, फिर अपने बालकों को उठाकर हाथ मुँह धोकर बड़ों के पास प्रणाम करने भेजना, कारण कि ऐसा करने से बालक विवेकी बनते हैं और वृद्धों के आशीर्वाद से उनका आयुष्य बढ़ता है; अन्नआदि भोजन वस्तु की खुद ही तलाश किया करनी, वस्त्र मोटे या महिन अपनी शक्ति अनुसार पहनने, परन्तु मैले बदबूदार या दुर्गंधित नहीं पहनना, बिना स्वच्छ वस्त्र पहने स्त्रियों का व्यवहार धर्म बहुत उत्कृष्ट उन्नति में बाधक होता है। गृहराज्य की शोभा स्त्री को स्वच्छता के सब काम पुरुष से अधिक करना चाहिये। फिर काम काज से निपटकर पतिसेवा में लीन होना चाहिये। पति बाहर से कार्य से लौटकर सायंकाल घर आवे तब उसे पीने को जल और बैठने को आसम देना, भोजन करने बैठे तब ताजी रसोई बनाकर परोसना और उस समय दुःख की अथवा अपने वस्त्रालंकारादि की बातें करके पति को दुःखित न करना। ऐसी पतिसेवा ही स्त्रियों का परम धर्म है। व्रत, उपासना, तप और दूसरे सब धर्मकृत्य पति की सेवा से ही सफल होते हैं। सीता, दमयंती, द्रौपदी सावित्री आदि सती स्त्रियाँ अपने घर में हजारों दासियां होने पर भी अपने आप पतिसेवा में दिनरात तत्पर रहती थीं। इतना ही नहीं बल्कि पतिसेवा के अतिरिक्त पति के दुःख में भाग लेने के लिये सती सीता ने राज्यसुख का एकदम त्याग करके रामजी के साथ वनवास करना अंगीकार किया था। वीरपत्नी द्रौपदी ने भी पांडवों की छाया की तरह वन में दुःख बांट लिया था और स्त्रियों के पातिव्रत्य धर्म के पवित्र चरित्र इस संसार में चिरकाल के लिये छोड़ गई हैं। स्त्रियों के पातिव्रत्य धर्म के कारण बड़े-बड़े मुनीश्वर भी स्त्रियों के चरणों की पवित्र रज को अपने मस्तक पर धारण करते हैं। स्त्रियों के स्वधर्म में पति सेवा ही मुख्य धर्म है और उसमें उनका परम कल्याण भरा हुआ है। हे साध्वीओं! ऐसी पतिव्रताओं का धर्म सुनकर तुम्हारे मन में कदाचित् शंका होगी कि निःस्वार्थपन से अपने क्षुधादिक छोड़कर सेवा कैसे कर सकें? बिना मतलब की सेवा का क्या प्रयोजन? उसका खुलासा सुनों। अपने मन से अपने

सेव्य की सेवा के लिये स्वसुखादिक का त्याग करने से वे सुखादिक नष्ट नहीं होते, बल्कि वृद्धि तो प्राप्त होते हैं, अधिक तो क्या, यह सेवा आप ही सर्वांग सुखरूप है और उसका परिणाम अविनाशी सुख देने वाला है। सेवा में देखने को तो सेव्य को सुख है पर उसमें सेवक के सर्व सुखों का समावेश होता है; तात्पर्य यह कि जैसे भक्तजन अपने सेव्य श्रीहरि के लिये उत्तमोत्तम स्वादिष्ट सामग्री सिद्ध करके उनको निवेदन करते हैं पर फिर उनका पुण्यरूप प्रसाद अपने स्नेही सज्जनों के साथ जीमकर आप परम सुख का अनुभव करते हैं, इसमें सामग्री सिद्ध करके सेव्य भाव से श्रीहरि को समर्पण करने का गर्भित फल उन्हें मिलता है और उससे जो आनंद मिलता है उसकी बलिहारी है। क्या कहूँ मैंने केवल सेवा के ऐहिक सुख का ही याने सेवा स्वतः सुखरूप है उसका ही दिग्दर्शन कराया है। इससे जन्मपर्यन्त की हुई समस्त सेवा का फल तो बड़ा अमूल्य है कि जिसका वर्णन मेरी वाणी से हो नहीं सकता।''

यह कहकर फिर वह बालयोगी बोले; ''मन, वाणी और काया, इन तीन साधनों से अपने स्वामी की सेवा करे वही सच्चा सेवक और वही सच्ची सती! जिस स्त्री का वृत्तान्त मैंने तुमसे कहना आरंभ किया है वह सर्वांश में तो नहीं परन्तु बहुत अंश में पतिव्रता है। उसने अपने देवरूप स्वामी की सेवा से भली-भांति संतुष्ट किया था। अंतःकरण से उनको अपना सर्वस्व, अपना दैवत और अपना प्रभु मानती थी, आत्मा से भी उसे अधिक प्रिय गिनती थी, मनसा, वाचा, कर्मणा सदा उसको संतुष्ट रखना चाहती। पति के सुख से सुखी आनंद से आनंदित थी। पति को कभी कटु वचन नहीं बोलती थी। वह सदा ही अति हितकारी सत्य और प्रिय मंजुल वाणी बोलती थी। शरीर भी रातदिन स्वामिसेवा में ही नियत कर दिया था। स्वामी की आज्ञा का अस्खलित पालन करना अपना पहला कर्तव्य मानती थी। अपने पिता के यहां धन होने से वहां उसने अनेक राजसी वैभव भोगे थे। अर्थात् उसकी मनोवृत्तियां बहुत रजोगुणसंयुक्त थीं; तथापि परमसत्त्वशील और ऋषिधर्म पालनेवाले अपने ब्रह्मनिष्ठ स्वामी का नित्य सहवास होने से वह स्वभाव बिलकुल बदल गया था। अपने स्वामी की तरह **''यदृच्छालाभसंतुष्ट''** जो मिले या जो होय उसी में संतोष मानकर व्यवहार चलाती थी। हे साध्वीओं! तुम जानती हो कि गृहस्थी में सब वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है और द्रव्य बिना कोई वस्तु मिलती नहीं। संसार में पद-पद पर द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है। द्रव्य बिना गृहस्थ आश्रम चलाना टूटे पहिये से गाड़ी चलाने के समान है। ऐसे प्रसंग में बिना द्रव्य के रहना, जो मिले उसी

में निर्वाह करना* यह सामान्य पुरुष अथवा विलासेच्छु स्त्री से बन नहीं सकता। ऐसे व्यवहार से तो सदसद्विचारवान विवेकी और वैराग्यशील दंपती ही वर्त सकते हैं। उस स्त्री का पति सब बातों में योग्य था, परन्तु उस स्त्री का मन व्यवहार के वैभव भोगने को समर्थ और आतुर बनता था। कभी-कभी अपने द्रव्यहीन रूखे संसार से वह स्त्री बहुत ही क्रोध करती और स्त्री स्वभाव के वश हो अपने स्वामी के आगे भी कहने लगती। स्वामी बहुत-बहुत दृष्टान्त और सिद्धान्तों से उसे समझाकर शान्त करता है कहता है 'हे साध्वी! तुम अपना सामान्य मनुष्य की तरह केवल गृहस्थ सुख भोगने ही में अपने जन्म को सार्थक न समझो; बल्कि भगवत्प्राप्ति करके इस जन्ममरणरूप भवसागर से तरने के लिये महान पुरुषार्थ करना है। शास्त्र में कहा है कि–

"ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
ज्ञानाय तपसे चैव प्रेत्यानंत्यसुखाय च।।"

ब्राह्मण का शरीर क्षुद्र विषय भोगने के लिये निर्माण नहीं हुआ बल्कि वह ज्ञान और तप के लिये मरण पश्चात् मोक्ष के लिये निर्माण हुआ है, तब तू व्यर्थ किस लिये चिंता करती है? तू लक्ष्मी की लालसा क्यों करती है? यह लक्ष्मी तो सर्व सुख कल्याण का नाश कर मोह में डालकर खिसक जाने वाली है इसलिये लक्ष्मी को छोड़ लक्ष्मीपति का स्मरण कर, जिससे तेरा शीघ्र कल्याण हो और इस संसाररूप बंधन से मुक्त हो जाय!" स्वामी के मान के लिये तुरंत तो वह स्त्री सब मनोवृत्तियों का ऊपर से दबा देती, पर अंदर से उसका मन स्वीकार नहीं करता। ऐसा कई बार होने से उसके स्वामी को खेद होता और संसार की माया में रचपच रही हुई स्त्री के सहवास से मेरे उभय लोक बिगड़ेंगे और अपने परमार्थ लाभ पर अंत में पत्थर पड़ेंगे इसलिये अब शीघ्र निःशंक हो जाऊं। ऐसा निश्चय करके वह एक दिन प्रातःकाल स्नान संध्या से निवृत्त हो शिवपूजन करने के लिये नगर से दूर शिवालय में गया। उस समय स्त्री ने कहा, 'शीघ्र पधारना,' तब उसने किंचित् हंसकर उत्तर दिया कि "तुझे द्रव्य की बहुत इच्छा है उसे पूर्ण करने के लिये मेरा विचार है कि मैं भगवान् शंकर की प्रार्थना करूंगा। इस कारण मुझे आने में विलंब होय तो तुम घबराना नहीं," इतना कहकर वह पवित्र पुरुष यथेच्छ चला गया और फिर वह आजकल नहीं लौटा है।

---

*यल्लभसे निजकर्मोपात्तं वित्तं तेन विनोदय चित्तम्।

इतना वृत्तान्त कहते-कहते फिर उस बालयोगी के नेत्रों में जल भर आया। कंठ गद्गद हो गया परन्तु मनोवृत्ति को महाकष्ट से दबाकर वह बोला; देखो इस स्त्रीस्वभाव की महिमा! इसमें कितनी कुटिलता है! वह स्त्री तो आजतक यही कहती है मैंने अपने स्वामीजी के प्रतिकूल कभी कोई कार्य नहीं किया, न जाने वह क्यों चले गये हैं। पर उस स्त्री के मन में तो ऐसा अनिवार्य पश्चात्ताप होता है कि मुझ अभागिनी ने खुद ही अपने पति का सदा का वियोग कर लिया है, इसमें उस महापुरुष का कुछ दोष नहीं। अस्तु।

स्वामी के चले जाने के पश्चात् वे नित्य नियमानुसार अब घर आवेगें यह विचार वह स्त्री भली-भांति भोजन तैयार करके बैठी पति की वाट देखने लगी, मध्याह्न बीत गया, अपराण्ह हुआ, संध्याकाल बीतकर रात्रि हुई तो भी उसका स्वामी नहीं लौटा। तब वह स्त्री बड़ी चिन्तातुर हुई। उसके मन में बड़ी व्याकुलता हुई। उसके स्वामी के स्नेही जो नित्य उसका सत्समागम करने को आते थे, उसने उनके द्वारा शिवालय और अंन्यान्य स्थानों में खोज कराई। पर उसका पता न मिला। तब महाशोकातुर होकर दहाड़कर रोने लगी। उसका रुदन सुन उसके हित पड़ोसियों ने अनेक प्रकार समझाकर धीरज दिया। पर उसका मन कैसे माने? अन्तर का घाव कैसे सहन हो सके! भोजन के तैयार पदार्थ गाय को खिला दिये, और उस रात वह स्त्री निराहार रही। दूसरे दिन भी भोजन नहीं किया। तीसरे दिन भी स्वामी वियोग के शोक में निराहार रहकर रुदन करती रही। लोगों ने उसे बहुत समझाया, पर यह एक से दो न हुई। उसने अपना निश्चय कह सुनाया कि पतिव्रता स्त्री अपने स्वामी को जिमाये बिना नहीं जीमती, अपने स्वामी बिना अकेली नहीं रह सकती, जब मुझे मेरे स्वामी के दर्शन होंगे तबही भोजन करूंगी। लोगों ने कहा बेशक, सती स्त्रीयों का यहीं धर्म है, परन्तु अन्नमय प्राण है। ऐसे अन्न का त्याग करने से थोड़े ही दिनों में मरण-शरण होना पड़ता है। स्वेच्छा से गया हुआ तेरा स्वामी कब आवे, इसका निश्चय कैसे हो सकेगा? और तू कब तक निराहार रहेगी। आहार बिना इस कलयुग में मनुष्य का जीवन नहीं रह सकता। सतयुग, त्रेता, द्वापर में हुई सतियों का अनुकरण करने का आग्रह छोड़ दे। कालान्तर में भी तुझे स्वामी के मिलने की आशा हो तो हठ छोड़कर उससे मिलने का प्रयत्न कर। स्वामी को भोजन कराये बिना तेरा नियम भंग होता है तो फलाहार कर। और वह भी तीसरे चौथे पहर यदि भोजन किया करेगी तो स्वामी से पूर्व भोजन करने के दोष से मुक्त होगी। विदेश रहते हुए स्वामी की स्त्री को सदा मध्यान्ह काल बीतने के पीछे भोजन करना चाहिये ऐसा शिष्ट जनों ने कहा है।

रिश्तेदारों ने इस भांति कहा और अपने पति के मृत्यु से भी ऐसे वचन पहले भी उसने बहुत बार सुने थे, इस कारण उसने सबका कहना सत्य मानकर चौथे दिन उसने फलाहार किया। उस दिन से नित्य फलाहार एकबार करती है। उसने सुहाग चिन्ह छोड़कर सब श्रृंगार छोड़ दिये हैं। एक वस्त्र बिछाकर भूमिशयन करती है, नित्य प्रति स्वामी के स्मरण में उसने छः मास व्यतीत किये। परन्तु स्वामी के दर्शन नहीं हुए, उसे मन में अपार विह्वलता हुई। स्वामी वियोग का दुःख प्रतिदिन सताने लगा। परमात्मा और स्वामी के बिना और किसी का मनन नहीं करती थी। वही सर्वस्व था; उसके स्वामी का एक अति प्रिय मित्र यह देख बड़ा चिन्तित हुआ। उसे इस विदेशी मित्र की सत्संगति से और सेवा से बड़ी निपुणता प्राप्त हुई थी। उसने इस समय धीरज धर उसकी आत्मा को संतोष दिलाकर कहा; "हे बहिन! अब तुम धैर्य धरो। तेरा स्वामी मुझे अपनी आत्मा से भी अधिक प्रिय है। इससे उसको शोध करने के लिये मैं जाऊंगा। और ईश्वरकृपा से चाहे जिस प्रकार और चाहे जहां से तलाश करके लिवा आऊंगा। इसके लिये आज से ही पूर्व ऐहिक सुखों का त्याग करता हूँ, और तीव्र तपयोग धारण करता हूँ। अतएव मेरे प्रिय मित्र का सत्समागम होगा तब ही व्रत छोड़ूंगा, नहीं तो तपस्या से इस शरीर को त्यागकर परलोक में उसकी वाट देखूंगा।" ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा कर दूसरे ही दिन वह दृढ़ मन से तैयार हुआ और उस स्त्री के स्वामी की खोज में वहां से चल दिया।

"प्रथम उसने दक्षिण दिशा में नमदा, ताप्ती, गोदावरी, चन्द्रभागा, कृष्णा, कावेरी इत्यादि सर्व पवित्र सरिताओं पर के त्र्यंबक, ऋष्यशृंग, कांचीपुरी, रामेश्वर इत्यादि तीर्थ क्षेत्र देखे। उन क्षेत्रों के वाट घाट में घूम-घूम कर अपने मित्र को ढूंढ़ा। पश्चिम में गिरनार, प्रभास, द्वारका, नारायणसर आदि क्षेत्र देखकर वहां से सिद्धक्षेत्र, मधुपुरी, हरिद्वार, केदार, बद्रिकाश्रम और गंगोत्रीतक सब स्थान देखे। फिर त्रिवेणी (प्रयाग) अयोध्या और कई तीर्थ देखे। जब अपने प्राणप्यारे सखा का कहीं पता न लगा, तब हारकर उसने अरण्य तथा पर्वतों में जाकर महात्माओं की गुफाओं का और ऋषियों के आश्रमों का अवलोकन किया। प्रथम सबसे बड़ा क्षेत्र वाराणसी जो मुक्तिपुरी कहलाती है और आत्मकल्याण की इच्छा वाले मुमुक्षु और जीवन्मुक्त महात्मा भी उसे मोक्षसाधन करने योग्य स्थान समझकर वहां निवास करते है, इस कारण बड़ी सावधानी से उसे तलाश करता-करता वह वियोगी योगी यहां आया है, यहां पुण्यसलिल स्वर्ग की सीढ़ी समान श्री भागीरथी नदी और उसके सब घाट तथा क्षेत्रवासी महात्माओं के स्थान भलीभांति देखे। यहां उसके प्रिय सखा का पता उसको न लगा, तब अंत में थककर निराश होकर

बड़े भारी चक्कर में पड़ा हुआ वह मणिकर्णिका के घाट पर अपनी सरीखी दुःखिया दो द्विजपुत्रियों के साथ सुख दुःख की बातें करता यहां बैठा है!" यह अंतिम वाक्या कहते-कहते इस बालयोगी की स्थिति बड़ी दुःखमय हो गई और उन दोनों स्त्रियों की भी वही दशा थी। वे तो बड़े प्रपंच में पड़ गई कि "अहा! जिस वियोगिनी स्त्री की हमने बात सुनी, उसके पति को खोजने के लिये ही जिसने योग धारण किया है ऐसा उसका मित्र यह आप हीं!!! अहो कैसी उसकी धीरता, कैसी सच्ची मित्रता और कैसा उत्कृष्ट प्रेम! धन्य है ऐसे मित्र को कि जिसने अपने एक मित्र को खोजने के लिए अपनी आयु व्यतीत करने का संकल्प किया है, अपनी सुकोमल देह को तीव्र तपश्चर्या से तीर्थ-तीर्थ, ग्राम-ग्राम, स्थान-स्थान में भटककर शोधने की भारी कष्ट दे रहा है।

इतने में अपने मन को हठात् रोककर धैर्यपूर्वक वह तपस्वी फिर बोल उठा "देखो! यह स्त्री स्वभाव का परिणाम। तुम्हारी भी मेरे मित्र की स्त्री की तरह कुछ न कुछ भूल होगी ही; कि जिसके कारण तुम भर्तृवियोगिनी हुई हो। अस्तु। अब उनके लिये अधिक पश्चाताप् मत करो। ईश्वर से क्षमा मांगो, स्वस्थ चित्त से व्रत करो, कल्याण मांगो, मनःकामना सफल होगी"। पतिवियोगिनी सुशील स्त्रियाँ इन्द्रियदमन व्रत करती हैं, पति ही स्त्री का दैवत, पति ही गुरु पति ही स्त्री का सर्वस्व है। शंकर और विष्णु से भी स्त्री को तो अपना पति ही अधिक है। लक्ष्मी जैसे हरि की सेवा करती है उसी तरह जो स्त्री, तत्पर होकर अपने पति की प्रभुभाव से सेवा करती है वह, लक्ष्मी की तरह अपने प्रभुरूप पति के साथ श्रीहरि के लोक में बसकर आनंद पाती है।

या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते।।

लक्ष्मीजी जैसे हमेशा विष्णु को भजती हैं वैसे ही जो स्त्री सावधान होकर अपने पति को ईश्वररूप मानकर जो उसकी सेवा करती है तो वह स्त्री भी लक्ष्मी भगवान की तरह अपने पति के साथ स्वर्ग में सुख भोगती है। ऐसे पति का वियोग प्राप्त स्त्री अकेली होने पर सुख वैभव भोगने की कामना किस तरह प्राप्त करें? स्त्री को तो सब वस्तु प्रसादरूप ही काम में लाना चाहिये। अर्थात् पति को निवेदन किये बिना वस्तु अप्रसादी है, और उसका उपयोग पतिव्रता नहीं करती। ऐसे नियमवाली पतिव्रताओं को प्रभु की कृपा से पतिवियोग नहीं

होता। और कर्मसंयोगवश कदाचित् हुआ भी तो वह अपने आप इन्द्रियदमन व्रत से श्रीहरि प्रसन्न हो उनका वियोग सदा के लिये दूर कर देते हैं। मेरे मित्र की स्त्री ने यही व्रत धारण किया है और उसके बल से मुझे पूर्ण श्रद्धा है कि श्रीहरि परिणाम में अवश्य मुझे मेरे मित्र की भेट करावेंगे। भगवत्कृपा और उसके सौभाग्यबल से वह मुमुक्षु मित्र अद्यापि कुशलपूर्वक अवश्य होगा। यह मुझे अनुमान होता है पर साथ ही आश्चर्यसहित संदेह भी बहुत होता है कि जिसका मेरे मन को उत्तर नहीं मिलता मेरे मित्र की अपराधिनी स्त्री अपने पति को वियोग से भ्रमितचित्त और शोकसागर में निमग्न होने से विक्षिप्त-सी हो गई है। मैंने भी उसके वियोग से प्राणार्पण के लिये निश्चय किया है। मुझे कहीं भी चैन नहीं पड़ता। तब इतना-इतना समय एकान्त व्यतीत करने पर उसे इस वियोग का दुःख क्यों न सताता होगा? यह महा विरहाग्नि उससे कैसे सही जाती होगी? उसकी दासीरूप निरपराधिनी अबला को एक प्रेम-मात्र शिष्य अथवा दासरूप मित्र को, उसने बिलकुल विसार दिया?! कौतुक!

उसके प्रत्येक कार्य में उसकी मनोवृत्ति के आधीन हो उसकी सेवा में क्षण-क्षण तत्पर रहने वाली सुशीला का उसको स्मरण न होता हो? उसके क्षण-क्षण और प्रत्येक कार्य में उसकी सेवा करने वाले की अपेक्षा रहती थी तब क्या ऐसे प्रसंग पर उसे अपने सेवक की याद न आती हो! अथवा परदेश निकलने पर उसके अति दयालु और प्रेमी अंतःकरण अयोग्य कठोरता को प्राप्त हुआ होगा? हे विश्वनाथ! हे जगदीश्वर! कौन जाने उसे क्या अच्छा लगता होगा?!

इस प्रकार कहते-कहते गंभीर श्वास के साथ शोकातुर वह तपस्वी वहां से खड़ा हुआ और "हे साध्वीओ! तुम्हारा कल्याण हो, कल्याण हो, मे जाता हूँ और अपने प्राण प्रिय शिरच्छत्र मित्रवर्य को खोजने के लिये आगे बढ़ूंगा!" इतना कह श्री भागीरथी को वंदना कर वह बालयोगी वहां से तत्काल चला गया। अनेक विचारों के चक्र में पड़ी हुई वे विप्रकन्याएं भी उस योगी तथा गंगाजी को वंदना करके अनेक प्रकार की बातें करती-करती अपने-अपने घर गई, इस दिन के बाद फिर वह तपस्वी वहां कभी दिखाई नहीं दिया।

ॐ

महात्मा का माहात्म्य

प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनबीगीतः परिचयः।
पुरो वा पश्चाद्वा तदिदमविपर्यासितरसं
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते।।

साधु पुरुषों के कायिक व्यापार बहुधा सर्वप्रिय होते हैं। उनकी वाणी का व्यापार अर्थात् नियम बड़ा मधुर होता है, अर्थात् असत्य भाषण के भय से साधु पुरुष बहुधा विनयपूर्वक मुधर ऐसा मितभाषण करते हैं। उनकी बुद्धि भी स्वाभाविक कल्याणकारी होती हैं; तथा उनका साथ भी निर्दोष होता है। इस प्रकार भूत तथा भविष्यकाल में अविच्छिन्न स्वभाव वाले दंभरहित और विशुद्ध प्रमादादिक दोषरहित सत्पुरुषों का रहस्य विजयी होता है!

कुरुक्षेत्र में सूर्यपर्व

एक समय बहुत से भाविक यात्रियों का भारी यूथ जाता देखा जो अरण्य में होकर जाता था। उसके आसपास कोई पुण्यक्षेत्र समीन न होने से यह नहीं जान पड़ता था कि ये कहां और किस लिये जाते हैं? मार्ग में कितने ही ब्राह्मण आपस में पूछने लगे कि 'यहां से कुरुक्षेत्र कितनी दूर होगा। और हमलोग पर्व के समय वहां पहुंच जायंगे या नहीं?' उसकी बात सुनकर उनमें से एक वृद्ध ब्राह्मण ने कहा 'हे भाई! चिन्ता न कीजिये। क्षेत्र में तो आज सांयकाल पहुंचेगे। और सूर्यपर्व तो आगामि कल मध्यान्ह पीछे है पर उससे पूर्व हमको वहां जो-जो आवश्यक कर्तव्य करना है उसकी पूरी-पूरी तैयारी कर लेनी चाहिये।' यह सुनकर कई एक फिर पूछने लगे। 'पिताजी! पर्वणी में कौन-कौन क्रिया आवश्यक हैं, सो हमसे कृपापूर्वक कहिये।' तब उस वृद्ध ने कहा, सारे कर्म क्रियायें कर्ता को अपनी शक्ति के अनुसार करने योग्य हैं। मुख्यकर कर्म करने में कर्म पर दृढ़ श्रद्धा-विश्वास तथा ईश्वरपरायणता होनी चाहिये। ऐसा ही कर्म कर्त्ता को अत्यावश्यक और फलप्रदाता है। सूर्यग्रहण के स्पर्श से मोक्षकाल पर्यन्त पुण्यकाल कहलाता है, उस काल में जो-जो कर्म सत् अथवा असत् किये जाते हैं, उनका अनंत फल होता है। इसलिये तीर्थस्नान,

ईश्वरराचर्न, ध्यान, जप, स्मरण, दान, तप इत्यादि कर्म जो केवल ईश्वचप्रीत्यर्थ ही करने हैं वे उस पर्व के समय अवश्य करनी चाहिये। धर्मशास्त्र की आज्ञानुसार और सब तीर्थो से कुरुक्षेत्र में जो सूर्यपर्व का योग प्राप्त हो, उसमें सुकर्म करने से अगणित पुण्य होता है। इसीलिये बहुत दूर से श्रद्धालु मनुष्य, महात्मा मुनि, तपस्वी, योगी और साधु सूर्यपर्व का योग साधने के लिये बड़े-बड़े कष्ट सहकर भी कुरुक्षेत्र में आते हैं। ऐसे प्रसंग में जिज्ञासुओं को अनायासही अनेक महात्माओं के दर्शन मिलते हैं। इस समय भी ऐसा लाभ संभव है। बल्कि मेरे सुनने में आया है कि कोई एक महापुरुष कि जिसने बड़े-बड़े तीर्थो में लोकोपकारार्थ बड़े विस्तारवाली धर्मशालाएँ, विद्यालय, वावरी कूप बड़े-बड़े खर्चवाले सदावर्त और भव्य देवमंदिर अपार द्रव्य खर्च करके बनवाये हैं, अनके अनाथ दरिद्रियों के दारिद्र दूर कर डाले हैं, असंख्य लोकोपकार व धर्म के कार्य जारी किये हैं, ऐसे महापुरुष इस पर्वसमय में वहां आकर सत्पात्र ब्राह्मणों को असंख्य सुवर्ण का दान देनेवाले हैं, इससे भिक्षुओं की भी वहां भारी भीड़ होगी। फिर ग्रहण समय स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध आदिक से क्या हो सके? क्या न हो सके? इत्यादिक धर्म संबंधी बातचीत करते-करते सूर्यास्त समय पवित्र कुरुक्षेत्र में जा पहुंचे।

रात बीती। प्रातःकाल हुआ। ज्यों-ज्यों सुर्यग्रहण का समय समीप आया त्यों-त्यों असंख्य मनुष्यों की भीड़ चारों ओर से आ आकर वहां इकट्ठी होने लगी। अनेक ऋषि, तपस्वी साधु, महात्मा, ब्राह्मण, राजा, वैश्य, धनाढ़य, भिक्षुक और शुद्र, मब वर्णो के श्रद्धालु स्त्री पुरुषों के समूह तीर्थस्नान करने के लिये तत्पर हुए। सब पर्व समय की ग़ाट देखते हुए तट पर बैठे। ज्योतिर्विद् ज्योतिषशास्त्र के आधार से बने अनेक यंत्रों को लेकर सूर्य की ओर बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखने लगे। कितने ही पंडित ग्रहण क्या है और क्यों होता है, और उसके स्पर्श से मोक्षकाल पर्यन्त पुण्यकाल क्यों माना जाता है, इसको प्रणाम सहित सिद्ध कर रहे थे। इतने में सूर्यग्रहण हुआ, यंत्रों द्वारा देख ज्योतिषियों ने ग्रहण का स्पर्श होना बतलाया, प्रभु के पवित्र नाम की बड़ी जय बोलकर लोग अपने-अपने इष्ट कर्म करने में तत्पर हो गये। सबलोग तीर्थ में उतरे। विधिवत् स्नान करने लगे, कितने ही जल में जप करने लगे, कितने ही बाहर निकल वस्त्र बदलकर एकाग्र मन से ईश्वरस्मरण करने के लिये आसनों पर बैठ गये। इस समय इस महातीर्थ पर अति गंभीर और शान्तिरूप ईश्वरलीला विस्तारित हो रही थी। ग्रहण मुक्त होते ही सब लोगों ने फिर मुक्त स्नान

किया और ग्रहण में संकल्प किया हुआ सुवर्ण, वस्त्र, अन्न, धेनु आदिक को सत्पात्र ब्राह्मणों को विधिवत् दान देने लगे। इस समय मार्ग में आते हुए यात्री ब्राह्मण जिस महात्मा दानेश्वरी के विषय में बातें करते थे वह महापुरुष भी अपना संकल्पित सुवर्ण ब्राह्मणों को बाटने लगा।

कुबेरभंडारी समान इस पुरुष ने उस क्षेत्र पर बड़ा खर्च करके एक बड़ा मंडप तैयार कराया था। उसमें ब्राह्मणों को बुला आसन पर बैठा के विधिवत् पूजन करके दान देता था। एक ओर दान मंडप था। दुसरी ओर बहुत बड़ी भूमि में सर्व ज्ञाति के ब्राह्मणादिक भिक्षुकों के लिये भोजन का प्रबंध था। सारी तीर्थभूमि में निमंत्रण दे दिया था, कि सब यात्रीजन कृपा कर अवश्य इस प्रभुभक्त के निवासस्थान पर भोजन करने पधारें। एक और मंडप में ब्राह्मणों से जितना उठा सकें, उतना सुवर्ण ले, दाता यजमान को आशीर्वाद देते और जयजयकार करते निकलते थे। दूसरी ओर से स्नान से शुद्ध होकर भोजन के लिये रसोई की ओर जाते थे।

यात्रियों की भीड़ दूसरे दिन कम होने लगी। अधिक दूर के यात्री, बार-बार इस पुण्य क्षेत्र में कहां से आ सकेंगे, यह निश्चय कर कितने दिन ठहरने का निश्चय कर डेरे डालकर ठहरे थे। इसमें बहुत से दूर के, आश्रम, तीर्थ, गुफा आदि में बसने वाले ऋषि आदि महात्मा जी थे। उनका कर्तव्य केवल ईश्वरस्मरण, तत्त्वविचार, आत्मशोधन और भगवद्गुण वर्णन श्रवणादिक ही था। उनमें से कोई भी भोजन करने या दान लेने की दौड़ धूम में नहीं था।

सब ब्राह्मणादिक भिक्षुकों को भोजन दानादिक से संतुष्ट करता हुआ वह दानदक्ष क्षेत्र में स्थान-स्थान पर घूम-घूमकर संत अभ्यागत अन्नार्थी द्रव्यार्थी यात्रियों की शोध करने लगा, कि कोई रह तो नहीं गया। इसके पास अक्षय धन था। उसका ऐसा सदुपयोग करने की उसकी कामना थी, उसे विश्वास था कि इस कार्य से परोपकार रूप अपार पुण्य होता है और तीर्थ में धर्मार्थ एकत्र हुए असंख्य जन में से, धर्मराज के राजसूय यज्ञ में जैसे शुकदेव जी आ पहुंचे थे, तैसे कोई भगवत्प्रिय महात्मा मिल जावे, तो उसके दर्शनों का अलभ्य लाभ भी मिले और बड़ा वैभव दे दे। उसका यह दूसरा मनोरथ अब तक फलीभूत न हुआ था।

महात्मा के दर्शन

क्षेत्र में घूमते-घूमते एक स्थल में एक पीपल के वृक्ष के नीचे बैठा हुआ एक जटाधारी मनुष्य उसे दिखाई दिया। उसकी आकृति वृद्ध होने पर भी अति

कान्तिमान, भव्य और तेजस्वी थी। प्रभाव श्री झलक रही थी, वह अद्वितीय, परमतत्त्वरूप, क्रियारहित, शान्त, निर्द्वेषी, निरंजन जान पड़ता था; वह बंध और मोक्ष से रहित ही था। जैसे नट ने जब वेश धारण किया हो तब और जब उसे बदल डाले तब भिन्न जान पड़ता है। तो भी वह पुरुष ही है, तैसे यह महात्मा सिद्ध पुरुष मानों साक्षात् ब्रह्मवेत्ता ही हो ऐसा होने पर भी, नूतन भेष धारण करके नट की भांति कोई कार्य करने पधारें हों तैसे, यह महात्मा सिद्ध पुरुष वहां बैठे जान पड़ते थे। उनका मुख कामनारहित जान पड़ता था। वह शुभ-अशुभ, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय सबसे रहित, अविनाशी, उपाधिरहित, असंग, आनंदमूर्ति थे; वे स्वतः अकेले ही थे। उनके पास एक कमंडलु और व्याघ्राम्बर के सिवाय कुछ न था। सारे शरीर पर उसने विभूतिरूप वस्त्र धारण कर लिया था। लज्जासंरक्षणार्थ वल्कल की कौपीन पहनी थी, दृष्टि अपनी नासिका पर लगाकर, केवल शान्तरूप स्वस्तिकासन से दोनों हाथ घुटनों पर रखकर बैठे थे; मुख बंद था, पर अंदर से कंठ त्वरा से हिल रहा था। उसमें किसी प्रकार की निश्चित ध्वनि होती थी।

उसे देख अति पूज्य भाव से वह दानवरी कितनी ही देर तक हाथ जोड़ खड़ा रहा, परन्तु उस जटाधारी वृद्ध मनुष्य ने ऊपर को न देखा। तब उसके ठीक सम्मुख जा नीचे झुककर उसने कहा "हे अवधूत! हे योगिन्! हे महापुरुष! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। क्षणभर प्रार्थना करना चाहता हूँ।"

दानाध्यक्ष के ये वचन सुनकर उस महापुरुष ने बड़ी शान्तिपुर्वक ऊपर देखा और गंभीर वाणी से आर्शीवाद देकर कहा। "प्रार्थना किसको कर सकते हो? प्रार्थना सुनकर प्रार्थित करने को नो समर्थ है उसी की प्रार्थना करना योग्य है। यह जीव तो उसके अपार विस्तार वाले साम्राज्य का एक रंक है, इसलिये मेरे योग्य जो कुछ कहना हो सो भले ही कहो!"

ऐसा विलक्षण और केवल अभिमानरहित उत्तर सुन विस्मय को प्राप्त वह दानदक्ष फिर हाथ जोड़कर बोला; "महाराज! मेरी यही प्रार्थना है कि आप कृपाकर इस सेवक के स्थान पर भोजन करने पधारो और शरीररक्षार्थ वस्त्र द्रव्यादिक जो कुछ कामना हो सो मांग लो। अपने परम भाग्य समझकर यह सेवक आपके आगे नम्रता से यह प्रार्थना निवेदन करने के लिये तत्पर खड़ा है।"

इसके उत्तर में उस दिगम्बर ने कहा; "हे धर्मवीर! तूने क्या कहा? तू महाराज किसको कहता है? जो महाराज हो उसे क्या न्यूनता? यहां महाराज कौन है? क्या महाराज भी दूसरे से अन्न वस्त्र आदि की इच्छा रखते हैं?

महाराज तो उसी को जान जो मेरे, तेरे, रंक से राय और कीड़ी से कुंजरादि सर्व प्राणियों के, सर्व जगत के, और ऐसे असंख्य ब्रह्माण्डों के बीच व्याप्त है; ऐसे सारे विश्व के ऊपर उसकी प्रबल सत्ता व्यापी हुई है। मैं तो उस महाराज के अनंत राज्य में से एक निकृष्ट रंक हूँ। रंक की स्थिति भी रंक है! रंक आदमी बड़ी भारी उपाधि को कैसे उठा सके?"

ऐसा गूढ़ उत्तर सुनकर बड़े सोच में पड़ गया और वह दानशूर फिर बोला, "हे महात्मन्! मैं मूर्ख पामर प्राणी आपके इस गूढ़ भाषण को कहां समझ सकता हूँ? पर इतना तो मैंने अवश्य जान लिया है कि आप कोई शरणागत का कल्याण करने वाले महापुरुष हैं; और आपके ऐसे अलभ्य दर्शन पाकर मैं महाभाग्यवान हूँ, इस पावनतीर्थ में मेरे पास से अन्नपानादिक को भी स्वीकार करके मुझे अधिक भाग्यशाली करो!"

इसके उत्तर में वह दिगंबर बोला "जलाशय में जाकर वृथा जल डालने से वृक्ष की जड़ में डालना अच्छा। गंगाजी में गंगाजल डालने की अपेक्षा विष से भरपूर देह को उस जल से सिंचनकर, पावन और अमर कर। तृषित को जल पिलाना इस जल का सदुपयोग है, भोजन से तृप्त को भोजन जिमाने का आग्रह करने की अपेक्षा किसी क्षुधित को एक ग्रास भी जिमाया जावे तो वह भोजन का सदुपयोग है। जीमें हुए को जिमाने का क्यों आग्रह करते हो?"

दानदक्ष बोला, "हे महापुरुष! आपने कहां और क्या भोजन किया है? यदि इस समय आपकी भोजन की इच्छा न हो तो आपको जब क्षुधा बाधा करे,तब भोजन के लिये पधारिये। यदि आज्ञा हो तो भोजन की सामग्री यहीं ले आऊं।"

दिगंबर ने उत्तर दिया, "भाई क्या कहूं? पूर्व बहुत समय तक मैं जीम-जीम कर थक गया, पर अनिवार्य क्षुधा प्रतिदिन बढ़ती ही गई। अंत में उस महाराज ने मुझ रंक पर कृपा करके अपने प्रिय सेवक द्वारा अमृत भोजन जिमाया। तब से मेरी क्षुधा सदा के लिये शान्त हो गई है! अब मुझे भोजन की कुछ इच्छा नहीं।"

ऐसा चमत्कारिक भाषण सुन चकित हुआ वह दानदक्ष अपने मन में विचार करने लगा कि अवश्य यह कोई सच्चा भगवत्प्रिय महात्मा है और परम योगी और सद्गुरुपदवी के योग्य पुरुष है। ऐसा पुरुष जिसके यहां एक ग्रास भी भोजन करे, उसे सहस्रावधि ब्रह्मभोजन का फल प्राप्त हो; पर ऐसा मेरा भाग्य कहां कि, यह मेरा निमंत्रण स्वीकार करे! यह विचार उसने फिर आग्रहपूर्वक प्रार्थना करी, तब उस दिगंबर ने उससे कहा, "भाई! तेरी ऐसी ही प्रबल इच्छा हो तो मुझे जिमाने की अपेक्षा जिसकी क्षुधा अतिशय वृद्धि को

प्राप्त हो रही है और उसे महात्रास दे रही है, ऐसी उस भिक्षुकी को जिमा दे यह विचारी भोजन की इच्छा से ही सर्वत्र भटकती फिरती है।"

आशा भिक्षुकी का आख्यान

उस महात्मा के कथनानुसार सामने के मार्ग से आती हुई एक स्त्री दानदक्ष को दिखाई दी। दूर से तो कोमल, मोहक और सुंदर शरीरवाली थी, पर जब वह स्त्री पास आई तब बहुत ही दयामयी अवस्था में आई जान पड़ी। तीव्र क्षुधा के कारण उसका शरीर बहुत कृश हो गया था, आंखों में गड्ढे पड़ गये थे, पेट पीठ से चिपट रहा था, मुख मलिन हो गया था, मुख से बड़ी कठिनता से बोला जाता था, सो भी केवल 'मैं भू-खी-हूँ-रे-ब-हु-त-भू-खी-हूँ। कृ-पा-क-र-को-ई भो-ज-न क-रा-दो।' बस इतना ही बोल सकती थी।

महात्मा की आज्ञा हुई थी और उस स्त्री की स्थिति भी बिलकुल वैसी ही दयाजनक थी। इससे वह दानशूर तत्काल महात्मा को प्रणाम कर खड़ा हुआ और उस भिखारिन की ओर देखकर बोला, "बाई! तू मेरे साथ चल। अपने डेरे पर में तुझे यथेच्छ भोजन कराउंगा।"

यह सुन उस महात्मा ने कहा, "ओ धर्मकर्मवीर! जो तेरी इच्छा इसे भोजन कराने ही की है और तू इसकी स्थिति देख रहा है कि क्षुधातुरता से उसमें चलने की भी शक्ति नहीं है, तो फिर तेरे डेरे पर कैसे जा सकेगी? तू आपही जाकर इसके लिये भोजन ले आ।"

यह सुन 'तथास्तु' कहकर उस स्त्री से वहीं बैठने को कह दानदक्ष तत्काल अपने मुकाम की ओर चला और अपनी भोजनशाला में अपार भोजन बन रहा था, उसमें से सब प्रकार की पक्कान्नादिक सामग्री दो सेवकों पर रखवाकर वहां लाया और तत्काल उस क्षुधित स्त्री के आगे रख दी।

वह सामग्री देख स्त्री बोली। "भाई! मैं तो जीमुंगी नहीं।"

दानशूर ने पूछा 'क्यों? क्या इसमें कुछ दोष है? इसमें शंका न करो, क्योंकि मैं शुद्धतापूर्वक स्वयं जाकर उठा लाया हूं। लाने वाले ये दोनों स्नानकर शुद्ध हुए ब्राह्मण हैं।'

वह भिखारिन बोली, "सो कोई कारण नहीं। पर मैं तो अन्यंत भूखी भिखारिन हूं। इसलिये इतनी सामग्री से मेरी तृप्ति न होगी। मुझे विपुल आहार चाहिये। मुझे पेट भर जिमाने की तेरी इच्छा हो तो मैं जीमूं। सुन, मेरी क्षुधा अति प्रबल है। अबतक तो मैंने जैसे दबा रखी है, पर जब मैं आहार करने

लगुंगी, तब वह शान्त होने के बदले बहुत ही प्रज्वलित हो जायगी।"

दानशूर बोला "कुछ चिंता नहीं, तू निश्चिन्त होकर जीमने बैठ। तुझे चाहिये जितनी भोजनसामग्री मैं यहां तेरे आगे बैठा-बैठा इस ब्राह्मण के द्वारा मंगा दूंगा।"

"उस भिखारिन ने कहा, 'हे अन्नदाता! अभी इन ब्राह्मणों को और भोजन लेने को भेज, कि जिसके मैं यह खाऊं, उससे पहले वे ले आवें। मैं यह भरोसा हुआ अन्न जीमती रहूं तबतक जो और अन्न न आया तो फिर मुझसे धीरज न रखा जायगा। देखते-देखते मेरी स्थिति बड़ी दुःखदायिनी हो जायगी। इसलिये सुन! मुझे जीमने में विलंब होगा तो मेरे में जो बड़े से बड़ा दुर्गुण है वह यही है कि मैं जिमाने वाले को खा जाती हूँ। यह शर्त स्वीकार हो तो मैं जीमूंगी।"

उस भिखारिन की यह बात सुन दानदक्ष को बड़ा आश्चर्य हुआ कि चार मनुष्यों की तृप्ति योग्य अन्न तो इस स्त्री के आगे रखा हुआ है। पर वह तो भी और पूर्व से ही मांग रही है और मुझे खाने की इच्छा रखती है और मेरे पास अन्न का घाटा हो तो मुझे खा लेने को कहती है यह कैसा कौतुक! भूख जानता है कि मैं सब खाऊंगा और तृप्त हो भूख नहीं। इस कहावत के अनुसार वह अत्यंत भूखी होने के कारण ही कहती है। देखें यह कितना खावेगी? यह धारणा कर वह दानवीर हंसने लगा तो भी उस स्त्री के मन के समाधान के लिये उसने उन ब्राह्मणों को और पदार्थ लेने को भेजा और स्त्री को जीमाने को बिठला दिया।

भिखारिन ने तत्क्षण भोजनपात्र अपने पास खींच लिया और बड़े-बड़े ग्रास पेट में डालने लगी। भेजे हुए ब्राह्मण तो अभी रसोई तक पहुचे भी नहीं, इतने में पात्र का सारा अन्न वह स्वाहा कर गई। और फिर दानदक्ष के सामने अति आतुरता से देखने लगी, और बोली। "अरे ओ मूढ़! मैंने पहले ही कहा था कि इतने अन्न से कुछ न होगा। लाव लाव, अरे रे! बड़ी भारी क्षुधा के मारे, अब मुझसे रहा नहीं जाता, खिलाओ, जिमाओ, तृप्त करो! जब तक मैं भूखी थी तब तक भली थी। अब तो मेरे पेट में दाह हो रहा है, अब मुझसे भूख नहीं सही जाती।" इतने में दानदक्ष के सेवक अन्न लेकर आये। लाया हुआ अन्न पात्र में परोसवा कर उसने फिर आज्ञा कि 'जाओ दौडो जल्दी दौड़ो और अन्न लेकर शीघ्र आओ,' अभी सेवक लौटकर नहीं आये जब तक वह फिर स्वाहा कर गई। यह देख आश्चर्य में आकर दानदक्ष ने आज्ञा दी कि 'जाओ पचास आदमी जितना अन्न ला सकें उतना अन्न ले आओ।' सेवकों ने मालिक की आज्ञानुसार क्षणभर में पक्कान्न का ढ़ेर कर दिया और दानदक्ष

ने उस स्त्री से कहा, 'क्यों माई! अब तो तृप्त होगी या नहीं?" वह बोली "अरे भाई! तृप्त होने की बात क्या पूछते हो! विलबं न करो, इन सेवकों को शीघ्र फिर भेजो और जल्दी ज्यादा अन्न मंगाओ, क्योंकि भोजन करने से मेरी भूख खुली है, अब उस भूख को मेरे अधीन रहना कठिन है," यह कहकर वह फिर खाने लगी और देखते-देखते सर्वान्न स्वाहा कर गई। यह देख दानदक्ष आश्चर्य से चौक उठा और चिन्ता करने लगा कि अब इसकी भूख कैसे बुझेगी और क्या होगा? इतने में बहुत से सेवक अन्न के टोकरे भर-भर कर ले आये। और भिखारिन को परोसने लगे। भिक्षुकी भी दूसरी ओर जल्दी से पेट में डालने लगी। इधर से थोकबंध अन्न आता है, उधर पकाता जाता है; पकने में देर लगती है पर उसे स्वाहा करने में विलंब नहीं होता।

थोड़ी देर में बना हुआ भोजन और भोजनसामग्री सब समाप्त हो गयी, और सेवकों ने आकर दानदक्ष से कहा, "महाराज! आप तो अन्न लाओ, अन्न लाओ ऐसी आज्ञा करते ही जाते है परन्तु अब अन्न कहां से लावें? रसोइये भी थक गये। लाने वाले भी थक गये, और अन्न भी समाप्त हो गया! भंडार में जो सिधा तैयार था वह सब पककर यहां आ गया। कोठार में अन्न का दाना भी नहीं रहा, रहा सहा कोई अन्नार्थी गरीब भिखारी भी अन्नार्थ आता है तो उसास लेता बाहर चला जाता है। अरे महाराज! देखो तो सही, यह राक्षसी तो अब भी लाओ-लाओ ही कर रही है। यह कृत्या अनके गरीबों को रुलाती है! यह भिखारीन कौन है और कहां से आई है?"

सेवक के ये वचन सुन दानदक्ष ने कहा। "भाइयों! चाहे जैसा हो, पर जिनको निमंत्रण दिया है उनको तो भोजन को बिठलाओ, उन्हें भूखा क्यों रखों? तुममें से थोड़े से आदमी शहर में जाओ और जो खर्च हो सो लेकर सीधा सामान ले आओ, और रसोई बनाना शुरू करो और किसी भिक्षुक को विमुख न जाने दो और यहां इस भिक्षुकी को भी जितना चाहिये उतना भेजते जाओ।"

आज्ञा होते ही सैकड़ों सेवक दौड़े; सारे शहर में और आसपास गांवों में घर-घर और हाट-हाट फिरने लगे और जितना मिला उतना सीधा दूने तिगुने दाम देकर ले आये; रसोई चढ़ने लगी, आटा, घी, खांड़, गुड़, शक्कर और दूसरे सब प्रकार के शाक पाकादिक की सामग्री लाकर ढेर लगा दिया। फिर सेवक बड़े-बड़े टोकरे भरकर उस भिक्षुकी के आगे जल के रेले की भांति वह अन्न परोसने लगे। यदि सारे देश को निमंत्रण करते तो वह भी उतना नहीं जीम सकते इतना अन्न खा लेने पर भी. भिखारिन 'लाओ लाओ' ही कर रही है,

इतना परोसा गया वह सब स्वाहा कर गई! यह कितना आश्चर्य है कि, अब भी उसका पेट नहीं भरा, यह आश्चर्य सुन वहां अनेक तमाशा देखने वाले एकत्र हो गये। जब उस भिखारिन का अत्याहार देख दानदक्ष बड़ी चिन्ता में पड़ा कि, 'अब क्या होगा। आसपास के गांवों में से भी सारा अन्न कोठार में आ गया है, और उसमें से भी आधा तो खा चुकी है और बाकी का खाते क्या देर? अरे! यह कृत्यारूप कौन है? मैं तो जानता था कि यह कोई गरीब भिक्षुकी होगी, वह न जाने कितना खावेगी? पर इसने तो बड़ा भारी गजब किया! निश्चय, यह कोई साधारण भिखारिन नहीं, बल्कि अद्भुत कारणरूप कृत्या है, कि इतना अन्न खाने पर भी इसका पेट ऊंचा नहीं बढ़ा। यह तो दुकालरूप है। इतना खाने पर भी इसकी भूख बढ़ती ही जाती है! हर-हर! कौन जाने अब क्या होगा?' इस विचार में दिङ्मूढ़ हुआ नारशूर अधीर होकर पूछने लगा, "बाई! ऐसी प्रचंड क्षुधा वाली तू कौन है? क्या तू क्षुधा देवी है या जठराग्नि की देवता है या सर्वनाशक मृत्यु है?"

भिखारिन का कुटुंब

दानशूर इस प्रकार प्रश्न करता है इतने में तो बड़े छोटे पांच बालकों, जिस मार्ग से भिखारिन आई थी, उसी मार्ग से दौड़े आते हुए और 'माँ, माँ, तू निर्दय है। क्या हम बालकों को भूखा छोड़कर अकेली यहां आकर खाने बैठ गई है?' यह कहते हुए सब उसके पास बैठकर वे भी चपाचप खाने लग गये। अब तो पूछना ही क्या? अकेली भिखारिन ने इतना अन्न साफ कर दिया था; अब तो पांच और साथ हो गये। उनका आहार कैसे पूरा हो। बालकों के शरीर पर हाथ फेरकर प्रसन्नतापूर्वक वह भिखारिन बोली, 'हे भोजनदाता! अब अन्न के लिये विलंब न होय उसकी तजवीज कर; और जल्दी परोस, और तब मैं कौन हूँ सो तुझसे सब कहूंगी।" सेवक लोग पहले से चौगुना अन्न परोसते थे, पर थोड़ी देर में सब चट्ट हो जाता था; मानों बर्तन में परोसा ही नहीं, खूब खाकर थोड़ा अवकाश लेकर भिखारिन पीछे बोली। "हे भोजनदाता! मैं कहीं भी तृप्ति नहीं हुई। मैं अपना भूख दूर करने के लिये देश-देश, गांव-गांव, मनुष्य-मनुष्य, और लोक-लोक में भटकने वाली आशा भिक्षुकी हूं। मैं बारंबार बड़े-बड़े देव, दनुज, मुनि, तपस्वी, राजा महाराजा, कंगाल, धनाढ्य सबके आगे भटकती रहती हूं। पर मेरी क्षुधा कोई तृप्त नहीं कर सकता। मैं चिरकाल से भूखी दुःखित अशान्त रहती हूं। मुझे तृप्त करने का कोई प्रयत्न करता है तो

वह अंत में थक जाता है, क्योंकि मैं जैसे-जैसे खाती जाती हूं, तैसे-तैसे मेरी भूख शान्त होने के बदले उलटी विशेष प्रदीप्त होती जाती है। वह दिन की अपेक्षा प्रहर में और उससे अधिक घड़ी में और घड़ी से अधिक पल में बढ़ती है; पल से अधिक तीव्र होकर विपल में बढ़ती है, उससे अधिक निमिष में बढ़ती है। ऐसी मेरी क्षुधा है, इतना होने पर भी जो मुझे पोषने ही का प्रयत्न चालू रखता है और वह अंत में मेरी पूर्ति का ही प्रयत्न करता रहता है, पर उसके थकित हो जाने से मैं दुष्टा स्वतः उसी का भक्षण कर जाती हूँ! अत्यंत अधिक क्षुधा के कारण मुझसे ऐसा किये बिना रहा नहीं जाता। मैं भिक्षुकी होने पर भी अपने पर दया करने वाले और पोषण करने वाले अनके जनों को आज तक खा चूकी हूँ। ऐसा करने से मुझे पाप नहीं लगता; क्योंकि प्रभु ने मुझे ऐसा ही रचा है। ये पीछे से आये बालक मेरी ही प्रिय संतान है। यह **लोभलाल**, यह **कामशंकर**, यह **मोहसिंह** तीन मेरे पुत्र है। और यह **तृष्णा कुंवरी** और **लोलुपता** दोनों मेरी पुत्रियां हैं; इनके अतिरिक्त और भी मेरी प्रजा बहुत है जो यहां आई नहीं। अब मैं कुटुंबसहित हुई हूं, इसलिये मुझे अधिक खाने को चाहिये। उसकी तू जैसे बने तैयारी कर, नहीं तो मेरी भूख नहीं मिटेगी तो मैं तुझे ही खा जाऊंगी," यह कहकर वह फिर भोजन करने लगी।

थोड़ी देर बाद सेवकों ने आकर दानदक्ष से कहा कि "महाराज! अब सब अन्न पूरा हो चला और अब बाजार में भी मिल नहीं सकता। जो था वह लाकर उसके बर्तनों में परोस दिया है और अब एक ही घान शेष है। वह भी तैयार होने पर ले आवेंगे, बस फिर तिलभर भी अन्न न बचेगा।" यह सुन दानदक्ष बड़ी चिन्ता में पड़ा कि, 'अब क्या करूं? यह तो मुझे कोई महादुस्तर आफत लगी। अन्न समाप्त हुआ है और इसकी भूख भड़की है। यदि इसका कहना सत्य है तो बस अब मेरे शरीर की बारी है। यह मुझे अब जीवित नहीं छोड़ेगी।' ऐसे भयंकर विचारों में वह लीन हो गया था। इतने में सेवक पीछला घान भी पोंछ पांछ कर ले आये और भिखारिन के पात्र में परोस दिया! अब दानदक्ष को अपार चिंता हुई। यद्यपि उसके पास द्रव्य की कमी नहीं थी, जितना चाहे खर्च कर सकता था। वह बड़ा उदार था। परन्तु एक बड़ी अड़चन यह थी कि आसपास के गांवों में बिलकुल अन्न न था। सब अन्न आ चुका था। दूर देश से अन्न आवे कैसे, कब आवे, कब बने, कब परोसा जाय और यह खावे और इसकी क्षुधा शान्त हो? अधूरे में पूरा रात दिन काम करने के लिये लगे रहने से उसके नौकर भी बिलकुल थक गये थे।

थोड़ी देर में परोसा हुआ अन्न भी डकार कर भिखारिन ने ऊपर देख जँभाई ली। यह देख दानदक्ष चौंका! फिर वह दानदक्ष से कहने लगी—'हे भोजनदाता! कृपा कर अन्न लावों। यह मेरे लड़के भूखे बिलबिलाते तड़फते हैं और मैं भी अधिक समय तक भूख नहीं सह सकती।' दानदक्ष बोला—'बाई! अब तो क्षमा कर, अब भी तेरी तीव्रतर क्षुधा जो शान्त न हुई हो तो थोड़ी देर बैठ कि जिससे अन्नादिक सामग्री दूर ग्रामान्तर से मँगा कर इकट्ठी कर सकूं और भोजन बनवाऊं। जरा शान्त हो, अपने सेवकों को भेजा है।" यह सुनते ही महाविकराल होकर वह भिखारिन बोली—"अरे!! शान्ति कैसी और अवकाश क्या? मैंने तुझसे प्रथम ही कहा था; कि तू मुझे तृप्त कर सके तो भोजन करा। अरे त्राहि-त्राहि! शीघ्रता कर! त्वरा कर! अब मुझसे रहा नहीं जाता, मेरे पेट में आग लगी है और इन मेरे बालकों की भी यही दशा है। जल्दी कर; नहीं तो अपनी प्रतिज्ञानुसार मैं तेरा आहार करूंगी।" यह कहते-कहते उसका शरीर बहुत ऊंचा और विकराल बन गया। उसकी आकृति भयंकर भासने लगी। माथे के केश सिंह की केशावलि की तरह खड़े हो गये। विकराल दंतशुल की तरह डाढें और बिजली के समान जीभ मुंह से बाहर निकल आयी और बड़े आवेश से एकाएक खड़ी हुई और मुहं फाड़ कर 'खाऊं-खाऊं' ऐसा शब्द उच्चारती पेट कूटने लगी और बालक भी बड़े विकराल शरीरवाले बन कर मुंह फाड़ कर 'खाऊं-खाऊं कह कर दानदक्ष पर चारों ओर से दौड़े। अति भय पा, प्राण विनाश की शंका कर, सब मनुष्य और दानदक्ष के सेवकादि भागने लगे। अति क्रूर और विकराल बनी हुई वह आशाभिखारिन बड़े आवेश से भयंकर मुख फाड़ कर दानदक्ष के आगे गई। वह विचारा चिल्ला कर प्राण ले भागा, अहो सज्जन को कैसी विपत्ति! कैसी दैवगति!

आशैव राक्षसी पुंसामाशैव विषवल्लरी।
आशैव जीर्णा मदिरा धिगाशा सर्वदोषभूः।।

आशा यह पुरुषों को राक्षसी समान, विष की वेली समान तथा जीर्ण मदिरा के समान है। सब दोषों की भूमिरूप इस आशा को धिक्कार है।

आशातृष्णा के दासों की यही गति है। परमार्थ वीर दानदक्ष की बैरिन होकर वह भिखारिन उसी का आहार करने को उसके पीछे पड़ी। अपने बालकों सहित प्रचंड भयावनी जैसे-जैसे आहार करे वैसे-वैसे अधिक आहार की इच्छावाली भिखारिन आशा, दानशूर के पीछे दौड़ी। उससे किसी प्रकार छूटने के लिये वह वीर, क्षेत्रवासी लोगों के समूह में पहुंचा तो पीछे से वह भी पहुंची और दूसरे सबों को भक्षण कर जाने का भय देने लगी। लोगों ने भय पाकर

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।।

यदि एक जन के पीछे सारे कुल का नाश होता हो तो उस एक का त्याग कर देना चाहिये, एक कुल के पीछे सारे गांव का नाश होता हो तो उस कुल का त्याग कर देना चाहिये, एक गांव के पीछे सारे देश का नाश होता हो तो उस गांव का त्याग कर देना चाहिये और आत्मा का नाश होता हो तो आत्मा के लिये सारे पृथ्वी का त्याग कर देना चाहिये।' इस न्याय से दानदक्ष का त्याग किया; क्योंकि वह सब मिलकर भी उस राक्षसी का निवारण नहीं कर सकते थे। वह चिल्ला-चिल्ला कर कहती थी "रे, रे! ओ आशावंत! तू भाग दौड़ क्यों करता है? तू भाग-भाग कर कहां जायेगा? स्वर्ग में या पाताल में जाकर छिपेगा तो भी मैं तुझे छोडूंगी नहीं, क्योंकि मेरी सब लोगों में निर्भय गति (पहुँच) है। सब लोग मुझे भली भांति जानते हैं। शास्त्रों और पुराणों में भी मैं भली भांति प्रसिद्ध हूं। जिनको मेरे साथ प्रसंग पड़ा है वे तो मेरा नाम भी नहीं लेते। उलटा मेरे नाम से त्राहि-त्राहि करते हैं। तू दीन क्षुद्र प्राणी कहा जा सकता है? अरे ओ! खड़ा रह। मुझे एक पीछला ग्रास तो भर लेने दे।" उसका ऐसा कहना सुन कर महाभयभीत वह दानशूर स्तब्ध हो गया और कहां जाऊं? क्या करूं? मैं तो बड़े संकट में पडा। लोक परस्पर कहने लगे कि "देखो! वह अकेली रांड़ सारे देश का अन्न खा गयी! हर-हर! और अब भी भूखी होने से अपने अन्नदाता को ही खाने को तैयार हो गयी है! क्या किया जाय! यह महाभयंकर क्रूर राक्षसी है, तहां किसी की क्या चले?"

जैसे दुर्वासा मुनि अंबरीष के कोप से छूटने के लिये भागे थे, उसके पीछे सुदर्शन चक्र पड़ा था वैसे ही दानदक्ष के पीछे वह भिखारन पड़ी। और 'जैसे कहीं भी रक्षा न मिलने से अंत में वे मुनि उन्हीं भगवान की शरण हुए तब बचे थे,' उसी प्रकार भागते-भागते दानदक्ष विचारने लगा कि 'अरे! यह दुष्ट कृत्या कहां से मेरे पीछे लगी! मैं तो उन संत योगी महात्मा को निमंत्रण देने गया था। उन्होंने भोजन करने की साफ इनकार कर दी थी; जब मैं बहुत आग्रह करने लगा तब महात्मा ने मुझे एक भूखी भिखारन यह बतला दी थी। मुझे यह आशा थी कि मेरे जैसा कृत्य किसी ने नहीं, किया ऐसा मेरा नाम हो जाय! परन्तु हाय! व्यर्थ आशा! व्यर्थ गर्व! मेरा किया मुझ पर ही पड़ा। अरे! मैंने हजारों लाखों ही ब्राह्मणों को भोजन कराया और असंख्य सुवर्णमुद्रा दी, क्या उसका यही फल? अंत में इस राक्षसी ही के हाथ मरण! हर-हर! क्या

ऐसे महापुरुष के दर्शनों का यही फल? मुझे यही लाभ? नहीं, इसमें मेरी ही भूल है, मैंने गर्वित हो महात्मा से जो आग्रह किया था वह बहुत बुरा किया। गर्वगंजन ने आज मेरा गर्व तोड़ा है। अब मैं उसी गर्वगंजन की शरण हूं। ऐसे महात्माओं का कर्तव्य बड़ा गंभीर और अपार होता है। यह सब कार्य उनके समक्ष ही हुआ है उनको छोड़ मैं कहां भाग कर जाऊंगा? वह जो मेरी रक्षा करने में समर्थ होंगे तो रक्षा करेंगे, नहीं तो रक्षा का उपाय तो अवश्य ही बतावेंगे। चलो, मैं उनकी शरण जाऊं!' ऐसा निश्चयकर दुर्वासा मुनि की तरह पीछे लौटकर दानशूर महात्मा की तरफ आया और "त्राहि-त्राहि" करता उनके चरणों में मस्तक रख दिया।

यह दिगंबर योगी महात्मा जो यह सारा हाल अथ से इति तक बैठे रहे देखते थे। उन्होंने इस आशावंत दानवीर को अब बिलकुल निरुपाय और निःसाधन और अपने शरण में आया देख, कहा—"हे दानशूर! इतना दुःखी क्यों होता है? दान देने में तू अबतक बड़ा शूरवीर था, सो अब तू कैसा कायर हो नीचा मुख किये पड़ा है? तूने हजारों और लाखों ब्राह्मण जिमाये हैं, अनेक मनुष्यों के अनेक संकट दूर किये हैं, अनेक संतों को संतुष्ट किया है, अनेक अन्नक्षेत्र स्थापित किये हैं, अनेक बावड़ी—कुआ, तालाब बनवाये हैं और इस एक भिखारिन को भूखी क्यों रखता है? क्या यह बात दानशूर के योग्य है?"

दानदक्ष बोला—"कृपानाथ! मैं भूला हूं, अपराधी हूं, अज्ञानी हूँ, पामर हूं, दानशूर कैसे हो सकता हूं? कृपा करो! कृपा करो! इस महाभय से मुझे मुक्त करों। यह भिक्षुकी नहीं भयंकर भक्षकी है। मुझे भक्षण करना चाहती है, इसलिए मुझे उससे बचाओ। मैं आपकी शरण हूं। मैंने आपसे भोजन करने का अत्याग्रह रूप अपराध किया है। उसकी मैं बारंबार क्षमा मांगता हूं।" फिर वह महात्मा जो अब तक सब देखते रहे थे, उन्होंने दाता के पीछे दौड़ती आती भिक्षुकी को भृकुटी के इशारे में ही दाता से दूर खड़े रहने कि आज्ञा की और दानशूर को उठाय बैठा कर धीरज दे के कहा "हे ऋषिपुत्र! चिंता मत कर। कल्याण करने वाले का अकल्याण नहीं होता।"

" नहि कल्याणकृत्कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति"

महात्मा श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि हे तात! कल्याणकर्ता की कभी असद् गति नहीं होती, परंतु भला या बुरा यह करने के हेतु में ही फेर है। जो कार्य समझकर नहीं किया जाता वह परिणाम में दुःखरूप हो जाता है। इस भिक्षुकी ने तुझसे प्रथम ही कह दिया था कि तू मुझे पूरी तरह तृप्त कर सके तो भोजन खिलाये

पर उस बात का तुझे ध्यान नहीं रहा, उसके कहने का रहस्य तू समझा नहीं, उसी का यह परिणाम है। तो भी तेरे लिए मैं पूरा प्रयत्न करूंगा" इतना कह कर योगीन्द्र ने उस भिखारिन से कहा– "क्यों रे! तू क्यों इतना भारी द्वंद्व मचा रही है? कि अपने उपकारी का भी अपकार करती है? यह कितना अनर्थ है?" तुझे प्रतिकूल वर्तते लज्जा नहीं आती?"यह सुनकर वह बोली कि "महाराज! मैं जानती हूं कि यह बिल्कुल उलटा और जगत के न्याय से विपरित है। पर क्या करूं? मेरी जगत्प्रसिद्ध क्षुधा इतनी अधिक और प्रबल है कि मुझे पोषण करने की जो क्षणभर इच्छा करता है, उसमें सफल न होते ही मैं उसी को खा जाती हूं। यह मेरी प्रकृति है। ऐसा किये बिना मुझसे रहा नहीं जाता। जो मेरे भक्ष्यरूप इस ब्राह्मण को आपने शरण लिया है तो अब इस पर मेरा बल नहीं चल सकता। परंतु हे देव! मेरी क्षुधा मुझे अति असह्य हो रही है, उससे भाग कर मैं भी आपकी ही शरण आई हूँ, आप समर्थ हैं, कृपा कर मेरी अटूट क्षुधा को भक्ष्य देकर तृप्त कीजिये।"यह कहती हुई भिखारिन भी उस योगीन्द्र के चरणों पर पड़ी। फिर महात्मा ने उसे आश्वासन देकर सामने बिठलाकर कहा–"जरा शान्त हो विचार कर! मैं तो एक अकिंचन साधु हूँ। तेरी क्षुधा शान्त करने को मेरे पास अन्नादि कुछ पदार्थ नहीं, इस कमंडलु में थोड़ा जल है वह तुझे चाहिये तो धर लेले। आये हुए अतिथि का यथाशक्ति सम्मान करना सनातन धर्म* होने से मेरे पास जो कुछ तैयार है वह सादर उपस्थित करता हूँ ले; अंजली कर!" यह सुन तुरंत ही भिक्षुकी ने अपने दोनों हाथों से अंजली की तब उस महात्मा ने "**ॐ तत्सद् ब्रह्मार्पणमस्तु**" यह कहकर कमंडलु में से पवित्र जल उस भिक्षुकी की अंजली में डाला। अंजली भर गयी और एक ही घूंट में वह उसे पी गयी। और फिर बड़े आनंदाश्चर्य पूर्वक उस योगीराज के चरणों पर पड़ी और आनंदावेश में खड़ी होकर ताली बजा-बजा कर नाचने लगी और कहने लगी कि, 'अहो! धन्य-धन्य इस महात्मा योगीश्वर के प्रबल प्रताप को! धन्य उनकी अद्भुत शक्ति को! मेरी इस कृतान्तसदृश क्षुधा को आजतक कोई शान्त न कर सका था वह इन कृपालु योगीश्वर ने क्षणमात्र में एक ही अंजली में तृप्त कर दी! अहो! यह क्या सामान्य जल था? नहीं नहीं, वह तो साक्षात् अमृत था! नहीं नहीं, इसे अमरों के अमृत की भी उपमा नहीं दे सकते, क्योंकि अमृत तो मैंने देवताओं के यहां बहुत पिया है पर उससे कभी मेरी तृप्ति नहीं हुई और यह अमृत! अहा! यह अद्भुतामृत तो केवल एक अंजली पीने से ही मेरा कार्य सिद्ध हो गया, अब तो मैं अच्छी तरह तृप्त हुई। सदा के लिए तृप्त हुई और साथ ही मेरे बालक भी तृप्त हो गये! अहो!

---

*तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी सूनृता। एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन।।

ते धन्या भुवि परमार्थनिश्चितेहाः
शेषास्तु भ्रमनिलये परिभ्रमन्ति।

अर्थ–जो परमार्थ वस्तु के लिए निश्चय पूर्वक प्रयत्न किया करते हैं वे पृथ्वी पर भाग्यशाली गिने जाते हैं। शेष तो भ्रमरूपी अंधेरी कोठरी में भटकते ही रहते हैं।'

यह कहते-कहते उसकी विकराल मूर्ति बदल कर शान्त और सौम्य बन गई और उस दानदक्ष ब्राह्मण से कहने लगी कि, "हे ऋषिपुत्र! तेरा कल्याण हो, तेरा अपार अन्न खा लेने पर भी पीछे से मैं तुझे खा लेने का प्रयत्न करती थी, पर इस महात्मा मुनिश्वर ने मुझे अमूल्य संतोषामृत पिलाकर अत्यंत तृप्त कर दिया है, इससे अब मैं तृष्णारहित हुई हूं और अपने स्थान को जाती हूं। मेरे अपराध को क्षमा कर!" यह कहकर महात्मा के चरणों में वंदन करके वह भिखारिन कुटुंब सहित वहां से बिदा होने को तैयार हुई।

यह देख साश्चर्य वह दानदक्ष ब्राह्मण मन में विचार करने लगा कि "कैसा अद्भुत चमत्कार! इस महात्मा पुरुष की कैसी अकल कृति है। क्षणभर पहले यह मेरा भक्षण करने को तैयार थी और यह हजारों नहीं बल्कि लाखों पक्वान्नों से भी तृप्त नहीं हुई थी और इस योगीन्द्र के प्रताप से केवल एक अंजलि भर जल से ही तृप्त हुई और मुझसे क्षमा मांगकर अपने आप ही शान्तिपूर्वक जाने को तैयार हुई है। इन महात्मा जी का कैसा दैवी कृत्य है।

"अहा! धन्य है ऐसे योगीश्वर को कि विनाश और अभय इन दोनों वस्तुओं का सामर्थ्य प्रभु ने इन्हीं को दिया है। यह महापुरुष अवश्य संसार में सद्गुरु करने योग्य हैं। इनके दर्शनों का लाभ मेरे भाग्योदय से ही हुआ है। फिर मिलना भी दुर्लभ है।* अब तो सर्वथा इनकी शरण रह कर मुझे कृतकार्य होना चाहिये। मेरा बहुत दिनों का मनोरथ आज प्रभु ने पूर्ण कर दिया।" यह विचार वह 'सद्गुरुदेव! सद्गुरुदेव!' यह शब्द उच्चारण करता खड़ा होकर उन महात्मा को बारंबार प्रणाम करने लगा। उन महात्मा ने उसे आश्वासन देकर बैठाया और शान्त किया। फिर वह महापुरुष बोले–"द्विजपुत्र! अब सावधान हो। यह प्रापंचिक आशा भिखारिन जाती है। तुझे जो इसकी इच्छा हो तो स्वागत कर" महात्मा के वचन सुन वह बोला–"कृपानाथ! अब क्या भोग लगा है कि मैं इसका स्वागत करूं? इतना उपद्रव होने पर भी मैं कदाचित् इसका फिर स्वागत करूं तो मेरे समान मूर्ख और कौन होगा? जो कोई इसका आदर करेगा वह मेरी तरह काल के गाल तक

---

* दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम्। मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

पहुंचेगा। अब हे प्रभो! मुझे आपके द्वारा ऐसा आशीर्वाद मिलना चाहिये कि फिर कभी भी इस प्रापंचिक दुर्मुखी का दर्शन ही न हो।" महात्मा बोले—"यह क्यों? यह तो साक्षात् आशा है। पुण्य फल की आशा है, सांसारिक सुख की आशा है, कीर्ति की आशा है, अब तक तो तुम्हारी इस पर अपार प्रीति थी और क्षण में इतना अभाव! अप्रीति! अभी तो असंख्य सुवर्णमुद्रा का दान दिया था, वह भी परलोक सुख भोग की आशा ही के उद्देश्य से! असंख्य ब्रह्म भोजन कराये वे भी महत्पुण्य और कीर्ति की आशा से। बड़े-बड़े यज्ञ किये वह भी इस आशा से कि सब लोकों में मेरा नाम होगा कि मेरे समान किसी ने नहीं किया और यह दान काम को पूर्ण करेगा इस आशा के मिलने के लिये अंत में तूने उसी को अपार अन्न खिलाया। वह भी अपार पुण्य की आशा से! और अब उसका तिरस्कार कैसा? पर हां, आशा तो आशा ही है! वह व्यर्थ कल्पित निराशा में ढकेलने वाली है तथापि इस आशा के बिना कुछ हो नहीं सकता; इस लिये इसका त्याग किस प्रकार कर सकेगा?" यह सुन वह बोला—"हे कृपानाथ! तो क्या किसी प्रकार की आशा अथवा कामना का यही फल ?" महात्मा बोले—"हां! संसार सुख की—स्वर्ग सुख की आशा, तृष्णा, कामना, लोभ का यही फल है। देखा कि नहीं यह आशा की मूर्तिमयी देवी थी!" दानदक्ष बोला—"इसकी सेवा का यही फल है तो यह महाकष्टकारी है। इसका आश्रय करना सर्वथा दुःखरूप ही है!" महात्मा बोले—"हां, इसी लिये महान पुरुषों का वचन है कि—

'आशा हि परमं दुःखं, नैराश्यं परमं सुखम्।

आशा परम दुःखरूप है और निराशा परम सुख है इससे कोई भी मुमुक्षुजन इस संसारी मायिक आशा को आश्रय नहीं देते। इस आशा का भक्ष्य कितना भंयकर है, कैसा अपार है, सो तूने प्रत्यक्ष देखा है। जैसे-जैसे खाती जाती है वैसे-वैसे क्षुधा बढ़ती जाती है। इसी प्रकार सब कार्यो में इसकी स्थिति समझना। धन के संबंध में, सुखादि के संबंध में जिसने आशा को आश्रय दिया अर्थात् धन की, कीर्ति की, स्वर्गादि लोभ की आशा जिसको उत्पन्न हुइ उसकी भी अंत में यही दशा है। जैसे-तैसे* करके सौ इकट्ठे किये तब सहस्र की आशा उत्पन्न हुई और जब तक पूरे न हों, चित्त को सुख नहीं और सहस्र मुद्रा की प्राप्ति के लिये चित्त

---

* निःस्वोऽप्येकशतं शती दशशतं सोऽपीह लक्षं शतं
लक्षेशः क्षितिराजतां क्षितिपतिश्चक्रेशतां वान्छति।
चक्रेशः सुरराजतां सुपरपतिर्ब्रह्मास्पदं वाच्छति
ब्रह्मा विष्णुपदं हरिः शिवपदं तृष्णावधिं को गतः।।

सदा महादुःख और उद्वेग में ही रमण भ्रमण किया करता है और भाग्यवश सहस्र मुद्रा की प्राप्ति हुई तो फिर अनुक्रम से अयुत (दस हजार) और लक्षमुद्रा की आशा उसके साथ ही जन्मती है और वह न मिले तब तक महादुःख रहता है। लक्ष मिलते ही कोटि की आशा, कोटि मिलते ही अर्बुद की आशा जन्मती है; फिर चाहे अपार द्रव्य मिल जाय तो भी आशा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। संतोष नहीं होता। इसी प्रकार सत्ता और सुख की भी आशा है। वह भी परिणाम में महादुःखरूप है इसीलिये महापुरुष उसको क्षणभर भी आश्रय न देकर परम सुखरूप संतोष ही को आश्रय देते हैं। यह आशा* एक नदी के समान है। वह मनोरथरूप जल वाली है, तृष्णातरंग से आकुल व्याकुल है, इसमें रागरूपी ग्राह है, विकर्तरूपी विहंग है, धैर्यरूप द्रुम का नाश करने वाली है, मोहरूपी भ्रमर (भँवर) पड़ रहे हैं, इससे पार होना कठिन है, चिंतारूपी अति ऊंचे तट हैं और अति गहन है, जिसके पार कभी नहीं पहुँच सकते। हे दानशूर! उसके पार जाने वाले तो विशुद्ध मनवाले योगीश्वर ही है, जो इस आशा के पार उतर सत्य आनंद का अनुभव करते हैं।" इतना कह "ॐ नमो नारायणाय" कह कर उन महात्मा ने चलने को तत्पर हुई आशा से कहा—"ओ भिक्षुकी! अपने स्थान को सुखपूर्वक चली जा। आज से भगवान के भक्त और शरणागतों को पीड़ित न करना। संसार में रचे पचे कुटिल भले ही तेरा आश्रय करें और तू उन्हें दिक कर!" यह सुन वह आशा भिक्षुकी तत्काल कुटुंब समेत वहीं अदृश्य हो गयी।

जिज्ञासा

इस प्रकार अति आनंदाश्चर्य को प्राप्त उस ब्राह्मण के मन में सचोट आघात हुआ। उसका विस्मृत ज्ञान जागृत हुआ। 'अरे! मेरे सब कर्मों का यह फल? मैंने क्या किया? जन्म ही व्यर्थ गंवाया! मैं कौन?' फिर वह अपने मन में दृढ़ होकर मानने लगा कि 'वास्तव में जिसके दर्शन देवताओं को भी दुर्लभ हों ऐसे ही यह कोई भगवत्प्रिय महात्मा हैं। मुझे मेरे पूर्व सुकृतों से इसके दर्शन का अलभ्य लाभ मिला है। वह अपने प्रमाद से मुझे न गंवा देना चाहिये।' यह विचार वह अत्यंत नम्र अंतःकरणपूर्वक बार-बार उनके चरणों

---

* आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला
रागग्राहवती विकर्तविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दंति योगीश्वराः।।

में प्रणाम करने लगा और प्रार्थना करने लगा कि–"हे कृपालो! हे सद्गुरु भगवान! मैं सर्वथा आपकी शरण हूँ। आपने ही मुझे इस क्षणिक नांशवंत देह में जीवित दान दिया है और जब जीवन्मुक्ति दान देकर भी मुझे कृतार्थ कीजिये। महात्मा दिगंबर ने कहा–"जीवन्मुक्ति कोई सामान्य वस्तु नहीं, यह तो सबसे श्रेष्ठ और पवित्र ब्रह्मज्ञान (परमात्मस्वरूप का ज्ञान) प्राप्त होने से होती है। यह कोई सहज ज्ञान नहीं, न कहीं मार्ग में पड़ा है, वह तो उसके ज्ञाता महान् तत्त्वदर्शियों और मुनविरों के पास ही होता है। इच्छा हो तो ऐसे समर्थ पुरुषों के पास जा और उनको प्रणाम कर, बड़े प्रेम से उनकी सेवा कर, तब वे कृपा करके तुझे ज्ञान का उपदेश करेंगे।

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।"

तू प्रणिपात से, परिप्रश्न से तथा सेवा से, उस ज्ञान को जान, तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुझे ज्ञान का उपदेश करेंगे।

दानदक्ष बोला–"हे अनुग्रहरूप! ऐसे ज्ञाता और तत्त्वदर्शी मुनीश्वर साक्षात् आप ही हैं, मेरे महद्भाग्य से मुझे आपके अनायास दर्शन हुए हैं; फिर मैं अन्यत्र कहां भटकूं और क्यों भटकूं? मनसा, वाचा और कर्मणा केवल आप ही की शरण हूँ। कृपा करो। कृपा करो।" दिगंबर ने उत्तर दिया–"ऐसे महात्मा मुनीश्वरों का मैं दीन सेवक हूं और अति दूर प्रदेश में रहता हूं, केवल आज की रात्रि ही इस पुण्यक्षेत्र में निवास करना है।" महात्मा के ऐसे वचन सुन दाता तुरंत ही उनकी आज्ञा ले खड़ा हुआ और प्रणाम करके बोला–"कल इस शरणागत सेवक को अपने साथ ले चलने की कृपा करो। प्रातःकाल मैं आपके चरणों के समीप अवश्य आऊँगा।"

यह प्रार्थना कर दानदक्ष अपने स्थान पर आया। स्थान पर वह आप अकेला ही था पर इस दान पुण्य के बड़े समारंभ के लिये काम-काज करने को सैकड़ों कामचलाऊ सेवक उसने रखे थे। उन्हें बुलाकर सबका वेतन चुकाने के उपरान्त शेष बचा हुआ सारा धन उसने बांट दिया और रातभर में सब कार्य से निवृत्त हो प्रातःकाल चलने को तैयार हुआ।

सद्गुरुशोधन–शिष्यपरीक्षा

यह दाता पुरुष जो बडा धनाढ्य था, पर उसके साथ न कोई सेवक, न कुछ सामान था। यह भी किसी को खबर नहीं कि यह कहां का रहने वाला है, कहां से धन लाता था और कहां रखता था।

केवल पहने हुए वस्त्र ओढ़े अपना स्थान छोड़ चल निकला। यह ऋषिपुत्र वेदवेत्ता होने पर तीव्रव्रतधारी भी था इससे बड़ा तेजस्वी लगता था। मुकाम से निकल कर थोड़ी देर में वह उस पीपल के पेड़ के नीचे पहुंचा और जिन महात्मा के चरण छूने को उत्कंठित था उन महात्मा को वहां चारों ओर देखने लगा, तो वहां कोई दिखाई न दिया। बार-बार दृष्टि करी, पर कहीं कोई न मिला, तब तो इसे महान कष्ट हुआ। मानों ब्रह्माण्ड टूट पड़ा, अत्यंत निराशा से निःश्वास लेता हुआ उस अश्वत्थ के चारों ओर बार-बार देखने लगा पर वहां कोई भी दृष्टि न पड़ा। वहां से एक छोटी पगडंडी गई थी, उस पर महात्मा के पैरों के चिन्ह दिखाई पड़े। वे बड़े सुशोभित और अनेक सुचिह्नों वाले थे। उसने अनुमान किया कि 'अवश्य ये ही उन महापुरुष के चरणचिह्न है। मालूम होता है कि वे ही इस मार्ग से गये हैं। मैं भी इसी मार्ग पर जाऊँ। सद्गुरु के पीछे-पीछे जाना शिष्य का धर्म है। वह मेरे जीवनदाता हैं और मैं उनको गुरु मान चुका हूं। पीछे-पीछे जाकर उनसे मिलूं। पर समझ में नहीं आता कि वह महापुरुष मुझे छोड़ कर क्यों चले गये? हां, कामनारहित निःस्पृह पुरुष को शिष्य भी एक उपाधिरूप है। कारण कि महात्मा लोग केवल निःसंग होकर वर्तते हैं इसी कारण परम संसिद्धि को प्राप्त ज्ञानयोगी होकर मेरे आगे अपनी लघुता वर्णन करते थे और अपने को सब महात्माओं को सेवक समझते थे। महात्मा पुरुष अपने मुख से अपनी ज्ञानसत्ता की बड़ाई नहीं करते। वह महापुरुष मुझे एक नई उपाधि समझकर ही मुझे त्याग कर चले गये हैं। भले ही चले गये, पर मैं तो हर तरह उनको तलाश करुंगा। वे ही गुरु! वे ही प्रभु! वे जो ज्ञानोपदेश करेंगे तो ही मैं इस शरीर को रखुंगा।' ऐसा दृढ़ निश्चय कर यह उन पादचिह्नों की ओर जाने लगा और चलने में यह भी ध्यान रखा कि अपना पांव किसी प्रकार उन पदचिह्नों में न लगे और उनमें से कोई पदचिह्न विगड़े नहीं। और बार-बार उन चरणों की धूल अपने मस्तक पर प्रेमपुर्वक चढ़ाता था। फिर मन ही मन कहने लगा कि 'अरे' मैंने सूना है कि **"नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्"** गुरु के परे कोई तत्त्व नहीं। सद्गुरु का समागम बड़ा दुर्लभ है तो भी मैं उनको छोड़ डेरे पर चला गया। यह मैंने बड़ी भूल की। डेरे पर जो होना था सो होता। उसमें मेरी क्या हानि थी? मेरा था वह कहीं जाता नहीं! मैंने अज्ञानवश अपने आप हाथ आया हुआ अमृत छाछ की रक्षा की खटपट में बिना पीये गंवाया है। मुझ पर जब भगवान शंकर प्रसन्न हुए तब उन्होंने कहा था कि 'थोड़ी देर में तुझे एक महात्मा के दर्शन होंगे। उनसे

तू ज्ञानसंपादन करना।' अहो वे महात्मा यही हैं। अरे! मेरी कैसी भारी मूर्खता कि हाथ में आया हुआ रत्न गंवाया। अज्ञान से ही मैंने अपने को मिले हुए सुअवसर को व्यर्थ खोया।' इस तरह विचार कर वह थोड़ी दूर तक चला। उसकी दृष्टि चरणचिन्हों ही पर थी, मन गुरु के दर्शनों पर था इस कारण उसे यह न जान पड़ा कि कितनी दूर निकल गया और कैसे स्थानपर जा पहुँचा है। थोड़ी देर में उसे ज्ञान हुआ कि 'मैं एक बड़े दुर्गम अरण्य में आ पहुँचा हूँ' और थोडी दूर आगे वे चरणचिह्न बिलकुल लोप हो गये और मार्ग भी विच्छिन्न दीख पड़ा। झाड़ी इतनी सघन और विकट थी, कि उसमें होकर चलना महाकठिन था। अच्छा चौड़ा मार्ग तो वहां कहां! उसमें जहां तहां अनेक टूटी फूटी पगडंडियाँ दिखाई पड़ती थीं, जो पशुओं के आने जाने से बन गई थीं।

वह दानदक्ष ऋषिपुत्र अनेक पीड़ा सहन करता-करता एक पगडंडी के सहारे आगे बढ़ा चला गया, पर जाय कहां? ज्यों-ज्यों आगे बढ़ा त्यों-त्यों अधिक झंझट में पड़ता गया। उत्तरोत्तर अरण्य बिकट आता जाता था। आड़े तिरछे मार्गो में हो जाने से उसे दिशा और मार्ग का भी स्मरण न रहा। एकबार अरण्य में से पीछे लौटने का प्रयत्न किया पर जा न सका। दिशा समझ में न आई। घबड़ा गया। भटकते-भटकते मध्याह्न बीता। सांझ होने आई। क्षुधा भी बहुत लगी। पर सद्गुरु की भेट हुए बिना आहार करना नहीं, यह निश्चय करके आगे ही की ओर चलता गया। रात्रि समीप आयी। विकराल वनपशु चारों ओर दौड़ने लगे। अनेक भंयकर शब्द होने लगे। सूर्य के अस्त के साथ अंधकार का बल बढ़ने लगा। तब रात्रि के समय एक वृक्ष के खंभेपर बैठ गया। उसके समीप ही अनेक व्याघ्र, रीछ आदि प्राणी गर्ज रहे थे। उनके शब्द हृदय को कंपायमान करते थे। पर जिज्ञासु ऋषिपुत्र ने निश्चय किया था कि 'या तो सद्गुरु मिलते हैं या प्राण जायंगे। **'देहं पातयामि किंवा कार्यं साधयामि''** सद्गुरु के पुनर्दर्शन हुए बिना देह धारण नहीं करूंगा,' ऐसे विचार में वह सद्गुरु महात्मा जिनके दर्शन हुए थे उन्हीं के स्वरूप का ध्यान करने लगा। बड़े-बड़े क्रूर व्याघ्रादिक पशु बार-बार उसके आगे होकर छलांगे मारते हुए निकलते थे परन्तु गुरुस्मरण में तल्लीन दाता तो अस्खलित स्मरण के बल से किंचित् भय नहीं लगा और न उसे भय का ध्यान आया, न कंपित हुआ, चौका भी नहीं, मानों समर्थ गुरु आप ही उसकी रक्षा को सम्मुख खडे हों, ऐसा निश्चल हो वह स्मरण करता था और वनपशु भी उसके सामने आकर अपने सजातीय की तरह प्रत्यक्ष देखते चले जाते थे, उपेक्षा कर देते थे, इस प्रकार सारी रात व्यतीत हुई।

निर्मल प्रभात होते ही वह फिर भटकता चला। जल का भी कहीं

ठिकाना नहीं था कि स्नानसंध्या भी करे। झाड़ी में से कुछ-कुछ सुर्यदेव के दर्शन हुए, तब उसने प्रणाम कर मंत्रमय स्नान और मनोमय संध्यावंदन कर लिया और फिर चलने लगा। दिन भर चला न महात्मा मिले, न भोजन किये। पहला दिन आशाभिक्षुकी की खटपट में पूरा हो गया, दूसरा दिन अरण्य में गया और आज का भी, इस प्रकार तीन दिन की भूख प्यास चिंता और परिश्रम से थकित होकर एक वृक्ष तले आ बैठा और अतिशय चिंतामग्न हो बड़े निःश्वाससहित अपने मन में मनन करने लगा—मैं कौन? मेरा देश कहां? स्त्री कहां? कुटुंब कहां? अरे! मैं कहां था? कैसी स्थिति में था? क्या करता था? अब मैं कहां हूं? अहो! जो मेरा था उसमें से कोई भी मेरे दुःख का बांटनेवाला नहीं। सच है, जगत् में कोई किसी का नहीं, अपना संगी आप ही है। अहा! जिसको मैंने अंतःकरण से अपना गुरु माना है परम देवरूप माना है, जो संसाररूप अपार संकटसागर से पार करने वाला है वह भी इस समय मेरा सहायक नहीं हुआ। अहो! इस महासंकट से अब मैं किसकी सहायता से तरूंगा? मेरा अपार धन इस समय किस काम का? जिसकी सहायता से मैं शतावधि मनुष्यों से सेवा करवाता था और राजाओं से भी न बनें ऐसे बड़े कार्य कर सकता था वह धन भी क्या अपने बल से इस संकट में से मुक्त करने के लिये मेरी सहायता कर सकता है? नहीं, हर-हर! हे गुरुवर्य! क्या मैं अधिकारी नहीं? असंस्कारी हूं इस लिये आप मेरा त्याग करके चले गये? अरे! आपके दर्शनमात्र चाहे जैसे अनधिकारी को अधिकारी बनाते हैं अतः आप इस अनधिकारी जीव को भी अपनी सेवा का अधिकारी कीजिये। मुझे पात्र वा अपात्र करना आपके अधिकार में है, आपके हाथ में है। मुझे शिष्य बनाने से आपकी उपाधि अवश्य बढ़ेगी, तो भी वह उपाधिरूपी कष्ट मेरे कल्याणार्थ सह कर मुझे तारना यह क्या आपका धर्म नहीं है? “**परोपकाराय सतां विभूतयः**” इस वचन के अनुसार आपके समान सत्पुरुषों की विभूतियां परोपकारार्थ ही होती हैं तो फिर मुझे क्यों नहीं तारते? ऐसे विचार करता-करता थकित होने के कारण बैठने में असमर्थ होकर वृक्ष के नीचे गिर पड़ा और अति निश्चेष्ट अवस्था में उसे थोड़ी देर में निद्रा आ गयी।

परोक्ष कृपानुभव

अति श्रमित होने के कारण दानदक्ष को गाढ़ निद्रा आ गई। सारी रात उसे एक निमिष के समान भी न जान पड़ी। सूर्यादय होने वाला था कि अकस्मात्

वह जाग्रत हुआ, अंगड़ाई लेकर नेत्र खोले, आलस्य से निवृत्त हो बैठ गया तो उसने अपने ऊपर अति कोमल विचित्र रंगवाला व्याघ्राम्बर उढाया देखा!! देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। "जय गुरुदेव! धन्य गुरुदेव!" ऐसे शब्द उच्चारण कर उस व्याघ्राम्बर को बार-बार हृदय से लगाता और प्रणाम करता हुआ हर्ष से बोला—"अहो! कैसा परम तत्त्व का प्रत्यक्ष चमत्कार! हे कृपालु! मुझे आज के स्वप्न में आप आकर उढ़ा गये थे। यह वही व्याघ्राम्बर है जो पीपल के नीचे बिराजने पर आपका आसन था! महात्मा जनों का शरणागत पर कितना वात्सल्यभाव! मैं अज्ञानवश समझता था कि आप मुझे छोड़ कर चले गये हैं पर नहीं आप मेरे साथ ही हैं, समीप ही हैं, अपरोक्ष हैं और परोक्ष भी हैं। हे करुणामय! मुझ पर स्वप्न में जैसी कृपा करी वैसी प्रत्यक्ष कब करोगे? हे दीनवत्सल! आपके कृपा-प्रसाद से मेरे सब श्रम का परिहार हो गया है। अब मैं आपके चरणों के समीप आने को तत्पर हूं। जय दीनवत्सल! जय गुरुदेव!" ऐसे नवीन उत्साह और नये चैतन्य से युक्त हुआ वह दानदक्ष गुरुप्रसादरूप व्याघ्रचर्म को शरीर पर ओढ़ कर आगे चलने को तत्पर हुआ। अहो! ईश्वरी लीला का कैसा अद्‌भुत चमत्कार है! जहां वृक्ष तले सोता था वहां से चलते समय विचार किया कि अब किधर चलना चाहिये? इतने में उसे दायीं ओर को एक स्वच्छ पगडंडी दिखाई पड़ी। दो दिन से वह मार्ग उसे जान नहीं पड़ा था और उस मार्ग पर कहीं-कहीं थोड़े-थोड़े चरणचिन्ह भी दिखाई पड़े। उन्हें देख उसे अपार आनंद हुआ। उसकी सारी घबड़ाहट मिट गयी और वह उस मार्ग पर शीघ्रता से आगे चलने लगा। अपने शरीर पर ओढ़े हुए व्याघ्राम्बर में मानों कोई अपूर्व सिद्धि हो, उस प्रकार वह थोड़ी ही देर में बहुत दूर पहुंच गया, थोड़ी दूर जाने पर मार्ग में निर्मल और कमल के पुष्पों से ढंकी हुई एक नदी उसे मिली। बड़े प्रसन्न चित्त से उसने उसमें स्नान संध्या की और फिर चल दिया। वह बड़ी शीघ्रता से चलता था। उसको उत्तरोत्तर मार्ग बहुत स्पष्ट, अनेक प्रकार के पुष्पित वृक्षों से छाया हुआ मिला। अनेक सुपक्क फल पृथ्वी पर पड़े थे और वृक्षों पर लटकते थे; परन्तु दृढ़ मनवाले दाता ऋषिपुत्र ने किसी पर हाथ न लगाया। मध्यान्ह समय तक अनेक नदी, वन और छोटे-बड़े अनके पर्वत उल्लंघन करने के पश्चात् कोई दिव्यभूमि सदृश एक स्थान उसने देखा।

सिद्धाश्रम

शुद्ध स्फटित अथवा. रौप्य के समान शुभ्र वाष्प से आच्छादित हुए गगनचुम्बित शिखरों से, सुवर्ण, रजत, ताम्रादि अनेक धातुओं तथा मणिमाणिक्यादि रत्नों से, अठारह भार वनस्पति और दिव्य अमूल्य औषधियों से. अति निर्मल शीतल

और अमृतसमान जल के निरंतर असंख्य प्रवाहों से, असंख्य मदोन्मत्त गज सिंह व्याघ्र मृगादि वन के पशुओं से संसार को असार मानने वाले महान ऋषि, मुनि, सिद्ध और तपस्वियों के निवासस्थानरूप ऐसी अति नव पल्लवित वृक्षघटाओं से सुशोभित अनेक दिव्य गुहा और आश्रमों में देव, गन्धर्व, किन्नर और अप्सरादि गणों से क्रीड़ा करने के स्थानरूप अनेक वन और कमलवेष्टित सरोवरों से तथा अनेक ईश्वरी लीलाओं, धर्मरहस्यों, वैसे ही दृढ़भक्तिभाव का दर्शन करानेवाले कल्याणकारण अनेक तीर्थादिकों से अत्यंत समृद्धिमान् पर्वतराज हिमालय की बड़े विस्तारवाली तलहटी का पुण्य प्रदेश था। द्विजपुत्र आननदपूर्वक उस स्थान पर पहुंचा। अति विस्तृत ईश्वरी लीलाओं को देखता-देखता ऊपर चढ़ने लगा। पर्वतराज से बहते हुए अनेक बड़े-बड़े स्रोतप्रवाह समग्र भूमि को पवित्र करते हुए पतितपावनी गंगा में मिले हैं; उनके मूल ही से सृष्टिरचना बहुत ही विचित्र और आनंदप्रद है। पूर्ण मुमुक्षुता को प्राप्त वह दाता द्विजपुत्र थोड़ी देर में इस स्थान से भी आगे बढ़ा तो उसने अतिशय रम्य और स्फटिक के समान उज्जवल दिव्य भूमि देखी। पर्वतराज के बर्फ से ढंके हुए रूप के समान गगनचुम्बित शिखरों को देख अति विस्मित हो चारों ओर देखते और ईश्वरी माया की गहनता का विचार करते हुए उस स्थल की रचना का विचार करने लगा। अनेक वृक्षों की घटा से कहीं-कहीं केवल अंधकार दिखाई पड़ता था। हरी-हरी घास गलीचे के समान बिछी जान पड़ती थी। झमकझम-झमकझम झरनों की आवाज दूर तक सुनाई देती थी। काले मृग निश्चिंत होकर चर रहे थे। सुगंधि फैल रही थी। संसारी मनुष्यों का मस्तिष्क शीलत हो जाता था। वह संसार को भूल जाता था। उसका वियोग आनंद में बदल जाता था। महात्मा जनों का यह स्थल परम पवित्र है, ज्ञान की, विराग की, संसार त्याग की, रस की, प्रेम की, लीला की ये सर्व स्थिति संपूर्ण सर्वांश में वहां अनुभव होती थी। ऐसे दिव्य स्थल पर होकर दानदक्ष आगे बढ़ता हुआ ऊंचे, अति ऊंचे, और भी ऊंचे भाग पर चढ़ता जाता है। आगे जाकर एक अति सुशोभित वृक्ष घटा उसने देखी। उधर को चला और आगे बढ़ कर एक अति नवपल्लवित रम्य वाटिका मिली। उसके द्वार पर ही वह मार्ग पूरा हुआ था। आगे मार्ग किसी ओर को नहीं गया था। क्षणभर खड़ा रहा। अंदर जाने का विचार किया पर इस विशाल वाटिका के द्वार पर एक बड़ा भयानक सिहं बैठा हुआ था। उसे देखकर द्विजपुत्र भय के मारे स्तब्ध हो गया। आगे बढ़ने या पीछे लौटने की हिम्मत न रही, कितनी देर तक एक पग भी आगे पीछे न दिया और वह सिंह भी वहां से न कहीं गया न खड़ा हुआ। क्षणभर चिंतित रहा। फिर मन में 'हे गुरुदेव! अब मैं क्या करूं? आपकी कृपा से

यहां तक तो मैं निर्विघ्न आया। अब मार्ग में प्राप्त विघ्नरूप इस सिंह का कैसे निवारण करूं?' यह विचारते ही उस बाग में से एक अपरिचित शब्द हुआ कि जिसे सुन कर सिंह बड़ी शान्तिपूर्वक वहां से दूसरी ओर होकर बाहर चला गया और सानंदाश्चर्य से द्विजपुत्र ने अंदर प्रवेश किया।

अंदर जाकर देखता है तो अनेक विचित्र फूलों के गुच्छे, तुलसीवन और अनेक जाति के दिव्य वृक्ष खिल रहे थे। उन पर अनेक जाति के पक्षी गण मधुर-मधुर कलरव कर रहे थे। वाटिका के मध्यभाग में अति सुशोभित वृक्षों से ढके हुए किनारों वाले स्फटिकसमान निर्मल जल से भरा हुआ एक दिव्य सरोवर था। उसमें खिले हुए दिव्य विचित्र कमलपुष्पों की शोभा मन को हरने वाली थी। उसके सुन्दर किनारों से थोड़ी दूर छोटी पर्णकूटी देखी। वह केवल वृक्ष की लताओं ही से बनी थी। पर बड़ी रमणीय थी। उसके द्वारपर पहुंच कर द्विजपुत्र के आनंद का पार नहीं रहा! जिनके पुण्यरूप दर्शनों के लिये इतना भारी परिश्रम कर रहा था, शान्तिपूर्वक बैठे हुए वे ही महात्मा स्वाजी जी हैं। दर्शन होते ही हर्ष की उमंग से "जय गुरूदेव! धन्य गुरुदेव!" कहता हुआ उनके चरणों पर गिर पड़ा और प्रेमाश्रुओं से उनके चरण धोये। उसकी श्रद्धा और भक्ति से प्रसन्न होकर उस महात्मा ने हाथ पकड़ कर बिठाया और आश्वासनपूर्वक हृदय से लगा कर अपने सम्मुख बिठाया। वह 2/3 दिन का भूखा था इसलिये तत्काल महात्मा ने कहा,"फल प्राशन करके क्षुधा शान्त कर।" दानदक्ष क्षणभर विचार करके बोला—कृपानाथ! आपके चरणारविंद के अलभ्य दर्शन पाकर आज मेरी सब क्षुधा और तृषा अपने आप ही शान्त हो गई है पर आपकी आज्ञा है तो अच्छा, मैं जाता हूं, यह कह कर वह आश्रम के बाहर गया और थोड़ी देर में बहुत से स्वादिष्ट फल लाकर गुरुजी को निवेदन किये। योगीश्वर उसकी श्रद्धा और विवेक देख प्रसन्न हुए और उनमें से बहुत से फल उसे खाने को दिये। जिन्हें एकान्त में बैठ भक्षण करते ही वह अतिशय तृप्त हो गया। जल की आज्ञा मिलते ही जल सरोवर में पी आया और फिर दंडवत् प्रणाम कर उनके चरणों के समीप बैठा। कुरुक्षेत्र से लेकर आजतक अपने देखे हुए अद्भुत चमत्कारों से दाता द्विजपुत्र इस योगेश्वर को साक्षात् ईश्वरांश ही मानने लगा और उनके मुख से निकले हुए अमृत वचनों की अनिवार्य प्रेम से चातक की तरह बाट देखने लगा।

परमोपदेश

महात्मा योगीश्वर अंतर्यामी थे इससे उस ब्राह्मण की वृत्ति को जान गये और बोले—"हे वत्स! अनेक संसार-सुखों को छोड़ अनेक संकटों से इस स्थान को प्राप्त हुआ तू परम तत्त्व का जिज्ञासु है यह मैंने जाना। तेरा कल्याण हो, तुझ पर वह

तत्त्वपति कृपा करें। हे तात! परम कृपालू सर्वेश्वर प्रभु की ऐसी आज्ञा है कि परमात्मतत्त्व का ज्ञान ज्ञातजन उसके जिज्ञासु को देवे पर उससे पूर्व विचार करे कि वह इस वस्तु का अधिकारी है या नहीं! पात्र बिना दी हुई वस्तु नष्ट भ्रष्ट हो जाती है अथवा उसके ग्राहक को नष्ट भ्रष्ट कर डालती है अर्थात् उसका प्रतिकूल प्रयोग होता है, किंवा वह वस्तु व्यर्थ जाती है। हे पुत्र! ज्ञानशब्द का अर्थ है-जानना, पहचानना, समझना। हे पुत्र! जैसा अर्थ ज्ञान का है वैसा ही विद्या का है। किसी भी पदार्थ को भली-भांति जानना पहिचानना यह उसका यथार्थ ज्ञान है। उसी तरह स्वयं हम तुम भी कौन हैं? कहां से आये हैं? कहां हैं? किस लिये आये हैं? कहां जाना है? इत्यादि बातें यथार्थ रूप से जानना स्वात्मज्ञान है। यह ज्ञान और सब विद्याओं का तात्पर्य है। यह ज्ञान जिसको यथार्थ प्राप्त हुआ है उसे अन्य सर्व प्रकार का ज्ञान पूर्ण रूप से प्राप्त हुआ ऐसा समझना चाहिये।* पर यह ज्ञान जैसे सबसे उत्कृष्ट है वैसे इसे प्राप्त करना भी सबसे दुष्कर है। इस ज्ञान का यथार्थ विवेचन होने के लिये ही संसार में सब वेद, विद्या और शास्त्र प्रकट हुए हैं। सब विवेचन के परिणाम में वैदिक ग्रंथों ने संसार के सब प्राणियों के प्रति बड़ी से बड़ी यह आज्ञा की है कि इस अपार दुःखरूप माया के प्रपंच में पचे हुए जीव उसमें से मुक्त होने के लिऐ मायापति के शरण जावें,† फिर स्मरण मनन से उसका परोक्ष दर्शन करें। इस दर्शन में लीन होते ही अपरोक्ष दर्शन होंगे और उसके बाद उसी रूप के हो जायंगे। ऐसा होने से वह कृपासागर उसमें से उनका उद्धार‡ करके उन्हें अपने अपार सुख का भोक्ता करेंगे। हे ऋषिपुत्र! यह आज्ञा सब धर्मों का मूल है, सर्व ज्ञान का सार है, सब कर्तव्यों का कर्तव्य है, सब शास्त्रों का रहस्य है। मेरी भी तुझसे यही आज्ञा है कि तू उसे जान कर उसी का रूप हो।''

ये अन्तिम शब्द उन महात्मा के मुख में थे कि इतने में एक भारी गर्जना हुई, जिसको सुनते ही द्विजपुत्र चौंक उठा। उसे धीरज देकर योगिराज ने कहा—''हे वत्स! भय न करो, यह कोई भय का आगमन नहीं। यहां भय कैसा? यह गर्जना हमको आवश्यक सूचना है। यह आवाज इस अरण्यवासी सिंह की है, जो हमको सूचित करती है कि और कार्य बंद करो। अब संध्या करने का समय हो गया। नित्य कार्य को करो। हे वत्स! यह सिंह अपनी स्वाभाविक क्रूरता और हिंसा को छोड़ कर सब प्राणियों के मित्र के समान भगवदीय बना हुआ है

* यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते। भ. गी. 7-2

† तमेव शंरण गच्छ सर्वभावेन भारत!

‡ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि न चिरात्पाथ! मय्यावेशितचेतसाम्।।

और वह अपने आप ही आकर इस आश्रम की रक्षा करता है। वह अपनी गुहा में जाने का समय होने से वहां जाने को तैयार हुआ होगा।"

इतने में पूंछ हिलाता और धीरे-धीरे टहलता हुआ वह मृगराज पर्णशाला के आगे आया और नीचा मुख किये खड़ा रहा। उसे देख योगिराज बोले—"वत्स! तेरा आहार करने का समय हुआ है, जा! यह द्विजपुत्र आज से तेरा सहवासी हुआ है। इसके साथ भ्रातृभाव से वर्तना।" यह सुन तुरंत वह मृगपति पर्णशाला की प्रदक्षिणा करके द्विजपुत्र की ओर प्रेमदृष्टि फेंक वहां से चलता हुआ और महात्मा योगिराज भी द्विजपुत्र को साथ ले पर्णकुटी से बाहर निकले। आश्रम की विचित्र रम्य वृक्षलताओं में फिरते-फिरते सरोवर पर गया। वहां द्विजपुत्र ने संध्यावंदन किया। योगिराज भी परमात्मस्वरूप के ध्यानरूप संध्या करने बैठे।

द्विजपुत्र संध्यावंदन कर अपने गुरुचरणों में प्रणाम करने गया, तो उसके जाकर देखा कि गुरु तो काष्ठ वा पाषाण की प्रतिमावत् स्थिर हैं। वह समझ गया कि वे ध्यानस्थ हैं! इससे उनके जाग्रत होने की वाट देखता वहीं बैठा। क्षण हुआ, घड़ी हुई, प्रहर हुआ, ठीक आधी रात हो गयी। तो भी गुरु ज्यों के त्यों ही रहे। शिष्य भी सारी रात उनके सामने ही बैठा रहा। प्रातःकाल हुआ तब देहकृत्य से शुद्ध होकर फिर वहीं आ बैठा और उनके किये हुए उपदेश का मनन करने लगा। गुरु का यह दिन भी समाधि ही में गया। दूसरी रात भी इसी प्रकार बीत गयी। तो भी शिष्य हाथ जोड़े उनके सम्मुख ही बैठा रहा था। उतने समय तक उसने कुछ भी आहार नहीं किया; क्योंकि अब वह अपने को सेवकधर्म का अधिकारी समझता था। अपने सेव्य गुरुदेव की आज्ञा बिना और उनको निवेदन किये बिना मैं कुछ कार्य नहीं कर सकता, यह उसका निश्चय था। पर उस समय में वह पर्णकुटी में से, आगे के चौगान में से, आश्रम के मार्गों में से और सरोवर के तट पर से सांय प्रातः दोनों समय कूड़ा करकट साफ कर देता था और तुलसी, मोगरा, गुलाब इत्यादि पौधों को जल सींचना और पक्षियों के गिराने से वा अधिक पक जाने से नीचे गिरे हुए फलों को बीन इकट्ठा करना आदि परिचर्या करने में न चूकता था। जैसा इसने शिष्यव्रत धारण किया था, उसी प्रकार उस सिंह की भी स्थिति थी, जब तक योगिराज समाधि से मुक्त नहीं हुए तब तक वह भी आश्रम के फाटक पर से न हटा और थोड़ी-थोड़ी देर में आकर गुरु जी के दर्शन कर जाया करता था।

तीसरे दिन योगिराज की समाधि उतरी। तीन दिन से अपने दोनों शिष्यों को भूखे और सेवा में तत्पर देख बहुत प्रसन्न हो उन्होंने तत्काल दोनों को यथेच्छ फलाहार करने की आज्ञा की। द्विजपुत्र ने अपने पहचाने हुए फल

लाकर गुरुजी को निवेदन किये। सिंह भी वंदना करके चला गया। शिष्य के लाये हुए फल देख योगिराज बोले—"पुत्र! अब तो तू इन फलों को भक्षण कर। परन्तु अवकाश मिलने पर मैं तुझे आश्रम के और अरण्य के पर्वतों में से ऐसे फल मूल पहचनवाऊंगा कि जिनके भक्षण करने से दिन-दिन क्या-महीनों तक कुछ भी आहार किये बिना तृप्ति रहती है; यही नहीं बल्कि शरीर में बल तेज कुछ भी कम नहीं होता, ज्यों का त्यों बना रहता है।"

स्वरूपावलबन

शिष्य फलाहार कर तृप्त होकर फिर गुरुजी के समीप आकर हाथ जोड़ कर बैठा और प्रणामपूर्वक पूछने लगा कि; "हे नाथ! आपने मुझे आज्ञा करी कि माया के प्रपंच में फसे हुए प्राणी को माया के पति का आश्रय करना चाहिये; पर मैं उसको पूरा-पूरा समझ न सका। कृपानिधान! मुझे समझाइये कि माया क्या? और माया का प्रपंच क्या? और मायापति कौन?" महात्मा बोले—"वत्स! ये वस्तुएं जानने योग्य हैं। तेरे नेत्रों के सामने यह सर्व जगत् जिसमें पृथ्वी, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, देव, मनुष्य, राक्षस, पशु, पक्षी और अन्य सब प्राणी तथा पदार्थों का समावेश होता है, यह सब माया का प्रपंच है। प्रपंच इस लिये है कि वास्तविक नहीं, असत्य है और नाशंवत होने पर भी सत्यवत् भासता है और माया से उत्पन्न होने के कारण यह माया का प्रपंच कहलाता है। संपूर्ण असत्य, नाशवंत पदार्थ उत्पन्न करने की और उनको सत्य स्वरूपवान मनाने की अटल अद्भुत शक्ति जिसमें है वह माया है। इस माया को विश्वपति विष्णु की मोहिनी मूर्ति भी कहते हैं। इस मूर्ति के दर्शन से संसारी जीव जिसकी मोहिनी में पड़ कर सुख दुःख अहंता ममता आदि का अनुभव करते हैं अर्थात् माया अपना रूप बता कर माया भावमय दिखा अनित्य में नित्यता और अज्ञान में ज्ञान का भास कराकर जीव को भुलाती है। केवल भक्त योगीजन ही माया की मोहिनी में नहीं फँसते, कारण कि उन्होंने चित्तवृत्ति को वश किया है। माया का स्वरूप अज्ञान है अर्थात् माया अज्ञानरूप है यह जानना। माया के अज्ञानपने में लौकिक अनुभव प्रमाण है। मंत्र तंत्र इन्द्रजाल आदि में जो कुछ चमत्कार देखने में आता है और उसके देखने से जो मोह उत्पन्न होता है, उसी को माया कहते हैं। अज्ञान और माया ये दोनों पर्यायी शब्द ही हैं, परंतु जहां अज्ञान न घट सके वहां माया जानना। माया और अज्ञान ये वस्तुतः एक ही हैं। जो माया परब्रह्म के स्वरूप का आवरण

करके ज्ञान की विरोधी होती है उस माया को अज्ञान* कहते हैं। यह माया सत्य और असत्य दोनों से विलक्षण है इससे उसे अनिर्वचनीय कहते हैं। यह माया ज्ञान से निवृत्त होती है इस लिये चित्त शुद्ध कर वासनाओं से दूर रह कर परमात्मा के स्परूप को जानने का प्रयत्न करना चाहिये। यह जो जीव की मुक्ति की इच्छा है सो उसका धर्म है। परमात्मा आप मायापति है, सब उसके आधीन है। उसकी आज्ञा बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। उस परमात्मा को परब्रह्म, भगबान, प्रभु ईश्वर, जगत्पति या परमात्मा के नाम से पहचानते हैं, उसके वश में यह माया है।† इसी की सहायता से माया अपना यह सब-प्रपंच खड़ा करती है। इसी लिये वह माया का पति है। हे ब्रह्मपुत्र! विचार कर कि यह माया का प्रपंच कैसे मिथ्या है और माया आप कैसे जड़ है—परतंत्र है। सर्व सत्ताधीश तो कंवल चैतन्यरूप मायापति ही है। इस माया को छोड़कर मायापति के शरण होना यही प्राणी के मनुष्यजन्म का श्रेष्ठ कर्तव्य है।

शिष्य बोला—"हे गुरुवर्य! वह मायापति कैसा है, कहां है, उसकी शरण किस प्रकार होना चाहिये?" महात्मा बोले—"तात! इसे जैसा कल्पित करो वैसे ही है, वह संपूर्ण जगतरूप है, सारा जगत् माया के साथ उस समर्थ मायापति का एकांश मिलते ही प्रकाशित हुआ है, इससे वह समग्र रूप से जगत् रूप है, चैतन्यरूप है। यद्यपि वह अत्यंत अलक्ष्य (लक्ष में भी न आ सके ऐसा) है, तो भी वह अनंत शक्तिमान् होने से उसके शरणागत या सेवक भक्तजन उसे जेसा माने वैसा ही वह प्रतीत होता है। तुमने पूछा कि वह कहां है, सो ऐसा अणुमात्र भी स्थान नहीं जहां वह नहीं। वह सर्वत्र है।

"जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके।
ज्वालामालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्।।"

यह शास्त्र में कहा है सब स्थल भूमि, आकाश, पाताल और सारे ब्रह्मांड में वह समानरूप से व्याप्त है। इतना बड़ा होने पर भी तू उसकी अद्भुत शक्ति को देख कि वह किसी की भी दृष्टि में नहीं पड़ता। अहा! उस परम कृपालु के अचिन्त्य कर्तव्य को कौन वर्णन कर सकता है?" ये अन्तिम शब्द बोलते ही उस योगीश्वर के नेत्र प्रेमाश्रु से भर आये, कंठ गद्गद हो गया।

कितनी ही देर पीछे अपने प्रेमावेश को रोक कर वह महात्मा बोले—"विप्र! अब इसकी शरण होना सुन। मन से, वचन से, काया से सब तरह उसके आधीन हो यह मेरा

* अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

† महामाया हरेश्चैषा तया सम्मोह्यते जगत्।

रक्षक, यही मेरा तारक, यही पिता, यही प्रभु, यही पूज्य और आरंभ में मैं सेवक हूं, फिर वह मैं हूं; फिर मैं और वह एक ही, ऐसी दृढ़ भावना करके रहना यह उसकी शरण होना है। यह पवित्र भावना सदा सर्वदा जाग्रत रहे, भूल न जाय, शिथिल न हो इस लिये बहुत ही प्रयत्न से नित्य उसका मनन होना चाहिये। पर पुत्र! यह मनन निराधार नहीं हो सकता। इसके लिये कुछ आलंबन चाहिये कि जिसके आधार से मनन दृढ़ हो।"

इस प्रकार बातचीत करते-करते संध्यासमय हो गया। सरोवर पर संध्यावंदन कर गुरु शिष्य पर्णकुटी में आये। रात होते ही सर्वत्र शान्ति का राज्य स्थापित हुआ। गुरुदेव ने उस सच्छिष्य के प्रति फिर कहा–"प्रिय पुत्र! वह कुशासन यहां लाओ और उस पर मेरे सम्मुख बैठो। उस कमंडलु में से आचमन कर फिर शक्त्यनुसार प्राणायामस चित्त को स्थिर कर।" शिष्य ने वैसा ही किया। फिर योगीश्वर बोले–"वत्स! नित्य गायत्रीजप के समय तू जैसे सूर्यबिम्ब का तेजोमय ध्यान करता है, वैसा अतुल स्वच्छ तेज ही सर्वत्र व्याप रहा है और कुछ भी वस्तु नहीं। इस प्रकार दोनों नेत्र मींच कर अपने मन से जो सूर्यबिम्ब का तेज है वह प्रभु की शरण चाहने वाले साधक को उदाहरणरूप है। संसार के सब तेज, अग्नि, विद्युत, तारागण, चन्द्र इत्यादि सर्व तेजस्वी पदार्थों के तेज से सूर्यबिम्ब का तेज उत्कृष्ट है। इससे अधिक तेजवाला दूसरा तेज संसार में दृष्टिगोचर नहीं होता। अन्य सब तेजों की तरह यह तेज भी सबके प्रभु मायापति ही का दिया हुआ होने से वास्तव में मायापतिही का है; इसलिये मायापति के अगोचर अलक्ष्य स्वरूप को पंहचानने वाले जिज्ञासुओं को प्रथम इस अतुल तेज ही का* ध्यान धरना चाहिये। इस लिये हे द्विज! प्रथम अपना चित्त स्थिर होने के लिये बहुत देर तक उसी का ध्यान धर। यह मेरे प्रभु का मेरे स्वामी का अकल अचिन्तनीय स्वरूप है, यह जान उसको मनोमय पदार्थ अर्पण कर और हाथ जोड़ सेवक की तरह नम्र होकर प्रणाम कर–शुद्ध भाव से प्रार्थना कर कि मैं आपका हूं, मुझ पर कृपा करो। अंतःकरण को स्वरूप में एकाग्र करके अखंड वैभववाले आत्मा को देख। बंधन को काट डाल और संसार की दुर्गंधि का त्याग कर, सर्व उपाधि से रहित बन। सच्चिदानंदरूप बन जा। इस अधम आत्मा को शुद्ध बना हुआ देख। इस प्रकार देखने से तुझे फिर संसार नहीं भोगना पड़ेगा।"

इतना कह बड़ी देर तक मौन धारण कर वह मुनि फिर बोले–"भाई! ऐसी भावना केवल उपर से ही हो तो किसी काम की नहीं। कुछ फल नहीं। प्रभु का आश्रय तो और सब आश्रय छोड़ कर अनन्यरूप से† करना चाहिये। अपने बल का,

---

* अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदवशरीरजम्। एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा।

† अनन्याश्चिंतयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

अपने भाग्य का, धन का, विद्या का, सिद्धि आदिक ऐश्वर्यों का, तप का, पुण्य का, स्वजनादि किसी का भी आश्रय हो तब तक भगवदाश्रय दृढ नहीं होता, अंतःकरण पूरा-पूरा प्रभु में लीन नहीं होता, इस लिये और सब आश्रय छोड़ कर तू कृपालू के शरण हो, ऐसा करने से तेरा अधिकार बढ़ेगा अर्थात् मैं तुझे उस अनंतरूप ब्रह्म के अति मनोहर प्रेमसागर ललित स्वरूप का अवलंबन कराऊंगा कि जिससे उस कृपालु मूर्ति में तुझे प्रेमलक्षणा भक्ति उत्पन्न होगी, सत्य स्वरूप प्रत्यक्ष होगा और फिर तेरे ऊपर उसका अनुग्रह होने में बिलंब न लगेगा। हे द्विजन्मा् रूपरहित ब्रह्म मायापति के अनेक रूप अनंतरूप कल्पित करके उपासना हो सकती है। जिसको जिसमें रुचि हो वह वैसा ही रूप कल्पित करे। ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये अनेक मार्ग हैं। उनमें कोई सुगम होकर कालान्तर में फल देने वाले हैं। और कोई कठिन दुष्कर होकर थोड़े समय मं फल देने वाले हैं। तेरे लिये मैंने यह सरल मार्ग बतलाया है उसका तू नित्य अभ्यास कर।'' फिर अनेक बार तक परब्रह्म का स्वरूप विचार अपने शिष्य को उसके आसनपर जाने की आज्ञा दी और आप समाधि में बैठे।

जटामेंका मणि

दूसरे दिन प्रातःकाल गुरुवर्य को ध्यानस्थही देखा। तब शिष्य भी स्नान संध्या से निवृत्त हो पर्णकुटी के बाहर बैठ कर गुरुजी के उपदेशानुसार ध्यानयोग का अभ्यास करने लगा। एक दिन हुआ, दो हुए, तीसरा भी गया। चौथे दिन मध्यान्ह होने आया तब गुरु की समाधि उतरी। शिष्य भी आहार निद्रा छोड़ कर उनके सामने ही तेजोमय ज्योति का ध्यान धरे बैठा है, यह देख महात्मा ने उसे फलाहार करने की आज्ञा करी। शिष्य फलाहार करके फिर गुरुजी के सम्मुख आ बैठा, तब गुरु ने कहा—''पुत्र! आज तो चल, मैं तुझे अपने लिये परम प्रभु के भर रक्खे हुए आहार भंडार दिखाऊं। कारण इस प्रकार बारंबार तुझे क्षुधा बाधित करती है सो योग्य नहीं। योगाभ्यासी को निद्रा, जागरण, आहार, विहार तथा अन्य सब क्रियाएं करने में सर्व काल नियमित रहना चाहिये। अनियमित रहने वाले को योग प्राप्त नहीं होता।'' यह कह कर योगीद्र प्रभु खड़े हुए और शिष्य को साथ ले आश्रम से बाहर आये। वहां पहले सिंह बैठा था, उसने खड़े होकर तत्काल उनको वंदन किया। उसको आशीर्वाद देकर आश्रम की एक तरफ होकर उसके पीछे पवर्त की कंदराओं की ओर चले, वहां की वृक्षघटा, जल के झरने, उनकी बहुत गहरे में पड़ती हुई धाराएं अनेक कुंज गुहा आदि देख कर शिष्य चकित हो गया। जल के झरनों से जो अनेक बड़ी करारें गिर पड़ी थीं। उनसे निकले हुए कितने ही कंद दिखला कर महात्मा ने कहा—''इस कंद को अग्नि पर सेंककर भक्षण करने से एक मास तक क्षुधा नहीं लगती।'' फिर दूसरे कंद दिखाकर कहा—''इसका भक्षण

करने से दो मास तृप्ति रहती है। यह कंद तीन मास तक तृप्ति देता है। इस दिव्य कंद का भक्षण करने से योगी को छः मास पर्यंत किसी दूसरे आहार की अपेक्षा नहीं रहती। यह लाल रंग का कंद अपूर्व पुष्टि देने वाला है। यह श्वेतमूल बहुत ही स्वादिष्ट और शान्तिप्रद है।" ऐसे जुदे-जुदे कंद मूल बता कर और उनमें से कितने ही कंद मूल खुदवाकर फिर आश्रम की ओर चले। मार्ग के एक झरने पर उन्हें धुलवा कर एक सुंदर स्फटिक शिलापर आकर बैठे, फिर कहने लगे कि 'हे दानदक्ष! इस प्रकार के स्वादिष्ट भोजन जिनको प्रभु ने अनेक दिये हैं वह दूसरे लौकिक भोजनों की क्यों इच्छा करें?" यह सुन दानदक्ष बहुत हर्षित हुए, साष्टांग दंडवत् किया। यहां एक चमत्कार हुआ। जब यह दंड केसमान झुका तो उसके केश की घुंडी छूट गयी। उसमें से एक काष्ठ की डिब्बी निकल पड़ी यह देख महात्मा ने कहा—"यह क्या है?" शिष्य ने कहा—"कृपानाथ! इसमें एक मणि है!" महात्माा ने कहा; "तेरे पास मणि कहां से आयी? लां देखूं तो कैसी है!" दानवीर ने वह डिब्बी उनको दे दी। खोल कर देखते ही अति सुंदर तेजस्वी मणि उसमें से निकली। उसे देखकर महात्मा ने कहा—"अरे क्या ऐसे चमकते हुए एक पत्थर के टुकड़े को प्रेम से जीव की तरह मस्तक में छुपा रखा है! भगवत्प्राप्ति के योग की लालसा रखने वाले मनुष्य को इस क्षुद्र वस्तु में क्यों प्रीति रखनी चाहिये? ऐसे चमकीले पत्थर तो सामने की कंदना में बहुत पड़े हैं, पर उनसे क्या स्वार्थ?" यह कहकर उस कंदरा में मानों कंकर फेंक कर बतलाया हो ऐसे उस मणि को महात्मा ने उस तरफ फेंक दिया। जो असंख्य वृक्ष तथा गड्ढों के दुर्गम स्थान में न जाने कहाँ जा पड़ा सो मालूम भी नहीं हुआ। अपना सबसे प्यारा बड़े कष्ट भोग कर प्राप्त सर्वस्व धनरूप अमूल्य मणि सहज में फेंका हुआ देख द्विजपुत्र मूर्छा खाकर गिर पड़ा, क्योंकि उसे अभी तक पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं हुआ था।

अर्थी को अर्थभंग से, कामी को कामनाश से और आशाबद्ध को आशाभंग से, जो दुःख स्वाभाविक होना चाहिये वह सब दुःख ये योगिराज जानते थे; थोड़ी देरतक उसकी आकस्मिक स्थिति देखते शान्तिपूर्वक बैठे रहे; फिर यह अधिक असावधान न हो जावे इसलिये पास के झरने में से जल लाकर उसके नेत्रों पर छिड़का, और हाथ फेर-फेर कर उसे उठा के बैठाया; थोड़ी देर में वह होश में आया तब वह रोने लगा। उसे आश्वासन देकर मुनि बोले—"पुत्र! मैं जानता था कि तू सर्वस्व त्याग कर संसार से विरक्त हो बड़ा अधिकारी बन कर यहां आया है और परब्रह्म की शरण चाहता है। पर तेरी तो अभी सब संसारवासना ज्यों की त्यों उग्र है। भ्रान्ति के समय जो किसी असत्य पदार्थ पर प्रेम लगा हो ऐसा प्रेम विवेक ज्ञान प्राप्त होने के बाद नहीं होता, पर तुझे वैसा प्रेम होता है, इससे जानता हूं कि अभी तू भ्रान्ति में ही

है। तू एक छोटे से पत्थर के टुकड़े के लिये गतप्राणवत् हो गया, तो परमात्मा अथवा गुरु के लिये शरीरार्पण कैसे कर सकेगा? क्या तेरी बाह्य भावना जो दीखती है ऊपर ही की है?" ऋषिपुत्र बहुत संकुचित हो बोला—"कृपानाथ! जैसा आप कहते हैं वैसा साधारण वह पत्थर का टुकड़ा नहीं था, वह तो बड़ा अमूल्य और अपार धनरूप अटूट द्रव्य के महानिधिरूप स्पर्शमणि था। यह मणि शंकर भगवान ने प्रसन्न होकर मुझे दिया था। इसमें ऐसा अद्भुत गुण था, कि तांबा लोहा आदि कुत्सित धातु को भी स्पर्श करते ही वह सुवर्ण कर देता था। इसी के योग से मैं आज पर्यंत अपार सुवर्ण उत्पन्न करके अनेक धर्मकार्य करता था और भगवत्प्रीत्यर्थ द्रव्य खर्च करता था। ऐसा मणि संसार में सर्वत्र नहीं मिलता, क्कचित् किसी महापुण्यवान् राजा के भंडार में या आप सरीखे महान् योगीश्वर के पास हो, यह सुनने ही में आता है। इस लिये इसे खोया हुआ देख मुझे अपार खेद होता है।" यह सुन योगीराज ने पूछा—"तुझे यह मणि शंकर के पास से किस प्रकार मिला था?" दानदक्ष ने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! निर्धनता से दुःखित मैं अपना घर गुहिणी को सौंप कर अरण्य में गया। वहां मैं अपने उपास्य देव शंकर को प्रसन्न करने के लिये तप करने लगा। छः मास के अस्खलित पर्णाशन (वृक्ष के पके हुए नीचे गिरे पत्ते खाकर) व्रत से आशुतोष भगवान शंकर प्रसन्न हुए।"

"एक दिन एक अति बाल वय के जटिल ने मेरे आगे आकर अकस्मात् मेरा नाम लेकर कहा—"हे द्विजपुत्र! तेरा नाम सुविचारशर्मा होने पर भी तू बिना विचारे काया को क्यों कष्ट देता है?" मैंने कहा—"महाराज! निर्धनता के दुःख से पीड़ित मैं अटूट द्रव्य की इच्छा से भगवान शंकर की उपासना करता हूं।"

जटिल ने कहा—"अचिन्त्य तत्त्वरूप शंकर की उपासना क्षुद्र और नाशवंत द्रव्य के लिये कोई नहीं करता, इनकी उपासना तो निष्काम केवल मोक्ष की इच्छा से ही करना योग्य है।"

मैंने कहा—"महाराज! संसार की अनेक प्रबल कामनाएं पूरी अथवा निर्बल हुए बिना निष्कामपन किस तरह प्राप्त हो? मैं ऐसा मानता हूं कि जो सदाशिव अकाम हैं वे ही पूर्णकाम भी है इस लिये वे कृपालु मेरी अकाम और सकाम सब कामनाओं को पूर्ण करेंगे।"

यह सुन उस बटुकरूप जटिल ने मेरे हाथ में एक मणि देकर कहा—"ले, अटूट धन के भंडाररूप यह स्पर्शमणि है। यह स्पर्शमात्र से लोहादिक धातु को भी सुवर्ण रूप कर देती है, इससे अपनी सर्व कामनाएं व सकाम वासनाओं को

पूर्ण कर। निष्कामपन तो मोक्ष का साधन होने से सद्गुरु के सेवन से प्राप्त होता है, इसलिये किसी महाक्षेत्र में तुझे किसी तत्त्ववित् महात्मा का समागम होगा। उनकी सेवा करके तू निष्कामपन संपादन करना।" गुरुवर्य! इतना कहकर वह बालब्रह्मचारी वहीं अंतर्ध्यान हो गया और मैं उस मणि को लेकर धर्मकार्य करता हुआ तीर्थाटन करने लगा। इस जिज्ञासा से कि किसी क्षेत्र में मुझे सद्गुरु देव के दर्शन हो जिनका कृपाप्रसाद लेकर मैं निश्चिन्त होकर घर जाऊं।

इतना कह कर फिर बोला–"कृपानाथ! इस प्रकार प्राप्त हुआ अमूल्य मणि खो जाने से मुझे खेद हुआ है। मेरी संसारवासना के लिये आप कहते हैं, सो ठीक है, पर इस मणि के द्रव्य में से मैंने अपने शरीर सुख के लिये यत्किंचित् भी उपयोग नहीं किया। इससे अब तक धर्मार्थ कर्म ही किया करता हूं। यह मणि जो केवल सद्धर्म का साधन रूप था, उसके जाने से मुझ जैसे क्षुद्र विचारवाले जीव को क्यों संताप न हो?" यह कहकर वह फिर रोने लगा। अति दयालु उन महात्मा ने देखा कि उस जीव की मनोवृत्ति केवल लौकिक या विषयी जो नहीं है, किन्तु वह पूर्ण धार्मिक वृत्ति की है। वह मुमुक्षु है इसलिये उसका संताप दूर करना चाहिये। यह विचार करके तत्काल वह खड़ा हुआ और दानवीर का हाथ पकड़ कर उसे खड़ा करके बोला–"प्रिय पुत्र! चिन्ता न कर, चल उस मणि को खोज कर देखें।"

मणिशोधन चिद्गुहा

गुरु शिष्य दोनों हिमालय की घटावाली कंदरा में चले। बहुत ऊंचे नीचे मार्ग से वहां पहुंचे। आगे एक बड़ा खड्डा आया। बड़ी सावधानी से इसमें उतरना था। उसमें उतरने लगे तो उत्तरोत्तर अंधेरा बढ़ने लगा। बहुत नीचे उतर जाने पर एक टेढ़ा दरवाजा मिला। वह बहुत तंग था इस कारण उसमें उतरना कठिन था। महात्मा मुनिवर तो देखते-देखते उतर गये; पर शिष्य अपने शरीर को बहुत संकुचित करने पर भी न उतर सका। तब महात्मा ने उसे नेत्र बंद कर मायापति का ध्यान धरने की आज्ञा दी। ऐसा करते ही वह सहज में अंदर प्रवेश कर सका। अंदर तो कोई अलौकिक नवीन ही सृष्टि के समान आनंद जान पड़ता था। यह स्थान एक बड़ी गुप्त गुहा थी। इसमें आगे जाते ही सुन्दर प्रकाश आया। अनेक दिव्य जाति के वृक्ष तथा चारों ओर की शिलाओं में से झरने इकट्ठे होकर निर्मल जलसमूह की शोभा बहुत आनंद देती थी। चारों ओर से अनेक छोटे झरने झम-झम करते नीचे वहां से बहते थे। वहां से एक सरोवर में इकट्ठे हो, एक बड़े

प्रवाहरूप पर्वत के कोटर में लुप्त हो जाते थे। सर्व भूमि पाषाणमय ही थी; परन्तु इस गुहा के पाषाण कुछ विलक्षण और तेजोमय थे।

एक सुदंर वृक्ष के नीचे बैठ कर गुरु महाराज बोले—"पुत्र! इस झरने में उतर कर नीचे से एक अंजलि भर कंकड़ ले आ।" शिष्य जल में उतरा। जल से सर्वत्र बड़े-बड़े कंकड़ ही थे, इससे तुरंत खूब अंजलि भर कर वह बाहर निकला, और अंजली में कंकड़ों को देखते ही आश्चर्य में लीन हो गया। वे कंकड साधारण झरना और नदी के कंकड़ों के समान न थे। बड़े तेजस्वी थे। जिनके सामने इसका स्पर्शमणि भी मलिन था। वे लेकर गुरु के समीप रखे। तब उन्होंने कहा—"पुत्र! इसमें से अपना स्पर्शमणि पहचान कर उठा ले और शेष कंकड़ झरने में डाल दे।" शिष्य एक-एक कंकड़ को बार-बार हाथ में लेकर देखने लगा। तो वे सब स्पर्शमणि ही थे। एक से एक बढ़कर तेजस्वी थे। विस्मय को प्राप्त हुआ वह द्विजपुत्र कुछ बोल न सका। फिर महात्मा ने उसे दूसरे झरने में से अंजलि भरकर कंकड़ लाने को कहा। उसके कंकड़ इससे भी अधिक तेजस्वी थे और वे सब भी स्पर्शमणि थे। तीसरे झरने में से भी एक अंजलि मंगाई। इसके कंकड़ तो आश्चर्यमय ही थे। इसके अद्भुत तेज के सम्मुख तो बिलकुल देख भी नहीं सकते।

ये तीनों ढेर दिखा कर वह महात्मा बोले—"हे दानदक्ष! हे सुविचारशर्मा! पूर्ण विचार करके तेरा अथवा तेरे मणि के समान ही जो मणि हो वह तू इनमें से उठा ले।" आश्चर्यमग्न हुआ शिष्य चकित हो कुछ उत्तर न दे सका और न मणि ले सका। तब महात्मा ने कहा—"भाई! ये सब स्पर्शमणि हैं पर इनकी जाति पृथक्-पृथक् है। तू पहले जो स्पर्शमणि लाया है, यह स्पर्श मात्र से लोहे को सुवर्ण करती है; दूसरे ढेर के मणि से स्वाभाविक सुवर्ण उत्पन्न होता है, तीसरे ढेर के मणि सब मणियों का मूल है; क्योंकि इनका स्पर्श होने से साधारण पाषाण भी मणि हो जाता है, ऐसे असंख्य मणियों का भंडाररूप यह चिद्गुहा है। पर इन नाशवंत कंकड़ों के संग्रह से कोई परमार्थ साधन नहीं कर सकता, उसके लिये तो ये महाविघ्नरूप हैं। ऐसे कंकड़ों पर कौन लुब्ध हो? ये क्या काम देंगे? ये मणि किस भय से बचावेंगे? सदसद् वस्तु का विचार करने वाले विनयसंपन्न प्राणी सत् को छोड़ असत् पर प्रेम किस कल्याण के लिये इस मणि का संग्रह ऊपर करें? विचार कर! जिस समय तू पहले विकट जंगल में भूला भटक रहा था, तेरे प्राण भी खटाई में पड़े थे, तब तेरा स्पर्शमणि तेरे पास ही था। उसने क्या सहायता की थी? इस देहान्त संकट से बचाने का उसमें

कुछ उपाय सूचित होता था? सकंट से छुड़ाना तो दूर रहा बल्कि यह तो संकट में डालने वाला पदार्थ है। माया के मूल तत्त्वों में से यह मुख्य है, वैसे ही रजोगुणी पदार्थों में भी अग्रगण्य है। रजोगुण का स्वभाव मायाप्रपंच की वृद्धि करता है। तू तो केवल सात्त्विक प्रकृति का मनुष्य है, इसीलिये इस मणि के द्रव्य से केवल धर्मकार्य करता था और उस पुण्य के प्रताप से ही तुझे उत्तम ज्ञान संपादन करने की जिज्ञासा हुई है, यह निश्चय जान। परंतु राजसी प्रकृति वाले मनुष्य के हाथ में जो यह मणि आया होता तो वह उसका उपयोग असंख्य द्रव्य उत्पन्न कर उससे अनेक प्रकार के विषयोपभोग भोगने ही में महत्त्व मान कर अनेक दुष्कृतों के पहाड़ खड़े कर देता अथवा विषयोपभोगो ही में रच पच रहता और आयुष्य पूरा कर सत्कर्महीन बन कर यमालय को जाता और तमोगुणी मनुष्य का क्या होता? ऐसा अमूल्य मणि मिलने से तत्काल ही नरक में पड़ता, कारण कि अपनी अज्ञानता के योग से उलटे ही आचरण करता, फिर दुराचरणों का फल नरकवास है। अर्थात् तेरी भी यदि रजोगुणी या तमोगुणी वृत्ति होती तो तू भी इसी दशा को प्राप्त होता। पूर्व जन्म के संस्कारवश तेरी प्रकृति सात्त्विक बनी है। वह भी अधिक काल तक राजसी पदार्थों के सेवन से रजोगुणी होती, परिणाम में तमोगुणी भी होती; क्योंकि माया से उत्पन्न प्रापंचिक पदार्थों का साथ उस प्राणी को उत्तरोत्तर उसकी उत्तम स्थिति को अधोगति ही में उतारनेवाला है। ऐसे अनर्थमूलक होने पर ये पदार्थ मायिक होने से माया के प्रपंच ही की तरह नाशवंत हैं, अनित्य हैं, चपल हैं, सुदृढ़ बंधनरूप हैं, बल्कि अशान्त, भयरूप, मायापति का आश्रय होने में रूकावट डालनेवाले, वासनाओं की वृद्धि करने वाले और परिणाम में महादुःखदायक भी ये ही हैं। इसलिये हे पुत्र? जो माया के प्रपंच से छूटने का यत्न करने वाले होने से यति कहे जाते हैं वे महात्मा ज्ञानी जन, और अनर्थमूलक ऐसे क्षुद्र मायिक मणि का अनित्य, नाशवंत, जड़ कभी भी आश्रय नहीं करते। अहो! परम अभयप्रद, शरण्य, अविनाशी, परम तत्त्वरूप आनंदमय और सर्वार्थपूर्ण ऐसे साक्षात् चैतन्यमणि सर्वेश्वर भगवंत मायापति का सदाश्रय छोड़ इस क्षुद्र जड़ मणि का कौन आश्रय करे? कौन ज्ञानी जीव परम आनंद रस के अमृत को छोड़ संसारी पदार्थों में रमण करे? अत्यंत सुख देने वाला प्रत्यक्ष चंद्रप्रकाश छोड़ कर चित्र में चित्रित चंद्रमा को देखने में कौन मूढ़ आनंद पावे? मिथ्या पदार्थों के भोग से तृप्ति नहीं होती और न दुःख की निवृत्ति होती है। जैसे श्रीमती भगवत्पादोदकमयी भागीरथी के किनारे पर खड़ा हुआ कोई प्यासा मनुष्य जल

पीने के लिये किनारे कुआ खोदने या तलाश करने का प्रयत्न करे, उसी प्रकार सब बातें अनुकूल मिलने पर परम कल्याणकारण चिन्मणि प्राप्त करने का प्रयत्न छोड़ कर कौन सा भाग्यहीन दुर्मति मनुष्य ऐसे जड़ मणि की तरफ दृष्टि भी करे? सारासारविचारहीन मंदमति के दर्शन भी महा पापरूप हैं। उसका तो जैसे बने वैसे शीघ्र साथ छोड़ना, यह सन्मति का प्रथम कर्तव्य है और हे शिष्य! चैतन्यमणि तो सर्व अर्थ, सर्व काम, सर्व आशा, सर्व विद्या, सर्व शक्ति, सर्व चमत्कार, सर्व सुख, सर्वोत्तम ज्ञान, समग्र शान्ति, सर्व पुरुषार्थ और सर्व श्री संपत्तियों का इकट्ठा समुद्र—महासमुद्र है। यह सकल चमत्कृति वाली और अघटित घटना चातुर्यवाली महामाया का पति है। मोक्ष का स्वामी है, भक्ति का भूप है, भव का भंजक है, शरणागत का त्राता है, दुष्टों को दुःखद है, संतों को सुखद है, अगणित गुणागार है, आनंदसागर है, घटघटवासी है, सदा अविनाशी है, सत्य है, नित्य है, सारों का सार है, अकल्प्य है, अपार है, अचिन्त्य है और परम दयावंत है। अगम्य है, अगोचर है, अकथ्य है तिस पर भी कठिन से कठिन अनिवार्य भय-दुःखों में शरणागत का अवश्य रक्षा करने वाला भी यही है। फिर सबका साक्षी है, भय को भी भयरूप तथा अभय का दाता है। सदा न्यायी और सर्व में समान है। अधिक क्या कहूं? इसका पूर्ण वर्णन कोई कर नहीं सकता। सब प्रकार इसी की प्राप्ति का प्रयत्न करना, मनुष्य का आवश्यक धर्म है। इसको छोड़ और सब मिथ्या और दुःखरूप है।"

यह सब सद्बोध एकाग्रता से सुनने वाला द्विजपुत्र, संशय से निर्मुक्त होने के लिये बहुत आनंद पाकर उन महात्मा के चरणों में प्रणाम कर बोला, "हे प्रभो! हे गुरुवर्य! हे चैतन्यनिधे! हे दयासिंधो! आपकी कृपा से अब में समझा। मेरा अज्ञानपटल हट गया और सार क्या तथा असार क्या यह मैंने देखा। आपके अतुल प्रभाव को मैंने जाना।" फिर गुरुवर्य ने प्रेमपूर्वक उसे हृदय से लगाया और अनेक आशीर्वाद देकर आप खड़े हुए। अत्यंत संतुष्ट हुआ वह द्विजपुत्र उन तीनों मणियों के समूहों को जहां से लाया था वहीं फिर डाल आया, तब प्रसन्न हुए गुरुदेव उसे साथ ले वहां से निकल आश्रम की ओर चले।

चिन्मणिदर्शन

आश्रम में आते आते संध्या समय हो गया। तुरंत ही उन्होंने संध्योपासन किया। फिर गुरु शिष्य दोनों जन स्वस्थ चित्त से पर्णशाला में आकर बैठे। बड़ी रात तक शिष्य ने पूज्यपाद की सेवा करी। जब सर्वत्र शान्ति हो गयी। तब वह कृपालु

महात्मा बोले—"हे द्विजपुत्र! अब तू हस्तपाद प्रक्षालन करके उस कुशासन पर बैठ जा, आचमन प्राणायाम कर, चित्त को स्थिर कर और मैं कहूं सो सुन"—

शिष्य उस प्रकार स्थित हो बैठा तब महात्मा बोले—"हे तात! मैंने तुझसे प्रथम ही कहा है कि मायापति का स्वरूप हम जैसा कल्पित कर ले वैसा ही है। इस परम पुरुष का वास्तवकि रूप कोई नहीं जान सकता, न कल्पना कर सकता है। ऐसा अकल और अचिन्त्य है; इसलिये वह किसी आधार के बिना कैसे लक्ष्य में आ सके? किस प्रकार उसमें मन स्थिर हो सके? इसलिये उसका अमुक प्रकार का स्वरूप, कल्पना करना पड़ता है, और जो-जो कल्पना हम कर सकते हैं वे उस सर्वव्यापक और सकल सत्ताधीशकी सत्ता से बाहर नहीं हो सकती। उसी की सत्ता में अपना मन और अपनी कल्पना भी है। तो फिर उसका जो हम स्वरूप कल्पना करें वैसा होने की भी उसकी सत्ता है, इसीलिये मैंने तुझसे ऐसा कहा है कि 'हम जैसी कल्पना करें वैसा ही उसका स्वरूप है,' पर जैसा मन में आवे वैसी कल्पना करने की अपेक्षा कुछ आधारपूर्वक कल्पना हो तो वह सर्वोत्तम है। इस जगत में जब जब अधर्म और अधर्मी बढ़ जाते हैं और धर्म पर प्रहार करने लगते हैं तब-तब धर्म जो भगवान को प्राप्त करने का साधन है, भगवान मायापति को अति प्रिय है, उसकी रक्षा करने के लिये वह कृपालू आप ही जगत में प्रकट होता है और धर्म का संरक्षण कर अधर्म तथा अधर्मियों का उच्छेद करता है। ऐसा अनेक बार होता है और उन-उन समयों में उनका जैसा स्वरूप होता है, वैसा ही स्वरूप को उसकी उपासना के लिये साधक अपने अतंःकरण में दृढ़ कर लेते हैं। माया के साथ रह कर यह मायापति जगत्रूप हुआ है। इसमें रंक से राय, कीड़ी से कुंजर, परमाणु से मेरु और सूक्ष्म जन्तु से ब्रह्मदेव पर्यंत सर्व रूप वह आप ही है—अर्थात् जगत्रूप होने के साथ इस जगत का नियंता रूप भी वही हुआ है। इसलिये समस्त जगत्रूप से, विश्वरूप से जो उसे न भज सके तो जगत के नियंता रूप से भजना। अनेक साधको इस नियंतृ स्वरूप की भी उपासना करते हैं।

इतना कह कर वह महात्मा फिर बोले—"हे द्विजपुत्र! मैंने तुझे तो तेजःपुंज का ध्यान करना बताया है वह भी ऊपर कहे हुए दोनों स्वरूपों से विलक्षण है। वह तो अशरीरी है। उसमें श्रद्धापूर्वक मन स्थिर हो जाय तो अति श्रेष्ठ! परम कल्याण! पर शरीरधारी को अशरीरी स्थिति का अवलोकन बहुत कठिन हो पड़ता है। इसलिये जिस पर मन तत्काल स्थिर हो जाय और परम भक्ति से जिसका सदा स्मरण कर सकें, ऐसा उस मायापति का शरीर स्वरूप आज मैं तुझे बताऊंगा। नेत्र

बंद कर। अपनी कल्पना दृष्टि से जो सर्वत्र महातेजोभास तू देखता है, उस आभास के विषे खूब स्थिर होकर देख, कि उसके मध्यभाग में एक बहुत विस्तृत और सपाट भूमि उत्पन्न हुई है। वे भूमि नवीन और नीले रंग के तृणांकुरों से छाई हुई होने से हरे रंग की दिखाई देती है। उसमें थोड़े अंतर से अनेक जाति के सुपुष्पों के स्तबक आये हुए हैं, उनके बीच में एक सुदंर नवपल्लवित कदम्ब वृक्ष बहुत गोल घटादार और सुपुष्पित लगा हुआ है। उसकी छाया में बहुत श्वेत रंग की युवा और हृष्ट-पुष्ट तथा सुवर्ण के झांझ और घंटा आदि से शृंगारित सवत्स धेनुओं का बड़ा समूह खड़ा है। वह कोमल तृणांकुर चरता है। उसके बीच में अति दिव्य वस्त्रालंकार से सुसज्जित नवयौवनसंपन्न बालाएं तथा किशोर वय के सुंदर चपल बालक हाथ में नन्ही-नन्ही छड़ियाँ, गेंद और बांसुरियां लेकर खड़े हुए हैं। इन सबके बीच कदंबतरू के मूल के समीप एक अति सुललित मेघ के समान श्याम कांतिवाला कामदेव को भी लज्जित करने वाला सौन्दर्यवान् बालक महातेजस्वी खड़ा है, इसकी अवस्था छः और आठ वर्ष के बीच होने पर भी इसकी छबी ऐसी मनोहर है कि पूर्वोक्त बालक बालिका और धेनु उसे छोड़ इधर-उधर चलायमान नहीं होते, इसके चरणों में मणि जड़ित झांझ, कमर में पीताम्बर का कछोटा, उस पर सुवर्णकिंकिणी और कंठ में अति दिव्य तेजोमय मणिमाणिक्य की माला है। बाहं में मणि का तेजस्वी बाजुबंद है और पहुँचे में दिव्यमणिकंकण है, सुवर्ण की किनारी युक्त पीताम्बर की चद्दर कंधे पर पड़ी हुई है। उसके चन्द्रसम सुप्रकाशित और कमलसम कोमल मुखारबिंद की अपार शोभा है, उसके प्रवाल सरीखे अधरोष्ट, सुंदर गोल दोनों गंडस्थल, सुंदर शुकतुंडसम नासिका,कमल के समान विशाल मंजुल नेत्र, दोनों कानों में मणिजटित कुंडल, मस्तक पर से ललाट पर और चारो ओर झुकी हुई सुंदर श्याम अलकें विशाल भाल पर केसर कस्तूरि का तिलक इत्यादि सबसे उसका मुखारबिंद लावण्य का प्रवाह मोतियों की माला की चमक के समान दीखता है। इसके मस्तक पर अति तेजस्वी, मणिमाणिक से जड़ा हुआ सुवर्ण का किरीट, उस पर सुंदर मयूरचन्द्रिकाओं का मनोहर मुकुट शोभायमान है। यह अपने दोनों कोमल करकमलों से मनोहर स्वर वाली वंशी को अधर पर धारण कर उसमें श्वास भर रहा है। और उसमें से निकलते महामधुर स्वर से उसके आसपास खड़े सब तदाकार बन रहे है।''*

इतना कहकर योगिराज कितनी ही देर तक शान्त रहे। शिष्य को भी स्थिर हो गया देख फिर बोले—''यह बालक महामनोहर अद्‌भुत बालक सामान्य प्राकृत बालक

* वंशी विभूषितकरान्नवनीरदाभात्पी ताम्बरादरूणबिम्ब फलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वंमहं न जाने।।

नहीं, यह समस्त व्यष्टि और समष्टि—सकल ब्रह्माण्ड तथा ऐसे अनंत ब्रह्माण्डों का स्वामी, सबका ईश्वर, प्रपंच से पर और माया तथा महामाया का पति है, यह महामाया का पति होने से उस माया से बने हुए प्रापंचिक जगत् का और उसमें रहे हुए मेरा और तेरा भी पति-स्वामी है। ऐसा अब जान। तथापि तू उसको स्वामीरूप नहीं जानता, इसलिये आज से तू पहचान ले, कि यही तेरा स्वामी है। इसी की सेवकाई में वर्तमान में तुझे रहना है। अपना सब भाव तू इसको अर्पण कर,* क्योंकि सब इन्हीं की कृपा से ही तुझे प्राप्त हुआ है। इन दृश्य पदार्थों में तेरा अपना कुछ भी नहीं। तू आप भी इन्हीं से हुआ है अर्थात् इसी का रूप है और यहीं है। पर प्रपंच में फसा होने से वह बात तू बिलकुल ही भूल गया है। इसके सदा सहवास से पीछे अपना सत्य स्वरूप तू संपादन कर ले। यह माया और माया का प्रपंच सब परिणाम में नाशवान है, पर केवल तेरा यह स्वामी ही सदा सर्वदा अविनाशी है। इसके बिना सब नाशंवतं हैं, दुःखद हैं, अकल्याणकारी है, यहीं चैतन्यमणि! यहीं तेरे हृदयरूप अंधेरी कोठरी में उजाला करेगा। यह तेरा जटा में का मणि अथवा नाशवंत गुहा में का मणि किस काम का? यही सच्चा चन्द्रकान्त मणि! इसके अंजन से तेरे अविद्यामय अज्ञानपट नाश को प्राप्त होंगे, प्रपंच में पड़कर पाषाण रूप हुआ तू इस चैतन्यरूप चन्द्रकान्त मणि के स्पर्श से साक्षात् स्पर्शमणि ही हो जायगा। यही तुझे शीतल करेगी, तेरे नेत्र खोलेगी, प्रकाश देगी, अंधकार दूर करेगी, इसलिये इन महाचैतन्यस्पर्शमणि रूप अपने स्वामी के चरणारविंद में पूर्ण प्रेम से प्रणामरूप स्पर्श कर और हाथ जोड़ कर उनकी परिचर्या में खड़ा रह। अपनी सर्व प्रिय वस्तु तथा सर्व सुखों के साधन तू इसी क्षण से गुरू के पादारविंद में अर्पण करके उनको प्रसार रूप ग्रहण कर। इन्हीं की आज्ञा में रहना, इनकी आज्ञा बिना कुछ भी न करना, मिथ्या नाशवंत स्पर्शमणि को कोई न जाने, इस प्रकार जब तू मस्तक में रखता था तो चैतन्यरूप इस स्पर्शमणि को हृदय में रखना। जैसे उस जड़ पारस को लोहादि जड़ पदार्थों में घिस कर तेजस्वी सुवर्ण कर देता था। उसी प्रकार इस चैतन्य पारस को अपने मन तथा मनोवृत्ति रूप मलिन जड़ धातुओं में घिस कर तेजस्वी चैतन्य के समान करना है। इस जड़ पारस मणि को जब-जब काम पड़े तब ही तू सम्हालता था, पर इस पारस को तो प्रतिदिन और क्षण-क्षण सम्हालते रहना; क्योंकि इस जड़ पारस को तो कोई चोर ले अथवा हरण कर ले तब ही तेरे पास से जाने वाला था, पर चैतन्य पारस तो बारंबार सम्हाल कर रखना है और इसकी ओर अखंड दृष्टि रखनी है, नहीं तो यह ऐसा चंचल है कि

---

* यत्करोषि यदश्नासि, यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।

अपने आप चला जाता है। पर हां! जो अतंःकरण से इसके साथ पूर्ण प्रीति बढ़े तो उसे छोड़कर कहीं नहीं जा सकता, उलटे सदा सर्वदा यह तुम्हारी सम्हाल रखा करेगा और समग्र संकटसमूह और अज्ञानतिमिर से दूर ही सुप्रकाशित रखेगा; उस जड़ पारस का तू स्वामी था और प्राणों की तरह उसकी रक्षा रखता था; पर यह चैतन्य पारस तेरा स्वामी है। तुझे निश्चिंत हो रहना चाहिए; क्योंकि उस अपने जड़ पारस की रक्षा करने के लिये तू चिंता रखता था, पर यह तो उलटी तेरी रक्षा अपने सिर पर लेने वाला है। यह तेरी, मेरी और सारी सृष्टि की रक्षा करने में समर्थ है। हे दानदक्ष! प्रथम जड़ पारस तेरे पास था, पर तू धनाढ्य तो नहीं था, सच्चा धनाढ्य तो अब हुआ है, इसलिये इस चैतन्य धन की भली भांति सम्हाल रखना और प्रीति से इसका सतत सेवन करना।''

इस प्रकार चैतन्य धन का भंडार अपने सुपात्र शिष्य के आगे खुला रख कर फिर वह सद्गुरु अपने मन में स्मरण करता शान्त मन से बैठा और उस द्विजपुत्र को चैतन्यमणि के स्वरूप में समाधि लग गयी।

स्वरूपानंद में तल्लीन हुआ वह बड़ी देर तक बोला भी नहीं। फिर पीछे 'जय प्रभो! जय-जय गुरुदेव!'' ऐसे कहता हुआ एकाएक खड़ा हो अति आनंद से मग्न हो गया। फिर सद्गुरुदेव ने उसे अपने हृदय से लगा लिया और कहा—''हे तात तेरा कल्याण हुआ, अब तू भाग्यशाली हुआ, अनाथ से सनाथ हुआ और उस पूर्णकाम, कोटिकाम परम परमात्मा की कृपा से ही तुझे उसके ध्यानरूप चैतन्यमणि प्राप्त हुआ है। अब उसे तू सदा सम्हाल कर रख और उसका सच्चा प्रयोग आरंभ कर। इसकी सम्हाल तो मैं पूर्व कह ही चुकां हूं, उसी प्रकार इस पर पूर्ण और विशुद्ध प्रेम दृढ़ होने से कभी विस्मरण न हो, इस लिये बहुत सावधान रहना चाहिये और इस पर अंखड दृष्टि रखना चाहिये। ये दोनों बातें कभी न भूलनी चाहिये। इनमें बहुत सावधान रहना चाहिये। यह अखंड दृष्टि कौन से नेत्रों से रखनी है सो तू समझा?'' शिष्य विचार में पड़ा और उसने अपना अज्ञान भी प्रदर्शित किया, तब महात्मा ने कहा ''तूने जो अभी स्वरूप देखा वह किन नेत्रों से?''

शिष्य ने कहा—''कृपानाथ! यह तो मन से देखा, और अब मैं समझा कि इस पर अखंड दृष्टि भी मन से ही रखनी चाहिये।''

सद्गुरु कहा—''जैसे दृष्टि मनोमय नेत्रों से रखनी है वैसे ही प्रेम भी मन ही से रखना होता है। अब तू भलीभांति समझा होगा, कि उस सर्वेश्वर प्रभु मायापति की शरण होने और उसकी सेवा करने का मुख्य साधन मन है, पर तू जानता नहीं कि यह मन माया के प्रपंच में सराबोर होने से बड़ा हठीला, चपल, उन्मत्त और बड़ा जोरावर

है,* इसलिये प्रत्येक साधन को प्रथम इस नीच और जड़ मलिन मन को शुद्ध कर *स्थिर करने की और अपने अधीन करने की आवश्यकता है।"*

यह सुन शिष्य बोला—"कृपानाथ! तो इसका क्या उपाय होगा?" सद्गुरु बोले—"पुत्र! इन सबका उपाय रूप मैंने तुझे यह चैतन्यरूप स्पर्श मणि दिया है, जिसके उपयोग से तू मनोवांछित कार्य कर सकेगा। उस चिद्गुहा में जो-जो प्रकार के स्पर्शमणि तूने देखे थे उनमें से प्रत्येक के गुण भिन्न-भिन्न थे। उनमें से अन्तिम स्पर्शमणिपुंज ही सबसे अधिक तेजस्वी और सर्वोत्तम गुणवाला था। औरों को छोड़कर इनमें से केवल एक ही कंकर को जो अर्थी ग्रहण करे, तो उसके अन्य कंकरों से सिद्ध होने वाले भी सब कार्य सिद्ध हों, कारण कि जैसे सर्वोत्तम स्पर्शमणि पत्थर को भी स्पर्श मात्र से स्पर्शमणि पत्थर बना लेता है और अन्य स्पर्शमणि तो केवल धातुको ही सोना बना देते हैं, उसी प्रकार का यह चैतन्य स्पर्शमणि मैंने तुझे सबसे श्रेष्ठ दिया है, कि जिससे तेरे सब कार्य सिद्ध होंगे। परब्रह्म परमात्मा मायापति की चैतन्यमय दिव्य मूर्तिरूप सर्वोत्तम स्पर्शमणि का घर्षण होने से तू आप ही मलिनतारहित चैतन्यमय स्पर्शमणि हो जावेगा, और तेरा मन जो कि जड़ पाषाणवत् है वह भी बारंबार उस महामणि के साथ स्पर्श होने से स्पर्शमणिरूप होगा, और फिर अति मलिनता तथा कठोरता को प्राप्त हुई लोह पित्तलादिक धातुरूप तेरी मनोवृत्तियां तथा मनोविकार सब उज्ज्वल और पवित्र बने हुए मनोमय स्पर्शमणि के साथ घिस-घिस कर उज्ज्वल निर्मल †सुवर्ण के समान होगे, ऐसा होते ही अपना कार्य पूर्ण हुआ जान लेना। और कहा जायगा कि तूने दिव्य चैतन्यमणि का यथार्थ उपयोग किया तब ही तू पूरा भाग्यवान् और अखूट चैतन्यमणि के आगार का स्वामी होगा, फिर वह चैतन्यमणि कभी तेरे पास से अलग न होगा। तू और तेरा मन भी उसके पास से न खसक सकेगा अर्थात् यह और तू दोनों एकरूप हो जायंगे। फिर सदा सर्वदा अखंड सुख, अखंड प्रीति, अखंड प्रेम, अखंड आनंद और अंखड ज्ञानरूप अतुलित ऐश्वर्य का तू भोक्ता बनेगा।"

यह सुन शिष्य प्रार्थना करने लगा कि "हे कृपासिन्धो! आपने दिये हुए इस चैतन्यमणि का यथार्थ उपयोग करके मेरे मन तथा मनोवृत्ति आदिक को शुद्ध सुवर्णरूप करना बतलाकर सेवक को पूर्ण कृतार्थ कीजिये।"

---

* चंचल हि मनः कृष्ण। प्रमाथि बलवद्दृढम्।

† काचः कांचनसंसर्गाद्धत्ते मारकतीं द्युतिम्। तथा सत्सन्निधानेन हीनो याति परां गतिम्।। नीचोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः। अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः॥ सत्संगतिः कथय किन्न करोति पुंसाम्?

सद्गुरु ने कहा—"तात! हां, मैं यह रीति अवश्य बताऊँगा, पर वह घटी *दो घटी या दो एक दिन में तो जानी नहीं जायगी। इसके लिये तो अधिक लंबा समय चाहिये, अब रात्रि अधिक हो चुकी और तू श्रमित भी बहुत हुआ है* इससे जरा विश्राम ले, अपने स्वामी की सेवा में तत्पर हो फिर निश्चिंतपन से मैं तुझको सर्व प्रकार बताना आरंभ करूंगा।"

एक नूतन शिष्य

दूसरे दिन द्विजपुत्र अपने प्रातराह्निक के कर्म से निवृत्त हो, गुरुचरण में वंदन करने गया तब मुनीश्वर ने उसे आशीर्वाद देकर कहा "पुत्र! पहले जैसे कंद लाया था वैसा सफेद कंद लाकर पहले भक्षण कर, फिर स्वस्थ चित्त से मैं कहूं और तू श्रवण कर।"

गुरु की आज्ञा होते ही शिष्य वहां से उठना चाहता था कि, द्वार की ओर किसी के पांव की आहट सुन कर उसने उधर देखा तो जान पड़ा कि कोई आश्रम की ओर आता है; वह उसने गुरुदेव से कहा इतने में एक अद्भुत सुन्दर किशोर मूर्ति बड़ी चपल चाल से चलती हुई पर्णकुटी के द्वार पर आकर खड़ी हो गयी और "श्रीगुरुवर्याय नमो नमः" कह कर उन योगिराज के चरणों में बड़े हर्ष से विनीत हुई। इस अद्भुत मूर्ति का स्वरूप अति मनोहर था। उसके मस्तक पर सुन्दर जटाजूट शोभित थे। सर्वांग में भस्म रमी थी और कंठ से पांव तक व्याघ्राम्बर का जामा पहने था। एक हाथ में जल का कमंडलु और दूसरे हाथ की बगल में कृष्णाजिन था। थोड़े-थोड़े बादल में ढके हुए शरच्चन्द्र के समान उसके भस्म से ढके हुए मुखारविंद पर श्मश्रु केश भी नहीं जमे थे। इससे देखने वालों को अनुमान होता था कि वह कोई पन्द्रह-सोलह वर्ष का बालक है।

उसे देखते ही योगिराज मानों उसे पहचानते ही हो वैसे बोल उठे—"हे धर्मार्थप्रेषित! (धर्मार्थ नामक गुरु के भेजे हुए) तू अमरगिरि से आया है? वहां मुनि धर्मार्थपूर्ण प्रसन्न हैं?"

यह सुन योगिराज के अन्तर्यामीपने पर आश्चर्य मान उसने तत्काल "हां कृपानाथ! मुनिवर धर्मार्थजी पूर्ण कुशल और सुप्रसन्न हैं और उन्होंने आपको बड़े प्रेम से प्रणाम कहा है।" यह कह कर फिर दंडवत् प्रणाम किया।

गुरुवर्य ने उसे उठा कर आशीर्वाद देकर सामने बैठा कर कहा—"हे छद्मलिंग*! तेरा कल्याण हो, आगमन सफल हो। आज से दो दिन पूर्व मैं तेरी बाट देखता था पर तुझे देर हुई। किन्तु कोई चिन्ता नहीं। भगवदिच्छा बलवती है पर महात्मा मुनि

* यह उसका नाम था।

धर्मार्थपूर्ण ने तुझे क्या आज्ञा दी है सो मुझसे कह।"

गुरुदेव के वचन सुन छद्मलिंग बोला–"प्रभो! मेरी मनोवृत्ति यथार्थ जान कर उन महात्मा मुनिवर ने मुझपर कृपा कर मुझे आपके पास आने की आज्ञा दी और कहा कि, 'तू जो ज्ञान चाहता है और जैसे ज्ञान का तुझे अधिकार है उस प्रकार का ज्ञान तुझे वहां जाने से मिलेगा। क्योंकि वहां ऐसा उपदेश लेने के लिये एक द्विजपुत्र उन पूज्यपाद मुनिवर के पास आया हुआ है। और उसको अब शीघ्र ही उपदेश आरंभ करेंगे। वह महात्मा मेरे परमप्रेमी हैं; इसलिये मैं तुझे उनके पास भेजता हूं;' यह आज्ञा कर उन्होंने मुझे एक दिव्य गुटिका दी और कहा कि 'इस गुटिका को मस्तक में रख कर जाने से तू अगम्य स्थान में भी निर्भयपन से शीघ्र चला जायगा और जहां पहुंचा है उस स्थान पर अपने आप जा पहुंचेगा।' सो, हे देवेन्द्र! इसी प्रकार उनकी दी हुई गुटिका के चमत्कारिक प्रभाव से मुझे आज आप के पुण्यरूप दर्शन हुए हैं। अब मैं पूर्ण कृतार्थ हुआ हूं और आपकी शरण हूं। जैसे इस ऋषिपुत्र को आपने अपत्यरूप मान कर इस पर वात्सल्य किया है, वैसा ही मुझे भी गिन कर अपनी अमूल्य सेवा का लाभ दीजिये। इन ऋषिपुत्र के आप पूज्य हो, और मेरे तो आप तथा आपके पट्ट शिष्य होने से यह ऋषिपुत्र भी पूज्य हैं, इसलिये अपनी समस्त सेवा का अधिकार कृपा कर मुझे ही दीजियेगा"

ऐसी प्रार्थना कर फिर छद्मलिंग हाथ जोड़ बोला–"कृपानाथ! मैं तो केवल आपकी सेवा से ही कृतार्थ होऊंगा, क्योंकि मेरा अधिकार केवल सेवा करने ही का है, ज्ञानश्रवण का नहीं, ज्ञानश्रवण तो सुबुद्धि, सुविचार, सदाचरण, तप इत्यादि से संपन्न जीव का ही कर्तव्य है। पर इन सबसे हीन, अज्ञात ऐसे मुझ सरीखे प्राणी को तो केवल सद्गुरुसेवन ही कर्तव्य है। वह लाभ आपके कृपालु चरणारविंदों से मुझे मिलेगा। ऐसी पूर्ण आशा है।"

यह सब बातें सुनते हुए वे महात्मा योगीश्वर यह छद्मलिंग कौन है? यहां से आया है? उनकी कैसी वृत्ति है? कितना अधिकार है? वह क्या चाहता है? इत्यादि सब अपने योगबल से जानते थे, इससे उसकी ऐसी नम्र प्रार्थना सुन बहुत प्रसन्न हुए और बोले कि "तेरा कल्याण हो। इस द्विज में और तुझमें मैं कुछ भी अंतर नहीं मानता। तेरा निर्मल और सत्त्वशील तपस्वी अंतःकरण ही तेरे महद् भाग्योदय का मूल है। तेरा पवित्र धैर्य और तेरे शुद्ध मनोभाव को धन्य है। अब तुम दोनों शिष्य मित्रभाव से रहो और अति उत्कृष्ट और अलभ्य ऐसे भगवत्पर परम पुरुष संबंधी ज्ञान संपादन करो। प्रथम तुमको बारंबार क्षुधा बाधा न करे इसलिये (द्विजपुत्र की ओर दृष्टि करके) इस कंदमूल का यथेच्छ भक्षण करो।"

यह आज्ञा होते ही द्विजपुत्र ऊठ कर कंद मूल फल गुरु के पास ले आया। उन्होंने दोनों को निर्विकार बुद्धि तथा अधिक समय तक तृप्ति करने वाले कंद मूल बाट दिये, जिन्हें लेकर भक्षण करने के लिये वे दोनों शिष्य आश्रम के सरोवर पर गये।

ज्ञानकथन

दूसरे दिन महात्मा योगीश्वर ने कृपा कर दोनों शिष्यों को अपने सम्मुख बिठाया। फिर पूर्णानंद पूर्ण पुरुषोत्तम सर्वेश्वर व्यापक परब्रह्म का ध्यान-स्मरणरूप मंगलाचरण कर उस पर ब्रह्म की प्राप्ति होने के लिये सर्वोत्तम प्रकार का कथन करना आरंभ किया। प्रथम प्रत्येक मनुष्य प्राणी को जन्म के साथ ही अत्यावश्यक कर्तव्य क्या है सो कहा, फिर माया के सब पदार्थो को मन से त्याग करके मन को भगवंत के अनन्य शरणागत करना यह सिद्धान्त कह सुनाया। फिर यह मन अदृश्य सर्वव्यापी होने पर भी गूढ़ और सर्वशक्तिमान भगवन्त के शरण सदा सर्वदा अनन्य भाव से किस प्रकार रहे और माया के पदार्थों से विरक्त किस प्रकार बने, यह बात सबसे कठिन होने से और समझ में विलंब से आने के योग्य है, इस कारण विस्तारपूर्वक अपने शिष्यों से अलग-अलग खोल कर कहना आरंभ किया। माया कौन, इसके विस्तार, इसके छल, जीव कौन, आत्मा क्या, इसकी कैसी सत्ता, परमात्मा कौन, इसे कैसे पहिचानना, इसके लिये क्या-क्या साधन करना, जीव की सेना, जीव का स्वभाव, जीव का मायिक और अमायिक बल, बलाबल से जीव की पराधीनता, परमात्मा का शोधन, ज्ञान और उसका निर्लेपपना-शुद्धता, इसकी सामर्थ्य-साम्राज्य, तत्त्वबल, मनुष्य की मूर्खता, संतों का महत्त्व, चैतन्यप्राप्ति के लिये शरीर और हृदय की रक्षा, मायिक निर्मायिक पदार्थ, परलोक, मृत्यु, जीव की अंखडता, प्राण चेतना, चैतन्यकला, यममार्ग, माया के वियोग से होनेवाले मायिक जीव के दुःख, अभिमान की नीचता, मानसिक नरक, स्थूल दुःख इत्यादि का वर्णन करने रूप ज्ञान की आवश्यकता समझा कर फिर मनुष्य का मन तथा मनोवृत्तियों का भगवद्रूप मणि के स्पर्श तथा घर्षण से किस प्रकार सुवर्णरूप कर देना इसकी रीति अति स्पष्ट और दीर्घ ऐसे अनेक दृष्टांत देकर और सिद्धांतों से स्फुट कर करके उनको समझाया। बहुत दिनों तक नित्य नियमपूर्वक महात्मा सद्गुरु के पास से श्रवण किये उत्तम ज्ञानद्वारा दोनों शिष्य निर्मल चन्द्रकान्त मणिरूप बन गये और पूर्ण कृतार्थता से बारंबार गुरु के चरणों में प्रणाम करने लगे। ज्ञानोपदेश की समाप्ति के परमानंदसागर में निमग्न हुए दोनों शिष्यों को अन्तिम मंगलाचरणरूप गुरुदेव ने अपने उपदेश किये चैतन्यरूप स्पर्शमणि का स्पर्श करने अर्थात् उस भगवत्स्वरूप का ध्यान* करने को कहा और आप भी उन कृपालु प्रभुके मंगल स्वरूप के ध्यान में समाधिस्थ बन गये।

ॐ

---

* शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशान्तिप्रदम्।

शिष्यों का वार्तालाप

अहिमिव जनयोगं सर्वदा वर्जयेद्यः
कुणपमिव सुनारी त्यक्तकामो विरागी।
विषमिव विषयान्यो मन्यमानो दुरन्तान्
जयति परमहंसो मुक्तिभावं समेति ॥

जो वैराग्यशील पुरुष सदा सर्प की तरह मनुष्यसंग करने की इच्छा नहीं करता, शव (मृतक) की भांति सुन्दर स्त्री का त्याग करने की इच्छा रखता है तथा परिणाम में दुःख देने वाले विषयों को विषसमान मानता है वह परम हंस विजय को तथा मुक्ति भाव को प्राप्त होता है।

सूक्ष्मबिंदु प्रथम-यथालाभसतोष

महात्मा योगिराज की यह समाधि कुछ साधारण समाधि नहीं थी, परम अधिकारी शिष्यों को परब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ उपदेश करते-करते उनका अंतःकरण पूर्ण समाधान को प्राप्त हो गया था। इस अवस्था में उनको पूर्व की अपेक्षा कई दिन रात अधिक बीत गये, तो भी वे जागृत नहीं हुए। इस अवसर में वे दोनों शिष्य इन समर्थ गुरुवर्य द्वारा परम लाभ– सर्वोत्कृष्ट ज्ञानलाभ प्राप्त कर कृतार्थ हो चुके थे। इस अवकाश के समय में वे अपने संपादन किये हुए तत्त्वसंबंधी अनेक प्रश्नोत्तर करके ज्ञानविनोद करते थे।

प्रसंग चलते ही छद्मलिंग द्विजपुत्र ने सुविचारशर्मा से पूछा–"सुहृद्वर्य! हमारे (आपके) गुरुमहाराज ने उन ऋषिदेव का इतिहास कहते हुए सूचित किया था कि उन महात्मा ने अध्ययन करते हुए उन शिष्यों को अपने-अपने घर चले जाने की और वहां जाकर धर्मयुक्त गृहस्थाश्रम चलाने की आज्ञा दी। अर्थात् वेदशास्त्रादिक का अध्ययन करते हुए द्विजपुत्र को ब्रह्मचर्य की समाप्ति के अंत में गुरुदेव की आज्ञा लेकर अपने घर जाना और वहां समावर्तन संस्कार कर कुलीन और सद्गुणी कन्या के साथ विवाह करके गृहस्थाश्रमी बनना, फिर गुरुद्वारा अध्ययन किये हुए धर्मशास्त्र के अनुसार गृहसंसार चलाना, ऐसा सनातन धर्म कहा है। अपना भी वह ब्रह्मविद्यारूप

अध्ययन समाप्त हो गया है, तो क्या हमको भी अब गुरुवर्य अपने-अपने घर जाने की आज्ञा देंगे?"

सुविचारशर्मा बोला—"हे भ्रातः! यह बात सत्य है कि गुरुजी से अध्ययन कर ब्रह्मचारी को गुरु की आज्ञा से घर जाना और वहां विधिवत् गृहस्थाश्रम करना, हमारा भी यह ज्ञानाध्ययन पूरा हुआ है। अब घर जाने की आज्ञा मिलेगी, यह संभव है तथापि अभी मैं नहीं समझता कि इतने ही से हमारा अध्ययन पूरा हो गया। हमको जो कुछ वाचिक ज्ञान, श्रवण ज्ञान गुरुदेव जी से प्राप्त हुआ है उसका मनन और निदिध्यासन अभी शेष है, उसके बिना विज्ञान कैसे प्राप्त हो? विज्ञान अर्थात् अनुभव जन्य ज्ञान कैसे प्राप्त हो?"

छद्मलिंग ने कहा—"मनन, निदिध्यासन तो घर जाने पर भी हो सकेगा, ऐसा विचार कर कदाचित् हम दोनों को घर जाने की आज्ञा करें तो क्या करेंगे?"

सुविचारशर्मा बोला—"गुरुदेव जी की आज्ञा जो कुछ भी होगी वह सर्वथा शिरोधार्य होगी, इसमें क्या हानि है? गुरुवर्य ऐसी ही आज्ञा देंगे जिसमें शिष्य का सदा हित ही पूरित होगा। तिसपर भी यदि किसी कारण वे स्वेच्छानुसार कुछ विपरीत आज्ञा भी देंवे तो भी उसको शिरसा वंदना करके मानना योग्य है, यही शिष्य का सत्कर्तव्य है। वह आज्ञा चाहे जैसी विपरीत हो उसके अनुसार चलने में शिष्य का तो परिणाम में हित ही होता है।

"गुरोराज्ञा सदा कार्या मनोवाक्कायकर्मभिः"

अर्थात् मन, वाणी, शरीर और कर्मद्वारा शिष्य को सदा गुरु की आज्ञा पालन करना, परन्तु यदि गुरुमहाराज घर जाने की आज्ञा करें तो उसमें तुम्हें क्या अड़चन है?"

छद्मलिंग ने कहा—"अड़चन तो कुछ नहीं। पर ऐसे स्थान में से अब मेरी घर जाने की रुचि नहीं। घर ही संसार और संसार की घर, घर केवल कारागार रूप है। उसमें फसने की मेरी इच्छा नहीं और अब मैं विवाह करने वाला नहीं, तो फिर ऐसे कृपालु गुरुचरणों का वियोग क्यों किया जावे? जिसको विवाह न करना हो ऐसा ब्रह्मचारी गुरुजी के पास पढ़ने के पश्चात् जन्मपर्यंत नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पाल कर गुरुचरणों की सेवा करता हुआ सदा उसके पास ही रहे, ऐसा भी तो शास्त्र का नियम है।"

यह सुन द्विजपुत्र दानदक्ष बोला—"ऐसी धर्मशास्त्र की आज्ञा अवश्य है, तथापि हमारे समान शिष्यों के संबंध में ऐसा नहीं। वह आज्ञा तो जो द्विजपुत्र यज्ञोवपीत संस्कार पाकर तुरंत ही वेदाध्ययन करने को गुरु के समीप रहता है उसके लिये है और हम तो समावर्तनादि किये हुए गृहस्थाश्रमी हैं और प्रारंभिक अध्ययन के लिये

नहीं बल्कि अन्तिम अध्ययन अर्थात् वेदान्त के अध्ययन के लिये- ज्ञानप्राप्ति के लिये-आये हैं। अब कहो, संसार यह परम दुःखरूप है, यह भलीभाति अनुभव होने पर फिर गृहस्थाश्रम करने की इच्छा क्यों की जाय? संसार के ताप से तपे हुए पुरुष को शान्तिदायक शीतल स्थान केवल ये अनुपम ज्ञानप्रद सद्गुरूदेव के चरणकमल ही हैं। उनके प्राप्त हो जाने के पश्चात फिर दुःखरूप संसार की वांछा स्वप्न में भी करे वह मूर्ख ही है।"

छद्मलिंग ने बड़े आश्चर्य से पूछा—"अच्छा! क्या आप गृहस्थाश्रमी हो? क्या गृहस्थाश्रम का असमय त्याग करके यहां आये हो?"

सुविचारशर्मा बोला—"हां भाई! मैं गृहस्थाश्रमी तो था, अब नहीं हूं। अब अच्छी तरह समझ में आया कि महात्माजन कह गये हैं और कहते हैं कि 'गृहस्थाश्रम नरदेहधारी को लोहे की बेड़ी के समान है, परम अकल्याणरूप अधोगति के मार्ग पर ले जाने वाला है।' तब से उससे उदास हो गया था और वह बेड़ी तोड़ने की आतुरता हो रही थी। भगवदिच्छा से मेरा पैर उसमें से निकल गया। कितने ही दिन बाद उस बेड़ी में फिर भली-भांति जकड़ जाने का समय पास आया था, पर इतने ही में इन कृपालु सद्गुरुदेव के समागम से उससे सहज ही में छूट गया हूं। अब मैं केवल निश्चिन्त और निराशा से आनंदमग्न हूं; फिर मैं संसारी जाल में क्यों फसूं?"

सुविचारशर्मा के ऐसे वचन सुन कर छद्मलिंग ने अपने मन को रोकने का बहुत प्रयत्न किया, पर उसका मुखमंडल बिलकुल मलिन हो गया। नेत्रों में आंसू झलकने लगे। लम्बा-लम्बा श्वास चलने लगा पर इसका कारण कुछ समझ में नहीं आता था। पर हां, यह जान पड़ता था कि वह अपने किसी दुःख की उमंग तथा उभड़ी हुई व्यथा को प्रकट होने से रोकता है। सुविचार शर्मा ने यह देख ऐसा अनुमान किया कि 'इसने ज्ञान सुनने के आवेश में "विवाह न करना" यह प्रतिज्ञा मेरे आगे प्रसिद्ध करी; परंतु संसार से उपराम को न प्राप्त ऐसा यह कोई उछलता जीव है और मेरी बात सुन कर यह विचार हुआ होगा कि अब मेरा कैसे निर्वाह होगा? इस चिन्ता से इसकी परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाली जो वृत्तियां अन्तर में लड़ रही हैं उनका वह बहिर्दर्शन है। अस्तु। यह चाहे कैसा हो!'

थोड़ी देर में स्वस्थ होकर छद्मलिंग बोला—"आप यदि निश्चिन्त और आनंदमग्न हों तो बहुत अच्छी बात है, पर आपकी गृहस्थाश्रमरूपी बेड़ी छूट गयी थी और फिर उसके जकड़ने का समय आया था इत्यादि गर्भित बातों का रहस्य समझ में नहीं आया, सो कृपा कर मुझे स्पष्ट समझाइये कि इसका भावार्थ क्या

है? आप मेरे बड़े गुरुभाई हो, मैं आपका कनिष्ठ बंधु सेवकसमान हूं, और मेरी गृहस्थाश्रम में रहने की आंतरिक इच्छा है; इसमें मैं आपको आपके कथन के विरुद्ध नहीं, बल्कि न्याय के लिये पूछता हूं। गुरु महाराज ने आजतक हमको जो ज्ञान सुनाया है उसमें तो अनेक दृष्टांतों और सिद्धान्तों से यही सिद्ध कर दिया है कि 'गृहस्थाश्रम में रह कर ही ज्ञान संपादन करना प्रत्येक मनुष्य को सुखसाध्य और श्रेयस्कर है। गृहस्थाश्रम मनुष्यों के लिये अनेक शत्रुओं से बचाने वाला दृढ़ दुर्ग है, उसे आप लोहे की बेड़ी के समान कैसे कहते हैं?"

सुविचारशर्मा बोला—"प्रिय बंधु! तुम शुद्ध बुद्धिवाले हो, इस कारण गुरु महाराज के बताये ज्ञानामृत के यथार्थ पात्र भी हो, इस कारण तुम्हारे प्रश्न का मैं बहुत प्रीतिपूर्वक सविस्तर उत्तर देऊंगा। गृहस्थाश्रम ज्ञानसंपादन के लिये निर्भय साधनदुर्ग है अवश्य, पर वह यथार्थ हो तब ही जैसा-तैसा टूटा फूटा गृहस्थाश्रम अपने आपके रूप को भी शोभित और सफल करने वाला नहीं होता, तो फिर ज्ञानसाधन कैसे करा सकता है! मैं गृहस्थाश्रमी था अवश्य, पर मेरा गृहस्थाश्रम जैसा चाहिये वैसा न था, अतएव ज्ञान संपादन के लिये साधनरूप होने के बदले, अंतराय (विघ्न) रूप था। गृहस्थाश्रम का मूल स्त्री है।* वह जब सर्वगुणसंपन्न हो-अधिकतर हो तब ही गृहस्थाश्रम यथार्थ फल देनेवाला माना जाता है। पर भाई! सर्वगुणसपन्न अधिकतर स्त्रियाँ नहीं होती! तथापि सेवापरायणता, आज्ञानुकूलता और यथालाभसंतोष इतने गुण तो गृहिणी में अवश्य ही होने चाहिये। सेवापरायणता तथा आज्ञानुकूलता ये दो गुण तो मेरी स्त्री में भी इतने जाग्रत थे कि अन्य स्त्रियों में भाग्य से ही होंगे। उसके प्रेमी स्वाभाव की भी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। ये गुण सामान्य गृहस्थ के लिये तो बहुत ही शोभारूप थे, परन्तु मुझे इतने से संतोष नहीं होता था। मेरी वृत्तियां केवल गृहस्थाश्रम के नश्वर सुख की अभिलाषा वाली नहीं थी; बल्कि उत्तरोत्तर अविनाशी सुख की अभिलाषा वाली थी। मुझे अपनी गृहिणी में एक बड़े आवश्यक सद्गुण की न्यूनता जान पड़ी। यह गुण यथालाभसंतोष† अर्थात् जो मिले उसी में, जो हो उसी में संतोष मान अपना निर्वाह करना, बल्कि सर्व सुखसंपन्नता के लिये बड़ा मन, बड़ी तृष्णा तथा व्याकुलता रख कर सदा असंतोष से दुःखी न रहना। तुमको स्मरण होगा कि गुरु महाराज ने हमसे जो संसार प्रवास की वार्ता कही थी, उसमें स्पष्ट समझाया था कि संसार में प्राणी का आना थोड़े दिन के प्रवास (यात्रा) के समान है। प्रवास में निकला हुआ मनुष्य अपने मन में अच्छी तरह निश्चय वाला होता है कि मुझे अमुक

---

* भार्यामूलं गृहस्थस्य।

† यद्दृच्छालाभसन्तुष्टा द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।

स्थल में जाना है और जिस प्रकार हो सके वहां शीघ्र पहुंच जाऊं। इसके लिये वह बहुत सावधान रहता है। मार्ग में समय व्यर्थ व्यतीत नहीं करता, कहीं रुकता नहीं और घर के समान सुख भी नहीं भोगता। न उनकी आशा ही करता है। अपने पास जो कुछ तोसा है उसी से निर्वाह कर लेता है, धूप लगती है तो घड़ी दो घड़ी वृक्षादिक के नीचे बैठ कर विश्राम ले लेता है और फिर आगे चल देता है; और जब निश्चित मुकाम पर पहुंच जाता है तब ही अपने को कृतार्थ मानता है। ऐसे समय में मार्ग के वृक्ष की छाया घर के समान सुखदायिनी होती है कि नहीं, भोजन संतोषकारक होता है कि नहीं, इस बात पर वह ध्यान नहीं देता और न उसके मिलने का मार्ग में प्रयत्न करता है। वह जानता है कि मुझे यहां सर्वकाल तो बैठा रहना नहीं है, केवल विश्राम मात्र के लिये ठहरना है, बैठना है और निर्धारित मुकाम पर पहुंच सकुं तब तक तोसा (भात) खाना है; इसलिये थोड़े समय तक जैसे बने तैसे चला लूं। इसी प्रकार संसार रूप प्रवास में आये हुए प्राणी को भी ध्यान में रखना चाहिये कि मुझे यहां सदा नहीं बैठा रहना है, बल्कि अनिश्चित समय में (न जाने कब) स्वर्ग लोक जाना है। वहां जाने पर मेरा क्या होगा, क्या कर्म करूं, जिससे वहां जाकर सुखरूप स्थान पाऊं। इस बात की चिन्ता में रह कर यहां मार्ग में के क्षणिक सुखभोग के लिये फडफड़ाना या मिथ्या तन्मय होना नहीं, बल्कि योग्य कार्य में तत्पर रह कर और उसे पूर्ण कर, ऐसी सम्हाल करना कि मूलस्थान की यात्रा विघ्नरूप न हो। जो प्रवासी निर्धारित मुकाम पर जाने की बात ध्यान में नहीं रखे और मार्ग में सुख प्राप्त करने की इच्छा से ठहर जावे तो इच्छित मुकाम पर पहुंच नहीं सके और मार्ग ही में चौरादिको के उपद्रव से नष्टप्राय हो जावे, या और कोई कष्ट माथे पड़े। इसी प्रकार संसारप्रवासी प्राणी भी स्वर्गलोक में जाने की बात भूल कर ऐहिक सुख की ही लालसा में भटके तो अंत में मरणशरण हो यमसदन में ही जावे और वहां अपार क्लेश भोगे। इसलिये सुज्ञ गृहस्थाश्रमीं को ऐहिक सुख की आशा न रखनी और यथालाभसंतोष पाकर केवल परमार्थ की प्राप्ति में ही प्रयत्न करना चाहिये। यथालाभसंतोष इस लिये रखना है कि इस लोक में मनुष्य को जो कुछ सुख-दुःख प्राप्त होता है वह सब उसके प्रारब्ध ाानुसार अपने आप ही प्राप्त होता है।* यह नियम ऐसा अनिवार्य है कि चाहे कुछ भी करो प्रारब्ध भोगे बिना कभी नहीं छुटता,† इसीलिये प्रारब्ध के भोगसंबंध में हर्षशोकादि करना व्यर्थ ही है। तथा उसके बदलने में लिये प्रयत्न करना भी व्यर्थ ही है। इस प्रारब्धभोग के संबंध में गुरु महाराज ने अपने आगे उपदेश दिया था और सविस्तार

---

* यदभावि न तद्भावि, भावि तेन्न तदन्यथा। इति चिन्ताविषघ्नोयमगदः किं न पीयते।।

† अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म सुभाशुभम्।।

यह समझाया था कि चाहे जैसा हो इसे तो भोग कर ही छुटकारा होता है। सम्हाल इसी बात की रखनी है कि ऐसे अनिष्ट देने वाले प्रारब्ध की गठरी फिर न बँधे, प्रारब्ध संस्कार विषे अपने गुरु जी से अनेक प्रकार के उपदेश विस्तारपूर्वक सुने हैं, इसलिए तुम्हारे आगे अब विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। इससे यह जानना है कि जो वस्तु बिना विचारे अनायास अपने आप ही सृष्टिकर्ता के नियमानुसार पूर्वकर्मों के योग से आ मिली है‡ या हो रही है वह यदि नष्ट हो जाय तो उसके लिये चिन्ता या प्रयास करना क्या व्यर्थ नहीं है? यथालभसंतोष मान कर केवल भगवत्प्राप्त्यर्थ ही दृढ़ प्रयत्न क्यों न करना चाहिये? संसार मूल में तो दुःखरूप ही है। उसमें वास्तविक सुख ही नहीं है। दुःख की किंचित् निवृत्ति को ही सुख मानते हैं, तो फिर उस माने हुए सुख की आशा से सदा संतप्त क्यों रहना?"

इतना कह कर वह फिर बोला—"प्रियबंधु! सदसद् वस्तु के जानने वाले पुरुष ऐसी मिथ्या आशा से कभी संतप्त नहीं रहते। और यदि दूसरा कोई उन्हें ऐसी आशा में बांधने का प्रयत्न करे तो यह उसको कितना भारी कष्टरूप होगा, इसका तू ही विचार कर। मेरी भी यही दशा थी। मेरी स्त्री इस बात में दूसरी स्त्रियों ही के समान थी। उसे संसार के प्रत्येक सुख की तृष्णा रहती थी और उसे पूरी करने के लिये मुझसे बार-बार विनय करती थीः पर मैं कुछ ध्यान नहीं देता। इससे दुःखित होकर वह कभी-कभी स्त्रीस्वभाव के कारण क्लेश भी करती थी। इस कारण परमार्थ साधन के विषय में मेरा गृहस्थाश्रम अंतरायरूप हो रहा था। दिन प्रतिदिन मेरे अन्तर में संसार से बहुत घृणा हो गयी। फिर हरि की कृपा से मेरी वह बेड़ी सहज ही में छूट गयी।"

यह सुन छद्मलिंग बोला—"मित्रवर्य! आपकी वह बेड़ी सहज में कैसे छूट गयी? क्या आपकी प्रिय पत्नी का असमय में देहावसान हो गया?"

सुविचार ने कहा—"नहीं, उसका देहावसान तो नहीं हुआ, पर उसका और मेरा चिरकाल के लिये वियोग हो गया।"

छद्मलिंग बोला—"क्या उस बेचारी अज्ञात अबला का आपने त्याग कर दिया?"

सुविचार ने कहा—"नहीं नहीं। जिस बेचारी का सारा जीवन मेरे अर्पित हुआ ऐसी अबला का त्याग करना, इस बात को मैं योग्य नहीं समझता। पर हमारे वियोग के लिए जो स्वाभाविक कारण बना सो सुनो। वह बारबार संसार सुखों की लालसा से असंतुष्ट रहती और उद्विग्न हो जाती थी। एक दिन मुझे ऐसी लहर आयी कि यह स्त्री संसार सुख मे ही सार्थकता और कृतकृत्यता

‡ Nature provides that which is.actually necessary.

मानती है और मनाती है। संसारि सुख यद्यपि मिथ्या और परिणाम में दुःख का कारणरूप है तथापि यह बात उसके अनुभव बिना मानी नहीं जाती। इसलिए एक बार इसे अनुभव कराऊं तो ठीक है अर्थात संसार सुख भोगकर वह अपने आप ही उसे मिथ्या और अपायरूप समझे तो ठीक। पर यह बात द्रव्य के बिना बननी कठिन है, इसलिए प्रथम मैंने विपुल द्रव्य प्राप्त करने का निश्चय किया। दूसने दिन मैंने उससे कहा कि आज मैं तेरे लिए अखण्ड अपार द्रव्य लेने जाता हूं, यह कहकर मैंने सदा के लिये घर का त्याग कर दिया।"

इतना समाचार कह सुविचार मौन हो गया तब छद्म ने फिर पूछा—"कृपासिन्धु! फिर?" सुविचार बोला—"फिर क्या? द्रव्य कहीं मार्ग में तो पड़ा ही नहीं था कि गठड़ी बांध कर घर ले आता और न कोई सहज में किसी को देता है, तो फिर वह मुझे कहां से मिलता कि मैं उसे घर ले जाकर स्त्री को संतुष्ट करता?"तब छद्मलिंग बोला—"अच्छा! तब तो आप उसे समझाने रूप क्या छलनेरूप बहाना करके ही घर से निकल चले? फिर सीधे चल कर यहां एकान्त में आकर निवास किया है? वाह! क्या यह यथार्थ में सदाचारी भले आदमियों को शोभा देता है?"

"नहीं नहीं, प्रियबन्धु! ऐसा नहीं। मैंने ऐसा नहीं किया और न ऐसा करना योग्य ही है। घर से निकलकर मैंने क्या किया सो यदि तुझे अवकाश मिलेगा तो कल कहूंगा। आज तो अब आश्रम परिचर्या का समय हो गया है। फिर उसके बाद शीघ्र ही संध्या का समय होगा। अर्थात् अब आज बातें करने को समय नहीं मिलेगा। चलो, जय श्रीहरी! सच्चिदानन्द! गुरु महाराज. को वन्दना कर अपना-अपना कार्य कीजिये।" यह कह कर दोनों शिष्य पर्णशाला में गुरुवर्य के दर्शनार्थ गये। योगीश्वर समाधिस्थ थे। उन्होंने भावयुक्त उनको प्रणाम किया और फिर अपना-अपना कार्य करने लगे।

शिवाराधन-अर्थसिद्धि

दूसरे दिन अपना नित्यकृत्य कर लेने के पश्चात् वे दोनों शिष्य गुरुदेव को समाधि में देख उनकी वंदना कर आश्रम के एक सुन्दर पुष्पित वृक्ष के नीचे आ बैठे।

छद्मलिंग ने प्रणाम करके पूछा—"घर से निकल कर फिर आपने क्या किया सो कहिये?" सुविचारशर्मा ने अपना वृत्तान्त कहना आरम्भ किया :—

"घर से निकल कर मैं अपने ग्राम के एक शिवालय में गया; वहां उन आदिदेव का पूर्ण प्रेम से विधिवत् पूजन करके नित्य की भांति घर को न लौट कर मंदिर के आगे के मंडप में उन देवाधिदेव का ध्यान करने बैठा। इसी स्थान

पर बैठ कर मैं नित्य पहले ही ध्यान किया करता था और उस समय उस प्रभू के पूर्णानंदमय स्वरूप का मेरे हृदय में साक्षात्कार होता था। पर उस दिन नहीं हुआ; और दिन तो मेरा हृदय निष्काम रहता था, मुझे कुछ आशा या कामना न होती थी, केवल भक्तिभाव के लिये ही मैं सदा शिव का ध्यान करता था, पर इस दिन तो मेरे हृदय में द्रव्य तथा उसी की वासना बसी हुई थी, शिव प्रभु का ध्यान करके भी मनोमय रीति से उनसे द्रव्यलाभ ही चाहता था। इस कारण नेत्र मूंद कर ध्यान धरते ही तुरंत शंकर के कर्पूरगौर स्वरूप के बदले अनेक प्रकार का द्रव्य और उसको प्राप्त करके स्त्री को संतुष्ट करना, अच्छा घर, अनेक सुखसाधन, अच्छे भोजन इत्यादि वस्तुएं ही मेरी मनोमय दृष्टि के आगे रमण भ्रमण करने लगीं। सकाम और निष्काम द्विविध भगवद्भक्ति करने में कितना अंतर है इसका मुझे उस समय पूरा-पूरा अनुभव हुआ था। मैं अपने मन को अनेक प्रकार से बेर-बेर ठिकाने पर लाता था कि प्रभु के चरणों में लगाऊं, पर क्षणभर के पीछे ध्यान भूल कर द्रव्य ही दौड़-दौड़ करे, अंत में मैं थक गया : पर बड़े प्रयत्न करके जैसे तैसे एकबार प्रभुका ध्यान हुआ, इसी से संतोष मान शांतिपूर्वक बैठा। अब मुझे क्या करना चाहिये और किस उपाय से विपुल द्रव्य मिलेगा इन विचारों में लीन हो गया; अपने मन में मैंने अनेक प्रकार और उपाय विचार देखे, परन्तु कोई प्रकार मेरी मनोवृत्ति के अनुकूल न जान पड़ा। कृषिकर्म, व्यापार, राजसेवा, विद्याविक्रय तथा भिक्षा आदि सब ढंग मुझे बड़े दूषित जान पड़े और उनमें किसी एक के द्वारा चाहे जितना द्रव्य शीघ्र प्राप्त कर सकूं यह भी दुष्कर और असंभव जान पड़ा। जिसका मन जैसे संस्कारो से बना हुआ है उसकी वृत्ति वैसी ही बढ़ जाती है। वही दशा मेरी हुई। मेरे पिताश्री केवल अयाचक वृत्ति वाले होकर यदृच्छालाभ से संतोष मानते और ब्राह्मणपन का तन-मन-धन से पालन करते थे—अर्थात् नित्यकर्मानुष्ठानरूप तपश्चर्या और ईश्वराराधन में ही उनका कालयापन होता था। उसी प्रकार मैं भी तपश्चर्या, ईश्वराराधन और परम तत्त्व के सेवन को ही अपना निज का मुख्य धर्म मानता था। इस कारण मेरी वृत्ति भी इसी मार्ग की ओर दौड़ी। मैने तुरंत निश्चय किया कि मैं कोई कठिन तप करके भगवान् शंकर को प्रसन्न करूं जो मेरे मनोरथ पूर्ण करें। पर उसके लिये कोई पवित्र और एकान्त स्थान चाहिये, इस कारण मैं तुरंत उस शिवालय के देवता को प्रणाम करके वहां से चल दिया। थोड़े दिनों में उत्तर दिशा के एक अरण्य में जा पहुंचा। यह निर्जन होने पर भी रम्य अरण्य की भूमि अनेक पर्वतगुहा,

जलप्रवाह और सुवृक्षों से व्याप्त होने के कारण मन को स्वाभाविक रीति से प्रसन्न करने वाली थी। वहां एक सुंदर प्रवाह के समीप की गुहा में मैंने निवास किया। दूसने दिन पवित्र जल में स्नानादि प्रातराह्निक कृत्य करके सूर्य के सम्मुख बैठ कर संकल्प किया कि, 'अपने भक्तों पर शीघ्र प्रसन्न होने वाले भगवान शिव जी प्रसन्न होकर मेरा अटूट धन प्राप्तिरूप मनोरथ पूर्ण करेंगे तब ही मैं अन्न प्राशन करूंगा। 'फिर पार्वतीसहित शंकर का सर्वदा ध्यान और उन्हीं के मंगलनामरूप मंत्र का एकाग्रचित्त से जप करता हुआ मैं एक मास पर्यन्त वनफलों का नित्यप्रति एक बार आहार करके रहा। दूसरे महिने केवल शुष्क* पत्ते खा कर रहा। इस प्रकार पांच महिने बीत गये। मैंने विचार किया कि 'इससे कुछ काम न होगा' **अर्थं साधयेयम् देहं वा पातयेयम्'** इस निश्चय से छठे महिने में पर्णाशन को भी त्याग कर केवल अनशन व्रत करने लगा। 'भगवान् शंकर को भक्तजनों ने आशुतोष कहा है सो किस प्रकार यथार्थ है,' अब उसका मुझे ठीक-ठीक ज्ञान हुआ। अनशन व्रत से मेरा शरीर बिल्कुल सूख गया और प्राण रहने में भी शंका हुई, मेरे नेत्रादि सर्व इन्द्रियों से अपना-अपना कार्य करने की दैवी शक्ति जाती रही, जिह्वा से मंत्र का जप भी ठीक-ठीक न हो सके, अब केवल अंतःकरण ही में मनोमय रीति से होने लगा। और यह भी निश्चय हुआ कि यह स्मृति भी अधिक दिन तक न रहेगी।''

यह अन्तिम वाक्य सुन छद्मलिंग अपने शरीर को कंपायमान करके बोला—''अहा! जिस स्त्री की द्रव्यलालसा के लिये उसके पति की ऐसी दयार्द्र मृत्युसमान अवस्था हुई, उसके समान दुष्ट घातकी पतिद्रोहिणी स्त्री और कौन होगी? हर-हर! धिक्कार है उस कठोर हृदयवाली कृत्या को, कि जिसने क्षुद्र सुख के लिये अपने इस लोक और परलोक के साथी रूप अपने परमेश्वररूप, अपने सत्य सौभाग्यरूप, अपने सर्वस्वरूप पति का क्या होगा, इसका कुछ भी विचार न किया! पर आप सरीखे दयालु और सदसद्विवेकी पुरुष ऐसी अबलाओं की स्वाभाविक जड़ता के कारण हुए अपराधों को नहीं गिनते, इस लिये आपको परमप्रेमपूर्वक प्रणाम'' ऐसा कहते-कहते उसकी आखों में आंसू भर आये, तब सुविचारशर्मा ने कहा—''प्रिय सखे! मेरा वृत्तान्त मात्र सुन कर ही जब आपको इतनी करूणा हुई, तब जिनकी प्रसन्नता के लिए मैंने उग्र तप आरम्भ किया था उन दया के भंडाररूप शंकर को अपने भक्त पर कैसे दया उपजे बिना रहे? उनको अत्यन्त करूणा उपजी। थोड़े से उपवासों के (अनशन

---

* हवा का धक्का लगने से अपने आप वृक्ष से टूट कर गिरनेवाले सूखे पत्ते।

के) अन्त में एक सुन्दर बालयोगी के वेष में वे मेरे प्रत्यक्ष हुए और मेरा इच्छित मनोरथ पूर्ण एक क्षणभर में मेरी दृष्टिसम्मुख से मुझे आनन्दाश्चर्य में मग्न कर अदृश्य हो गये।"

यहां तक वृत्तान्त कह कर सुविचारशर्मा ने मौन धारण कर लिया, तब छद्मलिंग ने पूछा—"कृपाबन्धु! शंकर प्रभु ने आपका मनोरथ किस प्रकार पूर्ण किया?" सुविचारशर्मा बोला—"अब समय हो गया है इस कारण अवकाश मिलेगा तो शेष वृत्तान्त कल कहूंगा," ऐसा कह वे दोनों समाधिस्थ गुरुदेव को प्रणाम तथा चरणों को वंदना करके अपना-अपना नित्य कृत्य करने को चल दिये।

त्यागनिर्णय

गुरुजी की दी हुई आज्ञानुसार जप-स्मरण-ध्यानादि क्रिया के नित्यकर्म से निवृत्त हो तीसरे दिन चौथे पहर, वे दोनों एक रम्य वृक्ष के नीचे इकट्ठे हुए, तब छद्म के पूछने से सुविचार अपना पूर्ण वृत्त फिर कहने लगा।

वह बोला—"मित्र! बालजटिलरूपधारी शिवजी ने मेरे हाथ में एक तेजस्वी पत्थर का टुकड़ा देकर कहा कि 'हे ब्राह्मणपुत्र! ले यह पत्थर तेरा मनोरथ पूर्ण करने को तुझे देता हूं, यह असंख्य सुवर्ण का भंडार है। तू जिस समय जितना सुवर्ण चाहेगा, उतना इसमें से प्राप्त हो सकेगा। इसका नाम स्पर्शमणि है, इससे ताम्र, लोह आदि धातु को स्पर्शमात्र से सुवर्णरूप कर देने का इसमें अमूल्य गुण है, इस द्रव्य का तू सदा सद्व्यय करना। इसके योग से तुझे किसी समय महात्मा सद्गुरु का दर्शन होगा, जिनकी सेवा करके तुझे आत्मज्ञानरूप अलभ्य लाभ मिलेगा।' मित्र! शंकर भगवान् के वचन से चेतना पाकर मैं सदा सद्गुरू की शोध करता था, उसी से मुझे इन महात्मा सद्गुरुवर्य के चरण प्राप्त हुए हैं। इस स्पर्शमणि के योग से मैंने अनेक प्रख्यात और गुप्त तीर्थ देखे, अनेक सन्त महात्माओं के दर्शन किये और उनके दर्शनों की लालसा से स्थल-स्थल पर, कोई न कर सके ऐसी रीति से बड़े-बड़े ब्रह्मभोज भंडारे किये, कराये,कई एक धर्मकार्य चलाये कि जिनके कारण महात्मा लोग स्वाभाविक इन स्थानों पर आये और अनेक आशीर्वाद दिये और मुझे समागम हुए। इन समस्त पुण्यों का उदयरूप अन्त में सूर्यग्रहण के मेले में कुरुक्षेत्र के विषे मुझे अपने कृपालु गुरुदेव के दर्शन हुए। जिनकी कृपा से अब मैं कृतार्थ हुआ हूं।"

यह सुन छद्मलिंग ने पूछा—"तुम कुरुक्षेत्र में किसलिये गये, वहां तुमने क्या प्रयत्न किया, गुरुदेव के दर्शन किस प्रकार हुए और वहां से तुमको गुरु जी साथ ही ले आये अथवा कैसे तुम यहां आये और तुम्हारा वह स्पर्शमणि कहां है, मुझे वह दिखाओगे?' इत्यादि प्रश्न करने से सुविचार ने अपना सर्व

वृतान्त इत्थंभूत कह सुनाया और कहा कि "स्पर्शमणि गुरु महाराज ने फेंक दिया, तथा उसके लिये मुझे खेद होने पर उसके बदले में दूसरे असंख्य मणि दिखाये," यह कथा भी अथ से इति तक कह दी, तब छद्म को ऐसा आनन्द हुआ कि मानों उसकी कोई धारण की हुई धारणा पूरी हो गयी हो, अत एव उत्साही मुख से बोला–"अच्छा, अब तो, हे मेरे प्राणमित्र! जो कि तुम को बहुत प्रयास करना पड़ा, तो भी तुम्हारी अन्तर्भावना ज्ञानप्राप्तिरूप भगवत्कृपा से सिद्ध हुई और अब आप सर्वथा कृतकृत्य हुए हो, अब आपको कुछ करना अथवा मिलना बाकी नहीं रहा, तो भी विनयपूर्वक आज्ञा लेता हूं कि पूर्व आपने अपने घर में ही स्त्री जाती यानी 'मेरे स्वामीनाथ आज आंवे, कल आवें,' ऐसी बाट देखती अबला को-कहो कि अपराधिनी अबला को-कितने लम्बे समय से तज दिया है? उसकी क्या दशा हुई होगी इसका भी कभी स्मरण होता है? दया के कारण भी कभी उसके पतिवियोगरूप अपार पीड़ा का विचार आपको आता है? आप उसके सम्बन्ध में क्या करना चाहते हो?"

सुविचार बोला–"सखे! जहां तक मैं गुरुविहीन अकेला ही विदेश में फिरता और स्पर्शमणि की सहायता से जिसमें अपार द्रव्य का व्यय हो ऐसे अनेक धर्मकार्य करता, उसमें कभी-कभी उस द्रव्यलालसा वाली का मुझे स्मरण हो आता था कि यदि इस समय वह मेरे साथ होती तो अपने हाथ से असंख्य द्रव्य का यथेच्छ उपयोग करके अपार आनन्द पाती। प्रसंगोपात्त उसकी पति वियोग पीड़ा संबंधी विचार भी मुझे आता, परन्तु उससे क्या? इसलिये कही मैं अपराधी होता, मैंने अकारण से या उसके क्लेश से उसका त्याग किया नहीं था, उसकी द्रव्येच्छामात्र पूर्ण करने के लिये ही उसको अकेली छोड़कर मैं चल निकला था, इसलिये उसके सन्ताप का फल उसे मिला, उसमें मेरा क्या अपराध?" "अस्तु। पर अब?" छद्म ने पूछा–"अब क्या? अब तो जो कुछ होना चाहिये था वह अपने आप ही हो चुका है;" सुविचार बोला–"मुक्तिमार्ग में विघ्न डालने वाला जो (त्याग करने योग्य) पदार्थ-कनक और कान्ता वह अपने आप ही अलग हो गये हैं। बहुत समय बीत गया, इससे स्त्री के लिये भी जो होना होगा सो हो गया होगा, या तो मर गई होगी या मन मारे घर में बैठी होगी और मणि भी खो गया। इससे अब तो निश्चिन्त हो भगवद्ध्यान करते गुरुमहाराज के चरणों में ही निवास करना विचारा है। पर मित्र! अब तुम्हारा गृहस्थाश्रम सम्बन्धी क्या विचार है?" "मैंने तो अपना विचार पूर्व ही आपसे कह दिया कि मैं तो विवाह करूंगा ही नहीं।" छद्म ने कहा–"पर जिसका विवाह हो गया हो उसको स्त्री का जीते हुए त्याग करना, यह शास्त्र और लोक दोनों रीति से निन्द्य ही है। ऐसा होने पर आप उसके लिये क्यों उलटे निश्चय पर आये हैं? क्या स्त्री का त्याग करने वाला ही त्यागी गिना जाता है? मेरी समझ से तो ऐसे

त्यागी पुरुष को त्याग का फल भी यथार्थ नहीं मिलता। स्त्री का त्याग करके विधिरहित आपने परम धर्मरूप सारे गृहस्थाश्रम का त्याग किया है! और यह तुम्हारा त्याग यथार्थ नहीं बल्कि राजसी त्याग है, इसके लिये आप पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्र जी के सर्वमान्य वचनरत्नों को क्या भूल गये हैं?! उन्होंने त्याग का जो लक्षण कहा है, उसमें स्पष्ट कहा हैः—

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।। गीता १८।८

'जो कर्म को दुःख समझ कर शरीर क्लेश के भय से त्यागता है, सो रजोगुणी त्याग को करके त्याग के फल को निश्चय नहीं प्राप्त होता है। तात्पर्य रजोगुणी पुरुष मलिन अन्तःकरण वाला होने से स्नानदानादि कर्मों को दुःखरूप जानता है, यह नहीं जानता कि इन कर्मों को करने से मेरा अन्तःकरण शुद्ध होकर मुझको ज्ञान प्राप्त होगा, जिससे सब दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है। बिना अन्तःकरण शुद्ध हुए त्याग का फल ज्ञाननिष्ठा प्राप्त नहीं होती।' और द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों) का गृहस्थाश्रम वेदोक्त कर्मरूप ही है, तो स्त्री को त्याग कर तुमने अविधि से गृहस्थाश्रम का त्याग किया और गृहस्थाश्रम छोड़ा, इससे स्वाभाविक सर्व वेदोक्त कर्मों का त्याग किया जानो और इन कर्मों का त्याग भी राजस त्याग हुआ, इससे उनका फल तुमको वैसा ही मिलेगा। श्रेयःप्राप्ति का श्रम व्यर्थ जायगा। सबसे पहले यही विचार करना है कि आवश्यक कर्म तो त्रिकाल में भी त्याग करने योग्य नहीं। वे अनेक दोषवाले भी हों तो भी क्या हुआ? अवश्य

'सहजं कर्म कौंतेय! सदोषमपि न त्यजेत्' (गी. १८-४८)

ऐसा होने पर आपको त्यागी होने के ऊपर ही अधिक प्रीति-श्रद्धा हो तो उसका त्याग भी पुरुषोत्तम ने अर्जुनप्रति कहा है कि

'यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते'। (गी. १८।११)

समूल कर्म का त्याग करने वाला त्यागी नहीं, बल्कि जो विधिपूर्वक कर्म करता हुआ, उस कर्म के फल का त्याग करता है वही त्यागी है; क्योंकि अपने कर्तव्यकर्म का त्याग नहीं करना चाहिये। यदि मोह से कोई उसका त्याग करे तो वह तामसी त्याग गिना जाता है। अतः राजसी त्याग से भी छोटे दर्जे का त्याग है। गीता में कहा है :—

'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।' (गी. १८-७)

तुम्हारी गृहिणी कि जिससे ही तुम्हारा गृहस्थाश्रम था, उसका त्याग करोगे

तो तुमको शास्त्रविधि लोप करने के दोष से लिप्त होना पड़ेगा और जो मनुष्य शास्त्र की आज्ञा को न मान कर अपनी इच्छानुसार वर्तते हैं, उनको कर्मयोग की सिद्धि प्राप्त नहीं होती, यही नहीं, बल्कि उनको इस लोक में भी सुख नहीं मिलता और परम गति (मोक्ष) भी नहीं मिलती; इसलिये आप उन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णजी के अद्वितीय वाक्य को भूले जाते हो? उन्होने स्पष्ट कहा है :–

'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।' (गी. १६-२३)

पत्नी जीती हो तो उसकी प्रसन्नतापूर्वक अनुमति लिये बिना जो मनुष्य गृहस्थाश्रम का त्याग करता है, वह महापापभागी होता है, इसमें संशय नहीं, यह बात आप जानते ही हैं।"

यह सुन ऋषिपुत्र सुविचारशर्मा बोला–"मित्र! तुम कहते हो सो सब प्रकार ठीक है, धर्मयुक्त है। स्त्री की अनुमति बिना गृहस्थाश्रम का त्याग करने वाला दूषित है, वैसे ही कर्मों को दुःखरूप समझने वाला तथा आवश्यक कर्मों को त्याग करने वाला भी दोषभागी है। पर वह उदाहरण मेरे संबंध में बनता नहीं। त्याग नहीं करने योग्य तथा अत्यावश्यक कर्म-यज्ञ, दान, तप, स्वाध्यायादि इनका त्याग मैंने नहीं किया और स्त्री का भी त्याग करने के हेतु से मैं घर से नहीं निकला था; पर सौभाग्यवश घर से निकलने के पीछे आज तक सारे संयोग ही ऐसे मिलते गये, कि जिनसे मेरे कर्मों की पीड़ा अपने आप ही निकल गयी है। भ्रातः! तुमने गृहस्थाश्रम संबंधी और कर्मादिक की आवश्यकता संबंधी जो विवेक कह कर बतलाया उसे मैं पहले से ही भली-भांति जानता हूं। परन्तु उसके साथ यह अवश्य ध्यान में रखना है कि, धर्मादिक का गर्भित हेतु ज्ञानप्राप्ति के लिये चित्तशुद्धि करना है कि इस लोक परलोक के सुख की प्राप्ति होती है यह तो कहिये। जो पदार्थ चित्त की शुद्धि और चित्त की प्रसन्नता होने में प्रतिकूल हो, ऐसे गृहस्थाश्रम का क्यों आचरण किया जाय? ऐसा कर्म किसलिये करूं? मैं पहले ही कह चुका हूं कि मेरा गृहस्थाश्रम मेरे चित्त को शुद्ध यानी प्रसन्न करने के बदले उलटा महामलिन और परम अस्थिर विक्षिप्त कर डाले ऐसा था; प्रसन्नता के बदले में मेरे चित्त में सदा उद्वेग ही रहा करता था और मन की शुद्धि के बदले में द्रव्य कैसे मिले, स्त्री का मन कैसे मनाऊं, इत्यादि विचार ही घूमते रहते, पर अब तो गुरुवर्य की कृपा से वह सब दुःखमूल लीन हो गये हैं। आज मैं निर्द्वन्द्व हूं। इस जगत में मनुष्य जीवन का साफल्य आत्मकल्याण होना ही है, इस आत्मकल्याण के अर्थ ही समग्र सत्कर्मों की आवश्यकता शास्त्रों में वर्णन की है। धर्मशास्त्र में समग्र गृहस्थाश्रमादिक धर्मों का ही प्रतिपादन किया है। उसमें स्पष्ट कहा है कि :–

'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।।' (याज्ञ० १।८)

अर्थ—यज्ञ करना, सदाचार पालना, इन्द्रियों का दमन करना, किसी प्राणी को पीड़ा न देकर अहिंसा धर्म पालना, दान देना, वेद पाठ करना, इत्यादि सब कर्मों का परम (यथार्थ) धर्म (हेतु-फल) यही है कि इनसे आत्मदर्शन हो सके और इनका नाम ही आत्मकल्याण गिनाया है।

इस संसार में जन्म लेकर जो कुछ किया जावे वह आत्मकल्याण के अर्थ ही करना है। आत्मकल्याण जिससे हो वही धर्म और वही आचरण करने योग्य है और जो कुछ धर्म भी कहे जाते हों तो भी वे त्याग करने योग्य हैं, और इस न्याय से आत्मकल्याण में हानि करने वाले सब कार्य त्याग करने योग्य हैं। शिष्ट जनों ने कहा भी है :—

'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे त्यजेत्कुलम्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।।' म. भा. ५।३७।१७

अर्थ—एक आदमी का त्याग करने से कुल बचता हो तो उस एक आदमी को भले ही त्याग देना, वैसे ही एक कुल का त्याग करने से ग्राम की रक्षा (भलाई) होती हो तो उस कुल को त्याग देना और एक ग्राम छोड़ने से देश बचता हो या उसका कल्याण होता हो तो उस ग्राम को छोड़ देना अच्छा और आत्मा के (अपने) कल्याण के लिये सारी पृथिवी छोड़ देनी। हे मित्र! हे धर्मज्ञ मित्र! तुम्हारे कहने के अनुसार मैं स्त्रीमात्र के ही प्रसन्न करने के लिये अपने ऐसे कुढंगे गृहस्थाश्रम में लवलीन रहता तो फिर अन्त में मेरी आत्मा को परिणाम में क्या फल होता? इसका तू ही विचार कर। अब तो प्रणाम उस घर को, गृहस्थाश्रम को और गृहस्थाश्रम के मूलरूप उस क्लेशकारिणी, सन्तोषहारिणी स्त्री को भी अन्तिम प्रणाम! प्रणाम!!"

यह 'अन्तिम' शब्द बोलने के बीच ही छद्मलिंग बोल उठा—"हां, हां, हां, कृपानाथ! आप सुज्ञ होके 'स्त्री को प्रणाम' यह शब्द कैसे बोलते हो? अपने स्वामी के इस प्रकार कहने से पतिव्रत पालने वाली स्त्री अपने को अत्यन्त पापिनी और नरकगामिनी गिनती है और अपने को बड़ा भारी दंड प्राप्त हुआ समझती है। 'वह प्रत्यक्ष नहीं, इससे ऐसा बोलने में क्या अड़चन है,' यदि आप ऐसा मानते हो तो परोक्ष में भी किसी मनुष्य के साथ अयोग्याचरण उसको दूषित करता है, अस्तू। सुज्ञेषु किं बहुना? मेरी प्रार्थना इतनी ही है कि जो कुछ हुआ सो हुआ। उसने आपके साथ अपराध ही किया। पर आपका तो उससे कल्याण ही हुआ है, और उसके दुःख का तो पार ही नहीं। सहृदय पुरुषों को ऐसा शोभा नहीं देता; कि जो आदमी अपनी भूल से गहरे जल में जा पहुंचा

हो, डूबा जाता हो ऐसे गोते खाते हुए दीन मनुष्य को उस दुःख से उद्धार करने के बदले एक भारी धक्का देकर डुबा देना।"

यह सुन एक सुविचार बोला—"प्रियसखे! अब बहुत हो गया। बार-बार इसकी बात क्यों छेड़ते हो? कजराई हुई अथवा बुझी हुई अग्नि को फिर से प्रदीप्त करने का कुछ प्रयोजन नहीं जो कुछ होना था वह अपने आप ही हो गया है। 'वह कहां और हम कहां?' उसके सम्बन्ध का अब मुझे कुछ भी विचार नहीं। यह तो ईश्वर ने अकस्मात् कृपा की है और सब उपाधियों से मुझे मुक्त किया है, तो फिर वे प्रयोजन उस बात की याद करना यह तो मुझे रुचता नहीं। अब तो गुरुसेवा यही अपना कर्तव्य है।"

तब छद्मलिंग ने कहा—"कृपानाथ! मैं नहीं मान सकता कि गुरुमहाराज को आपका विचार मान्य हो। मैं समझता हूं कि उनको यह बात मालूम ही न होगी कि आप ऐसा अनर्थ करके यहां आये हो, नहीं तो वे कभी आपको आदर न देते, वे कदाचित् अन्तर्यामी होने से जानते भी होंगे, तो आपका ज्ञानप्राप्ति का कार्य पूर्ण होने तक ही आपको यह उपदेश नहीं देते। पर कार्य पूरा होते ही मेरी समझ में तो तत्काल आपको घर जाने की आज्ञा देंगे। बल्कि इस विषय में मेरी एक प्रार्थना है कि कदाचित् गुरुमहाराज आपको घर जाने की आज्ञा करें तथा आप गृहस्थाश्रमी हो या कैसे, ऐसा प्रश्न पूछें, तो आप अपने त्यागीपन की लहरों के भंवर में पड़ कर उन महापुरुष से छल नहीं करना। क्योंकि ऐसे महापुरुषों की वंचना करने वाले को इस अपराध के कारण पीछे बड़ा पश्चात्ताप करना पड़ता है, इसका एक सच्चा इतिहास मुझे याद है।" यह सुन कर सुविचार ने कहा—"प्यारे! सद्गुरु की वंचना करने के समान दूसरा पाप ही नहीं, यह मैं भली-भांति ज़ानता हूं। उन पूज्यपाद की पवित्र आज्ञा से एक तिलमात्र भी उलटा आचरण करना, इसे मैं बड़ा भारी अपराध समझता हूं। क्योंकि सद्गुरु की पवित्र आज्ञा पालने में ही शिष्य का कल्याण होता है, तो फिर मैं ऐसा प्रतिकूल आचरण क्यों करूं? पर ऐसे सद्गुरु की वंचना करने वाले का इतिहास क्या है, उसके सुनने की मेरी इच्छा है" ऐसा कह कर उसने सूर्य की ओर देख कर विशेषरूप से कहा—"प्यारे छद्म! आपकी बातचीत यदि समय मिलेगा तो कल सुनेंगे, आज तो समय हो गया, अब हमको आश्रमपरिचर्या के लिये उठना चाहिये।"

ॐ

ॐ नमोऽन्तर्यामिणे

सूक्ष्म बिन्दु द्वितीय—संन्यासाख्यान

केनाप्यनर्थरुचिना कपंट प्रयुक्त—
मेतत्सुहृत्तनयबन्धुमयं विचित्रम्।
कस्यात्र कः परिजनः स्वजनो जनो वा
स्वप्नेन्द्रजालसदृशः खलु जौवलोकः।। १।।

अर्थ—अनर्थ करने की रुचि वाले किसी ने यह मित्र, पुत्र और बन्धुओं वाला विचित्र कपट (जाल) रचा है, इस संसार में कौन किसका चाकर? कौन किसका स्वजन? कौन किसका कुटुंबी? सचमुच यह जीव लोक स्वप्न में देखे हुए इन्द्रजाल की तरह है।

आज भी गुरुजी समाधि में से जाग्रत् नहीं हुए, इस कारण अपने नित्य कर्मादि से निश्चिन्त हो दोनों शिष्य फिर प्रति दिन के स्थान पर वृक्ष के नीचे आ बैठे और प्रस्तुत विषय पर प्रश्नोत्तर करने लगे। सुविचारशर्मा ने छद्मलिंग से पूछा—" प्रियसखा! तुम्हारी बुद्धि बहुत सूक्ष्म और अन्तःकरण स्वच्छ दर्पण के समान शुद्ध मालूम होता है; क्योंकि सनातन धर्म के सिद्धान्त तुम्हारे अन्तःकरण पर बहुत अच्छी तरह समझ पूर्वक जड़ित हुए हैं। तेरे आरंभ का दैहिक और मानसिक संस्कार कहां और किसके द्वारा हुआ है, मुझे तेरा पूर्ववृत्त जानने की इच्छा हुई है, पर भ्रातः! पहले तू उस संन्यासी का वृत्तान्त कह सुना।" छद्म बोला—"कृपानाथ! मेरे पिताश्री को आप पीछे जानेंगे पर मेरे गुरुवर्य, कि जिनकी अखंडित पवित्र सेवा यही मेरा सदा का कर्तव्य था, वे तो बिल्कुल आप ही के समान कान्तिमान और परम धार्मिक वृत्ति के थे। आपको देखते ही मुझे प्रतिक्षण उनकी याद आ जाती है, आप उनकी प्रत्यक्ष मूर्ति ही हो, ऐसी भावना बारंबार हो आने से, मेरा उनके वियोग का दुःख भूल जाता हूं, इसी से जैसी उनके चरणों में गिरने की मेरी टेव भी, वैसे ही आपके चरणों में भी प्रेमावेश से मैं गिर जाता हूं, जिसे आप अत्याचार समझकर मुझे

प्रेम-पागल कहते हो। भले कहो, उससे मेरी कुछ हानि नहीं; पर मुझसे ऐसा किये बिना रहा नहीं जाता। मुझे मेरे गुरु का वियोग है, असह्य वियोग है, जो सहन नहीं होता, पर क्या करूं? मैं परम हतभाग्य, अपराधी, कि मेरे अपने ही अपराध के कारण, मैं अधिक समय से उनकी पवित्र सेवा से विमुख हुआ हूं। अस्तु। निराशा से भरतखण्ड में चारों आरे भटकते-भटकते, आपके समान और सत्सखा इन योगीश्वर के सदृश सद्‌गुरुवर्य के दर्शनों का यहां लाभ हुआ है, यह कुछ थोड़ा लाभ नहीं, पणिाम में प्रभु हमारा कल्याण ही करेंगे। अपने पूज्य गुरुजनों की मनोवृत्त्यनुसार जो नहीं चलता, अथवा अपने मन की लहरी के वश हो, उनकी पवित्र आज्ञा का उल्लंघन करता है, अथवा उनकी वंचना (छल) करता है, उसको जो फल मिलता है वह तो आपके अनुभव में आ ही गया है, तो भी आपकी मनोवृत्तियां तो गृहस्थाश्रम और उस बेचारी अबला का त्याग करने से उच्छृंखल हो रही हैं उनका भविष्य में क्या फल होगा इसके विषय में मैं एक इतिहास कहता हूं सो सुनो।''

इतना कह कर छद्मलिंग बोला—''प्राणसखा! पूर्वपुण्यरूप जलप्रवाह करने वाली गंगा जी के तट पर एक भव्य शिवालय बना हुआ था। उस मन्दिर के समीप ही पत्थर का एक सुन्दर घाट बना हुआ था। उस शिवमन्दिर में सदा अखण्ड पूजन हुआ करता था, पूजने को आये हुए स्त्री-पुरुषों के 'जय-जय शम्भो! हर-हर महादेव! पार्वतीपते!' इत्यादि हर्षनाद तथा बड़े-बड़े घंटों का शब्द, दूर से सुन कर ही लोगों के मन में भक्तिभाव उत्पन्न कर देता था। घाट पर ही शिवालय के पास तीर्थवासी और आने वाले प्राणियों के ठहरने के लिये एक सुन्दर धर्मशाला बनी हुई थी। उसके समीप ही एक सुन्दर नवपल्लव सघन अश्वत्थ (पीपल) का वृक्ष था। घाट पर तथा उसके सामने के किनारे पर दूसरे अनेक जाति के वृक्षों से वन सुशोभित हो रहा था।

'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां विभूतिरीश्वरस्य वै।'

अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष यह सब वृक्षों में उत्तम तथा ईश्वर की विभूतिरूप होने से, उसमें जल सिंचन करना, उसका पूजन करना इत्यादि, यह अभीष्ट कर्मफल देने वाला है, ऐसा जान कर पास के गांव की उच्च वर्ण की अनेक स्त्रियां उस उस अश्वत्थ को पूजन करने आती थीं।

''एक बार सब स्त्रियां शिवजी का तथा अश्वत्थ का पूजन अर्चन करके अपने-अपने स्थान को चलीं गयीं, पर एक नवयौवना सुन्दरी, 'मानो कोई अपनी बहुत कठिन कामना पूर्ण होना इच्छती हो' वैसे दृढ़ मन से अकेली ही

उस अश्वत्थ का पूजन करके उसकी प्रदक्षिणा करती हुई दृष्टिगोचर हुई। जब ठीक दोपहर होने को हुआ तब प्रदक्षिणा कार्य समाप्त करके घर चलने को तैयार हुई। इतने में पास की धर्मशाला में एक महाप्रचण्ड तेजस्वी यतीश्वर ठहरे हुए उसे दिखाई पड़े, जिनके दर्शनमात्र से ही अनेक पापों का नाश हो जाय। उसने विचार किया कि ऐसे महात्मा के दर्शन अवश्य करने चाहिये, ऐसा निश्चय कर वह युवती उनके सम्मुख गयी और 'नमो नारायणाय' कह कर उनके चरणों को वंदना की। तब उन यतीश्वर ने भी 'अखण्डसौभाग्यवती सत्पुत्रवती भव' ऐसा आशीर्वाद दिया। यह सुनकर उस सुन्दरी को कुछ हँसी आयी। पुनः वन्दन करके जाने के लिये खड़ी हुई, तब महात्मा बोले 'बाई! तुझे हँसी क्यों आई? क्या किसी प्रकार का मुझमें कोई दूषण तुझे मालूम हुआ?' युवती बोली—"नहीं, कृपानाथ! सो तो कुछ भी नहीं। बल्कि आप साक्षात् ईश्वर समान प्रतापी और तेजस्वी मालूम होते हैं पर आपका आशीर्वाद मेरे सम्बन्ध में मिथ्या है, ऐसा जान कर मुझे हँसी आयी।' यतीश्वर ने पूछा; क्यों पुत्री! मिथ्या कैसे? तू तो सौभाग्यवती है न?' युवती बोली—"प्रभो! मेरा सौभाग्य तो नाममात्र ही है, क्योंकि मेरे स्वामी तो आज लगभग बारह मास हुए काशीपुरी में संन्यासी हो गये हैं। कहिये कृपानाथ! अब मेरा सौभाग्य अखण्ड कैसा? और मेरे सत्पुत्र होना भी कैसे सम्भव?' यति बोले—"बेटी! मुझे बहुत आश्चर्य होता है कि तुझ सरीखी तरुण स्त्री को निराधार छोड़ जो पुरुष संन्यासी हुआ होगा वह कैसा निर्दय होगा! उस कृपण को संन्यास देने वाला गुरु भी कैसा धर्मविहीन होगा! हर-हर! हरि-हरि! उन गुरु और शिष्य दोनों को शास्त्र के अनुसार दण्ड मिलना चाहिये। पर बाई! उस संन्यासी का नाम धाम कुछ तुझे मालूम है कि जिन्होंने तेरे स्वामी को संन्यास दिया है?" वह तरुण स्त्री बोली—"महाराज! पूरा-पूरा पक्का तो मुझे मालूम नहीं, पर साधारण रीति से इतना जानती हूं, कि श्रीमती भागीरथी के दशाश्वमेघ घाटपर ही उन संन्यासी महाराज का मठ बना हुआ है और वह मेरे स्वामी का गुरु आपके समान वयोवृद्ध तथा समर्थ विद्वान् हैं!" यतीश्वर बोले—"ठीक, तुम्हारे स्वामी की उम्र क्या है? उसका नाम क्या है? उसकी हुलिया (शरीर की स्थिति) क्या है?" युवती बोली—"मेरे नाथ का शरीर गौरवर्ण, शरीर पर रोमादिक सामन्य, शरीर का संगठन सुन्दर, नाजुक और मुखमुद्रा बहुतेजस्वी तथा शान्त है, उनकी आयु इस समय पूरे पैंतिस वर्ष की है, उनका नाम वि—'इस प्रकार उसके नाम का प्रथमाक्षर मात्र ही बोल कर नीचे की ओर देखने लगी। पूरा

नाम संकोचवश नहीं लिया था, कि यतीश्वर बीच में बोल उठे–क्या? 'विश्वान्र्तवर्ती?' यह सुनकर युवती ने अपना सिर नीचे को झुका लिया। तब यतीश्वर ने कहा–"ठीक-ठीक, तुम्हारे स्वामी को मैंने कई अंशों में पहचाना। पर उसका पूर्ण विश्वास होने के लिये मुझे कितनी बातें और जानने की इच्छा है। बेटी! तू एक काम कर। तेरे घर में कोई वृद्ध मनुष्य हो तो उसको साथ लेकर मेरे पास आना, तेरे आने तक मैं यहीं हूं।' युवती बोली–"पिताजी! मैं यहीं अपने पिता के यहां रहती हूं। मेरे वृद्ध माता पिता दोनों जीवित हैं। मेरे स्वामी यहीं से मुझे छोड़ कर चले गये हैं, इस लिये मैं अपने तीर्थरूप पिता को साथ लेकर आपके पास आऊंगी।' ऐसा कह यतीश्वर के चरणों में प्रणाम करके वह युवती अपने घर चली गयी।

उस स्त्री के जाने के पीछे वह महात्मा यतीश्वर बड़े गंभीर श्वास लेकर, अपने मन में कहने लगे 'हर-हर! यह तो बड़ा भारी अनर्थ करने का आरोप बिल्कुल अपने ही सिर पर आया! अहो! उस विश्वान्तर्वर्ती को ही मैंने शिष्य पर संन्यस्त दीक्षा दी है। उसकी शरीराकृति आदि इस युवती के कथनानुसार ही है, वय भी उतना ही है, समय भी मेरे पास आये उसको इतना ही हुआ और स्थान भी इसने बतलाया वह हमारा ही है। अब अधिक क्या जानना है? पर अरे उस दुष्ट ने तो मुझसे वंचना करी। जब मैंने पूछा था तब उसने स्पष्ट कहा था कि मेरे स्त्री या पुत्र कोई नहीं है। हां, उसका वैराग्य, उसका शील, उसकी ज्ञाननिष्ठा सब तो सराहनीय है; परन्तु उसने अपने गृहस्थाश्रम में ऐसी दावानल सुलगती छोड़ कर उसका त्याग किया? इसके समान दूसरा कोई अनर्थ नहीं। हा दैव! हे परमात्मन्! अब मैं क्या करूं? उसने तो महा अनर्थ किया ही है, पर उसके अनर्थ में मेरा भी कर्तव्य संबद्ध होने के कारण यह सारा अपराध मेरे सिर पर आता है। चलो, अब तो यहां से मैं काशीपुरी ही को लौट कर जाऊं और उस दुष्ट को शिक्षा करूं। पर अरे! मैंने काशी से सेतुबन्ध रामेश्वर चलने का संकल्प किया था, उसका अब क्या विचार करूं।

"ऐसे अनेक प्रकार की कल्पना यतीश्वर अपने मन में करता है इतने में वह स्त्री अपने पिता के साथ वहीं आ पहुँची। बुड्ढे ने आते ही 'नमो नारायणाय' कह कर यतीश्वर को वंदन किया। मध्यान्ह समय हो गया था। इस कारण और सब बात छोड़ कर उसने भिक्षा के लिये अपने घर पधारने की प्रार्थना की। महात्मा बोले–"द्विजवर्य! भिक्षा का समय अवश्य हो गया है; परन्तु तुम्हारी पुत्री का असह्य दुःख जब से मैंने सुना है तब से मेरी भूख प्यास

सब मिट गयी है, बल्कि उल्टी मेरे अन्तःकरण में ऐसी भारी शोकाग्नि प्रकट हुई है कि उसे हर तरह दबाता हूं पर वह ठिकाने पर नहीं आती। मैं काशीपुरी से श्रीरामेश्वर जी की यात्रा करने निकला हूं, पर अब यह यात्रा इस समय मुझसे पूरी होती दिखाई नहीं पड़ती; क्योंकि तुम्हारी पुत्री का दुःखानल सुलगाने में अधिकतर मेरा भी भाग है ऐसा मालूम होता है; ऐसा कह कर वह महात्मा बहुत खिन्न होता हुआ, पुनः बोला—'क्या आपके जमाई का नाम विश्वान्तर्वर्ती है? इसी नाम के तरुण और विद्वान् नैष्ठिक ब्राह्मण ने लगभग बारह मास हुए, हमारे पास से संन्यास दीक्षा ग्रहण की है, अन्य सब चिन्ह आपकी पुत्री के मुख से सुन कर मुझे निश्चय होता है कि वहीं तुम्हारा जमाई है। संन्यस्त दशा में उसका क्या नाम है यह आपको मालूम है?' वृद्ध ने कहा हां, गुरुदेव! संन्यस्तपन का उसका नाम चैतन्याश्रम पड़ा है, ऐसा मैंने काशीपुरी जाने वाले एतद्देशीय सज्जन यात्रियों से सुना है।' यतीश्वर बोले—'वही मनुष्य वही तुम्हारा जामाता। पर वह उग्र वैराग्यशील दिखाई पड़ता है। मेरे सामने उसने यह सच्ची प्रतिज्ञा की थी कि मेरे स्त्री या संतान आदि कोई भी नहीं हैं, और मैं संसाराग्नि से अत्यन्त संतप्त होकर आपकी शरण आया हूं। इसलिये मुझे कृतार्थ करो। मैंने उसकी निष्ठा वैराग्यादि देख कर कहा हुआ सत्य माना और विधिवत् विरजाहोम करा कर दीक्षा दे दी है। अरे! उस कुटिल ने मुझे फसाया!!'

यह सुन कर स्त्री का पिता बोला—'कृपानाथ! उसकी निष्ठा में तो कुछ न्यूनता नहीं थी और मैंने भी उसका सदाचरण और पवित्र वृत्ति देख कर ही अपनी कन्या उसको प्रदान की थी। उसने ब्रह्मचर्यावस्था में बखूबी अध्ययन करके अनेक तीर्थों में अटन किया है। उसका अन्तःकरण विशुद्ध, निर्विकारी, भक्तिनिष्ठवृत्ति, उदार तथा संतोषी, स्वभाव दयालु और मायालु होने पर निर्लेप के समान और परम वैराग्यवान् है। इस कारण वैराग्य उत्पन्न होते ही संसार की सारी पीड़ा झट टल जाने के लिये कई बार मेरी पुत्री से भी कहा था कि तू मुझसे 'हां' कर दे तो मैं अभी चला जाऊं और त्याग धारण करूं, मुझे संसार में पड़ा रहना अच्छा नहीं लगता। वह नित्य इस प्रकार कहता, कि तू मुझे 'हां' कहे तो मैं निर्गमन करूं। इस कन्या ने मुग्धपने से हंसते 'हां' कर दी। उसी दिन आधी रात के समय उसको शय्या पर सोती छोड़ वह चला गया है। कितने ही महिने पीछे यह समाचार मिला कि उसने तो काशीपुरी में त्याग धारण किया है। यह सुनकर मैं तो केवल निराश हो गया और यह पुत्री तथा इसकी माता तो अतिशय विलाप करने लगीं और मेरे अन्तःकरण में तो वज्र की सी

चोट लगी; क्योंकि मैं अपुत्र हूं, अकेली यह लड़की है, इसका भी जन्म व्यर्थ हो गया। अब मैं अपना जीवन कैसे पूरा करूं इस चिन्ता में पड़ा। हम वृद्ध दंपती, इस सुशील पुत्री और योग्य विद्वान जामाता को देख कर उसको पुत्ररूप ही गिन संतोष पाते थे और अवसान की मार्ग प्रतीक्षा करते थे। इतने में यह दुःखरूप वज्र का प्रहार हमारे ऊपर होने से हम केवल निराधार बन गये हैं। मैंने 'बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा' सब बातों से केवल ईश्वरेच्छा बलवती है ऐसा समझ कर मन को धैर्य दिया। स्त्री और पुत्री को भी अनेक भांति समझाया और अंत में पुत्री के संतोषार्थ तथा कालक्रमणार्थ (समय सरलता से बीते इसलिये) मैंने उसको अश्वत्थ* पूजन प्रतिदिन करने का प्रयोग बतलाया। मैंने कहा कि बेटा! तू प्रतिदिन नियम से अश्वत्थसेवन कर, इससे प्रभु सब कल्याण करेंगे, स्त्रियों के संबंध में अश्वत्थ सेवा बहुत सौभाग्य देने वाली है। इससे उसने यह प्रयोग आरंभ किया है जो आज पर्यन्त अस्खलित रूप से साधती आयी है, अब श्रीभगवान् जो करेंगे सो ठीक।' यतीश्वर बोला–'प्रभु करेगा सो ही ठीक, पर इसके संबंध में अब क्या करूं यह कुछ विचार में नहीं आता। यह तो परम धर्मसंकट आ पड़ा!' ऐसा कह कितनी देर तक बड़ा उद्विग्न होकर यति बैठा रहा। फिर गंभीर श्वास लेकर उसने कहा–'अस्तु! चलो; हरि-हरि! अपनी यात्रा मैं यहां ही पूर्ण करता हूं। तुम माता-पिता और पुत्री तीनों जन मेरे साथ चलने को तैयार हो जाओ और कल ही प्रातःकाल काशीपुरी का मार्ग लें।' बुड्ढे ने कहा–'कृपानाथ! आप श्रीरामेश्वर की यात्रा का संकल्प करके निकले हैं, इस कारण आपका वह संकल्प भंग होने से हमको बहुत भय लगता है, आप अच्छी तरह से एकबार यात्रा पूर्ण कीजिये। वहां से लौट कर यहां अवश्य पधारियेगा, तब हम आपके साथ काशीपुरी चलेंगे। यतीश्वर बोले–'द्विजवर! ऐसा करना ठीक नहीं। तुम जानते हो कि यह शरीर तो अनित्य है, क्षणभर पीछे क्या होगा इसका कुछ निश्चय नहीं, तो पीछे आकर इस भारी अपराध से कैसे छुटूंगा? सैकड़ों मन रुई के बड़े भारी ढेर रूप मेरी यात्रा के पुण्यपुंज-उस पुण्य के ढेर को ,तुम्हारी पुत्री के पतिवियोग का दुःखरूप महाप्रज्वलित अग्नि क्षणभर में भस्म करने को समर्थ है। इस कारण अब तो इस शरीर का प्रारब्ध होगा तो रामेश्वरयात्रा को फिर जाऊंगा, पर अब तो पीछे ही लौटता हूं।'

---

* अश्वत्थः -अ नहीं, श्वः आगामी कल, स्थ रहने वाला, अर्थात् जिसकी स्थिति दूसरे दिन नहीं ऐसा अश्वत्थ का अर्थ है। इसका दूसरा लाक्षणिक अर्थ देह अथवा संसार होता है, कारण कि उसकी स्थिति नित्य विकार को पाती रहती है। भगवद्गीता के 15-हवें अध्याय में ईश्वर की विभूतिरूप जगत को अश्वत्थरूप दर्शाया है। यहां अश्वत्थ का अर्थ पीपल होता है तथा इसका पूजन इस लिये करना कि इसमें सदा देवताओं का निवास है। और स्त्रीयों के लिये अश्वत्थपूजन बड़ा कल्याणकारी मार्ग है।

"दूसरे दिन प्रातःकाल काशीपुरी प्रति चारों जनों ने प्रयाण करने का निश्चय किया। पिता पुत्री के साथ यतीश्वर उनके घर पधारे। वहां भिक्षा करके फिर धर्मशाला गये। बुड्ढे ने सबेरे चलने की तैयारी करना आरंभ किया। घर बार संबंधी व्यवस्था करके प्रातःकाल होते ही वे तीनों जन घर से चल कर यतीश्वर के पास आये। यतीश्वर उनकी वाट ही देख रहे थे। वे तुरंत दंड कमंडलु लेकर नारायण का स्मरण करते-करते खड़े हो गये और जिस मार्ग से आये थे उसी मार्ग पर आरूढ़ हो गये। प्रति दिन मार्ग में चलते तथा प्रभुचरित्र, धर्मकथाएं और भक्ति ज्ञान वैराग्यादि के दृष्टान्त सिद्धान्तों का कथन महात्मा यतीश्वर के मुख से श्रवण करते-करते और अपने को इस सत्समागम से कृतार्थ मानते हुए तीनों जने, तन, मन, धन से इन महात्मा की परिचर्या करते लगभग एक डेढ़ महिने पीछे काशीपुरी जा पहुंचे।

"यतीश्वर इन तीनों आदमियों को श्री गंगाजी में स्नानादि कराकर घाट पर बने हुए एक शिवालय में बिठा कर और मैं बुलाऊं तब आ जाना, ऐसा कह आप अकेले ही किसी को कुछ खबर दिये बिना एकाएक अपने मठ में जा पहुंचे।"

छद्म बोला—"पूज्य सखा! कम से कम चार-पांच महिने तक जिनका दर्शन होना सम्भव ही नहीं था, उनको थोड़े ही समय में आ पहुंचे देख कर, तथा जिनकी मुखमुद्रा सदा परम शान्त और प्रसन्न ही रहती थी, उसे अत्यन्त क्रुर और अत्यन्त कोपावेश से आरक्त नेत्रवाली देख, यति चैतन्याश्रम तो, बहुत विस्मित होने के साथ ही अत्यन्त भयभीत हो गया, तो भी चित्त को दृढ़ कर ज्यों-त्यों उनके चरणारविन्द को वन्दन करने गया। जाते ही उसको ललकार कर वे यतीश्वर बोले—"मूढ़! अलग हट! अरे अपवित्र! मुझे मुंह मत दिखा! पापी! तूने मुझे ठगा? कपट कर मुझसे छल किया है? मेरे आगे असत्य कहां तक निबहे? तेरे पाप ने ही तेरा असत्य प्रकट किया है और मुझे शीघ्र जाग्रत किया है। आरंभ में ही जिस कार्य की जड़ असत्य या कपट से जमाई हो, उसका परिणाम पुण्य रूप कैसे होगा? जिसके पाप से कल्याणप्राप्ति की इच्छा हो उन गुरुजनों से ही छल करने वाले मनुष्य के समान दुसरा पापी कौन है? ऐसे दुष्ट को तो निश्चित रूप से नरक की ही शिक्षा होती है।' इस तरह कहते थे इतने में ही उनके किये हुए संकेत के अनुसार वे वृद्ध माता-पिता अपनी पुत्री सहित वहां आ पहुंचे। उनकी ओर उंगली कर, यतीश्वर बोले—'मूढ! तू कहता था कि, मेरे न स्त्री है न कुटुंब जरा अपने चर्मचक्षु खोलकर देख, ये सब कौन हैं?' चैतन्याश्रम तो पूर्व ही अपने गुरु को देख कर आश्चर्य तथा भय से स्तब्ध बन गया था, उस पर भी यह सदा के लिये त्याग की हुई मंडली अकस्मात् अपनी दृष्टि के सामने आयी खड़ी देख अत्यन्त

विस्मित और लज्जित हो गया। अपने श्वशुर, सास तथा सहधर्मचारिणी पत्नी! जिनके आगे वह सदा वस्त्र उपवस्त्र और उपवीत अलंकारादिकयुक्त पूर्ण कर्मनिष्ठ ब्राह्मणोत्तमरूप रहता था, उनके आगे केवल वस्त्रविहीन काषाय (भगवी) लंगोटी मात्र ही धारण किये तथा शिखा सूत्र (यज्ञोपवीत) आदि को त्याग, अवधूत वेष दिखाना उसको मरण से भी अधिक दुःखप्रद और लज्जास्पद हो गया। ऐसा नग्न वेष उनको दिखाने की अपेक्षा 'भूदेवी जो मार्ग देवे तो उसमें समा जाऊं तो अच्छा,' ऐसा मन में विचार हुआ। वह अपने गुरुवर्य के चरणों में प्रणाम कर पृथ्वी में मुंह छिपा कर पृथ्वी पर ही गिर पड़ा। उनके किये हुए तिरस्कार के उत्तर में एक अक्षर भी नहीं बोल सका। इसकी ऐसी स्थिति और वेष देख वह नूतन मंडली भी अति आश्चर्य तथा खेद पाकर अनिर्वाय अश्रुपात करने लगी!

यह कष्टमय प्रसंग, देखने वालों का चित्त को भी तत्काल करूणा से द्रवी भूत कर देने वाला था। कितनी ही देर तक शान्त रह कर गुरु यतीश्वर पीछे बोले—'क्यों रे चैत्यन्य! चैतन्य होकर जड़ की तरह कैसे पड़ा है? मुमुक्षु के समान आचरण वाला होते हुए भी तू क्या इतना भी नहीं जानता कि गुरु के साथ छल करने वाला तथा असत्य बोलने वाला मनुष्य घोर नरक की शिक्षा का पात्र होता है? एक सामान्य बात के छल के लिये ऐसी शिक्षा है, परन्तु तूने तो ऐसा भारी छल किया है कि जिस छल के कारण मुझे भी कठिन यातना भोगनी पड़ेगी, ऐसा तेरा कर्म घोर पापरूप है। ये विचारे सत्त्वशील निर्दोष मनुष्य भी केवल दुःख के समुद्र में डूबे हैं। उनको तथा इनमें से विशेष करके इस तरूण स्त्री का पराकाष्ठा का दुःख देख मुझसे सहन न होने से मैं अपनी रामेश्वर की यात्रा का संकल्प भी मिथ्या करके यहां आया हूं और तेरे अपराध की भी तुझे अब संपूर्ण शिक्षा करना चाहता हूं।' यह सुन कर पृथ्वी पर पड़ा हुआ यति चैतन्याश्रम कि जो अब तक आयी हुई मंडली के कारण अश्रुपात ही करता था, वह गदगद कंठ से बोला—'क्षम्यताम् क्षम्यताम् कृपासिंधो! ममापराधं क्षम्यताम्! अवश्यमेव यह शरीर महा अपराधी है, आप जैसी करना चाहते हैं, वैसी ही महती शिक्षा का पात्र मैं हूं। इतना ही नहीं बल्कि वह अपराध क्षमा न होकर भी उसके योग्य शिक्षा हो यही श्रेयस्कर है, पुण्य देने वाला है। इतने पर भी क्षमा इस लिये मांगता हूं कि जिस सदुद्देश से यह चतूर्थाश्रम आपके द्वारा ग्रहण करने में आया है वह उद्देश्य आपकी शिक्षा से निष्फल और भष्ट न हो जाय अर्थात् मेरे मोक्षसाधन में विघ्न न आवे, इतनी कृपा कीजिये।'

गुरु यतीश्वर बोले—'यह सब बात तो ठीक है, पर तू न जानता हो तो तुझे अवश्य जानना चाहिये कि शिष्य का कर्तव्य क्या है और उसका कल्याण किस कार्य

में है! गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करने में या गुरु के आगे असत्य बोल कर उनकी *वंचना करने में शिष्य का कल्याण नहीं, उसी प्रकार सिर्फ वेदान्त वाक्यों को तोते की तरह श्रवण या पठन करने में ही कल्याण नहीं बल्कि उन वाक्यों के अनुसार यथार्थ* आचरण करने में गुरुसेवा में तथा वैसे ही गुरु-आज्ञा-पालन विषे तत्पर रहने में भी शिष्य का कल्याण होता है। 'शिष्यस्तु को यो गुरुभक्त एव, अच्छा शिष्य कौन है? जो गुरु का भक्त हो। तेरा कल्याण अब तेरे अपराध के योग्य शिक्षा होने के लिये जो आज्ञा मैं तुझे देता हूं उसके पालन में ही समाया हुआ है। चल, बैठ जा और मैं कहूं उस प्रकार कर।' इतना कह कर उन्होंने एक वस्त्र लाकर उसके शरीर पर डाला और हाथ पकड़कर उसे बैठाया। उसने कटि आदि अंगों को उस वस्त्र से आच्छादित कर लिया और दोनों हाथ जोड़ गुरुचरणों की वंदना कर कहा—'हे कृपानाथ! इस अपार तथा केवल दुःखरूप अगाध जल से भरे हुए भवसागर में डूबते और धक्के खाते ऐसे मुझको निर्भय होकर पार उतारने वाली दृढ़ नौकारूप आप सद्गुरु ही हो। मैं भली-भांति समझता हूं कि आपके श्रीमुख से निकले हुए वचनों का यथार्थ परिपालन करना, इस देह का मुख्य कर्तव्य है। प्रथम तो मैंने जान बूझ कर जो आपकी, वंचनारूप बड़ा अपराध किया, इसके क्रूर फल से, आपके शाप से मुक्त हो जाने के विचार में हूं, वह अलभ्य लाभ भी आपकी आज्ञामात्र के परिपालन रूप मेरी गुरुभक्ति पर ही (आधार रखता है) निर्भर है अहो देव! देवों के भी देव! कृपा करके इस दुष्ट शरार को, अपराधी को, गुरुवंचक को—मुझको इन सब अपराधों से युक्त कीजिये।' इस प्रकार कह, चैतन्य यति गद्गद कंठ हो गुरुवर्य के चरणों में पड़ते ही गुरु यतीश्वर बोले—'वत्स! जो कि मेरी आज्ञा प्रथम तो मुझे तथा अन्य जनों को भी बहुत कुढंगी, दुःखद, अपवादरूप और अत्यन्त शास्त्रविरुद्ध लगेगी, पर तुम्हारा कल्याण तो उन सब बातों को गूंगे बहरे की तरह सहन कर लेने में ही गर्भित है, जो तुम्हारा अन्तःकरण जैसा निर्मल है वैसा ही सदा उदित रहेगा, तो लोकापवाद को तू कुछ भी नहीं विचारेगा। हे शिष्य! तू अपने शुद्ध अन्तःकरण से, आत्मकल्याण मात्र के करने वाले हेतुओं के पूर्ण करने को ही अनन्य भाव से मेरे शरण हुआ है, शास्त्रविधिपूर्वक त्यागदीक्षा लेकर मुझमें गुरुत्व धारण किया है, इस कारण मेरी आज्ञा ही तेरे लिये शास्त्र की आज्ञारूप है। इस कारण जैसी आज्ञा पहले किसी यती ने अपने शिष्य को नहीं की ऐसी आज्ञा मैं तुझे देता हूं वह सुन! शिखा, सूत्र और ब्रह्मसुत्र का त्याग कर काषाय (भगवा) वस्त्र धारण कर भिक्षान्न भोजन करना इसी का नाम संन्यास नहीं, बल्कि अपने अन्तःकरण को सब कामनाओं से-सब व्यवहार कर्मों से-संसार के सब नाशवान् पदार्थों से-विरक्त तथा असंग रखना, जगत में संसारी की भांति बिचरते हुए भी उससे बिल्कुल अलिप्त रहना, संसार ही में रहते हुए भी हर समय उस परम पुरुष पुरुषोत्तम में दिन रात एकनिष्ठ ही रहना, अन्य का चिन्तन नहीं, सेवन नहीं, प्रेम नहीं, बल्कि 'पद्मपत्रमिवांभसा' जैसे जल में कमल रहता है तो भी जल से अलिप्त रहता है, ऐसे संसार में रहना, इसका नाम ही सच्चा संन्यास है। एक सत्पुरुष का वचन है कि जो वैराग्य दिखाने को किया जाता है वह

तो मन के उपहास (खिलवाड़-हँसी) के लिये होता है, इसलिये तुम अब इस वेषरूप संन्यास को छोड़ दो और विशुद्ध आन्तरिक तीव्रतर संन्यास धारण करो!'

ऐसी आज्ञा गुरुवर्य के मुख से होते ही चैतन्य यति तो अचैतन्यसा हो गया। मानों, इसके प्राण-पखेरू ही उड़ गये; मुख सूख गया; रोम खड़े हो गये; स्तब्ध की भांति इसके उत्तर में कुछ भी नहीं बोल सका। पुनः गुरु बोले कि, 'धर्मशास्त्र की वचनमर्यादा का लोप न हो, ,इसलिये मैं उत्तम विद्वान् 'धर्मशास्त्रज्ञ ब्राह्मणों को एकत्र करता हूं; उनके द्वारा तू प्रायश्चित करके पुनः संस्कारपूर्वक ब्रह्मत्व धारण कर और इस अपनी पूर्वाश्रम की सहधर्मचारिणी के निःश्वासाग्नि को शान्त कर महत्पाप से मुक्त हो!' यह आज्ञा! इस विलक्षण आज्ञा से मानों चैतन्य के ऊपर ब्रह्माण्ड टूट पड़ा हो ऐसा मालूम हुआ, पर अब उपाय ही क्या?

तत्काल गुरुवर्य ने विद्वान ब्राह्मणों को बुला कर उनके द्वारा शास्त्र विधिप्रमाण चैतन्य को प्रायश्चित्तपूर्वक गृहस्थाश्रम ग्रहण कराया। जो चैतन्याश्रम केवल निर्मल अन्तःकरण वाला संसार से उपरति पाया हुआ महान् विरागी तथा मुक्तिद्वार में घुस जाने की संधि देख रहा था, चीरवेषधारी मात्र नहीं बल्कि वह सच्चे गुणोंवाला संन्यासी था, वह आज फिर एक सत्पात्र सदाचारी ब्राह्मण होके गुरुवर्य के चरणों पर गिर गया! यह देख प्रसन्न हो गुरुवर्य ने कहा—'अब तुम्हारा कल्याण हो! तुम्हारा गृहस्थाश्रम संन्यासरूप ही हो! तुम्हारी पतिव्रता स्त्री तुम्हारे योग्य है! देवी अनसूया की भांति है इससे ईश्वराशंरूप सत्पुत्र उत्पन्न हों।'

ऐसे विलक्षण बनाव से, बहुतेरों को आश्चर्य हुआ। शास्त्र विरुद्ध कह कर बहुतेरे विद्वज्जनों ने शंकाएं कीं, तथापि गुरु यतीश्वर की महान विद्वत्ता और ब्रह्मनिष्ठा सर्वत्र बहुत प्रसिद्ध थीं। उन महानुभाव ने जो कुछ किया होगा, वह योग्य ही होगा और उसका परिणाम शास्त्रविरुद्ध होगा ही नहीं, ऐसे निश्चय से सबको आनन्द हुआ!

उस पतिव्रता को अश्वत्थ भगवान के पूजन से पूर्ण फल मिला। माता पिता सहित उन तीनों जनों का सदा के लिये जलता रहने वाला अन्तःकरण परम शान्तिसहित हर्ष को प्राप्त हुआ। कितने ही दिन तक वे वहां रह कर, विधिपूर्वक काशीपुरी की पवित्र यात्रा करके, फिर गुरु यतीश्वर से आज्ञा लेकर अपने देश की ओर सिधारे। घर जाने पर चैतन्य यति संन्यस्ताश्रम में से गृहस्थाश्रम में आये। आये स्थान पर उनकी हंसी और पराकाष्ठा की निन्दा होने लगी। बहुतेरे अल्प बुद्धि के कुटिल जन तो, इस लाछंन के लिये यहां तक तंग करने लगे कि जिससे "इस दुःखमय जीवन की अपेक्षा मृत्युवश होना उनको योग्य लगने लगा" पर नहीं, सत्पुरुष चाहे जैसे प्राणान्त संकट में भी अपने कर्तव्य तथा प्रतिज्ञा से भ्रष्ट नहीं होते, उन्होंने तो निश्चय ही कर लिया था कि गुरुवर्य की पवित्र आज्ञा का यथार्थ पालन करना, यही मेरा धर्म है, तो फिर प्राणान्त में भी वह अपने निश्चय से कैसे डिगते? हे कृपानाथ सखा! धन्य है इनको तथा इनकी गुरुभक्ति को, कि जिन्होंने

अपने को बिलकुल अरुचिकर हो जाने वाला संसार, जिसको एक बार अन्तःकरणपूर्वक त्याग दिया था, वही दुःखमय संसार, अपनी रुचि न होने पर भी महान् अपकीर्ति और अपार लोकनिंदा का विषम भार सहन करके, एक मात्र गुरु की आज्ञा का ही अवलंबन कर फिर ग्रहण किया! संन्यास में से गृहस्थाश्रम में आने के समान निंदित कर्म एक भी नहीं परंतु उसका उन्होंने प्रेम से सेवन किया, इस कारण उनकी जाति के ब्राह्मणों ने उनको बहिष्कृत किया। (बिरादरी से अलग कर दिया) ऐसा होने पर भी वह किंचित भी न डरे और डिगे भी नहीं, निन्दा भी इतनी अधिक बढ़ी कि उससे त्रास पाकर वे ग्राम से निकल नदी के किनारे एकान्त में निवास करने लगे। इतने पर भी उनकी अपनी आन्तरिक ब्रह्मनिष्ठा किंचित् भी शिथित नहीं हुई। यह ब्रह्मनिष्ठा का माहात्म्य तो आपके गुरु महाराज ने कहा ही है :—**'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते'** इस निष्ठा में स्थित अन्तःकरण वाला मनुष्य चाहे जैसे असह्य दुःख से भी चलायमान नहीं होता!!

इस प्रकार कितने ही वर्ष पर्यन्त उनका पवित्र गृहस्थाश्रम चला और उनके फलस्वरूप उनके चार संतान हुए। पूर्व कहे हुए गुरुवर्य के आशीर्वाद के अनुसार सचमुच ईश्वरासक्त हुए वे दोनों पति पत्नी इन बालकों को लघु वय में छोड़ कर ही परम पद को प्राप्त हुए, पर उन ब्रह्मरूप संतानों ने भी अनेक ईश्वरी चमत्कार संसार में दिखा कर और अज्ञात मनुष्यों को ब्रह्मत्वोपदेश करके संसारभय से मुक्त किया था वह यह बात* जगत्प्रसिद्ध है।,'

यह इतिहास सुनाकर छद्मलिंग ने कहा—'कहो कृपानाथ! गुरुवंचन का

---

* यह कथा ज्ञानदेव (ज्ञानेश्वर) जी की है-इन महाराज का जन्म शके 1187 (संवत् 1332) में हुआ। इनके पिता विठ्ठलपंत (विश्वान्तर्वर्ती) अत्यन्त वैराग्यशील थे। उन्होंने अनेक बार अपनी पत्नी से संन्यासदीक्षा लेने की आज्ञा मांगी, पर उनके उस सयम तक कोई पुत्र न था, इस कारण उन्होंने आज्ञा नहीं दी। एक समय जब उनकी स्त्री दुश्चित्त थी तब उन्होंने कहा कि मैं गंगास्थान को जाता हूं। स्त्री के मुख से 'जाइये' शब्द निकल गया। उमको आज्ञा समझ कर विठ्ठलपंत ठेट काशी को चले गये और वहां संन्यासदीक्षा ले श्रीरामानन्द स्वामी के शिष्य हो रहे। श्रीरामानन्द स्वामी काशी में विख्यात थे। संत कबीर इन्हीं के शिष्य समझे जाते हैं। अस्तु। एकबार श्री रामानन्द स्वामी ने रामेश्वर को जाते हुए आलंदी में मुकाम किया; वहां और स्त्रियों के समान विठ्ठलपंत की स्त्री ने भी उन्हें नमस्कार किया और स्वामी जी ने उसे "पुत्रवती भव" ऐसा आशीर्वाद दिया, यह सुन कर विठ्ठलपंत की स्त्री हँसी। स्वामी जी ने कारण पूछा तब उसने अपनी कथा कही उसका वर्णन सुनकर स्वामी जी ने निश्चय किया कि इसका पति विठ्ठलपंत है, स्त्री रहते हुए पुत्र संतान न होते हुए और स्त्री की संमति न रहते हुए संन्यास लेना योग्य नहीं है, इस प्रकार समझ कर स्वामी जी ने विठ्ठलपंत को फिर गृहस्थाश्रम लेने की आज्ञा दी। गुरु की आज्ञा मान उन्होंने गृहस्थाश्रम स्वीकर किया। अनन्तर उन्हें चार संतान हुए, प्रथम निवृत्तिनाथ (शक 1185) फिर ज्ञानेश्वर महाराज (1187) फिर सोपानदेव और मुक्ताबाई नामक एक कन्या हुई। ये सब बालक अपनी बाल्यावस्था से ही ज्ञानयोग और भक्ति के निवास ही जान पड़ते थे। एक बार रास्ता भूल कर निवृत्ति नाथ भटकते हुए अंजली पर्वत पर एक गुहा में चले गये। वहां श्रीगैनीनाथ तप करते हुए बैठे थे। निवृत्तिनाथ उनके चरणों—

फल क्या है सो जाना? गुरु की पवित्र आज्ञा पालन करने रूप शिष्यधर्म की महत्ता कितनी और निरपराधिनी अबला को अपनी ज्ञाननिष्ठा से त्याग करने का परिणाम कैसा, यह सब आपने अब यथार्थरूप से जाना है। आप अब समझे होंगे कि, पहले निराधार छोड़ी हुई आपकी चरणदासी को अकाल त्याग करने का जो आपका निश्चय, वह सच्चा धर्मरूप नहीं; बल्कि एक मात्र निर्बल वैराग्य का आवेशरूप ही है। चैतन्याश्रम की निरपराधिनी स्त्री की बहार जैसे

—पर गिर पड़े और श्रीगैनीनाथ को भी उस कोमल बालक को देख आनन्द हुआ। अधिकारी देख उन्होंने उसे ब्रह्मोपदेश किया। तदनन्तर निवृत्तिनाथ ने वही ज्ञान ज्ञानेश्वर, सोपानदेव, और मुक्ताबाई को दे उन्हें कृतार्थ किया। इस प्रकार उन बालकों को इस छोटी सी अवस्था में संप्रदायदीक्षा भी प्राप्त हो गई। विट्ठलपन्त संन्यासी से गृहस्थ हुए थे, यह शास्त्रविहित कर्म न था; इस कारण इन बालकों की उपनयनविधि के लिये ब्राह्मण अनूकूल न हो। विट्ठलपन्त ने जो चाहे सो प्रायश्चित लेना स्वीकृत किया, पर ब्राह्मणों ने निर्णय किया कि इस दोष के लिये कोई प्रायश्चित ही नहीं, केवल देहान्त प्रायश्चित है। यह सुन कर विट्ठलनाथ ने प्रयाग को जा त्रिवेणी में अपना देह अर्पण कर गृहस्थाश्रम लेने के समय जैसी गुरु ही आज्ञा शिर से मान्य की थी वैसी ही ब्राह्मणों के प्रति भी अपनी पूज्यता व्यक्त की। उस समय निवृत्तिनाथ केवल दस वर्ष के थे। प्रयाग से लौटे तो उनके भाई बंदों ने उन्हें अपने घर न आने दिया और उनकी संपत्ति का भी हिस्सा उनको न दिया। एवं उन्हें भिक्षावृत्ति स्वीकारनी पड़ी। उपनयन के विषय में भी निवृत्तिनाथ अधिक उत्सुक न थे। वे विरक्त थे, केवल ब्रह्मरूप थे। परन्तु ज्ञानेश्वर महाराज की संमति यह थी कि वर्णाश्रम की रक्षा होनी चाहिये। इसलिये चारों भाई बहिन पैठन गये, पर ब्राह्मणों नें यह निर्णय किया कि संन्यासी के लड़कों का उपनयन शास्त्रानुकूल नहीं है। परंतु तदनंतर ज्ञानेश्वर महाराज ने योगसिद्धि के कई चमत्कार दिखाये, तब ब्राह्मणों ने उनका लोकोत्तर सामर्थ्य देखकर उन्हें एक शुद्धिपत्र लिख दिया कि ये चारों बालक अवतारी पुरुष हैं। इन्हें प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं है। श्रीज्ञानेश्वर के पैठन के चमत्कारों में से भैंसे के मुख से वेदोच्चार करवाना और श्राद्ध के लिये मूर्तिमान पितरों को बुलवाना अत्यंत प्रसिद्ध है। तदनंतर चारों भाई बहिन आलंदी गये। वहां भी कई चमत्कार हुए। वहां उनका काल निरन्तर वेदान्तचर्चा, कीर्तन, पुराण, भजन इत्यादि सत्कर्मो में जाता था। वे भागवत, योगवाशिष्ठ, गीता इत्यादि अध्यात्म ग्रन्थों का निरूपण करते और संसार को परमार्थ मार्ग का उपदेश करते थे। इसी काल में शके 1212 में उन्होंने गीता पर भाष्य निरूपण किया। ज्ञानेश्वर महाराज की अवस्था केवल 15 वर्ष की थी। अन्य सब चमत्कार छोड़ दीजिये। केवल इसी एक बात का विचार कीजिये कि जिस अवस्था में प्रायः अत्यन्त बुद्धिमान् लड़का किसी साधारण विषय पर भी ठीक-ठीक विचार नहीं कर सकता, उस अवस्था में अध्यात्मविषय पर ऐसा ग्रन्थ लिखना कि जो आज छः सौ वर्ष के बाद भी शिरोधार्य है, कितना चमत्कार है।

एक बार चांगदेवनामक योगी उनके मिलने के लिये बाघ पर सवार हो आ रहे थे। ज्ञानेश्वर महाराज उनको देखने के लिये अपने भाई बहिन सहित दीवार पर जा बैठे और चांगदेव का गर्व हरने के उद्देश्य से उस दीवार को चलने की आज्ञा की। दीवार चलने लगी। चांगदेव यह देख कर लज्जित हो गया। ऐसे उनके कई चमत्कार प्रसिद्ध हैं। अस्तु। शके 1218 में श्रीज्ञानेश्वर महाराज समाधिस्थ हुए। यह टिप्पणी श्रीज्ञानेश्वरी गीता की भूमिका में है।

उसके कृपालु गुरुवर्य ने की थी, वैसा ही मैं जानता हूं कि आपकी स्त्री की बहार (इच्छापूर्ति) भी जो आप पहले से अपना कर्तव्य नहीं समझो तो आपके ये अन्तर्यामी गुरु ही करेंगे; पर कदाचित् आप किसी अनिच्छित क्रोध का कारण न हो जाओ इसका मुझे भय लगता है। आप परम ज्ञानी हो, मेरे पूज्यस्थान हो इस विचार से मैं अधिक क्या कहूं? आपको रुचे सो ठीक।"

यह सुन सुविचार बोला–"प्रिय सखा! प्यारे छद्म! अब बहुत हुआ, तुम्हारे कहे हुए इतिहास ने मुझे बहुत शिक्षा दी है। मेरे हृदय की वक्र ग्रंथि तोड़ डाली है और मुझको ज्ञानमार्ग का अच्छा प्रकाश दिखाया है। आज तो अब समय हो गया, यदि अवकाश मिला तो कल इस सम्बन्ध में फिर बातचीत करेंगे।"

दूसरे दिन अपने-अपने नित्य नियम से निवृत्त हो दोनों शिष्य गुरुवर्य को समाधिस्थ देख फिर एक वृक्ष के नीचे बैठे। क्षणभर दोनों ईश्वरी लीला देखते रहे, आकाश की ओर दृष्टि लगाये हुए, आकाश के नये-नये रंग देखते थे। वायु मन्द वह रहा था। 'धन्य प्रभु' ऐसा कह सुविचार जाग्रत हुआ हो वैसे बोला–"प्रिय छद्म! तेरी कही हुई कथा से तो मेरा मन बड़े चक्कर में पड़ गया। विचार करने से मुझे निश्चय होता है कि 'चाहे जो कुछ हो' पर चैतन्य यति के बराबर अपराधी तो मैं नहीं हूं। गुरुदेव की वंचना मैंने नहीं की और न उसकी तरह पत्नी को छल से सोती छोड़कर मैं भाग आया। मैं तो उलटा उसका प्रिय करने के लिये चल निकला था और ऐसा करने से प्रभुकृपा से सद्गुरु समागम हो गया तथा अब चित्तवृत्ति शान्त हो गयी है! मेरे मन की सब लहरें शान्त हो गयी हैं। अतः घर द्वार सब मैंने श्रीगुरुदेव के चरणों में ही माना है तथा गुरुदेव भी अब मुझे घर जाने की आज्ञा करें ऐसा सम्भव नहीं। मुझे घर से निकले बहुत दिन हो गये हैं। अब तक द्रव्य की अतिशय लालसावाली वह स्त्री द्रव्य का और पति का दोनों का इकट्ठा वियोग सहन न कर सकी होगी। मेरे विचार में तो उस क्लेशिनी का शरीर पंचत्व को प्राप्त हो गया होगा।"

"कृपानाथ! ऐसा हो तो भी आप अभी भारी बंधन में हो" छद्म बोला–"क्योंकि आपके पुत्र न होने से उसकी अवसान क्रिया वैसे ही शास्त्रोक्त उत्तरकार्य करके उसको प्रेतत्व से मुक्त कर ऊर्ध्व गति प्राप्त कराना इत्यादि सारा बोझ आपके ही ऊपर है। इस कारण भी दयालु अन्तर्यामी गुरुदेव उसकी शोध के लिये आपको घर जाने की आज्ञा करें तो इसमें भी मुझे कुछ आश्चर्य नहीं मालूम होता। पर इतना विचार किस लिये? क्योंकि आप जैसा कहते हो उस प्रकार मृत्यु को प्राप्त होना भी सम्भव नहीं। कारण चाहे जैसी द्रव्य की इच्छा होने पर भी

पतिव्रता तो थी ही कि नहीं? पतिव्रता की द्रव्येच्छा कहां तक ठहर सकती है? पति के समागम होने तक ही! पति का वियोग होते ही द्रव्यादिक सब सुखेच्छाएँ नष्ट हो करके वह पति के संयोग मात्र के लिये ही सदा आतुर और प्रयत्नवान हो जाती है। यहां तक कि पति के लिये आत्मार्पण, अर्थात् देहान्तसंकट झेलने में भी नहीं चूकती। इससे हे ब्रह्मपुत्र! वह आपकी अर्धांगिनी भी आपके दर्शनमात्र के लिये ही जीवन धारण कर रही होगी, आपकी प्राप्ति के अर्थ ही अहोरात प्रयत्न कर रही होगी। सर्वत्र आपको ही खोजती होगी, भजती होगी, निहारती होगी, हृदय के मानसिक नेत्रों से आपको ही देखती होगी, आपको ही सुमिरती होगी और स्वप्न में भी आपकी ही सेवा करती होगी, ऐसी मेरी मनोदेवता कहती है। क्योंकि उसका सर्वस्व आप ही हो, आज तो आपके आगे की हुई द्रव्यलालसा के लिये वह बारंबार बहुत पछताती होगी और अब प्रभुकृपा से आपका संयोग फिर हो तो वैसा कोई प्राकृत भाव अथवा लालसा का किंचित् भी उद्भव न होने देने के लिये उसने दृढ़ संकल्प भी किया होगा। ऐसा होने पर आप कुछ भी खेद न करते हुए उलटा निश्चय करते हैं कि जिसको देख कर मुझे खेद होता है। आप में वैराग्य और निर्दयता साथ बसती है। वैराग्यरूप महासत्ताधीश के पास दयारूप द्रव्य का भण्डार भरा होता है, ऐसा मैंने आप सरीखे महात्मा के पास से सुना है।"

यह सुन द्विजपुत्र सुविचारशर्मा बोला—"प्यारे छद्म! यह क्या तू सच कहता है? क्या वह अब तक जीती होगी? और इतनी बड़ी एकाग्रता में आ गयी होगी? ऐसा हो तो उसका त्याग करना, यह ईश्वर का अपराध करना है, पर अब इसका समागम होना दुर्लभ है; क्योंकि गुरुदेव की आज्ञा होते ही मैं घर जाऊं, पर वह तो मुझे ढूंढ़ने (तलाश करने) के लिये तुम्हारे कथनानुसार न जाने कहां फिरती होगी।"

"मित्रवर्य! अधिक क्या कहूं!" छद्म ने कहा—"जैसी उसके मन में आपकी चिन्ता होगी, वैसी एकाग्रता जो उसके लिये आपकी हो तो ईश्वर की सत्ता ऐसी बलवती है कि आपके यहां से उसे तलाश करने जाने की भी जरूरत न पड़े, वह यहां ही आपसे आ मिलेगी!

जाको जापर सत्य सनेहू। ताको ताहि मिलै नहिं कछू सन्देहू॥

(तु. रामायण)

किसी महात्मा के मुख से मैंने सुना है कि जो मन की एकाग्रता समान कक्षा में हो तो जैसे लोह को चुम्बक अपने पास घसीट लाता है, वैसे की एक चैतन्य दूसरे जीव को भी खींच लेता है, चैतन्य इतना बलवान है कि वह अपनी शक्ति से ही जड़ पदार्थ को भी खींच सकता है तो चैतन्य को क्यों न खींच सके?"

"ना, ना, यह बात तो अशक्य है।" सुविचार बोला-"यदि ऐसा ही हो तो वह स्त्री अबला ही काहे की! इस अति दूर के दुर्गम स्थान में उसका आगमन होना तो दुर्लभ ही है! मैं आप ही यहां कितने बड़े कष्ट तथा परिणाम में श्रीगुरु महाराज की पूर्ण कृपा हुई, तब ही आ सका हूं, तो उसका क्या आसरा (भरोसा)।" "यह बात ठीक," छद्मलिंग ने कहा-"पर क्या आप पतिव्रताओं के पातिव्रत्यबल का महत्प्रभाव नहीं जानते? पहले समय में पतिव्रताओं ने अपने पातिव्रत्यबल से बड़े-बड़े अद्भुत कार्य किये हैं और उसी के बल से उन्होंने परमात्मा को भी प्रसन्न किया है। इसी प्रकार आपकी अनुगामिनी पतिव्रता भी आपको यहीं आ मिले, इसमें मुझे तो कुछ भी आश्चर्य नहीं लगता।"

सुविचार चुप हो रहा। फिर कहा-"कदाचित् यहीं आ पहुँची तो भी पहले की अपेक्षा बिल्कुल बदल गया हुआ मेरा यह जटावल्कलधारी तपस्वी वेष देख कर वह क्या मुझे पहचान सकेगी?

छद्मलिंग ने उत्तर दिया "मुझे आपकी बातें सुनकर हँसी आती है। अरे! आप तो इस समय प्रत्यक्ष तथा चिरंजीव हो, पर पतिव्रता स्त्रियें तो अपने स्वामी का एक केश भी कहीं छूट पड़ा हो तो उसे भी अच्छी तरह पहचान सकती है! पर कृपानाथ! मुझे तो ऐसी उलटी शंका आप ही पर होती है कि कदाचित् वह आवे और आपके आगे खड़ी रहे तो क्या आप उसे पहचान सको? मैं समझता हूं कि आप नहीं पहचान सको, अधिक तो क्या बल्कि मुझे लगता है कि उसने कई बार आपके सामने होकर प्रणाम भी किया होगा और आपके साथ क्वचित् वार्तालाप भी किया होगा, तिस पर भी आप उसको नहीं पहचान सके हो! क्योंकि आपके मेरे आगे कह कर बताये हुए उसके स्वभावनुसार तो अवश्य क्षण-क्षण आसपास ही होगी!"

"प्यारे छद्म! तू जो कहता है वह सब बातें क्या मानने योग्य हैं?" तब सुविचार ने कुछ मुस्करा कर कहा-"मेरी अर्धांगिनी कि जिसके बराबर किसी दूसरे का सहवास नहीं रहा, उसे प्रत्यक्ष देखता हुआ भी न पहचान सकूं यह केवल हंसी की सी बात है। प्रथम तो इस विकट भूमि में आया हुआ यह अत्यन्त गुप्त और दुर्गम स्थान कि जहां मनुष्य तो क्या, बल्कि वनवासी पशु-पक्षी आदिक भी सरल रीति से (आराम से) नहीं आ सकते, वहां कोमल अंगवासी और घर में से निकल कर कभी बाहर न जाने वाली ऐसी अबला अकेली कैसे आ सकती है? यह बात कभी बनने योग्य नहीं। अब बहुत क्या कहूं? इस बात को छोड़ दे। अपने अवकाश का समय ब्रह्मवार्ता छोड़ कर तुमने केवल सांसारिक बातों में ही नित्य खो देना नियत कर लिया है, यह ठीक नहीं।"

"कृपानाथ! मुझे क्षमा करोगे। छद्म नम्र होकर हाथ जोड़कर बोला–पर क्या ब्रह्म, ब्रह्म मात्र किया करना (कहा करना) इसका नाम ही ब्रह्मवार्ता कही जाती है क्या? तथा ब्रह्मप्राप्ति में साधनभूत बातें, वैसे ही अन्तराय डालने के लिये ब्रह्मप्राप्ति में विघ्न करने वाली बातें मुमुक्षु को क्या नहीं जाननी चाहिये? इन बातों से अज्ञानी (अजान) मनुष्य ऐसे विघ्नों से किस रीति से बचे और साधन किस रीति से करे? मित्रवर्य! यह वार्ता आपके गृहत्याग की वार्ता-आप सरीखे मुमुक्षु को ब्रह्मप्राप्ति में बड़ा अन्तराय डालने वाली मुझे मालुम होती है। क्योंकि आपके गुरुदेव ने आपसे कहा था कि संसार के सब अपराध, सब अन्याय, सारी दुष्टताएं, सर्व पाप, सर्व दुर्गुण और सर्व दुर्वासनाओं से दूर रहने वाला मनुष्य ही, मुमुक्षुपने का अधिकारी होता है, दूसरा नहीं।

"कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः।
तेऽप्यज्ञानतया नूनं पुनरायान्ति यान्ति च।।"

ब्रह्मसम्बन्धी वार्ता में कुशल होने पर भी वैसी करनी न करने वाला रागी मनुष्य अपनी अज्ञानता से बारंबार जन्म मरण को प्राप्त होता रहता है। इसलिये वह सांसारिक वार्ता नहीं, पर ब्रह्मवार्ता ही है और उस चैतन्य यति के चरित्र पर से आपको भी अनुभव हुआ ही है। इसलिये हे कृपानाथ! मैं केवल समय खोने मात्र किंवा चित्तविनोदार्थ ही आपसे नहीं कहता; पर उस पतिवियोगिनी अबला की दया के लिये और आपके ऊपर उसकी अतुल्य प्रीति तथा पूज्यता के लिये ही यह न्यायवार्ता,-ब्रह्मवार्ता मैंने आपसे निवेदन की है। आपको मेरा कहना उपहासवत् लगता है, पर वैसा नहीं, कदाचित् वह सत्य हो जाय और ईश्वरकृपा से आपकी अनुयायिनी पत्नी ऐसे अगम्य स्थान में आपके चरणों के समीप आ पहुंचे, तो आप मुझें क्या कहेंगे? क्या आप मुझे वचन देते हैं कि ऐसा हो तो आप उस पर कृपा करेंगे और उसे अंगीकार करेंगे?"

"प्रिय सखा! यह सुन, सुविचार प्रसन्न हो के बोला,–इतना मैं तुम्हारी अद्भुत वार्ता से प्रसन्न नहीं हुआ, जितनी प्रसन्नता तुम्हारी वाक्चातुरी से मुझे हुई है। बारंबार और प्रसंग-प्रसंग में उठती हुई मेरी सब लहरों को तुमने अपनी मंजुल और न्ययायुक्त वाणी से शान्त कर दिया है। तुम्हारा वाणी धर्मयुक्त और शास्त्रसंमत है, इसलिये प्रसन्नता पूर्वक मैं कहता हूं कि तुम्हारे कहने के अनुसार हो तो अवश्य मैं उसको धर्मपूर्वक अंगीकार करूंगा।"

यह पिछले शब्द सुनते ही, छद्म बहुत हर्षित हो गया। वह बोला–"कृपानाथ! यह चमत्कार तो आप आज ही प्रत्यक्ष देखिये! आप मेरा

कहना मानते नहीं थे, पर वह अबला आपके इस एकान्त अरण्य में ही है और नित्यप्रति आपके दर्शन वंदन करती है, पर आप उसे पहचान नहीं सकते।"

"अहा! छद्म! यह सुन सुविचार ने विस्मित होकर कहा—"तू ऐसा कोमल और बाल्यवयस्क होने पर भी ऐसा चमत्कार जानता है और ऐसी अद्भुत बातें करता है इससे मेरी समझ में तू कोई योगी है! ठीक! वह अबला कहां है? मुझे बतादे!"

"अच्छा, चलो, छद्म ने कहा—आश्रम के बाहर उस अरण्य में है, वहां जाते ही वह सम्मुख होकर आपके चरणों में पड़ेगी। फिर देखूंगा कि भला आप उसे पहचान सकेंगे कि नहीं!"

इतना सुनते ही सुविचार खड़ा हुआ। दोनों जन आश्रम की पूर्व ओर आकर अति रमणीय वृक्षघटा में गये। वहां फिरते-फिरते एक सुन्दर नवपल्लव आम के नीचे खड़े होते ही चतुर छद्मलिंग अकस्मात् सुविचारशर्मा के चरणों में जा पड़ा और प्रेमाश्रुओं से चरणों को भिगोता हुआ, अति गद्गद कंठ से बोला—"हे प्रभो! हे स्वामिन! हे मम प्राणाधार! आपके ही अपना सर्वस्व मानती, ऐसी आपकी यह चरणदासी कि जिसको आपने चिरकाल से छोड़ दिया है, वह आपके त्याग देने पर वियोग में भी भगवत्कृपा से आपकी सेवा में ही तत्पर रही है। वही यह, मैं चिरकाल से वियोगान्त में आज इस निर्जन वन में आपके चरणारविंद की शरण में आ पड़ी हूं उसको यदि पहचानते हो तो पहचानो और दयार्द्र वाणी से अपनी तरह कृतार्थ करो।"

ब्रह्मचारी—विद्यार्थी की दशा में रहे हुए छद्मलिंग को चरणों पर पड़ा और इस प्रकार बोलता हुआ देख सुविचारशर्मा आश्चर्य से भ्रमित सरीखा हो गया-कुछ भी उसको नहीं सूझा। फिर उसका हाथ पकड़ अरे रे छद्म! छद्म मुझे भ्रमित करने के लिये तू यह क्या करता है? चल उठ, खड़ा हो, गुरुदेव जान लेंगे तो बड़ी आफत पड़ेगी।'

ऐसे कह कर उसको बैठाया तब फिर वह गले से लिपट कर बोला। "प्राणप्रिय! क्यों? पहचान लिया? अब क्षमा करो, यह तो 'छद्मलिंग' (छद्म=छुपाया हुआ, लिंग= चिन्ह अर्थात् अपना सच्चा जातिचिन्ह छिपा कर दूसरे वेष से रहने वाला इससे छद्मलिंग) नहीं पर आपकी अनन्यदासी आपकी अपराधिनी अबला प्रकट प्रज्ञा (शुद्धबुद्धि-आत्मबुद्धि उसकी स्त्री का नाम है) है। आपने नहीं पहचानी हो तो अब पहचान लेना?

इतना कह कर उसने अपने माथे पर बंधा हुआ जटाओं का जूट खोल डाला, तो उसमें से एक दिव्य गुटिका निकल कर पृथ्वी पर गिर पड़ी। गिरते ही

उसका कंठस्वर, जो पुरुष के सदृश था वह बदल कर अति मधुर और नव युवती के समान हो गया! सुविचार ने तुरन्त पहचान लिया कि यह अत्यन्त परिचित अपनी पत्नी का शब्द है! तत्काल उसने अपने मुख पर से भस्म पोंछ डाली, कंठ में से रुद्राक्ष का कंठा निकाल डाला और शरीर पर से लंबी ऊन की कंथा (गुदड़ी) उतारते ही सुविचार ने भली-भांति पहचान लिया कि यही मेरी अर्धांगिनी है। फिर आश्चर्य से चकित हुआ वह बोला—"अहा! प्रिया प्रकटप्रज्ञा! क्या तुम मुझसे ठीक यही आ मिली?"

"हां प्राणवल्लभ! हां मेरे सुखसागर!" वह बोली—"आपकी ओर बहती हुई मैं आपकी वियोगिनी प्रेमसरिता, अमोघ प्रेमप्रवाह का वेग सहन न करने से आपके विषे आ मिली हूं और आप में ही लीन होना चाहती हूं।"

फिर तो बाकी ही क्या रहा? दोनों पति-पत्नी बड़े आनन्दवेश से परस्पर भुजा भर कर लिपट गये और प्रेमाश्रु से एक दूसरे के अंग को भिगोने लगे। संयोग सुख से प्रेमसागर में डूबे हुए वे दोनों दंपती गद्गदित अवस्था में बड़ी देर तक एक दूसरे से कुछ भी न बोल सके तथा दोनों का इकटक दृष्टि हो रही। **'इकटक लोचन टरहिं न टारे!'**

प्रियवाचक! उस समय इस दंपती का हृदय कैसी स्थिति में होगा उसका यथार्थ वर्णन करना मेरी शक्ति से बाहर है। जो कुछ लिखा है वह केवल दिग्दर्शन करने मात्र है। उरःस्थित कृपालु प्रभु मुझे जैसी प्रेरणा करते हैं वैसा ही मैं आपसे कहता हूं। इस बात के रहस्य विवेकशून्य, दंभी, क्रूर, स्वार्थी, कपटी, पेटार्थू, अभिमानी, द्वेषी, दुष्ट और पापी हृदय के मनुष्य स्वप्न में भी नहीं जान सकते, जान सकने वाले नहीं, जान भी नहीं सकेंगे; ऐसा भाग्य कहा—जो जान सकें! निष्पाप तथा सरल शुद्ध अन्तःकरण के मनुष्य कि जिनमें भगवत्कृपा से प्रेमरस का अंश भी हो, ऐसे रसिक ही (ब्रह्मवेत्ता ही) इस रस का मर्म समझते हैं! प्रेम ही सर्वरस-सर्व ब्रह्म जानने का, पूर्ण ब्रह्म के जानने का साधन है। आप में भी वैसी किंचित् रसिकता होगी तो आप भी समझने में बहुत आनन्द पाओगे। रसिकता ही मोक्ष का साधन है, क्योंकि अन्तःकरण शुद्ध सरल हुए बिना रसिकता उपजती नहीं, रसिकता बिना प्रेम नहीं, प्रेम बिना भक्ति नहीं, भक्ति बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान बिना मोक्ष नहीं, मोक्ष बिना जन्म मरण का चक्र ज्यों का त्यों चलता रहता है। इस कारण रसिक जनों की बलिहारी है।

प्रेम में ही ब्रह्म है। प्रेम में सब रहता है, यह अद्वैत है, ऐक्य का तत्त्व है। ऐक्य में सुख और जुदेपन में दुःख है। इसी लिये सर्वत्र जुदापन छोड़ कर एकता करने का

प्रयत्न किया जाता है। वैसी अप्रतिम एकता बहुत समय और बहुत परिश्रम के अन्त में पाये हुए उन पति पत्नी का शरीर वास्तविक जुदा होने पर भी बड़ी देर तक एकरूप हो रहा और उनको अपनेपन का भान भी नहीं रहा। जान पड़ता है कि उनका मन भी बहुधा एक ही हो गया था। जब मन एक हो गया तब आत्मा एक होते क्या देर? कुछ भी नहीं, बीच में थोड़ा अन्तर रह जाता था। चर्म देह की चाहे जैसी एकता हो पर अन्तर रहे ही! एकता कहने में आती है पर यह एकता लौकिक और मायिक है, पर वही एकता बदल कर अलौकिकपन से मायापति के साथ जोड़ी जाय तो इसका आनन्द पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाय। आत्मा परमात्मा एक ही अखंडाद्वैत सच्चिदानन्दघन हो जाय! अस्तु। पर यह लौकिक एकता भी कोई सामान्य वस्तु नहीं, इसी से अलौकिक एकता की पात्रता आती है। लौकिक से ही अलौकिक की प्राप्ति है, इस लिये वैसी स्तुत्य एकता में गुथा हुआ, वह रसीला जोड़ा बड़ी देर तक निःसंज्ञ ही था। **'जनक समान अपान बिसारे'** और यह भी नहीं कह सकते कि उनको कितनी देर में अपने आप संज्ञा (चैतन्य) आती, पर इतने में वहां समीप ही एक भारी सिंहगर्जनाने उन्हें चैतन्य कर दिया, उनका परिचित सिंह का शब्द कान पर टकराते ही वह दोनों चौंक कर जाग्रत् हो गये और "अहा! चलो-चलो, समय हो गया और कदाचित् गुरु महाराज की समाधि भी उतरी होगी, इसीलिये यह अपना आश्रमरक्षक सिंह हमको यह सूचना करता है।" ऐसे कहते कहते, वे दोनों शीघ्रता से आश्रम की ओर चले। चलते समय उस द्विजपत्नी ने अपना मंजुलपन, तपश्चर्या के कारण कुछ पीले पड़ गये सुन्दर केश पीछे जटारूप से बांध लिये और उनमें से निकाला हुई मांत्रिक गुटिका फिर उनमें स्थापित करते ही उसका स्वर पुरुषवत् जैसा पहले था फिर हो गया! भस्म, रुद्राक्ष तथा कंबल कंथादि भी शरीर पर धारण कर लिया, तब तो वह पहला ब्रह्मचारी छद्मलिंग ही बन गया। इस सब बनाव (सजावट) से आश्चर्यसमुद्र में डूबा हुआ सुविचार शर्मा उसे फिर एक बार गाढ़ प्रेमालिंगन करके फिर शीघ्रता से आश्रम में जा पहुंचा, पर वहां कुछ चिन्ता की बात नहीं थी। श्रीगुरुदेव की अभी समाधि नहीं उतरी थी। पर आश्रम परिचर्या का समय हो जाने पर उन दोनों में से एक जन को भी आश्रम में देखा नहीं और अपने को भी जाना था इससे उस सिंह ने सूचनारूप शब्द किया था तत्काल दोनों शिष्य चल दिये और अपने-अपने नित्यकार्य में प्रवृत्त हो गये।

ॐ

सूक्ष्म बिन्दु तृतीय–वह बालयोगी कौन?

साध्वी शीलवती दयावसुमती दाक्षिण्यलज्जावती,
तन्वी पापपराङ्मुखी स्मितवती मुग्धा प्रियालापिनी।
देवब्राह्मणबन्धुसज्जनरता यस्यास्ति भार्या गृहे,
तस्यार्थागमकाममोक्षफलदाः कुर्वन्ति पुण्यप्रियाः ॥१॥
पतिर्हि देवो नारीणां पतिर्बन्धुः पतिर्गतिः।
पत्युर्गतिसमा नास्ति दैवतं वा यथा पतिः॥२॥

जिस पुरुष के घर में स्त्री पतिव्रता, शीलवती, दयारूप धनवाली, शुभगुणयुक्त, लज्जा वाली, नाजुक पाप से दूर रहने वाली, प्रसन्न मुख वाली, देखने में सुंदर, प्रिय बोलने वाली, देव ब्राह्मण कुटुम्बियों तथा सज्जन पुरुषों पर प्रीति रखने वाली होती है उस पुरुष के पुण्य पर प्रीति रखने वाला देव धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष सफल करता है ॥१॥

पति ही स्त्रियों का देव व बन्धु तथा उत्तम गति माना जाता है। स्त्रियों को पति के समान दूसरे किसी देवता का आश्रय नहीं, उनकी गति पति ही तक है ॥२॥

गतदिवस के समागम से उन दोनों के मन जाग्रत हो गये थे, इस कारण किसी बात में भी अकेले को चैन नहीं पड़ता था; सारी रात्रिभर निद्रा भी नहीं आयी थी। प्रातःकाल होने पर स्नानसन्ध्यादि नित्य कर्म में भी चित्त बराबर स्थिर नहीं रहता था। छद्म ने तो प्रभुकृपा से अपना मनोरथ सिद्ध किया था इसलिये उसके तो आनन्द हुए उपरान्त यह पृथक् प्रवास मिट कर सहवास कब प्राप्त हो, इसकी लहरें उठ रही थी। पर सुविचार के मन में दूसरा ही विचार था। उसने ज्यों त्यों करके अपने प्रेम से आविष्ट हो जाने वाले मन को कुछ मार्ग की ओर झुकाया; पर यह स्त्री जाति होने पर यहां कैसे किस प्रकार आयी होगी, उसने आज पर्यन्त क्या-क्या किया होगा, कहां-कहां रही होगी, और इस छद्मवस्था में किस प्रकार रहा गया होगा, यह सब आश्चर्य जानने की ओर उसकी मनोवृत्ति बहुत आतुर हो गयी। आज भी गुरुवर्य की समाधि नहीं उतरी थी, इससे समय मिलते ही वे दोनों नित्य के वार्तास्थान पर जा बैठे। छद्म के वंदन करते ही सुविचार कुछ हँस कर बोला–"प्यारे छद्म! तेरे कार्य तथा तेरी बुद्धि ने तो मुझे बड़े आश्चर्य में डाल दिया है! जन्म पर्यन्त के

सहवास में भी तेरी इतनी प्रज्ञा मैंने कभी नहीं देखी थी। द्रव्य संबंधी तेरी लालसा तथा अपने गृहस्थाश्रम में आवश्यक धन की खींचतान के लिये तेरे चित्त का असंतोष देख, मैं तुझसे ऊब (उकता) गया था और तू कोई प्राकृत पामर स्त्री है ऐसा जान कर मेरा मन तुझसे बिल्कुल विरक्त हो गया था; पर अब तेरी इस अद्भुत प्रज्ञा के लिये तुझे धन्यवाद दिये बिना मुझसे रहा नहीं जाता। इसी प्रकार तेरे सुबुद्धिमान् पिता कि जिन्होंने तेरा नामकरण संस्कार करते समय तेरे भविष्य के अनुसार जान कर तेरा नाम प्रकटप्रज्ञा रखा था। उनको भी पूरा धन्यवाद है। पर अब यह बताओ कि जब मैं घर से चला आया तब से आज तक तुमने क्या-क्या किया? यह जानने की मुझे बड़ी उत्कंठा हुई है, इसलिये अपना उससे पीछे का सविस्तर वृत्तान्त मुझे सुना दे।''

यह सुन कर छद्म ने अपना इतिवृत्त कहना आरंभ किया। वह बोला—''कृपानाथ! पति ही स्त्री का सर्वस्व है, उसका वियोग होना और वह भी अकारण और अकस्मात् होना साध्वी स्त्री को कितना संकटप्रद होता है, उसका यथार्थ वर्णन मैं कर ही नहीं सकती। आप मुझसे हँसते हँसते ऐसा कह कर आये थे कि 'मैं तेरे लिये अटूट द्रव्य लेने जाता हूँ।' उस समय तो मुझे कुछ संदेह नहीं हुआ था। पर उत्तरोत्तर ज्यों-ज्यों आपके आने में विलंब होता गया त्यों-त्यों मेरे मन में खटका होता गया कि हो न हो मेरे स्वामीनाथ मुझसे दुःखित होकर मेरा त्याग कर गये! मैं तो बैठी-बैठी आपकी राह ही देखती रही। पर जब सांझतक आप नहीं आये, तब दूसरे दिन सर्वत्र आपकी तलाश कराई। जब आपके दर्शन हो तब ही भोजन करना, इस निश्चय से उपवास किया और बहुत शोध करने पर भी आपका पता न चला तब फलाहार मात्र पर ही देह को निर्वाह करना निर्धारण किया; पर उस बात में मुझे एक भारी अड़चन मालूम हुई कि एक तो मैं स्त्री अबला तिसपर भी अकेली, बिना मस्तक की पगड़ी के समान हो रही हूँ। इस कारण मुझसे देशाटन कैसे हो सके? मेरा शील (सदाचार) किस प्रकार रक्षित रहे? मैंने पहले ही कहा है कि, जवान (युवती) स्त्री का शरीर तो रँधे हुए भोजन (दाल-भात) के समान है कि यदि उसकी संभाल (रक्षा) न की जाय तो उसे छूत होते और बिगड़ते देर नहीं लगती, इसलिये कृपालु प्रभु से प्रार्थना करके तथा क्षमा माँग कर मैंने अपना स्त्रीरूप गुप्त रखने का निश्चय किया। पुरुषवेष में भी कदाचित् मुझे कोई पहचान ले, इस डर से, किसी से भी न पहचाना जाय ऐसा यह छद्मवेष योगिवेष धारण करने का सामान साथ लेकर मैं घर में से निकली। घर में से निकलते समय सब ग्राम के लोगों को देखते समय तक मैं स्त्रीवेष में ही थी, पर पीछे एकांत में आकर मैंने यह वेष धारण कर लिया कि जिससे सारे शरीर का

हृदयादिक का कोई भी अवयव स्पष्ट रूप से दिखाई न दे इस लिये यह मोटा कंबल तथा गेरू से रंगी गूदडी पहन ली; केशों पर भस्म लगा कर उन्हें जटारूप में बांध लिया। गुदड़ी के अंदर कमर में कच्छ (धोती लंगोट) बांधा। हाथ में कंगन, कंठ का मंगलसूत्र और मस्तक का केशभूषण आदि सौभाग्य चिन्हों के बदले सब स्थानों में रुद्राक्ष धारण किये; कुंकुम के बदले ललाटादि सब स्थानों पर भस्म चर्च ली। जल के साधन के लिये यह श्रीफलपात्र (नारियल) जिसे प्रायः संन्यासी रखते हैं और आसन के लिये मृगचर्म बगल में ले लिया। आपके दर्शन हो, इसलिये ही यह वेष बनाया। कदाचित् आपके दर्शन न हो तो इसी वेष में शरीर का त्याग कर देना, उस समय यह दृढ़ प्रतिज्ञा की। इस रीति से मैं आपको शोधने के लिये एक गृहस्थ ब्राह्मणी से अरण्यवासिनी योगिनी हुई। बाहर से देखने वाले मनुष्य तो मुझे एक बाल ब्रह्मचारी बाल योगी रूप ही समझते थे। इतना होने पर भी मैंने जैसे बने वैसे मनुष्यों से बातचीत करना तथा सहवास करना बहुत ही कम रखा था। अन्न का भी मैंने त्याग किया था। इस कारण भिक्षा (भोजन) के लिये मुझे गांव अथवा शहर में नहीं जाना पड़ता था। केवल वन के फल तथा जल से ही मैं संतोष मानती। समय पर अरण्य से दूर आये हुए किसी तीर्थ अथवा शहर में आपकी शोध के लिये जाना होता तो वहां फलादिक न मिलने के कारण कई बार उपवास भी करना पड़ता था। इस प्रकार घर से निकल कर मैंने भरतखंड के प्रत्येक तीर्थ, क्षेत्र, महात्माओं के स्थान, ऋषि मुनियों के आश्रम और पर्वतों में आये हुए अरण्य तथा गुहाओं में फिर कर बहुत ही सूक्ष्मपने से आपकी शोध की। किसी-किसी नगर तथा तीर्थ में पर्व के अवसर पर जहां-जहां मनुष्यों का समूह एकत्र हो वहां-वहां मैं अवश्य जाती और सर्वत्र घूम फिर कर मैं आपको शोधती, पर जब वहां आपका दर्शन न होता तब मैं अत्यंत निराश हो जाती; बांरबार हृदय भर आता और एकांत में जाकर बहुत रुदन करती। ऐसे अवसर पर किसी की दृष्टि मुझ पर न पड़े, कोई रोती हुई मुझे न देखे, इस भय से हृदय को अनेक प्रकार से दाबने (रोकने) का प्रयत्न करती, पर उसमें निष्फल हो जाती। लोग मुझे इसका कारण पूछते तब उनके समाधान के लिये यह कह देती कि 'मेरे गुरुवर्य मुझे छोड़ कर चले गये हैं, वे अब कहीं मिलते नहीं, इसलिये मुझे दुःख होता है' ऐसा कहने में मैं कुछ झूठ नहीं समझती थी; क्योंकि **"पतिरेव गुरुः स्त्रीणां पतिरेव गतिः शुभा"** पति ही स्त्री का गुरु और पति ही स्त्री की उत्तम गति है, इस शास्त्रोक्त वचन के अनुसार आप मेरे गुरु तथा पूज्य हैं ही। इस प्रकार ठौर-ठौर अपनी युक्तिपूर्वक असत्य को बचाना पड़ता था। जनसमूह में फिरते-फिरते जहां कहीं पतिपत्नी को जोड़ी से आनन्दपूर्वक टहलते फिरते

देखती, वहां-वहां आपके विरह से मेरी बहुत ही दुर्दशा हो जाती। एक बार काशी क्षेत्र में मेरी ऐसी दुर्दशा हुई थी कि वहां भागीरथी के घाट पर मेरे ही समान एक दुखिया पतिवियोगिनी का मुझे समागम हो गया। ठौर-ठौर लोग अद्भुत योगिवेष देख कर उसे देखने के बहुत इकट्ठे हो जाते थे। उस समय आपकी शोध करना मुझे सहज ही मिलता था। यह तो महात्मा कोई अद्भुत बालयोगी है ऐसा जान कर वह पतिवियोगिनी स्त्री अपने पति के लिये प्रश्न करने आयी। उस समय अपने समान दुःखवाली उस स्त्री को देख मुझे आपका अत्यन्त विरह हो आया, इस कारण मेने मन की जो दुःखद अवस्था हो पड़ी वह मैं कह नहीं सकती। मेरी यह दशा देख उसने मुझसे इसका कारण पूछा तब उसके तथा अपने मन के समाधान के लिये मैंने अपना और आपका वियोगरूप कारण कह सुनाया। उसमें भी असत्य से बचने के लिये मुझे अनेक युक्तियां रचनी पड़ी थी। 'मेरा एक प्राणवल्लभ मित्र कि जिसको मैं गुरुरूप मानता हूं, वह अपनी स्त्री को एक सामान्य अपराध के लिये त्याग करके चला गया है और उसके शोधने के अर्थ मैं योग धारण करके निकला हूं, ऐसा मैंने उस स्त्री से कहा था, कारण कि आप मेरे प्राणवल्लभ मित्र हैं तथा गुरु भी हैं।''

इस बातचीत से जिज्ञासुओं की समझ में आया ही होगा कि काशीपुरी में भागीरथी के मणिकर्णिका-घाट पर देखा हुआ पहला बालयोगी वह कौन था। वह योगी नहीं था, बल्कि महासाध्वी योगिनी प्रकटप्रज्ञा थी। उसका वाक्चातुर्य अद्भुत होने पर भी कैसा सत्यमय था यह सबकी समझ में आया ही होगा। गुप्त वेष धारण करके उस स्त्री ने असंख्य प्रसंगों में बोलते हुए भी अपनी वाणी को असत्य का स्पर्श भी होने दिया नहीं, अर्थात् अपने पुरुषवेष में होने पर किसी से कुछ भी बातचीत करने में अपना स्त्रीरूप मालूम नहीं होने दिया, उसी प्रकार उसकी बातचीत से किसी को स्त्री होने का भी संदेह नहीं हुआ! अस्तुः इसके पीछे फिर क्या हुआ? वह भी उसी के मुख से आप सुनिये!

फिर छद्मलिंग बोला—''कृपानाथ! बहुत शोध करने पर भी किसी जगह आपका दर्शन नहीं हुआ तब तो मैं निराश हो गई। अति दुःखित होने पर एक ही स्थान पर बैठ कर आपका स्मरण करते-करते शरीर त्यागने का मैंने निश्चय किया। फिर गंगाजी के उत्तर तट पर फिरते-फिरते एक एकान्त स्थल आया, वहां मैं गंगास्नान कर बैठी तथा आपकी प्राप्ति के लिये प्रभु का एकाग्र मन से ध्यान करने लगी; पर वहां भी मेरा मन थोड़ी देर पीछे ऐसा विह्वल तथा शोकाविष्ट हो जाता कि मुझसे मुक्तकण्ठ से रुदन किये बिना रहा नहीं गया। ऐसी दशा में दो तीन दिन येन केन प्रकारेण व्यतीत किये (काटे)। यह स्थान बिल्कुल उजाड़ तथा शुन्य जंगल होने

पर भी मुझे, अंधेरी रात्रि में भी बाघ,, शेर आदि का भय नहीं लगता था और आपके वियोग से तो मेरी भूख, प्यास, तृष्णा, निद्रा, शांति, भीति और सब पदार्थों के ऊपर की प्रीति मुझको त्याग कर चली गई थी। अंत में मुझे दुःख हुआ कि ऐसा निरर्थक और दुःखमय जीवन कहां तक धारण कर रखूं? इसलिये अब फलाहार भी करना नहीं, वैसे ही यहां से उठना भी नहीं तथा श्रीभागीरथी का पवित्र तट छोड़ना भी नहीं। वृथा जीवन गंवाने की अपेक्षा श्रीगंगाजी के तट पर प्राण गंवाना यह श्रेयस्कर है। ऐसे निश्चय से मैंने तीन दिन काटे और चौथे दिन पवित्र पर्व था। इसलिये उषःकाल होते ही असंख्य महात्माजन आसपास के अरण्यों में से एकान्त तथा पुण्यरूप तटपर स्नान करने आये। 'जय-जय गंगे, हर-हर गंगे, पापहारिणी अधमोद्धारिणि," इत्यादि शब्दों की गर्जनाएं सुन कर मुझे भी उमंग हुई लगातार तीन उपवास होने से मुझमें उस समय शक्ति तो नहीं न थी, तो भी श्रद्धा से धीरे-धीरे उठ कर मैंने प्रवाह में गंगास्नान किया, और पतितपावनी से हाथ जोड़ कर प्रार्थना की कि "हे माता! आपका ऐसा बिरद है कि 'सब प्राणियों के पाप हरण करने वाली हो' तब मैं जो कि एक अपराधिनी अबला हूं, बाला हूं, और अत्यन्त पश्चात्ताप करने वाली हूं, और अपने पाप से ही इस महादुःख का अनुभव कर रही हूं, तिस पर भी हे पतितपावनी! मेरे दुःख का अंत क्यों नहीं आता?! मैं तुम्हारे शरण हूं! तुम जगज्जननी हो, तो इस दीन दुखिया की रक्षा करो।"

इतना कह कर छद्मलिंग फिर बोला—"कृपानाथ! मेरी यह प्रार्थना देवी भागीरथी ने सफल करी। मैं ज्यों ही स्नान करके किनारे पर आई और उदासचित्त अपने आसन पर बैठी, उसी समय उत्तर दिशा की ओर के वन में से एक अत्यन्त वृद्ध वय के महात्मा को मैंने किनारे की ओर आते देखा, उनकी आकृति, प्रभाव, श्री तथा तेज देख कर मुझे निश्चय हुआ कि यह कोई ईश्वरी पुरुष हैं। मैंने उठ कर उनके चरणों में वंदन कर मस्तक नवाया। वह मुझे अपनी दिव्य दृष्टि से पहचान कर बोले—"बाले! तेरा कल्याण हो! पुत्रि! तू स्त्री जाति होने पर इस एकान्त और घनघोर अरण्य में अकेली क्यों आयी है?' स्वामिनाथ! आज पर्यंत मुझे किसी ने भी पहचाना नहीं था, इससे इन महात्मा का अन्तर्यामित्व तथा ईश्वरी भाव देख, मुझे बहुत आश्चर्य हुआ; ज्योंही इन्होंने मुझे 'पुत्री' कहा, त्योंही मुझे भी उनके विषे पितृभाव उत्पन्न हुआ। उनका प्रश्न सुनते ही, महादुखिया लड़की की अपने प्रेमालु पिता से मिलने पर जैसी दशा हो वैसी ही दशा मेरी हो गयी, मेरा हृदय भर आया, मुंह सूख गया, फिर नेत्रों के ऊष्ण जल से उनके दोनों चरणों का प्रक्षालन किया; उनके पूछे हुए विषय में मुझसे कुछ भी उत्तर नहीं दिया गया। थोड़ी देर में वे आप ही

अपने योगबल से सब हाल जान कर बोले—'पुत्रि! चिन्ता मत कर। भगवत्कृपा से तेरा संकट मैंने जान लिया है। परमात्मा उसे टालने में समर्थ है। अभी तू यहीं स्वस्थचित्त हो बैठ। इस पर्व का पुण्यकाल बीता जाता है। इससे पहले मुझे गंगास्नान कर लेने दे।'

स्वामिनाथ! ये दयालु महात्मा स्नान करने पीछे लौटते समय मुझे अपने साथ एक अति गुप्त तथा दिव्य स्थान के प्रति लिवा ले गये। वहां की भूमि, तृणांकुर, वृक्ष, लता, बेलियां, जलाशय और पक्षी आदिक सब अद्भुत और दिव्य थे। अपने आश्रम पर लिवा जाने के पीछे महात्मा ने मुझे अपने सम्मुख बिठा कर कहा—'पुत्रि! तेरा पति बहुत सुपात्र मुमुखु है, उसको इस संसार के सुख भोगो ही की लालसा से तूने त्रास दिया था, यह तूने अच्छा नहीं किया, इसी से उसने तेरा त्याग किया है, अब उससे मिलाप होना तेरी मानुषी शक्ति से बाहर है। संसार से थकित् हो और विशेष कर तेरे क्लेश से त्रास पाया हुआ वह अपने एक महासमर्थ गुरु क़ी शरण में जा पड़ा है। वह स्थान ऐसा दुर्गम है, कि वहां योगी के बिना दूसरा कोई जा नहीं सकता पर तेरी शुद्धवृत्ति, तेरा पातिव्रत्य तथा पति—प्राप्त्यर्थ सहा हुआ अपार कष्ट देख कर मुझे बहुत करुणा हुई है, इसलिये मैं तुझे वहां जाने का एक साधन देता हूं। पर वहां जाकर कोई ऐसा कार्य नहीं करना जिससे तेरे स्वामी के मोक्षमार्ग में अन्तर पड़े।' फिर उन्होंने यह गुटिका जो मेरे जुड़े (जटाजूट) में है, देकर कहा—'ले यह एक दिव्य वस्तु मैं तुझको देता हूं इसे तू यत्नपूर्वक रखना, दिन रात गुप्त रीति से अपने सिर में रखना। इसमें अनेक अमूल्य सिद्धियां हैं। इससे तू जहां इच्छा करेगी उसी दुर्गम स्थान पर भी बिना प्रयास के जा सकेगी। तुझमें कुछ अपवित्रता का प्रवेश नहीं होगा, तुझे कोई पहचान नहीं सकेगा, तेरा कंठस्वर बदल जायगा तथा तेरी बुद्धि बहु निर्मल तथा भगवत्परायण रहेगी, इस गुटिका को जब तू अपने पास से अलग रखेगी, तब ही तेरा मूलरूप प्रकट हो सकेगा। इसे लेकर तू अपने स्वामी के पास जा। वहां एक पवित्र आश्रम में वह अपने गुरुवर्य की सेवा में रहता है और मोक्षप्रद ऐसे ज्ञानयोग का श्रवण करता है। पर वहां जाकर अपने स्त्रीस्वभाव का अनुसरण नहीं करना, अपनी और उसकी पहचान करके उसके आत्मसाधन में विघ्न नहीं करना; किन्तु उन महात्मा गुरु का शिष्य रूप होकर शुद्धचित्त अपने स्वामी के साथ इस परम पावन ज्ञानयोग का श्रवण करना। वह महात्मा गुरु तो तुझे देखते ही पहचान लेंगे, पर तुम्हारा ज्ञानयोग पूरा होने तक कभी

अपना संबंध प्रकट नहीं करना। जा! उन महात्मा को बड़े प्रेम से मेरा प्रणाम कहना। इस प्रकार कह कर वे आश्रम के बाहर तक मेरे साथ आये और मुझे मार्गस्थ करके, 'इसी मार्ग से तू सीधी अपने स्वामी के पास जा पहुंचेगी' ऐसे कह कर पीछे लौट गये। उसी दिन मैं चमत्कार से भरी हुई शीघ्रता से मार्ग में के अनेक चमत्कार देखती हुई, शोभा निरखती हुई आपके चरणों में आ पहुंची और आपकी तथा समर्थ गुरुदेव की सेवा करके भाग्यवती हुई हूं" ऐसा कह कर वह स्त्री उसके चरणों में गिर पड़ी।

यह सब वृत्तान्त सुन, अति विस्मित तथा प्रसन्न हुआ द्विजपुत्र सुविचार शर्मा उसकी दृढ़ता, पतिभक्ति और अप्रतिम प्रेम देख, उसको बहुत धन्यवाद देने लगा। उसका एक-एक कर्तव्य याद करके मन ही मन आश्चर्य में और प्रेम में मग्न होने लगा। थोड़ी देर पीछे शान्तिपूर्वक विचार करके बोला—"अच्छा, सति! तेरे अद्‌भुत कार्य को देख मेरा मन जैसा विस्मय पाता है, वैसे ही मुझे एक बात पूछनी है कि जो तुझे और मुझे बहुत विचार करने योग्य है। ओ साध्वी! तेरे इतने बड़े परिश्रम के अन्त में तुझे अब यथार्थ अनुभव हुआ है ही कि मनुष्य जिस संसार के लिये सदा तलफता व मरता रहता है उसमें कितना सुख है?"

'कृपानाथ!" छद्म ने कहा—"सुख कैसा? संसार में सुख तो कहीं दृष्टिगोचर होता नहीं, सब बातों में उलटा दुःख, दुःख तथा दुःख ही दुःख दृष्टि पड़ता है। इस लोक का जीव, बुद्धिमान, पंड़ित, चतुर तथा अत्यन्त सूक्ष्म विषय का जानने वाला होकर तथा अनेक प्रकार से समझदार होने पर भी जहां तक संसारी विषय में घिरा हुआ होता है, वहां तक सत्य समझ सकता नहीं, पर भ्रान्ति से मानी हुई बात को सत्य गिनता है तथा उसके गुणों से लिपटा रहता है। यह बड़ी और प्रबल आवरणशक्ति दुःख की तमोगुण की है, पर यह दुःख सुखाशारूप आवरण से ढ़का हुआ है। अज्ञ जन उसे प्राप्त करने के लिये मिथ्या प्रयास करते रहते हैं। यह अपने गुरु महाराज ने जैसा कहा था यह सब उस समर्थ मायापति की माया का खेल है।"

"ऐसा ही है" सुविचार बोला—"तेरे मन में भी यह विचार योग्य रीति से स्थिर हुआ है, इससे अब कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं, पुनः कहना इतना ही है कि तेरा परिश्रम सफल हुआ, मेरी भ्रांति मिटी, हम दोनों का वियोग दूर हुआ और मैंने तुझे अंगीकृत भी किया। बल्कि तूने और मैंने इस विविक्त स्थान में साथ ही रह कर परम तत्त्वज्ञान एक ही गुरुवर्य के द्वारा श्रवण किया तथा उस श्रवण के अनुसार यथार्थ अनुभव भी हम दोनों को गुरु की कृपा से प्राप्त होकर विज्ञान भी हुआ। यह बड़ा

अलभ्य लाभ हमको मिला है कि जिसकी प्राप्ति से संसार में कोई बड़ा लाभ नहीं, तो फिर हम किस आशा से ऐसा पुण्यरूप स्थान तथा परमेश्वर तुल्य गुरुदेव के चरणारविंद की पवित्र सेवा छोड़ कर संसार में या स्वर्ग में भी जाने की इच्छा क्यों करें?"

"कृपानाथ!" छद्म ने कहा—"अब आशा क्या और तृष्णा क्या? आपको तो आशा पहले ही से नहीं थी और आपकी तथा गुरुदेव की सेवा से मेरी आशा भी, मुझे त्याग कर सदा के लिये बिदा हो गयी है। मेरी इच्छा भी इंस स्थान को छोड़ अन्यत्र जाने की नहीं तथा यहां आपके चरणों में रह कर विषयभोग करने की भी नहीं, मेरी सब मनःकामना पूर्ण हो गई है। मैं केवल शुद्ध निर्दोष प्रेममात्र से सदा आपके चरणों की पुण्यरूप सेवा करके ही कृतार्थ होना चाहती हूं। अरे! ऐसे परमानन्दघन ब्रह्मसुख को छोड़ तुच्छ-नाशवन्त-परिणाम में दुःखप्रद ऐसे विषयसुख की लालसा कौन करे? पर कहे बिना बनता नहीं, कि इस नीच जीव को यह ब्रह्मसुख प्राप्त कराने वाली तो मेरी यह विषय सुख की लालसा ही है।"

"विषयसुख की लालसा ब्रह्मसुख को प्राप्त करावे, यह तो कहने योग्य नहीं," सुविचार बोला,—"पर तुम्हारे संबंध में यह बात अपवाद रूप है। तुम्हारी विषय लालसा अन्य संबंध में नहीं, पर अपने पति के संबंध में थी और पति के साथ मिल कर पत्नी, अपने सुख की लालसा करे यह धर्मविरुद्ध नहीं और न अपराध है। जो विषयसुख की ही इच्छा हो और वह धर्मानुसार करने में आवे तो उसका परिणाम भी कल्याणकारक ही होता है, इसीलिये विषय में से मनुष्यों की कामना दूर करने और परिणाम कल्याणरूप बिताने के लिये भगवत्प्रेरणा से ज्ञानयोग रचा गया है। ईश्वरी आज्ञा है कि मनुष्य अवश्य धर्मशास्त्र की आज्ञानुसार आचरण करे, जो धर्मशास्त्र की आज्ञा को उल्लंघन* कर अपनी इच्छानुसार वर्तते हैं, उनको इस लोक तथा परलोक में सुख नहीं मिलता और सद्गति भी नहीं मिलती।"

वे इस प्रकार बातचीत कर रहे थे इतने में पर्णशाला से में 'नारायण, नारायण,' ऐसा शान्त और गम्भीर शब्द सुनाई दिया। "अहो क्या गुरुदेव की समाधि उतरी?" इस प्रकार कहते हुए आनन्दपूर्वक, तत्काल दोनों शिष्य दौड़ कर उनके पास गये और वंदन करके उनकी सेवा में तत्पर हो गये।

दूसरे दिन वे महात्मा योगीश्वर दोनों शिष्यों को पास बिठा कर सुविचार प्रति बोले—"पुत्र! तुम्हारी दोनों की स्थिति अनुसार जो ज्ञान तुमसे कहना चाहिये, वह भले प्रकार तुमसे कह चुका हूं। तुमको यहां आये हुए भी बहुत दिन हो गये हैं, अब तुम दोनों जने सुख से अपने आश्रम को जाओ। तुम्हारी सेवा से मैं बहुत प्रसन्न हुआ

---

* यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोतित न सुखं न परां गतिम्।।

हूं और आशीर्वाद देता हूं कि तुम्हारा कल्याण हो। इस छद्मलिंग की सहनशीलता, धैर्य और पराकाष्ठा का प्रेमनिष्ठापन देखकर तो मुझे परम आनन्द हुआ है। क्यों सुविचार! तू इसे पहचानता है कि यह कौन है?"

सुविचार शर्मा इसका उत्तर देने जा रहा था कि इतने में गुरुवर्य ने छद्म को आज्ञा दी कि "पुत्रि! अब तेरे लिये छूट है। अधिक काल से अपने भीषण छद्मव्रत को समाप्त करके आज तू अपना मूल रूप प्रकट कर!"

आज्ञा होते ही उसने अपनी जटाओं का बंधन छोड़ डाला, उसमें से गुटिका लेकर गुरुजी के चरणारविंदों पर रख दी और उसके साथ ही वह छद्म मिट कर सुन्दरी बन गयी, फिर मंजुल सुस्वर कंठ से "पिताजी! पिताजी!!" करती उनके चरणाविंद में जा पड़ी। उसको आश्वासनपूर्वक अनेक आशीर्वाद देकर गुरुदेव बोले—"पुत्री! मेरा अद्‌भुत प्रेम तथा तेरे दृढ़ पातिव्रत्य के लिये तुझे धन्यवाद है, अवश्य धन्यवाद ही है। सीता, दमयन्ती, तारा, अरुन्धती और अहल्या के जैसी ही तू भी सीता है! तेरे विचित्र कार्य के लिये तो बड़ा आश्चर्य होता है कि अबला जाति होकर अपने स्वामी के अर्थ अपार कष्ट सहन करके उसको मिलने के लिये तूने असंख्य प्रयत्न किये हैं। यह तेरी शुद्ध पवित्र निष्ठा का श्रेष्ठ फल तुझे कृपालु प्रभु ने दिया है। तुझ सरीखी पतिव्रताओं का संसार में दर्शन दुर्लभ है। पुत्रि! पातिव्रत्यका* बल तो स्त्रियों को सबसे श्रेष्ठ है। पतिव्रता यही स्त्रियों को मोक्ष का साधन है। स्वतः ही को क्या पर अपने स्वामी को भी पतिव्रताएं अपने व्रत के प्रभाव से उत्तम गति को ले गयी हैं और ले जाती हैं। भक्त जनों को जैसे भगवद्‌भक्ति है

---

* आर्तार्ते मुदिता हृष्टे प्रोषिते मलिना कृशा। मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता।।

किसी भाषा कवि ने वर्णन किया हैः—

"तिय देखे जबै पियुको दुःख में, दुःख में है आपन गात कंपावे।
आनन्द में चित्त लखे निज स्वामिहिं, कामिनी मोद प्रमोद बढ़ावे।।
प्राणप्रिया परदेश गये निशि वासर कामिनि काम घटावे।
अन्तहु साथ चले पिय के यहिभांति पतिव्रत धर्म कहावे।।

नानुक्त्वा गृहान्निर्गच्छेत, न पर पुरुषं भाषेतान्यत्र वणिक् प्रव्रजतिः वृद्धेम्यः। न नाभिं दर्शयेत, आगुल्फाद्वासः परिदध्यात्, न स्तनौ विवृतौ कुर्यात्, न हसेदप्रावृता भर्तारं तद्वन्धून्वा न द्विष्यात्। न गणिका धूर्ताभिसारिणी प्रव्रजिता प्रेक्षणिका मायामलकुहककारिका दुःशीलादिभिः सहैकत्र तिष्ठेत्, संसर्गेण हि चारित्रं दुष्यतीति।।

बिना कहे घर से बाहर न जाय, बिना डुपट्टे ओढ़े न जाय, शीघ्र न चले, पर पुरुष के संग न बोले परन्तु व्यापारी, वैद्य, संन्यासी, वृद्ध इनसे बोलने में दोष नहीं है। नाभि को न दिखावे, घुटनों तक वस्त्रों को पहेरे, स्तनों को न खोले, न हंसे, न नग्न हो। पति और पति के बन्धुओं से वैर न करे, गणिका, धूर्त, कुट्टिनी, संन्यासिनी, प्रेक्षणिका, माया से कपट करने वाली, दुष्ट स्वभाव वाली इनके संग न बैठे क्योंकि संसर्ग से भी चरित्र दूषित हो जाता है।

वैसे ही पतिव्रताओं के लिये पतिभक्ति है। तूने जो कुछ किया है बह सब लोक में अनुकरणीय है। पति की पूर्ण भक्ति करने वाली ऐसी जो तू-उसपर भक्तों के पति भगवान् प्रसन्न हुए हैं और उन्होंने तुझे तेरे स्वामी सहित भवदुःख से सदा के लिये मुक्त किया है। प्रिय पुत्र सुविचार शर्मा! भगवत्कृपा से मैं पूर्व ही जानता था कि तू सदा के लिये अपनी स्त्री का त्याग करने वाला है। पर अब तू समझ गया होगा कि पतिव्रताओं में शिरोमणि ऐसी धर्मपत्नी का मूर्खता से त्याग करनेवाला पुरुष घोर नरक में से किसी प्रकार निकल नहीं सकता! इसलिये पुत्र! तुम्हारी यह पवित्र जोड़ी अखण्डित रहे और तुम पुण्यरूप गृहस्थाश्रम का श्रेष्ठ सुख भोगो। धर्मवती, निष्काम, अकाम, शुद्ध बने रह कर परम पद को प्राप्त हो!"

गुरुवर्य के ये वचन सुन, सुविचार हाथ जोड़ कर बोला—"कृपानाथ! आपके शरण आकर अब फिर तुच्छ गृहस्थाश्रम में जाऊं? क्या कोई अमृत का समुद्र छोड़ कर कटोरी भर छाछ को पंसद करता है? अथवा पारस पत्थर को छोड़ कर काँच के टुकड़े को कोई पसंद करता है? भगवन्! कृपा कर अब तो अपने पवित्र चरणों में से हमें अलग न कीजिये। आप इस स्त्री के वियोगपरिहार के लिये मुझे गृहस्थाश्रम की आज्ञा करते होंगे, पर उसे भी अब आपकी कृपा के प्रसाद से संसार सुख की किंचिन्मात्र भी कामना रही नहीं। आपकी शरण छोड़ कर जाना या इस स्थान को छोड़ कर जाना अब उसको भी इन्द्रासन छोड़ कर घूरे की ओर जाने के समान मालूम पड़ता है।"

इतने में हाथ जोड़ कर प्रकटप्रज्ञा ने भी ऐसी ही प्रार्थना की कि, "भगवन्! आप तो अन्तर्यामी हैं, इस कारण आपसे कुछ कह कर बतलाने की आवश्यकता नहीं, पर यहां से जाने की आज्ञा जो आपने की वह मुझे भी रुचिकर नहीं इसलिये प्रणामपूर्वक प्रार्थना है कि अब हमें- अपने शरणागत बालकों को यहां से हटायें नहीं, हम अब संसारसुख से सर्वथा भयभीत हुए हैं। मुझमें पहले जो प्राकृत भाव था वह मेरे न्यून पुण्य के कारण था, वह भली भांति घिस जाने से और आप के पवित्र दर्शन से समूल नष्ट हो गया है। अब हमको यहां रह कर अपने भवसागर तरणरूप पवित्र चरणारविंद अखंड़ सेवा ही करने दीजिये।"

दोनों पति पत्नी का ऐसा शुद्ध अंतःकरण, शुद्ध गुरुभक्ति तथा संसार से शुद्ध वैराग्य देख वे कृपालु महात्मा बहुत प्रसन्न हो करके बोले—"मेरे प्रिय पुत्रों! संतानों! संसार से विरक्त होकर असंग रहने की इच्छा से ही मैं यहां इस एकांत स्थान में आ पड़ा हूं। यहां भी आपके प्रेमी जोड़े का संग मुझे लिपट गया है; पर यह संग पवित्र प्रेममय होने से मुझे खेद हुआ हो, अथवा मेरे मोक्षमार्ग का रोध करे ऐसा नहीं, अर्थात तुम गृहस्थाश्रम न करते हुए यहां रहो तो तुमको अथवा मुझको कुछ हानि नहीं; तो भी आग्रहपूर्वक तुमको संसार में जाकर गृहस्थाश्रम करने की मैं आज्ञा देता हूं, उसका हेतु यह है कि गृहस्थाश्रम शेष तीन आश्रमों की रक्षा करता है। अन्नदान तथा ज्ञानदान का आधार गृहस्थ के ऊपर है, इसी लिये शास्त्र में कहा है कि, "ज्येष्ठाश्रमो गृही"

गृहस्थाश्रम सबसे श्रेष्ठ है; प्रत्येक प्राणी को उससे जितना हो सके उतना सामर्थ्यनुसार कुछ भी परोपकार करना चाहिये। परमात्मा को परोपकार के समान दूसरा कुछ प्रिय नहीं। प्राणी के प्राणों की रक्षा करना यह सब परोपकारों से उत्तम है, अर्थात् प्राणी का नाश न होने देना, यह बहुत बड़ा उपकार है और देह का नाश होने से कोई प्राणी नष्ट तो होता नहीं और आत्मा का नाश किसी से हो नहीं सकता, तो फिर उसका बचाना क्या? पर ऐसा नहीं, आत्मा सत्कर्म कर भक्तिप्रयूरित तथा ज्ञानी होने से आप में और परब्रह्म में भेद नहीं—ऐसा समझ तथा अनुभव करके ऊर्ध्व गति—मोक्ष को पाता है, इसी का नाम सच्चा जीवन तथा अमर होना है। कुकर्म करके उत्तरोत्तर अधोगति* नरक में पड़ना कि जहां से फिर उद्धार होने का समय ही न आवे उसका नाम नाश है। ज्ञानद्वारा ऐसे नाश से प्राणी को बचाना, यह सबसे बड़ा परोपकार है। अनधिकारी आसुरी प्राणी तो अपने आप ही नाश पाता है, इससे उनको बचाने वाला अंत में थक कर निष्फल होता है। परन्तु, दैवी अधिकारी जीव को ऊर्ध्व गति जाने का सन्मार्ग बता कर नाश पाने से रोका जा सकता है। ऐसे परोपकार से पूर्ण परमात्मा बहुत प्रसन्न होता है; इस लिये पूर्व उन्होंने स्वयं श्रीमुख से कहा है कि "जो मनुष्य मेरे ज्ञानरूप परम तत्त्व को जान कर मुझमें प्रीति वाले अधिकारी मनुष्यों को जानते हैं, वे मेरी परा भक्ति को पाकर निश्चय मुझमें ही आ मिलते हैं। तथा उस परोपकारी मनुष्य की अपेक्षा इस लोक में मेरा प्रिय दूसरा कोई नहीं, वैसे ही उसकी अपेक्षा अधिक प्रिय मुझे दूसरा कोई होने वाला भी नहीं।"†

"प्रिय वत्सो! तुमको मेरा दिया हुआ ज्ञान, तुम्हारे अकेले ही का

---

* तानहं द्विषत· क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।
आसुरी योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौंतेय! ततो यांत्यधमा गतिम्।।

† **य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।**
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।। गीता, 18-68,69

जो इस परम गुप्त गीता को मेरे भक्तों से कहेगा अर्थात् गीता का अर्थ भले प्रकार से प्रेमपूर्वक बिना लोभ जो भगवद्भक्तों को समझावेगा सो मुझमें परा भक्ति करके मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें संशय नहीं, इस गीता को भक्तों में प्रसिद्धि करने वाले से अधिक मेरा प्रियकारक पृथ्वी में दूसरा मनुष्य कोई भी नहीं है और न उसके बराबर और कोई मुझे प्रिय होगा।। मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य भुवि मनुष्येष्वित्युक्तम्। दिवि देवेषु च नास्त्येव तत्प्रसक्तिरित्यर्थः। एवं च कालत्रयवर्तिनिखिलभक्तजनतिशायिप्रियाय तस्मै भक्तमात्रसाधारणं मत्प्राप्तिरूपं मोक्षं दिशन्नहं तदीयनिरतिशायित्वानुगुणं फलं दातुमपश्यन्नधमर्ण एव तस्य भवामि इति भगवतोऽभिप्रायः।। अर्थात् पृथ्वी पर शास्त्राधिकार मनुष्यों को ही है इससे श्लोक में "मनुष्येषु" ऐसा कहा है। सारांश यह कि स्वर्गस्थ देवों में तो शास्त्र का प्रसंग ही नहीं है। *इस प्रकार त्रैकालिक समस्त भक्त जनाधिक प्रिय उस भक्त को सर्व साधारण भक्त मात्र सुलभ आत्मप्राप्तिरूप मोक्ष को देता हुआ मैं उसके निरतिशयत्वानुकूल फल को न देकर* उसका ऋणी रहता हूं, यह भगवान का अभिप्राय है।

कल्याणकारक नहीं; किन्तु संसार में के सर्व अधिकारी जीवों के कल्याणार्थ है। इससे गृहस्थाश्रम के निमित्त से संसार में जाकर तुम्हें इस ज्ञान का सर्वत्र प्रकाश करना है। संसार में रह कर आत्मकल्याण कैसे हो सकता है और इसके लिये प्रत्येक मनुष्य को कैसा पुरुषार्थ अथवा कैसा आचरण करना चाहिये, यह सब तुमको करके दिखाना है। केवल ज्ञान अथवा सदाचार का उपदेश ही करने से मनुष्य ज्ञानी अथवा सदाचारी नहीं होता; बल्कि उसके अनुसार यथार्थ आचरण कर दिखाने से, जीव सन्मार्गी हो जाता है। इसीलिये उस परमात्मा ने पूर्व अपने एक प्रियतम सेवक से कहा भी है, कि, हे तात! तू यद्यपि केवल निराश तथा निष्कर्म हुआ है तो भी लोगों को अच्छे मार्ग पर ले जाने के लिये भी तुझे सत्कर्म करना चाहिये। **"लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन कर्तुमर्हसि!"** इसीलिये मैं तुम्हें मुक्ति के द्वार पर जा पहुंचने पर भी फिर संसाार में गृहस्थाश्रम भोगने को कहता हूं। ऐसा करने से अनेक मनुष्यों का कल्याण होगा। तुम जाओ, सुखी होओ, फूलो, फलो और वृद्धि पाओ! समर्थ प्रभु का अपने समीप में ही बुला लेवें; चिन्ता मत करो, अपनी अवर्ण्य गुरुभक्ति के लिये जब-जब तुमको मेरे दर्शनों की इच्छा हो, तब-तब महात्मा धर्मार्थपूर्ण की दी हुई गुटिका के प्रभाव से तुम यहीं आ सकोगे।"

यह कह कर उन्होंने वह गुटिका तथा एक दिव्य मणि देकर सुविचार से कहा—"पुत्र! यह तेरा पहला शिवजी का दिया हुआ स्पर्शमणि है। इसको भी तू अपने साथ ही लेता जा! इसके द्वारा तुम अनेक सत्कर्म तथा परोपकार कर सकोगे। गृहस्थाश्रम में यह तुमको बहुत सहायभूत होगा। चैतन्यरूप स्पर्शमणि कि जो तुम्हारी चिद्गुहा में गुप्त था, वह तो पूर्व ही तुमको स्पष्ट रूप से दिखा दिया है। उसके स्पर्शन घर्षणादिक की रीति भी आज पर्यन्त मैंने अनेक प्रकार से तुमको बताई है, इसलिये इससे भी तुम संसार के अनेक प्राणियों के कोई (जगं या मोर्चा) लगे हुए लोहरूपी अन्तःकरण को घिस-घिस कर सुवर्णमय कर सकोगे। तुमको संसार से डर नहीं। जिन-जिन वस्तुओं से संसार में तुमको डर था उन सबसे भय को दूर कर, सब तरह के निर्भय रहने का साधन तुमने प्राप्त किया है। संसार में सबसे बड़ा भय माया का है। वह चाहे जिसको, चाहे जिस प्रकार से भी भुला कर अपने फंदे में फसा लेती है, उसके आगे किसी का भी बल नहीं चलता; तथापि वह स्वतंत्र नहीं, वह अपने कृपालु प्रभु की दासी है, इस कारण वह प्रभु के शरणागतों से कुछ उपद्रव नहीं कर सकती। परम पुरुष ने पूर्व ही अपने श्रीमुख से कहा है कि, जो मेरी शरण रहता है वह मेरी प्रबल माया को पार कर जाता है। **"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते"** इससे तुम दोनों जो कि अपने महाराज सर्वसमर्थ मायापति के शरण ही हो, इसलिये वह तुमको

कुछ पीड़ा नहीं कर सकती। प्रिय पुत्र सुविचार! जैसा तुझको महात्मा धर्मार्थपूर्णवाली गुटिका का साधन मिला है, वैसा ही किंवा उससे अधिक चमत्कृतिवाला एक दूसरा अद्‌भुत साधन मैं तुझे देता हूं, वह इस वन में तेरे ऊपर उढ़ासा हुआ व्याघ्राम्बर है। इसको भी तुम अवश्य अपने साथ ले जाओ!"

इतना कह कर थोड़ी देर शान्त होकर गुरुवर्य फिर बोले–"प्रिय वत्सों! चलो, तत्पर हो जाओ, मैं तुमको शीघ्र भूमिपर उतर जाने का एक गुप्त मार्ग बताता हूं।" यह सुन गद्‌गद कंठ हो गये हुए वे दोनों पति पत्नी अपने-अपने नेत्रों से आंसुओं की धारा बहाने लगे और वे जड़ तथा गूंगों की तरह, प्रेम से बंधे हुए मूढ़ की तरह हो गये। क्षणभर पीछे हाथ जोड़ नम्रतापूर्वक खड़े रहे, के और कुछ भी बोल न सके। गुरुवर्य ने जान लिया कि मेरा वियोग इनको दुःखरूप है, उसे ये सहन नहीं कर सकते, क्योंकि इनके अन्तःकरण शुद्ध हैं। चलकर इनको समझाऊं। यह मन में विचार उनको समझाते हुए कहा कि "अपने हृदय के अपार प्रेम के लिये तुम कहीं भी चले जाओ, पर मुझसे दूर ही नहीं हो सकते। मैं सदा तुम्हारे पास और तुम सदा मेरे पास ही हो। दूरता तो केवल अज्ञानियों में है। हम लोग तो चिन्मणि ऐसे समर्थ मायापति के चरणों में हैं और मायापति सर्वत्र व्यापक है, तो हम भी सर्वत्र उसके चरणों में ही हैं, फिर, हमारा वियोग कहां? जहां भेद हो, द्वैत हो, 'मुझको मेरा, तुझको तेरा हो,' वहां वियोग है, पर जहां अभेदात्मा का अनुभव किया जाता है, समान वृत्ति से योग का सेवन है, मैं नहीं, और तू भी नहीं, अद्वैत ही है, वहां वियोग ही नहीं, सर्वत्र अनुसंधान है। यह तुम दोनों जानते हो, इससे खेद छोड़कर तुम घर को जाओ।"

यह सुन सुविचार कुछ कहना चाहता था कि इतने में गुरु उसके मन का भाव जान, फिर बोले–"पुत्र! मैंने समझ लिया कि तू मुझसे गुरुदक्षिणा लेने के विषय में कहना चाहता है, पर मैं तो इतनी ही दक्षिणा चाहता हूं कि मैंने तुमको जो परमात्मतत्त्व संबंधी अनमोल चंद्रकान्त मणि दिया है, उसका संसार में सर्वत्र प्रचार करने के लिये अहर्निश तन-मन-धन से तुम प्रयत्न किया करना, मैं इससे ही सदा सुप्रसन्न रहूंगा।"

यह कह हाथ पकड़ कर दोनों को खड़ा किया और हृदय से लगा कर मस्तक सूंघ अनेक आशीर्वचन कह कर अपने साथ ले चले। आश्रमरक्षक सिंह भी उदासमुख उनके साथ-साथ चला। आश्रम से थोड़ी दूर आने पर, कभी नहीं देखा ऐसा सुन्दर मार्ग उनको दिखा कर गुरुदेव बोले–"प्रिय वत्सो! इस मार्ग

से सुखपूर्वक तुम अपने आश्रमस्थान पर जा पहुंचोगे; जाओ! प्रभु का स्मरण करते हुए निश्चिंतपने से चले जाओ।"

अपार प्रेम से उनके चरणारविन्द में प्रणाम कर दोनों शिष्य पादारविन्द में पड़े, प्रेमाश्रु से दोनों चरण प्रक्षालित कर अचेत के समान हो गये; फिर गुरुवर्य ने बहुत आश्वासन देकर उनको हृदय से लगाया और सुभाशीषपूर्वक मार्गस्थ करके पीछे लौटे। उनको तथा बन्धुसमान बर्ताव वाले उस सिंह को भी नमस्कार करके वे पति-पत्नी धीरे-धीरे चल पड़े, थोड़े ही समय में बिना परिश्रम के हिमगिरि पर से नीचे उतर कर अपने ग्राम में जा पहुंचे। वहां इन दंपती को चिरकाल पीछे घर आया देख गांव वालों को बड़ा आनन्द हुआ, और वे उनके मिले हुए गुरुप्रसाद का बड़े प्रेम से लाभ लेने लगे। गृहस्थाश्रम में आने के पीछे उन्होंने कई एक दुःखी जनों का दुःख तथा अज्ञानियों का अज्ञान दूर किया। सुविचार ने सर्वत्र सुविचार सारासार-विचार का विस्तार कर दिया। प्रकटप्रज्ञा ने सर्वत्र प्रज्ञा-तत्त्वप्रज्ञा को प्रकट कर दिया। अहर्निश वे गुरुमहाराज का स्मरण करते तथा विरह व्यापता तो गुरुजी के स्थान पर दर्शन करने चले जाते थे। इस प्रकार से अपना पुण्यरूप जीवन पूरा होने तक अर्थात् जीवन पर्यन्त असंख्य आत्माओं का उद्धार करके परिणाम में परम पदारूढ़ हो गये और पीछे अपने ही समान अपना एक पुत्र वे छोड़ गये। उसने अपने 'निजबोध' नाम के अनुसार सर्वत्र आत्मतत्त्व का ही प्रकाश किया है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परांशान्ति मचिरेणाधिगच्छति ॥ गीता 4-38
समत्वं योग उच्यते ॥

श्रद्धावान्, तत्पर तथा इन्द्रियो का संयमन करने वाला ज्ञान को पाता है। ज्ञान को पाकर थोड़े ही समय में परा शान्ति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। समान वृत्ति को ही योग कहते हैं।

इति श्रीनन्दनन्दनपादारविन्दमिलिन्देन देशाईकुलोत्पन्नेन सुर्यरामसुतेन इच्छारामेण गुर्जरभाषायां विरचितस्य चन्द्रकान्तस्य हिंदीभाषानुवादे पर्णकुटीरहस्यनाम्नि चतुर्थप्रवाहे गुरुणा शिष्यस्य स्ववर्णाश्रमधर्मे योजनंनामतृतीयभागस्य प्रथमः खण्डः।।

ॐ

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

(निजबोध)

♦

तत्त्वानुसंधान

तत्त्वमङ्गलम्

सर्ववेदांतसिद्धांतगोचरं तमगोचरम्।
गोविंदं परमानंदं सद्गुरुं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥ 1 ॥

अर्थ :—सामान्य रीति से जो जाना नहीं जाता, परन्तु वेदांत के सब सिद्धातों से जानने योग्य, वेद वाणी की रक्षा करने वाले, परम आनंदमूर्ति ऐसे सद्गुरु को मैं प्रणाम करता हूं ॥ 1 ॥

श्रुतिमपरे स्मृतिमपरे भारतमपरे भजन्तु भवभीताः।
अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म ॥ 2 ॥

अर्थ :—संसार से भयभीत पुरुष चाहे कोई वेद को, चाहे कोई धर्मशास्त्र को तथा महाभारत को भजे (श्रवण करे) परन्तु मैं तो एक नंदराय को नमस्कार करता हूं, जिनकी पौर (दहली-मकान) पर परब्रह्म विराजते हैं ॥ 2 ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
नत्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकःकुतोऽन्योलोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥ 3 ॥

अर्थ :—हे उपमारहित प्रभाववाले! तू इस चराचररूप सर्व लोक का पिता है तथा पूज्य है तथा गुरुरूप है तथा गुरुतर है। तीनों लोकों में तेरे समान भी कोई नहीं है तो अधिक कैसे हो सकता है? ॥ 3 ॥

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री-
रर्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूराः।।
कष्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम् ॥ 4

अर्थ :— आयुष्य जल तरंगसी चंचल है, यौवन अवस्था की शोभा अल्पकाल रहने वाली है, धन मन के संकल्प से भी क्षणिक है, भोग के समूह वर्षाकाल के मेघ की बिजली से भी चंचल हैं और प्यारी स्त्री को गले से लगाना बहुत दिन स्थिर नहीं रहता, इसलिये संसार के भयरूपी समुद्र से पार हुआ चाहो तो ब्रह्म में चित्त लीन करो ॥ 4 ॥

अद्यैव हसितं गीतं पठितं यैः शरीरिभिः।
अद्यैव ते न दृश्यन्ते कष्टंकालस्य चेष्टितम् ॥ 5 ॥

अर्थ :— जो देहधारी आज अपने साथ हँसते है, गीत गाते है, पढते है, बातचीत करते हैं वे आज ही मरण पाते है, दिखाई भी नहीं देते, काल का चरित्र सचमुच दुःखदायक है ॥ 5 ॥

हितमिदमुपदेशमाद्रियन्तां विहितनिरस्तसमस्तचित्तदोषाः।
भवसुखविहताः प्रशांतचित्ताःश्रुतिरसिका यतयो मुमुक्षवो ये ॥ 6 ॥

अर्थ :— जिन्होंने शास्त्रोक्त कर्म से चित्त के सारे दोष दूर किये हों, ससार सुख से विराम वृत्तिवाले हो, प्रशान्त चित्त हो, श्रुति के ऊपर प्रेम वाले हो, मुमुक्षु हो, तथा इन्द्रियो का सयम करने वाले हो, वे इन हितकारी उपदेशो पर ध्यान धरें-प्रेम करें ॥ 6 ॥

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चर्थेष्वभिज्ञः स्वराट्र
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धान्मा स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥ 7 ॥

अर्थ :— जिस परमेश्वर से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय होता है, जो परमेश्वर घड़े में उपादानकारणरूप जैसे मिट्टी व्याप्त रहती है तथा कड़ा कुंडल आदि में कारणरूप जैसे सुवर्ण व्याप्त रहता है वैसे ही कार्यरूप इस प्रपंच में कारणरूप से व्याप्त हो रहा है, जो मिथ्या कार्य से जुदा हे, जो परमेश्वर ज्ञानरूप तथा स्वयंप्रकाश है तथा बड़े-बड़े विद्वान् भी जिस वेद का रहस्य जानने में मुग्ध हो जाते हैं उसी वेद को परमात्मा आदिकवि ब्रह्मा के मन में अन्तर्यामीपन से विस्तार करते हैं; बल्कि सूर्य की किरणों से जैसे मरुस्थल में जल की भ्रान्ति होती है वह मिथ्या होने पर भी सूर्य की किरणों की सत्ता से सत्य जान पड़ती है, फिर जल में भ्रान्ति से जैसे यह काच है ऐसा भान होता है। वह मिथ्या होने पर भी जल की सत्ता से सत्य मालूम होता है तथा कांच में जैसे भ्रान्ति से जल जान पड़े, ऐसा भान होता है वह मिथ्या होने पर भी कांच की सत्ता से सत्य-सत्य जान पड़ता है वैसे ही अधिष्ठानरूप परमात्मा में तमोगुण के कार्यरूप पंचमहाभूत की सृष्टि, रजोगुण के कार्यरूप इन्द्रियों की सृष्टि तथा तत्त्वगुण के कार्यरूप देवताओं की सृष्टि भी कल्पित तथा असत्य है, तथापि परमात्मा की सत्ता से सत्य सी जान पड़ती है, बल्कि जिस परमात्मा ने अपने ज्ञानरूपी प्रकाश से माया का नाश किया है, जो भूत, भविष्य तथा वर्तमान काल में विद्यमान है ऐसे सर्वश्रेष्ठ परमात्मा का हम ध्यान करते हैं ॥ 7 ॥

तत्त्वानुसधान

पीठिका

संसारदावपावकसंतप्तः सकलसाधनोपेतः।
स्वात्मनिरूपणनिपुणैर्वाक्यैः शिष्यः प्रचोद्यते गुरुणा।।

अर्थ :– संसार रूपी दावानल से संतप्त, सर्व साधनों सहित अधिकारी शिष्य को ब्रह्मनिष्ठ श्रीसद्गुरु द्वारा आत्मनिरूपण विषे श्रेष्ठ वाक्यों अर्थात् जीवब्रह्म की एकता के प्रतिपादन करने वाले उपनिषद् वाक्यों से उपदेश किया जाता है।

प्रिय वाचक! यहां से आगे इस दंपती का पवित्र इतिहास पूरा होता है। इनके चरित्र पर से तुमने बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया (जाना) है तथापि गुरुवर्य के पास से इनको जो अनमोल मणि-वह स्पर्शमात्र से सुवर्ण कर देने वाला स्पर्शमणि-चन्द्रकान्तमणि प्राप्त हुआ था, उसका चमत्कार तो तुमको देखना अभी बाकी ही है। यह चैतन्यरूप चन्द्रकान्त मणि बताकर उसका गुणवर्णन करने के साथ, उसका कब और किस रीति से उपयोग करना यह सब बातें गुरुमहाराज ने उनको बतायी थीं। उसका स्पर्श तथा घर्षण होने से वह जिस प्रकार सम्मुखस्थ पदार्थ को सुवर्णरूप कर देता है, इन सब बातों का पूर्ण अनुभव भी कराया था। उसके बारंबार स्पर्श करने से ही, वे सुवर्णरूप तो क्या बल्कि स्पर्शमणिरूप हो गये थे। वाचक! चलो, सावधान हो, हम लोग भी उस समर्थ तथा उदार गुरुवर्य का स्मरण करें और उनके द्वारा आप सबके कल्याणार्थ प्रकट किये हुए उस चैतन्य चिन्तामणि से, कि जो आपकी चिद्गुहा में ही अति एकांत बिराजमान है, लाभ उठायें। इन कृपालु गुरुवर्य ने अपने उन दोनों शिष्यों को जिस-जिस प्रसंग पर जैसे और जितनी बार, उस मणि का स्पर्श घर्षणादि करना बताया है, उसी के अनुसार (मैं भी) आपसे कहता जाऊंगा। प्रथम तो हम लोग उस चिन्तमणिरूप सर्वसमर्थ सर्वेश्वर मायापति का बड़े प्रेम से जय बोलें। बोलो मायापति भगवान् की जय, सर्वेश्वर भगवान् की जय, मंगलमय भगवान् की जय!!!

हिमगिरि की एकांत गुहा में बिराजे हुए महात्मा की शरण में चलो। आरंभ से श्रीमान् प्रभु मायापति की मंगलमय चरणारविंद का स्मरण वंदन कर, यथार्थ अधिकारी ऐसे अपने दोनों शिष्यों को सावधान करते हुए वे योगीश्वर बोले–"बच्चो! तुम्हारे हृदयरूप अंतर्गुहा में जो तुमने उस चैतन्यरूप महामणि का दर्शन किया वह प्राणी को प्रत्यक्ष प्राप्त हो सके और फिर कभी खोवे नहीं, इसका उपाय तुम सुनो।" ऐसा कहकर फिर उनमें से जो मुख्य सुविचारशर्मा था उसे संबोधन कर मणिका वृत्तांत कहना आरंभ किया। वे बोले–"प्रिय पुत्र सुविचार! हमको जिस वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा हो उसे प्रथम तो अच्छी तरह जानना चाहिये, कि वह वस्तु ऐसी, इतनी बड़ी तथा इस गुणवाली हैं; फिर उसको यथार्थ पहचानना चाहिये कि अमुक-अमुक प्रकार की हमने सुनी थी, वह वस्तु यह है तथा इस प्रकार निश्चय पहचान कर तब उसके प्राप्त करने का प्रयास किया जाय तो सफल हो। उसी तरह परम चैतन्य मणिरूप सर्वेश्वर सर्वान्तर्यामी भगवान् की प्राप्ति भी क्रमपूर्वक उसी प्रकार से प्रयत्न करने से ही होती है। भगवान् कौन? कैसा? कितना बड़ा? कहां है? संसार में है या और कहीं है? वह यथार्थ जानना तथा उस प्रकार जानकर फिर वह जहां-जहां और जैसा-जैसा हो वहां-वहां से उसको यथार्थ रीति से पहचानना, कि यही भगवान् परमात्मा प्रभु-परब्रह्म-सच्चिदानंद हैं। ऐसा पहचानने के बाद उसको प्राप्त करने का प्रयत्न सफल होता है। संसार में जन्म लेकर मनुष्य का जीवनसाफल्य भगवान् की प्राप्ति मात्र में ही है। इसी पहचान के लिये सब शास्त्र तथा विद्याएँ प्रकट की गयी हैं अर्थात् उसकी प्राप्ति कैसे कर सके, इसीलिये सर्व शास्त्रों का यत्न है और वे शास्त्र ऊपर बताये हुए तीन प्रकारों में बटे हुए हैं। कितने ही-शास्त्र भगवान् कैसा है?! क्या है!! इत्यादि जानने में-उसका गुण प्रकट करने में, कितने ही उसे यथार्थ रीति से पहचान कराने में तथा कितने ही उसे प्राप्त कर देने में साधनभूत हैं। मैं भी तुमसे वैसे ही अनुक्रम से भगवत्संबंधी तत्त्व कहता हूं, उसे चित्त देकर सुनो।"

ॐ

प्रथम बिंदु

मैं कौन हूं?

महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया।
पारं दुःखोदधेर्गन्तुं तर यावन्न भिद्यते ॥ 1 ॥
नोत्पद्यते विना ज्ञानं विचारेणान्यसाधनैः।
यथा पदार्थज्ञानं हि प्रकाशेन विना क्वचित् ॥ 2 ॥

अर्थः—महापुण्यरूपी धन के बदले मे तूने यह कायारूपी नाव, दु:खरूपी भवसागर से पार होने के लिये खरीदी है; यह जब तक टूटे नही तब तक इसके द्वारा पार उतर जा ॥ 1 ॥

विचार बिना अन्य किसी साधन से ज्ञान उत्पन्न नही होता है, जैसे प्रकाश के बिना कभी भी पदार्थज्ञान नही होता ॥ 2 ॥

भगवद्गुण–वैचित्र्य

कृपालु गुरुवर्य बोले–"वत्स सुविचार! पहले समय में किसी नगर का राजा अपने किशोर वय के राजकुमार को साथ ले नगर के समीप ही आराम (बाग) में हवा खाने या टहलने गया था। वहां अनेक प्रकार के पुष्पित तथा फलित वृक्ष और उन पर बैठे हुए तथा मधुर शब्द करते हुए विविध जाति के पक्षी, बाग में के सुन्दर तथा स्वच्छ जलवाले छोटे-छोटे सरोवर तथा अति विचित्र रीति से रचे हुए पुष्पस्तबक तथा उसमें टहलने-चलने के लिये बनाये हुए सुन्दर मार्गो को देखते-देखते वे पिता पुत्र एक नवीन क्यारी के समीप जा पहुंचे। उस क्यारी को देखते ही राजपुत्र ने कहा–"पिताजी! यह क्या आश्चर्य है कि दो तीन दिन पूर्व श्रीमती माताजी के साथ मैं यहा आया था तब इस क्यारी में कुछ भी नहीं था, सपाट जमीन थी! आज उसमें ये लाल-लाल फुनगे तथा अंकुर कहां से आई? और किसने बनाये होंगे?"

राजा ने कहा–"तुम ही बताओ ये किसने बनाये होंगे?"

राजपुत्र–"मैं समझता हूं कि ये अपने माली ने ही बनाये होंगे, क्योंकि वह उस दिन इस क्यारी में कुछ खोदता और दबाता था।"

राजा–"कुंवरजी! ऐसा नहीं, इसका बनाने वाला तो दूसरा ही है। माली बिचारा तो जमीन खोदना जाने, बीज बोना जाने और बहुत सा पानी देना जाने, इससे अधिक और क्या कर सकता है?"

राजपुत्र–"तब ये सुंदर अंकुर तथा फुनगे कौन बना गया होगा?"

राजा–"इसके बनाने वाले को तुम पहचान नहीं सकते, ये फुनगे तो क्या-यह सारी बाड़ी और उसमें जो सारे वृक्ष लगे हुए हैं वह सब उसी ने बनाये हैं।"

राजपुत्र–"आपके दरबार में प्रधान से लेकर सब अहलकारों और नौकर चाकरों को मैं पहचानता हूं, तो फिर इस बनाने वाले को क्यों नहीं पहचान सकूंगा? क्या वह आपके दरबार में सब अहलकारों की तरह आपको नमस्कार (वंदन) करने सांझ सबेरे नहीं आता?"

राजा किंचित हँसा और फिर कुँवर से बोला–"पुत्र! यह पुरुषोत्तम हमारे दरबार में ही है, पर सांझ सबेरे, दोपहर, उलटा मैं ही उनको नमस्कार प्रणाम करता हूं। यह हमारा नौकर नहीं, चाकर नहीं, प्रधान नहीं और वजीर भी नहीं, बल्कि हम सब उसके नौकर चाकर और बाल-बच्चे हैं।"

राजपुत्र बोला–"ये क्या हमारे दादाजी हैं? हमारे दादाजी तो स्वर्गवासी हो गये हैं।"

राजा–"वे दादाजी स्वर्गवासी हो गये, पर ये दादाजी तो अमर हैं, अजर हैं, विश्वव्यापी अनन्त अपार हैं। हमारे सबके मर जाने पर भी वे कभी मरने वाले नहीं।"

पुत्र आश्चर्य पाकर बोला–"पिताजी! तब क्या वह आपके दरबार में हैं,? चलो, तब तो मुझे दिखाओ।"

राजा–"भाई! मैं तुम्हें कैसे दिखाऊं? उसे तो कोई देखता नहीं, क्योंकि वह बहुत गुप्त रहता है।"

राजपुत्र–"चाहे जो कुछ हो, पर वह ये फुनगे बनाने तो आता है कि नहीं? वह यहां किस समय आता है, उस समय भली भांति उसे देखूगाँ।"

राजा–"वह कहीं आता भी नहीं और जाता भी नहीं, वह सर्वत्र है, उसके बिना कोई स्थान खाली नहीं।* वह परिपूर्ण है, विश्वव्यापी है, देखने वाले उसे देखते हैं, नहीं देखने वाले नहीं जानते।"

राजपुत्र–"आपही कहते है कि वह अपने दरबार में है और कहीं आता जाता नहीं, तब यहां आये बिना ये फुनगे किस प्रकार उसने बनाये?"

---

* हर एक चीज में है समाया वोही, नहीं उसकी शक्ति से खाली कोई।

राजा—"इस बाग में भी वह है तब उसे आना जाना क्यों पड़े?"

राजपुत्र—"अहो! यदि यही है तो मुझे जिस प्रकार हो सके अभी दिखाओ! चलो हम उसके पास चलें।"

राजा—"पर भाई क्या तू भूल गया? मैंने तुझसे पहले ही कहा है कि यह किसी से देखा जाता नहीं।"

राजपुत्र—"तब आप उसे प्रणाम कैसे करते हैं? क्या आपको भी वह दिखाई नहीं देता?"

राजा—"ना; इन बाहर की आंखों से तो वह दिखता नहीं, पर हृदय में रहने वाली दूसरी आखों से मैं उसको देख सकता हूं और प्रेम से उसको प्रणाम करता हूं।"

राजपुत्र—"क्या इस हृदय में भी दूसरी आखें हैं? इन हृदय की आंखों से बाहर को आप कैसे देख सकते हैं?"

राजा—"बेटा! इन हृदय की आंखों से बाहर का भी देखा जा सकता है, पर इन फूनगों और बाग का बनाने वाला दादाजी तो मुझे बाहर दिखाई नहीं पड़ता। यह तो मुझको अपने में ही दिखाई पड़ता है।"

राजपुत्र—"कैसी आश्चर्य की बात? घड़ी भर में तो आप कहते हैं कि वह दरबार में है, घड़ी भर में कहते हो बाग में है और अब कहते हो कि वह हमारे हृदय ही में दिखाई देता है। यह एक ही जन अनेक स्थान पर कैसे हो सकता है? हम तुम जब इस समय बाग में हैं तो दरबार में कहां से होंगे? हे पिताजी! यह तो आप मुझसे छल करते हैं, भुलाते हैं!"

राजा—"बेटा! ऐसा नहीं; मैं तुझसे सच कहता हूं यह महात्मा पुरुषोत्तम दरबार में भी है, बाग में भी है, मुझमें भी है और यहां तक कहता हूं कि तुझमें भी है।"

राजपुत्र—"क्या मेरे हृदय में भी है? तो मैं उसको क्यों नहीं देख सकता? मुझे तो खबर भी नहीं, कि कोई मेरे हृदय में है। तो आपकी तरह मेरे हृदय में दूसरी आंखें क्यों नहीं?"

राजा—"तुम्हारे भी वैसी आंखे तो हैं, पर वे मिंची हुई हैं। जब वे खुलेगी तब तुम देख सकोगे कि तुम्हारे में भी तुम्हारा और सबका दादाजी विराजमान है।"

राजपुत्र—"पिताजी! आज तो आप मुझसे कुछ अपूर्व (अवनवी) बात कहते हैं। दादाजी कौन और वह भी एक ही समय में दरबार में, बाग में और मुझमें और आप में सब में हो सके यह तो मैं कुछ समझ नहीं सकता। आप कृपा कर मुझसे कहिये कि ऐसा वह कौन है?"

राजा–"पुत्र! हम नित्य स्नान करके प्रातःकाल और सायंकाल संध्यावंदन कर हाथ जोड़ जिसकी प्रभु, भगवान्, ईश्वर, सविता देव, परमेश्वर, परमात्मा, ब्रह्म इत्यादि नामों से प्रार्थना करते हैं, दोनों समय अग्निकुंड में होम करके जिसकी प्रार्थना तथा जिसको प्रणाम करते हैं, वही यह आपका तथा सबका दादाजी है। यह कोई मनुष्य नहीं, हमारी तरह नहीं परन्तु वह अवयवी तथा निरवयवी है, घटघटव्यापी है, सर्वत्र उसका विस्तार है, इसका सत्य स्वरूप क्या है यह तो कोई नहीं जानता पर यह ऐसा है कि एक ही समय में दरबार में, बाग में, मुझमें, तुझमें, फुनगे में, पौधे में, झाड़ में, पक्षी में, सरोवर के जल में, उसमें के कमल में, कमल के पराग में तथा इसी प्रकार संसार के जो-जो पदार्थ तुमने देखे सुने हैं उन सब में है। बेटा! यह फुनगे तो आज तुमने नवीन देखे हैं, इसी से आज आश्चर्य सहित प्रश्न किया है कि यह किसने बनाया होगा, पर जिस बाग को तुम नित्य देखते हो, इसमें के अनेक वृक्ष लताओं से भरा हुआ सारा बाग, तुम, मैं तथा दूसरे जो सब दीखते हैं, मनुष्य, पशु, पक्षी, यह सामने दिखाई देता है, वह पहाड़, जिनके प्रकाश से तुम सब कुछ देखते हो, यह सूर्यदेव, रात में दिखाई देने वाला चन्द्रमा तथा असंख्य चमकते हुए तारे, आप जिस पर रहते सहते हैं, चलते-फिरते हैं, वह पृथ्वी, आपको पानी के लिये और स्नाननादि के लिये मिलने वाला जल,कुंड में जिसमें हवन करते हैं तथा जिसके सहारे से भोजन तैयार होता है वह अग्नि, आप जिससे सांस लेते हैं तथा शरीर को जो स्पर्श करता है वह वायु, यह ऊपर तथा आसपास सर्वत्र खुला दिखाई देने वाला शून्य आकाश यह सब इस फुनगे बनाने वाले ही ने बनाये हैं। इसी कारण वह सबका पिता, पितामह तथा दादा, परदादा और प्रपितामह कहा जाता है और इस सबको रचकर इनका पोषण भी वह आपही करता है इससे सबकी माता भी वही है!"

इतना कहकर गुरुवर्य बोले–"सुविचार! राजा का अपने पुत्र से यह कहना यथार्थ है, यद्यपि इसके वाक्य तो बालक समझ सकें, ऐसे साधारण हैं तथापि इनके सिद्धांत बड़े-बड़े मुमुक्षु जनों को भी उपयोगी हैं। प्रभु ने आप आपने प्रियतम से कहा है कि; **'पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः'** (गीता 9।17) इस जगत का पिता, माता, धाता कहिये पोषणहारा पितामह (दादा) भी मैं ही हूं।"

पिता के ये वचन सुन राजकुमार ने पुनः पूछा कि,–"पिताजी! अहो! इन सबको इन नामाभिधान वाले प्रभु ने ही क्या अकेले बनाया है-उत्पन्न किया है? हम सब लोग तो एक-एक काम को एक जन कर सकते हैं आपके दरबार में भी प्रत्येक अहलकार नौकर चाकर के लिये एक-एक काम ही नियत है। पर

आप कहते हैं कि ये सब काम अकेले परमेश्वर ने ही किये, यह बात तो बड़ी आश्चर्यकारक लगती है। अहो! यह उसने किस प्रकार किया होगा?"

राजा ने कहा—"पुत्र! यह उसने कैसे बनाया, इसके कह सकने तथा जान सकने योग्य विचारशक्ति हम लोगों में नहीं। यह उसकी अद्भुत शक्ति है। प्रथम तो हम सबको यही खबर नहीं है कि हम कब और किस प्रकार उत्पन्न हुए हैं, जब हम लोगों को यही मालूम नहीं तो फिर दूसरी बात हम लोग क्या जानें? और हम लोग कैसे बढ़ते है, खाया, पिया अन्न जल कैसे पचाते हैं और भूख प्यास कैसे लगती है; यह भी उसके अद्भुत कार्य का चमत्कार है। इसी प्रकार यह फुनगा प्रति दिन बड़ा होगा, उसमें कलियां आवेंगी, पत्ते आवेंगे, डालियां आवेंगी, फूल खिलेंगे और फल भी आवेंगे, यह सब उस कृपालु प्रभु की विचित्र शक्ति से ही बनता है। इसी प्रकार सारा संसार जो-जो हम देखते हैं, सुनते हैं वह सब उस कृपालु प्रभु की विचित्र शक्ति से ही उत्पन्न हुआ है, उसी से पलता है। उसके सब कार्यों में बड़ी विचित्रता भरी हुई है। हम लोग जो-जो पदार्थ नित्य देखते हैं या अनुभव करते हैं, उनमें हमको यद्यपि कुछ आश्चर्य नहीं लगता, तथापि उन सब में इतना आश्चर्य भरा है कि जिसका मैं वर्णन कर नहीं सकता अधिक तो क्या, पर हमारे शरीर का एक रोम (बाल) देखकर ही हमें आश्चर्य का पार न रहेगा। अहा! वह क्या है, किसका है, कैसे बना है, कैसे बढ़ता है और कैसे नष्ट होता है, इसमें कुछ भी हम लोग वास्तविक रीति से न जान सकते हैं, न कह सकते हैं; तो फिर दूसरी वस्तुओं का क्या ही पूछना? हे पुत्र! ऐसा हम सबका समर्थ पिता, कि जिसके प्रत्येक गुण विचित्रता से परिपूर्ण हैं, वह सदा सर्वदा तुम पर प्रसन्न रहे, इसके लिये तुमको प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि हम सब तो इसी के अन्तर्गत हैं, इसी से उत्पन्न हुए हैं, इसी से जीवित हैं, इसकी प्रसन्नता से ही सुखी रहते हैं और इसकी प्रसन्नता से ही सर्वत्र निर्भयता से विचर सकते हैं।"

अपने पिता के द्वारा ऐसे अद्भुत परमात्मा के गुणवर्णन सुन राजपुत्र बहुत आश्चर्य पाकर बोला—"अहो पिताजी! 'दादाजी, दादाजी,' कहकर आपने जिसका वर्णन किया, वह प्रभु क्या सबमें एक साथ रहने वाला और सबका उत्पन्न करने वाला है? अहा! तब वह कैसा होगा, कितना बड़ा होगा, कि जिससे सबमें रह सकता होगा? तुझे तो आप अब किसी प्रकार उसका दर्शन कराइये। उद्भुत और अप्रतिम प्रभु को वह जहां हो तहां से किस रीति से पहचान कर देख सकूं, सो मुझ पर कृपा कर कहिये! इसके लिये अब तो मेरे मन में ऐसी भारी उत्कण्ठा है, कि उस कृपालु को मैं कब देखूं और उसके इस विचित्र रूप का अनुभव कब करूं! आप

अपने दरबार में कभी-कभी प्रधानजी से जब कोई बात करते हैं जिसे मैं समझ नहीं सकता, तो फिर जो आपसे पूछता हूं तो आप कहते हैं, 'भाई! तू जब पढ़ गुनकर बड़ा होगा तब सब बातें समझ में आवेंगी, अब तो यहां आपकी वह बात काम न देगी, आप इस बात को टालिये नहीं। आप तो आज्ञा करेंगे उसका बराबर पालन करके मैं अपने प्रभु के दर्शन करूंगा।"

राजकुमार के ऐसे वचन सुन, राजा बहुत प्रसन्न होकर बोला—"अहो! प्रिय पुत्र! धन्य है तुझको और तेरे साथ मुझको भी। जिस प्राणी को प्रभु के दर्शन की किंचिन्मात्र भी इच्छा होती है वह बड़े देवताओं से भी भाग्यवान् तथा उत्तमोत्तम लोकों में जाकर बसने का अधिकारी होता है। ऐसी पुण्यात्मा जिसको सन्तान हो उसके भाग्य का तो कहना ही क्या? ऐसा प्राणी तो जिस कुटुंब में हो वह सारा कुटुंब और जिस ग्राम तथा देश में हो वह ग्राम तथा देश भी महाभाग्यशाली समझना। पुत्र! तुझे भगवद्दर्शन की ऐसी उग्र कामना हुई है, यह देखकर मैं अत्यन्त ही प्रसन्न हूं अब तुझे तेरे अधिकार के अनुसार उस कृपालू का अरे! उस कृपासागर का-उस प्रेमरूप यज्ञपति सर्वात्मा सर्वेश्वर का सहज रीति से दर्शन होने का मार्ग बताऊंगा।"

यह सुन राजकुमार फिर बोला—"अहा! पिताजी! इन प्रभु को आपने कृपालु कहकर फिर कृपासागर कहा तथा इसी प्रकार और भी अनेक नाम कहे, वह किस प्रकार से?"

राजा—"पुत्र! यह प्रभु कृपालु है, पर इतने ही से मुझे संतोष नहीं हुआ, क्योंकि उसकी कृपा का पार नहीं तथा उसके समान कृपा करने वाला दूसरा कोई है भी नहीं इससे कृपासागर कहा। सागर* जैसे अपार है,' वैसे ही उस कृपालु की कृपा भी अपार है। इसका यह अवर्णनीय, अद्वितीय गुण याद करते ही मेरे मन में अत्यन्त प्रेम उत्पन्न हुआ, इससे मुझे उस कृपालु का अपने हृदयचक्षु से दर्शन भी हुआ। उस आनन्द के आवेश में उसको प्रेमरूप कहा, पर हम लोग जो प्रभु के उद्देश से नित्य यज्ञ सेवा अग्निहोम करते हैं उसका स्वामी भी यही है; इस कारण इसको यज्ञपति, सबका आत्मा होने से सर्वात्मा और सर्व चराचर जगत का ईश्वर-प्रभु होने से सर्वेश्वर कहकर वर्णन किया। चलो, समय हो गया है। तुमको भूख भी लगी होगी, इस लिये शेष बात फिर करेंगे।" इतने ही में संकेत पाकर सूत (सारथी) ने घोड़े जुड़ा हुआ रथ उसके आगे खड़ा कर दिया। दोनों पिता पुत्र उस पर सवार होकर नगर को चले गये।

---

* गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः। रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।।

प्रभु को पहचानने की कुंजी

दूसरे दिन संध्यावंदन से निवृत्त हो राजकुमार अपने पिता के पास गया। विधिवत् दण्डवत् प्रणाम करके प्रार्थना करने लगा कि–"पिताजी! अब मुझे कल कहते थे उस प्रकार कृपालु प्रभु के दर्शन कराइये।"

राजा ने थोड़ी देर विचार कर कहा–"ठीक; पर बेटा! आज पर्व (त्योहार) दिन होने के कारण उस कृपालु प्रभु का हमको आनन्दोत्सव करना चाहिये और उसके निमित्त अपने महल में, यज्ञशाला में, दरबार में, और अन्य देवालयादिकों में उत्तम प्रकार की शोभा करने में आती है, वैसे ही तुमको भी उत्तमोत्तम वस्त्रालंकार धारण करने चाहिये। प्रभु के उत्सव में जिसको उमंग नहीं होती, वह मनुष्य पापी है, इसलिये तुम अपने भंड़ार में से उत्सव का शृंगार पहन लो।"

यह सुन राजपुत्र ने कहा–"पिताजी! मैं तो अभी भंडार के आगे होकर आया हूं। वह तो बंद है और उसके दरवाजे में बड़ा सा ताला लगा है।"

राजा बोला–"इससे क्या हुआ? खोल कर ले आओ।"

राजपुत्र ने कहा–"पर पिताजी! यह मुझसे किस प्रकार खुले? इसकी ताली मेरे पास कहां है?"

राजा ने तुरन्त पास खड़े हुए एक सेवक की ओर देखा। वह कुँवर को लिवाकर भंडार खोलकर जो जो वस्त्रालंकार चाहिये उनको लेकर कुँवर के साथ राजा के पास आया। फिर पूजन अर्चन कर दोनों पिता पुत्र यज्ञशिष्टान्नरूप* अमृत का (यज्ञ से शेष बचा अन्न पवित्र होता है इससे अमृत कहा, क्योंकि वह पापरहित है) भोजन करने बैठे। आरंभ में आपोशनक्रिया के लिये राजा हाथ में जल ले मन्त्र बोलाः–

"ॐ अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा"

फिर आपोशन क्रिया कर पंचप्राणाहुति दी। उसे देख राजपुत्र ने पूछा–"पिताजी! आप प्रतिदिन भोजन के समय यह आपोशन मंत्र बोलते हैं, उसमें क्या हेतु है?"

---

* प्रत्येक घर में गृहस्थाश्रमी मनुष्य को अपने लिये नहीं पर यज्ञ के उद्देश्य से अन्न बनवाना चाहिये। उस अन्न में से पंचमहायज्ञरूप वैश्वदेव कर्मद्वारा देवादिकों का यज्ञ करके फिर बाकी बचा हुआ अन्न, पवित्र अर्थात जीमने योग्य होता है। ऐसा पवित्र यज्ञशिष्टान्न नित्य जीमनेवाला मनुष्य परम गति को पाता है, गीता में श्रीभगवान ने कहा है–'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्' पर जो अपने ही लिये भोजन बनाता है; अर्थात् भगवत्कृपा से प्राप्त हुए अन्न से जो प्रभु की प्रसन्नता के अर्थ यज्ञादिक आवश्यक कर्म नहीं करता, केवल अपने उदर का ही पोषण करता है वह पापी केवल पाप का ही भोजन करता है; "भुन्जते ते त्वधं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् "

यह सुन राजा ने कहा—"पुत्र! इसमें बहुत गहन हेतु है, अधिकार होने पर तुम इसे जानोगे, परन्तु तुम पूछते हो तो तुमको जानना चाहिये कि जिस सर्वेश्वर परमात्मा के विषय में तुम कल बात करते थे, उस अनन्त शक्तिमान् प्रभु का सर्वत्र व्यापकपना इस मंत्र में दिखाया है। इसमें यह कहा है कि, जो पवित्र अन्न हमारे आगे भोजनार्थ तथा देहपोषणार्थ प्राप्त हुआ है वह तथा जीमनेवाला यह सब ब्रह्मरूप है। परमात्मा के विषे सृष्टि के आरंभ में रज, सत्त्व और तम यह तीन गुणमय तीन स्वरूप उत्पन्न हुए हैं-रजोगुणमय ब्रह्मा, सत्त्वगुणमय विष्णु और तमोगुण का शिव रजोगुण का उत्त्पति करने का स्वभाव है। सत्त्वगुण का पोषण कर वृद्धि करने का स्वभाव है, इस प्रमाण से रजोगुणरूप यह अन्न है, वह ब्रह्मरूप है, इसमें मिले हुए मधुर, क्षार, तिक्त तथा जल आदिक रस यह विष्णुरूप तथा भोजन करने वाला इस अन्य के भक्षणरूप संहारक होने से शिवरूप है। इसी प्रकार सब परब्रह्ममय है। यह सदा स्मरण रहने से वह परमात्मा कभी विस्मृत नहीं होता और उसका सर्वव्यापीपन सदा अनुभव में आया करे इसके लिये ऐसे मंत्र हमारे प्रत्येक कर्मों के अंगों में शास्त्रकारों ने लिखें है!"

यह सुनकर बहुत प्रसन्न होता हुआ राजपुत्र बोला—"प्रिय पिताजी! क्या वह परमात्मा ऐसा सर्वव्यापक है! आप मुझे उसकी पहचान कब करायेंगे?"

राजा ने कहा—"वत्स! सर्वव्यापी प्रभु जैसा सर्वत्र है वैसा ही तुम्हारे में भी है तथा इसको पहचानने के लिये कहीं अन्यत्र जाना नहीं पड़ेगा, यह मैंने तुझसे कल ही कहा था।"

राजपुत्र बोला—"वह मैं समझा। वह मेरे अपने ही में है, पर मुझे दिखता नहीं, तब उसको मैं किस रीति से देखूं या पहचानूं? हे तात! वह मुझ पर कृपा कर कहो।"

राजा—"बेटा! यह ऐसे तो नहीं दिखाई देता क्योंकि वह तुम्हारे हृदयरूप भंडार की गहरी गुहा में गुप्त से गुप्त स्थान में एकान्त में विराजता है। उसके देखने की कुंजी चाहिये। पर ठहरो। मुझे यह बतलाओ कि कल मेरे कहने के अनुसार अपने हाथ के रखे हुए अलंकार तुम भंडार में से क्यों नहीं ला सके थे?"

राजपुत्र—"उस भंड़ार में तो बड़ा ताला लगा था और उसकी ताली मेरे पास नहीं थी, तो उसे मैं कैसे खोल सकता? सेवक ताली ले आया तब तुरन्त ही खोलकर आवश्यक भूषण वस्त्र ले आया!"

राजा—"ठीक, इसी तरह इस तेरे हृदयरूप भंडार की भी तो ताली तुझे मिल जावे, तो तुरन्त उसमें से तू सर्वेश्वर ऐसे परमात्मा को देख सके!"

राजपुत्र ने कहा—"ऐसा है! तो वह कुंजी मुझे कब दीजियेगा?"

राजा कुछ मुस्काकर बोले–"प्रिय पुत्र! यह ताली कुछ लोह की अथवा सुवर्ण की नहीं और न इसे लेने को कहीं जाना पड़ता है। यह तो तुम्हारे पास ही है। तुम अच्छी तरह ध्यान दो कि अपने आपको पहिचानना यही परमात्मा के पहचानने की कुंजी है।"

यह सुन बहुत आश्चर्यचकित हो अति जिज्ञासुपन से वह राजपुत्र फिर बोला–"पिताजी! यह क्या? अपने आपको पहचानना इसका क्या मतलब? अपने आपके तो सब कोई पहचानता है, पर इस प्रकार प्रभु को भी सब किसी को पहचानना चाहिये। मैं स्वयम् अपने को तो भली भांति पहचानता हूं। इतने पर भी प्रभु को अभी मैं क्यों नहीं पहचानता? यह तो मुझे बड़ा आश्चर्य लगता है क्या ऐसा भी कोई होगा, कि जो अपने को न पहचानता हो?"

पुत्र के इस बाल भाषण पर राजा ने कुछ हँस कर कहा–"संसार में ऐसे बहुतेरे पड़े हैं। असंख्य जीव ऐसे हैं कि जो अपने आपको नहीं पहचानते। सत्य कहता हूं कि तुम भी अपने को नहीं पहचानते। अपने आपको भली-भांति पहचानने वाले पुरुष तो इस संसार में बिरले ही हैं, वे महात्मा हैं और वे सब वंदनीय हैं। ऐसे महापुरुषों के दर्शन बड़े भाग्य से ही होते हैं!"

यह वचन सुनकर तो राजपुत्र मूर्तिवत् स्तब्ध हो गया और गंभीर विचार भवर में पड़ गया तथा बात के समाधान के लिये अपने पिताजी से कुछ प्रश्न करना चाहता था कि इससे पूर्व की राजा बोला–"प्रिय पुत्र! अब बहुत हो गया। तुम्हारे मन में जो शंका हुई है उसे मैं समझ गया हूं। पर यह कोई छोटी और ऐसी वैसी साधारण बात नहीं, कि जिसे झट समझ सको। संक्षिप्त में ही निश्चयपूर्वक समझो कि तुम अपने आप को पहचानते नहीं। अब प्राणाहुति देने को बहुत विलम्ब हो गया इसलिये एकाग्रता से भोजन करो! भोजन के समय प्रसंगानुरूप कुछ-कुछ वार्ताविनोद करना यह सुखप्रद है; पर अति वार्तालाप, अति हास्य, क्रोध, भय, चिन्ता इत्यादि बहु हानिकारक है।" फिर दोनों जन मौनपूर्वक भौजन करने लगे।

आत्मपरिचय की जिज्ञासा

इस राजा का नाम आत्मसिंह था। वह सदा आत्मविचार में लीन रहता था। वह आत्मदर्शन में मग्न-मस्त था। दूसरे दिन आत्मसिंह को राज्य संबंधी कुछ काम आ पड़ा। उस काम से कितने ही दिन तक उसे अवकाश न मिला। इतने दिन राजपुत्र का अन्तःकरण तो आश्चर्य और विचार के चक्र में पड़ा हुआ

ही रहा। उसे तो रात दिन प्रतिक्षण यही विचार आने लगा और बारंबार यही प्रश्न होने लगा कि क्या मैं अपने आपको नहीं पहचानता? अँः!!! यह उन्होंने क्यों कहां? मैं अपने को तो स्वप्न में भी कभी नहीं भूल सकता? नहीं, नहीं; यह कोई मानने योग्य बात नहीं पर इस बात का निर्णय मैं किससे पूछूं? पिताजी तो उस दिन के बाद मुझे मिले भी नहीं। भोजन के समय भी साथ बैठने का प्रसंग नहीं आता, तो किससे पूछूं? क्या आपकी प्यारी माता से पूछूं? वह कदाचित् इस बात को जानती हों, ऐसा विचार कर वह अंतःपुर में गया। उसकी माता सैकड़ों दासियों के बीच बैठी थी, उसको वंदन कर हाथ जोड़ कुँवर सम्मुख खड़ा रहा।

रानी ने उसे प्रेमपूर्वक अपनी गोद में बिठाकर हृदय से लगाया और कहा—"कुमार! तुम कैसे आये? तुम्हारे पिताजी क्या करते हैं? तुम घबराये हुए से क्यों लगते हो?"

राजपुत्र बोला—"मातुश्री! मेरे पिताजी तो मुझे कई दिन से मिले भी नहीं, वे तो राजदरबार में बिराजते होंगे। मैं गुरुजी के पास से पाठ पढ़ कर सीधा चला आया हूं।"

माताजी ने पूछा कि "क्या गुरुजी ने तुम्हें धमकाया है? अथवा तुम्हारे किसी सहपाठी से कुछ खटपट हो गई है?"

कुँवर बोला—"नहीं, मातुश्री! यह तो कुछ नहीं हुआ, बल्कि आज से कई दिन पहले पिताजी ने मुझसे एक आश्चर्यजनक बात कही है। मैं उससे भ्रम में पड़ गया हूं इसी से मुझे चैन नहीं पड़ता, और इसी से मैं तुमको घबराया हुआ मालूम पड़ता हूं। इस बात का निर्णय मैं अपने गुरुजी के आगे तो कैसे पूछ सकता और यदि साथियों से पूछता तो वे सब मुझे पागल ही समझते। इस बात के विचार से ही मैं बेचैनी ही की दशा में तुम्हारे पास आया हूं।"

रानी ने पूछा—"पुत्र! ऐसी वह क्या बात है कि जिससे तू ऐसा घबरा गया है।"

राजपुत्र हाथ जोड़ कर बोला—"मातुश्री! मनुष्य क्या अपने आपको नहीं पहचान सकता? मेरे पिताजी ने कहा कि तू आपको अभी पहचान नहीं सका है, यह कहकर मुझे शंका में डाल दिया है। मैं बहुत-बहुत विचार करते-करते थक गया पर मेरा यह संदेह मिटा नहीं। क्यों आपको यह बात सच्ची मालूम होती है कि कोई अपने को भूल जाय और न पहचान सके?"

यह सुनकर वह राजपत्नी कि जो बड़े धार्मिक तथा यशस्वी कुल की बेटी थी और जिसके माता-पिता महान् योगीश्वर की कृपा से आत्मतत्त्व का अनुभव

कर कैवल्यपद को प्राप्त हुए थे, उसने विचार किया कि इसके पिता ने जो कुछ कहा है वह बिना कारण तो होगा ही नहीं। पर यह बालक है इससे इसको कुछ अनुभव नहीं, इससे अपनी बाल बुद्धि के अनुसार यह अपने आत्मतत्त्व के शोधन करने का यत्न कर सके, इसलिये स्वामी जी ने इसे यह आत्मतत्त्वभेद के भंडार की कुंजी कह कर बतला दी है।

फिर उसे प्रेमपूर्वक पुचकारकर तथा "प्रिय पुत्र! तुझे उस कृपालु की कृपा से परम तत्त्व प्राप्त हो!" यह आशीर्वाद देकर कहा—"तेरे पिताजी ने जो कहा है सो सब बिल्कुल ठीक है। मुझे बता दे कि हे कुँवर! क्या तू अपने को पहचानता है?"

राजपुत्र बोला—"हां! क्यों नहीं! मैं तो मैं ही हूं। मैं आपही यह तुम्हारी गोद में बैठा हूं, वहीं मैं हूं! क्या मैं अपने आपको न पहचानूं, यह हो सकता है?"

रानी बोली—"नहीं, बेटा! नहीं, तू अपने को नहीं पहचानता, यह मैं सत्य कहती हूं। जो पहचानता हो तो मुझे बता कि तू कौन है?"

तब कुँवर अति उत्साहपूर्वक बोला—"माता! क्या मैं अब इतना छोटा हूं कि मुझे कुछ खबर ही नहीं कि मैं कौन हूं?! अधिक तो क्या, पर जब से मेरा गुरुद्वारा यज्ञोपवीत संस्कार हुआ है और संध्योपासना सीखा है तब से प्रतिदिन सांझ, सवेरे तथा दोपहर की संध्या समाप्ति के समय में मैं तुमको वंदन करने आता हूं। तब मैं अपनी पूरी-पूरी पहचान दे कर ही प्रणाम करता हूं, वह क्या तुमको याद नहीं! मैं भारतवर्षान्तर्गत सप्तसंग* देशस्थ चैतन्य कुल का वंशज आत्म सिंह राजर्षि का औरस पुत्र हूं। जीवन सिंह मेरा नाम है!"

यह सुन कर रानी बोली—"पुत्र! यह तो ठीक है, पर तेरी यह पहचान भी जैसी चाहिये वैसी नहीं। अच्छा! तुम मुझे बता दो कि यह जीवन सिंह कौन सा?"

राजपुत्र अपने हाथ से छाती ठोक कर बोला—"क्यों? यह मैं आप जीवन सिंह नहीं?"

जीवन सिंह की छाती की ओर उंगली करके रानी बोली—"पुत्र! ठीक तो इसी का नाम जीवन सिंह है?" फिर रानी ने पुत्र का वह हाथ (जिससे छाती ठोकी थी) पकड़ कर पूछा कि "अच्छा बेटा! तो यह क्या है?"

राजपुत्र बोला—"मां! यह तो मेरा हाथ है!"

रानी ने फिर दूसरा हाथ पकड़ कर पूछा—"भाई तो यह क्या है?"

---

* सप्तसंग देशस्थ अर्थात् सप्तसंग देश में रहने वाला। सप्तसंग अर्थात् सात वस्तुओं का इक्ट्ठा मिला हुआ समूह; पंचज्ञानेन्द्रिय, छठा मन, सातवां जीवात्मा। इन सातों के मिलने से बना हुआ जो सुक्ष्म शरीर उसे सप्तसंग नामक देश का रूपक दिया है। इससे चैतन्य कुल, आत्मसिंह राजर्षि और जीवनसिंह आदि सब नामों का अर्थ समझ लीजिये।

पुत्र ने कहा—"यह मेरा दूसरा हाथ है।"

इसी प्रकार रानी ने क्रम से एक के पीछे एक उसके शरीर का कान, नाक, मुख, कंठ, बाहु, उदर आदिक प्रत्येक अवयव दिखाकर उसी के मुख से अलग-अलग सबका नाम कहलवाया।

फिर कुछ हँसकर वह बोली—"वत्स! इस सारे शरीर में जीवनसिंह तो मुझे कहीं भी दिखाई नहीं पड़ा! इनमें कौन सा जीवन सिंह है, मुझे बता?"

फिर भी छातीपर हाथ रखकर राजपुत्र बोला—"मैं यह हूं स्वयं जीवनसिंह! तुम्हारे सामने खड़ा हूं!"

रानी बोली—"पुत्र! यह तो तेरा हृदय है, ये तेरे दोनों हाथ हैं, यह तेरा मुख है, यह तेग मस्तक है, ये तेरे नेत्र हैं, ये तेरे दोनों कान हैं, यह तेरा पेट है, यह तेरी कटि है, यह तेरी पीठ, ये तेरे घुटने, ये तेरे पग, और इसमें भी जैसा-जैसा तुम शोधते जाओगे वैसे-वैसे एक-एक अंग में दूसरे अनेक अंगों की तुझे प्रतीति होगी। पर इनमें से जीवनसिहं नामक कोई वस्तु तो मुझे दिखती ही नहीं है। इसलिये इनमें जीवनसिंह यह मुझे साफ-साफ दिखा।"

राजपुत्र कुछ विचार में पड़ गया, फिर थोड़ी देर पीछे बोल उठा—"माता! यह सारा शरीर मेरा है कि नहीं? इसलिये इस सबके मिले हुए का नाम है जीवनसिंह!"

रानी हंसकर बोली—"यह भी ठीक कहां, पर यह कैसे हो? यह सब मिलकर तेरा है यह बात तो ठीक; पर यह सब मिलकर तू कैसे बन सकता है? जो जिसकी वस्तु होती है वह उससे अलग होती है, उसी प्रकार तुझे भी तेरी वस्तु से भिन्न होना चाहिये। जो कि तू मेरा पुत्र है। देख इसी से तू मुझसे जुदा है, जो तू है, वहीं मैं हूं यह कहा नहीं जाता। वैसे ही मैं तेरी माता हूँ इसलिये मैं अपने को तू कभी नहीं कह सकती; उसी तरह तेरे सिरपर जो मुकुट है वह तेरा है पर इस किरीट को कभी तेरे नाम से नहीं बुलाया जाता, अर्थात् यह किरीट कुछ जीवनसिंह नहीं; इसी प्रकार यह तेरा जामा, कटिवस्त्र, दुपट्टा, कटिमेखला, सुवर्ण का तोड़ा, मोती की माला, कुण्डल, हाथ का कंकण, कवच इत्यादि सब वस्त्रालंकार तेरे हैं पर ये सब अलग एकत्र करके रख दिये जायं तो क्या वह कुँवर थोड़े ही हो जायंगे, न उन्हें कोई राजकुमार कहेगा; इसी तरह यह तेरा सारा शरीर जिसको तू अपना कहता है वह तू खुद नहीं। इससे विचार कर कि इसमें तू कौन सा और कहां है?"

यह वचन सुनकर कुँवर थोड़ी देर तक स्तब्ध बनकर चुपचाप बैठा रहा, कुछ उत्तर न दे सका।

तब रानी बोली—"क्या विचार करता है? तेरे मन को निश्चय हुआ कि तू अपने को पहचानता नहीं? वत्स! अपने आपको पहचानना बहुत कठिन है। अपने आपको पहचानना, जानना, इसका नाम आत्मज्ञान कहा जाता है तथा वह आत्मज्ञान परम कृपालु परमात्मा की कृपा से प्राप्त होता है। परमात्मा की कृपा सर्वेश्वर विषे अनन्य भक्ति होने से होती है। परमात्मा की अनन्य भक्ति महात्मा सद्गुरु के समागम तथा सेवन द्वारा होती है, इसलिये हे पुत्र! ऐसा सूक्ष्म से सूक्ष्म जो आत्मज्ञान-अपनी यथार्थ पहचान, वह तुझ बालक को एकाएक कैसे प्राप्त हो? पर अब तुझे उसके प्राप्त करने की अभिलाषा-जिज्ञासा हुई है। इतना ही नहीं बल्कि अति प्रबल जिज्ञासा थोड़ी ही अवस्था में हुई है। इस कारण तू उस अमूल्य तथा अलभ्य वस्तु का अधिकारी हो चुका है। आत्मज्ञान-परम तत्त्वज्ञान-परमात्मा की पहिचान में जिज्ञासा हुई, यह असंख्य जन्मों के सुकृत का फल उदय हुआ है। जब देहधारी सैकड़ों जन्मों के सुकृत का फल उदय होता है, सैकड़ों जन्मों के लिये पुण्य का उदय होता है, तब उसको आत्मज्ञान-संप्राप्तिकी जिज्ञासा उत्पन्न होती है; तू वैसा ही पुण्यवान् होने से तुझे ऐसी जिज्ञासा हुई है। तू शुद्ध, संस्कारी और अधिकारी है। अधिकारी को वस्तु मिलने में विलंब नहीं होता है। प्रिय पुत्र! अब तेरा अन्तःकरण शुद्ध होते ही जैसे अंधेरे घर में दीपक का प्रकाश होता है और झकझकाहट हो जाती है, उसी प्रकार तेरे हृदयाकाश में पवित्र ज्ञान का प्रादुर्भाव होगा। तू जिस-जिस से अपनी शंका का समाधान पूछता था वह तुझे पागल बनाता पर अब तो तेरी भी समझ में आंया होगा कि तू ही नहीं बल्कि अपने आपको पहचानने का दावा रखने वाले तेरे समान अनेक भ्रान्त पुरुष इस जगत में हैं। वे भी अपने आपको नहीं पहचानते! तथा अज्ञान से अपने शरीर को ही "मैं आप करके मानते हैं। इसी अज्ञान के कारण कर्मानुसार आवर्जन विसर्जन हुआ करता है। पर जिन्होंने अपने आपको और परमात्मा को जाना है वह जीव किसी शुभाशुभ कर्म के बंधन में नहीं पड़ते, इसलिये उस शुभाशुभ कर्मो से छुड़ाने वाले आत्मज्ञान की तुझे जो शुभ जिज्ञासा हुई है, वह परम कृपालु परमात्मा की कृपा से पूर्ण हो!" यह सब सुनकर राजकुँवर फिर कुछ कहना चाहता था इतने में पाठशाला में जाने का समय होने से राजसेवक लेने आ गया और मातुश्री को वन्दन करके कुँवर वहां से चल दिया।

पर 'मैं कौन?' यह प्रश्न उसके हृदय में स्वाभाविक रीति से ही उत्कट आवेशपूर्वक उछलने लगा। उसके मन में ही उसका अन्तःकरण परिपूर्ण व्याप्त

हो गया। पाठशाला में जाकर वह दिङ्मूढ़ सदृश बैठा रहा। पढ़े क्या? परन्तु इस समय उसके हृदय में हर्ष विषाद दोनों ही व्याप्त थे। हर्ष इस कारण कि 'अपने आपको पहचानना है?' यह प्रश्न और विद्यार्थी सुनकर इसको पागल गिनते थे, क्योंकि वे अभी बिल्कुल अज्ञानी हैं-पागल हैं, इस प्रकार अपने मन को स्पष्ट समझाया तथा विषाद इस कारण कि 'मैं कौन हूं?' इस प्रश्न का उत्तर उसे कुछ नहीं मिल सका। पाठशाला में सब लड़के पढ़ रहे थे और यह उस समय अपने मनोगत प्रश्न में निमग्न होने से स्तब्ध की तरह बैठा रहा। बड़ी देर तक इसकी ऐसी ही स्थिति देख, उसके गुरु जो ऋषिधर्म पालने वाले पवित्र ब्राह्मण थे, उन्होंने उसे अपने पास बुलाकार पूछा—"प्रिय पुत्र जीवन सिंह! तू आज क्यों उदासीन की तरह बैठ रहा है? क्या आज तेरे शरीर में कुछ पीड़ा हैं? अथवा किसी विद्यार्थी अथवा दूसरे ने तेरा कुछ अपमान किया है? आज की तरह उदास मन तेरा मैंने कभी नहीं देखा।"

यह सुन राजपुत्र खड़ा-खड़ा हाथ जोड़कर बोला—"कृपानाथ! ऐसा तो कुछ नहीं बल्कि मेरे उदासीन होने का कुछ दूसरा ही कारण है, उसे संकोचवश आप से कह नहीं सकता।"

यह सुनकर गुरु बोले—"विद्यार्थी को गुरु की लज्जा दुराचरण में, अविनय में, अयोग्य वाणी उच्चारण करने आदि में करनी उचित है, परन्तु जो बात अपने हित की हो, विवेकयुक्त हो, उसके लिये कुछ भी ग्लानि करने की आवश्यकता नहीं।"

इस पर राजपुत्र बोला—"प्रभो! ग्लानि इस कारण कि सब कोई जिस बात को सामान्य रीति से जानता हो और ऐसी बात को कोई आदमी उससे उलटी रीति से अपने मन में समझ रहा हो और दूसरों से पूछे तो कोई उसे मूर्ख कहे, ऐसे भय से मैं कुछ कह नहीं सकता; परन्तु अब आपके आशीर्वाद से ग्लानि का कोई कारण मालूम नहीं होता; क्योंकि मुझे बहुत कुछ निश्चय हुआ कि जो बात सब कोई सामान्य रीति से जानते हैं, उसमें उनकी अंधपरंपरा ही है, वे भूले हैं, ठगे-भ्रम में पड़े हुए हैं। उनसे उलटा विचार करने में मैं कुछ ठगाता नहीं। अभी तक मैं भी सबकी तरह सामान्य विचार वाला ही था। एक दिन अपने पिताजी के साथ वार्तालाप करते समय मुझे अपना सामान्य विचार बदलने का समय आया, अपनी भूल जाननें में आई तथा मैंने उनसे पूछा कि 'मुझे सबके पिता तथा प्रभु ऐसे परमात्मा को दिखाइये।' उन्होंने समझाया कि 'पहले तू अपने आपको देख, पहचान, तब उस प्रभु के पहचानने का मार्ग सरल हो।'

"इस प्रसंग तक तो मुझे कुछ शंका ही न थी कि मैं अपने आपको नहीं पहचानता। परन्तु पीछे मेरी माताजी ने मुझे उदाहरण सहित स्पष्ट करके समझाया कि अभी तू अपने आपको नहीं पहचानता तथा दूसरे बहुत से मनुष्य भी ऐसे हैं जो अपने आपको नहीं पहचानते और अपने को बड़ा विचारवान् मानते हैं। हे कृपालु! इतना तो मैंने भली-भांति जाना कि मैं अपने आपको नहीं पहचानता, पर इस कारण मेरे मन को संदेह होता है कि 'मैं कौन?' इस लिये मेरा मन बड़े चक्कर में पड़ा है, पर मुझे कुछ समझ नहीं पड़ता और उसी के विचार में मैं उदास हो गया हूं।"

गुरुजी प्रसन्न होकर बोले–"प्रिय शिष्य! तुझे धन्य है! इस छोटी सी अवस्था में तुझे ऐसी जिज्ञासा हुई, यह बड़े आश्चर्य की तथा बड़े भाग्य की बात है। इतनी अवस्था में तो बालकों को व्यवहार का भी पूरा ज्ञान नहीं होता, उसके बदले तुझे आत्मदर्शन की शुभ इच्छा हुई है। यह कुछ सहज बात नहीं तथा एक रीति से यह कुछ बड़े आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि रत्न की खानि में से रत्न की उपजता है। तेरे माता पिता जैसे धर्मात्मा हैं वैसी ही धार्मिक सन्तान होनी ही चाहिये!"

गुरु शिष्य की यह बातचीत सुनकर पाठशाला के अन्य विद्यार्थी शान्ति बन गये। उनके सुनते-सुनते गुरुजी फिर बोले–"अरे प्रिय जीवन! तूने तो इस संसार का सच्चा-सच्चा जीवन सचमुच ढूंढ निकालने का प्रयत्न किया है (तलास करने का उद्योग किया है) और वह तुझे भगत्कृपा से प्राप्त होगा। जीवन! सारे जगत का, प्रत्युत ऐसे असंख्य जगतों का जीवन तुझे ढूंढ निकालना है, अहो! वह तो तेरे शरीर ही में है, इसको शोधने के लिये कहीं बाहर दौड़ लगाने की आवश्यकता नहीं, कुमार! तेरे पिता ने तुझसे कहा कि 'समग्र विश्व का जीवन जो भगवान् परमात्मा, उसे पहचानने की कुंजी अपने आपको पहचानना, यही है।' इसका कारण यह है कि वह परमात्मा, प्राणी मात्र के शरीर में ही है, प्राणी के साथ ही विराजमान है, उसे अच्छी तरह देखो परन्तु यह जगत का जीवन देहधारी जीव के समान नहीं है बल्कि वह बहुत गूढ़ रीति से बसता है, इस कारण वह दूसरों को तो क्या बल्कि स्वयं उस जीव को भी देखने अथवा जानने में नहीं आता है। परन्तु जब बहुत परिश्रम से वह प्राणी अपने को पहचानता है तब फिर अपने समीप में रहनेवाले व्यापक परमात्मा को पहचानने में उसे देर नहीं लगती। पर भाई! प्रथम तो अपने आपको पहचानना इसके समान महान दुष्कर कोई दूसरा एक भी कार्य नहीं।"

एक ऋषिपुत्र की कथा

"प्रिय शिष्य! तुम्हारी ही भांति पहले एक भाग्यवान् ऋषिपुत्र को बहुत कालतक तप करने के अन्त में जब उसके अनेक जन्मों के पाप भस्म हो गये, तब अपने निर्मल अन्तःकरण में स्वाभाविक रीति से चार प्रश्न उपजे थेः—"मैं कौन हूं।' 'कहां से आया हूं?' 'किस-किस स्थान पर जाना है?' 'यहां आने का कारण क्या?' इन प्रश्नों का यथावत् समाधान उसको अपने आप नहीं हुआ, इससे वह उदासचित्त तथा विचाररूपी भँवरों में गोते खाता फिरता था। इतने में भगवद्दर्शन प्राप्त एक महात्मा ने उसे देखा, तपश्चर्या से उसका मुख दैदीप्यमान था-फिर भी उस पर भारी उदासीनता का आवरण छा गया था। यह देख महात्मा ने परीक्षा कर ली यह कोई यह सच्चा जिज्ञासु पात्र है। यह पात्र मांज धुल कर शुद्ध हो गया है, पर इसमें वस्तु का अलाभ होने से खाली पड़ा है। इसमें योग्य वस्तु धरने की आवश्यकता है। जो ऐसा न करके बहुत दिनों तक यह पात्र खाली पड़ा रहेगा तो समय बीतने पर यह अवश्य मलिन तथा भ्रष्ट हो जायगा किंवा कोई अयोग्य वस्तु इसमें आ जायगी और परिणाम में इसका नाश कर डालेगी।

यह विचार कर उस परोपकारी महात्मा ने उसे समीप बुलाकर उसकी उदासीनता का कारण पूछा। तब उस ब्राह्मणपुत्र ने प्रेमपूर्वक वंदन करके अपना इत्थंभूत वृत्तांत महात्मा से निवेदन किया। "कृपानाथ! मेरे अपने समग्र जीवन का संपूर्ण तत्त्व वे चार प्रश्न हैं, जो मेरे मन में उदित हुए हैं, ऐसा मैं मानता हूं। इन प्रश्नों का यथार्थ समाधान होने की आशा से मैं आपके समान समर्थ गुरुदेव की तलाश करता था। इतने ही में आप कृपालु मुझे मिल गये। मेरा भाग्योदय हुआ। अब इस सेवक को शरण में रखिये, कल्याण के लिये सेवा बताइये। आपकी करुणा और परोपकारीपन देख मुझे निश्चय हुआ है कि मेरा कल्याण आपके चरणारविंद की सेवा में ही है।" यह सुन आशीर्वाद देकर वह सन्तजन उसे गंगातीर में बने हुए अपने आश्रम प्रति ले गये और वहां फल, मूल, जल, आदिक से उसकी क्षुधा तृषा शान्त करके उन्होंने उसे अपने पास रखा।

एक दिन वह महात्मा अपने आश्रम में एक वृक्ष के नीचे बैठ थे, उस समय पास के अरण्य में विचरने की इच्छा से वह ऋषिपुत्र प्रति बोले—"प्रिय सुमनशर्मा*! हमारी पर्णकुटी के छप्पर में नीचे की ओर मेरा पलाशदंड सुखा हुआ है उसे ले आओ! तब मैं तुझे नित्य लाने के लिये पुष्प, समिधा, कुश तथा फलमूलादि का समूह दिखाऊंगा, जिससे तुझे सदा सुगमता होगी। जा और शीघ्र ही लौट आ! क्योंकि विलंब करेंगे तो दिन अस्त होना चाहता है इससे हमको मार्ग के ऋषियों के आश्रमों में होकर

---

* यह इस ऋषिपुत्र का नाम है।

आते-आते सांयहोम (अग्निहोत्र) का समय व्यतीत हो जायगा।' गुरु की आज्ञा होते ही सुमनशर्मा एकदम दौड़ा और शीघ्रता से पर्णशाला में जा छप्पर में से दण्ड खींचने लगा। दण्ड ऐसी रीति से रखा गया था कि धीरे-धीरे सम्हाल कर खींचा जाय तो ही निकले, सुमन को तो बड़ी शीघ्रता थी। उसने दृष्टि पड़ते ही झड़प से पकड़ झटका देकर ऐसा खींचा कि बड़े जोर से झटका देने के साथ ही सारी पर्णकुटी जो बहुत पुरानी हो गयी थी वह एकदम पृथ्वी पर गिर पड़ी। सुमन भयभीत हो शीघ्रता से बाहर निकल आया। उसका दिल धड़कने लगा। और एकदम गुरु महाराज के समीप जा दण्ड उनके सुपुर्द एक हाथ जोड़ चुपचाप खड़ा रहा और वह कुछ बोल न सका।

यह देख महात्मा बोलेः—"प्रिय सुमन! बड़े भयभीत की तरह तू घबराया सा क्यों मालूम पड़ता है?"

सुमन ने उदास मुख से कहा कि कृपानाथ! दण्ड खींचने के झटके से पर्णकुटी गिर पड़ी? यह मुझसे अपराध हुआ है।"

महात्मा ने कहाः—"क्या पर्णकुटी गिर गयी? चलो चलकर देखें क्या हुआ?" यह कहकर उसे साथ लेकर वे पर्णकुटी की ओर गये, तो वहां पर लकड़ी, पत्ते, घास इत्यादि का बड़ा ढेर पड़ा हुआ देखा। यह देख वे बोलेः—"क्यों भाई सुमन! पर्णकुटी का क्या हो गया? अरे! पर्णकुटी नाम कहां है?"

सुमन ने कहाः—"पिताजी! यह आपके सामने पड़ा हुआ ढेर ही पर्णकुटी का है।"

गुरु जी बोलेः—"इसमें पर्णकुटी कहां है? ये तो कुछ लकड़ी पड़ी हैं, कुछ फूस पड़ा है, इसको ही तू पर्णकुटी कहता है? वाह! क्या पत्तों के ढेर का या इस तृणसमूह का नाम पर्णकुटी है? अथवा इसमें जो मूंज और दाभ की रस्सी दिखायी पड़ती हैं उनका नाम पर्णकुटी है?"

सुमन बोलाः—"नहीं कृपानाथ! इन सबसे मिलकर जो झोपड़ी बनी थी वह पर्णकुटी थी!"

गुरुजी बोलेः—"ठीक कहा, पर इसमें 'कुटी' यह वस्तु कहीं भी दिखायी पड़ती है?"

तब सुमन ने नमस्कार कर कहाः—"नहीं कृपानाथ!"

गुरुजी बोलेः—"अब तू समझ गया होगा, कि जो अनेक वस्तुओं का संघात हुआ हो उसको अमुक पदार्थ या वस्तुरूप नाम देकर पहचानने में आता है पर सूक्ष्म दृष्टि से देखो तो वह वस्तु ही नहीं है, बल्कि वह अनेक वस्तुओं का समूह है।

पर्णकुटी यह एक कल्पित नाम ही है और उसमें अनेक वस्तुएं इकट्ठी करके उनका अमुक प्रकार का आकार कल्पने में आया था, उसी प्रकार हे सुमन! तुझे समझाना है कि जैसे यह पत्ते, फूस आदि की बनाई कुटी पर्णकुटी-वैसे ही यह (उसके शरीर की ओर हाथ करके कहा) मुख्य पांच वस्तुएं इकट्ठी करके बनाई हुई जो कुटी वह पंचकुटी है। हे सुमन! जिसको तू अपना शरीर कहता है वह तेरे सदा सर्वदा बसने की एक कुटी अथवा कोठरी है। जैसे इस पर्णकुटी में पत्तों का अधिक भाग होने से इसका नाम पर्णकुटी है, वैसा ही इस शरीररूप कुटी में भी मुख्य पांच वस्तु विशेष होने से इसका नाम पंचकुटी संकल्पित किया है। वैसे तो इसमें इन वस्तुओं के अतिरिक्त और भी अनेक हैं!"

यह सुनकर सुमन बोला—"प्रभो! क्या यह शरीर जुदी-जुदी पांच वस्तुओं से बना हुआ है? वे पांच वस्तुएं कहां हैं?"

गुरुजी बोले—"भाई! इसमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पांच मुख्य वस्तुएं हैं, ये सब इसमें मिली हैं।"

सुमन ने पूछा—"पिताजी! इन पांच से सिवाय और कौन-कौन वस्तुएं इसमें मिली हैं?"

गुरुजी ने उत्तर दिया—"प्रिय वत्स! ये पांच वस्तुएं तो स्थूल हैं, दिखाई पड़ती हैं, पर इनके अतिरिक्त जो दूसरी तीन चीजें और हैं वह बड़ी चमत्कारिक हैं और वह देखने में नहीं आती हैं; उनका नाम मन, बुद्धि और अहंकार है। मन में से एक दूसरी वस्तु चित्त नामक उत्पन्न होती है। उस समेत ये चार वस्तुएं अन्तःकरणचतुष्टय मानी जाती हैं। ये चार तथा पहले गिनाई हुई पांच मिलकर नौ वस्तुओं से मिलकर बनी हुई और भी अनेक वस्तुएं हैं। उन सबसे मिलकर यह शरीररूपी पंचकुटी बनी है।"

सुमन बोला—"कृपानाथ! इन नौ वस्तुओं में मेरी गिनती तो आई ही नहीं, क्या मैं उन सबसे अलग कोई पदार्थ हूं?"

गुरुजी ने कहा—"हां पुत्र! तू उनसे बिल्कुल ही अलग है, क्योंकि यह पर्णकुटी जब साबित थी, तब उसमें हम रहते थे तथा 'यह हमारी पर्णकुटी है' ऐसा अभिमान करते थे; पर भली-भांति देखिये तो उससे हम अलग ही थे, क्योंकि वह टूटकर छिन्न-भिन्न हो गयी, पर हम लोग टूटे-फूटे या भंग नहीं हुए। इसी प्रकार यह शरीररूपी पर्णकुटी भी भंग हो, टूटे या नाश को प्राप्त हो, तो भी उसके अन्दर बसने वाले को कुछ बाधा नहीं होती और न उसका नाश होता है। तू वह शरीर नहीं, बल्कि उसमें बसने वाला होने से उससे बिल्कुल निराला है। हे पुत्र! ये नौ वस्तुएं

यद्यपि बड़ी चमत्कारिक हैं तथापि वे स्वात्मबलवाली नहीं, वे जड़ हैं, परप्रकाश से प्रकाशित होने वाली हैं वे चन्द्ररूपिणी हैं। जैसे चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित है वैसे ही ये जड़ पदार्थ भी आत्मा की चैतन्य सत्ता से प्रकाशित है। ये सब एकत्र मिलकर यह शरीररूपी पंचकुटी तैयार होती है। परन्तु, वह चैतन्यरहित होने से हिल चल नहीं सकती, घट बढ़ नहीं सकती। जो जड़ हो वह क्या कर सके? जड़ अर्थात् जीवन-तत्त्व-चैतन्य के बिना का जब उसमें चैतन्य आ मिलता है तब वह संजीवनी अर्थात् जीवित होती है। हे सुमन! वह चैतन्य ही तू है, ऐसा समझ।"

संत महात्मा ने इस प्रकार पंचकुटी का वर्णन कह समझाया तब सुमन शर्मा बड़ी देर तक विचार में ही खड़ा रहा! उसका मन अब चारों ओर से एकत्र होकर अंदर ही अंदर अपने को पहचानने का प्रयत्न करने लगा। उसने जाना कि अपना आप में ही है पर कहां है, कैसा है, यह वह नहीं जान सका। बड़ी शोध करते-करते भी उसका संदेह नहीं मिटा। तब हाथ जोड़कर गुरुजी से बोला—"कृपानाथ! आपने इस पंचकुटी में पृथ्वी, जल आदि वस्तुओं का संघात बतलाया, पर ये सब वस्तुएं उसमें रूपान्तर को प्राप्त होने के कारण पहचानी नहीं जाती।"

महात्मा ने कहा—"भाई! यह सत्य है। रूपान्तर होने के बाद वस्तु का पहचानना कठिन हो जाता है, पर तुम सरीखे को समझना विशेष कठिन नहीं। सुन, इस शरीर में अस्थि, मांस, चर्म, रोम, नख ये वस्तुएं पृथ्वी के भाग है। रुधिर, लार, थूक, कफ इत्यादि जल के भाग हैं। जठराग्निरूप आहार पचाने की शक्ति, आंखों में देखने की शक्ति इत्यादि तेज (अग्नि) का भाग हैं, श्वासोच्छास, अन्नपानादिक को यथास्थान पहुंचाना, मलमूत्रादि का त्याग करना इत्यादि क्रियारूप सर्वव्यापी वायु का कार्य है (भाग है), हृदय से लेकर समस्त शरीर में जितना भाग पोला है वह आकाश का भाग हे। ये पांच तत्त्व तथा उनके भाग जो स्थूल हैं वह तो आंखों से दिखायी देते हैं। इनके सिवाय मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये वस्तुएं हृदय की पोल में कहीं रहती जरूर हैं पर दृष्टिगोचर होने योग्य नहीं, अति सूक्ष्म हैं इन सब जड़ वस्तुओं के समूह में यह चैतन्यरूप पदार्थ बसता है। इसका नाम जीव है।"

जीव कैसा है?

यह सुनकर सुमन शर्मा बोला—"कृपानाथ! यह जीव कैसा है?"

इसके उत्तर में महात्मा गुरु ने कहाः—वत्स! इस जगत में सबसे मुख्य वस्तु दो हैं:—एक जड़, दूसरा चैतन्य। तेरा मेरा तथा सब प्राणियों का देह तथा दूसरा भी जो कुछ दिखाई देता है तथा जो अदृश्य है वह सब जगत् जड़ पदार्थ

में से ही हुआ है। इस सबको जीवन देने वाला चैतन्य परमात्मा है। जड़ पदार्थ विकार वाला तथा परिणामी और नाशवंत है, पर चैतन्य अविकारी तथा अविनाशी है। जड़ पदार्थों में अनेक आकार, अवस्था तथा अनेक रूपान्तर होते हैं, पर अविकारी चैतन्य का कुछ आकार, कोई अवस्था या कोई रूपान्तर नहीं होता। यह अग्नि से जलता नहीं, पानी से सड़ता नहीं, वायु से सूखता नहीं, शस्त्र से कटता नहीं, कालान्तर में भी क्षय-लय को प्राप्त होता नहीं, घटता-बढ़ता नहीं। यह सबके विषे जीवनरूप होने से इसका नाम जीव है। यही परब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर है। प्रभु-परब्रह्म-परम ब्रह्म का अंश होने से उसे पहचाना कि परमात्मा के पहचानने का द्वार खुला होता है। इसका 'यथार्थ रूप' क्या है! इसके लिये कितने ही जिज्ञासुओं ने पहले एक महापुरुष से पूछा तब उन्होंने केवल यही संक्षेप से कहा कि जीव यह अखंडानंद परमात्मा की सत्ता मात्र है। तुम सबके ऊपर व्याप्त तुम्हारे राज्य कर्ता की सत्ता कि जिसके अनुसार तुम सब सन्मार्ग में वर्तते हो वह सत्ता क्या तुम्हारे देखने में आती है? उसका स्वरूप कैसा है! यह तुम कह सकोगे? यह सत्ता क्या काली, धोली, लम्बी, छोटी, ऊंची नीची इत्यादि किसी प्रकार की कह सकोगे? नहीं साहब। इसी प्रकार जिसका स्वरूप कहा या कल्पना किया नहीं जा सकता, ऐसी ईश्वर की सत्ता ही जीव है। वह शुद्ध है, सनातन है, अखंड है, अलेप है और व्यापक है। इसका यथार्थ रूप जानना और देखना बहुत दुर्लभ है और इस चर्मचक्षु से दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार शिव परब्रह्म-परात्पर-परमात्मा का स्वरूप भी चर्मचक्षु से दृश्यमान हो ऐसा नहीं तथा सहज में अंनुमित किया जा सके ऐसा नहीं। यह तो बुद्धिरूप नेत्रों से देखने योग्य है। वाणी से इसका यथार्थ वर्णन नहीं हो सकता। इसका यथार्थ रूप जानने के लिये बड़े प्रबल पुरुषार्थ की आवश्यकता है। पर जिज्ञासु-मुमुक्षु-जब विधिपूर्वक दृढ़ अभ्यासरूप पुरुषार्थ करता है और वह पुरुषार्थ परिपक्क होता है तब भगवान की कृपा से अपने आप ही इस स्वरूप का ज्ञान उसके हृदय में प्रकट होता है तथा ज्ञान प्रकट होने के बाद नित्य के अभ्यास से इस परम पुरुष का साक्षात्कार होता है तब यह जीव निर्बंधमुक्त होता है। इसीलिये परमात्मा ने अपने प्रियतम सेवकों से कहा भी है कि 'मनुष्य जब प्रेम तथा भक्तिपूर्वक मेरे मार्ग में मन लगाकर अभ्यास करता है, तब उसके हृदय में ज्ञानरूप दीपक द्वारा मैं प्रकाश करता हूं। जिससे वह आप ही अपने स्वरूप को जान लेता है।'

और भी परमात्मा ने कहा है कि 'चित्त तथा प्राण को भी मुझ विषे लगाकर

*जो परस्पर मेरा बोध करते हैं। नित्य मेरा कथन करते हैं और उसी में संतुष्ट हो रमण करते हैं एवं सतत अभ्यास से मुझे प्रीतिपूर्वक भजते हैं उनको मैं ऐसा बुद्धियोग देता हूं कि जिसके द्वारा वे मुझे प्राप्त होते हैं।** *उन पर अनुकम्पा-दया करके मैं उनके मन के अंधेरे को ज्ञानरूप दीपक के प्रकाश द्वारा दूर कर देता* हूं। हे वत्स! इसलिये जो पुरुष भक्तिरहित हो इस प्रकार प्रयत्न करने वाला न हो उसके लिये यह आत्मस्वरूप का ज्ञान कहने योग्य भी नहीं, क्योंकि वह अपात्र होने से उसको समझ नहीं सकेगा और वह उपदेश व्यर्थ जायगा। ऐसे अभक्त तथा पुरुषार्थरहित मनुष्य का जीव स्वतंत्र नहीं। वह प्रकृति के वश हो गया है और यह प्रकृति स्वभाव से ही जड़ तथा अधोमार्ग को उतार ले जाने वाली होती है। इससे उसके वश हो जाने वाला प्राणी उत्तम आचरण किस प्रकार कर सके? इससे जीव की पहचान करने वाले मनुष्य को प्रथम जीव की प्रकृति अर्थात् जिस जड़ समुदाय के अन्दर जीव रहा है उन समुदायरूप वस्तुओं को भली-भांति पहचानना तथा वश करना चाहिये।"

जीव की सेना

यह सुनकर सुमन बोला–"कृपानाथ! यह प्रकृति क्या है? और किस प्रकार उसे वश में करना चाहिये?"

महात्मा गुरु ने कहा–"प्रिय सुमन! फूल में सुगंध फैलाने का प्रश्न जो तू पूछता है, उससे मैं संतुष्ट हूं। सुन, ध्यान दे! जैसे कोई एक राज्य का राजा है, वह सारे राज्य का मालिक है और सबके ऊपर उसकी सत्ता है, तथापि राज्य का सारा काम वह अपने हाथ से नहीं कर सकता, इसलिये उस राज्य का कार्यभार संभालने के लिये उसे अनेक कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती है और उनके द्वारा काम करना पड़ता है। उनमें जो वे कारबारी नीच स्वभाव के, कुटिल, वाचाल तथा स्वार्थी हों तो वे अपने स्वभावानुसार राजा को भी अनेक उलटी बातें समझाकर छल कपट से अपने वश कर लेते हैं और अपने एक खिलौने के समान परतंत्र करके चाहे जैसे नीच मार्ग को प्राप्त करा देते हैं। उसी प्रकार इस जीव को भी एक राजा रूप देखिये, तो उसके कारबारी भी वैसे ही कुटिल, स्वार्थी तथा नीच स्वभाव के हैं। वे छलबल करके उसे अपने वश में कर नीच मार्ग में ले जाने में कुछ भी विलंब नहीं करते। इस

---

* मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।

कारण इनके वश परतंत्र जीव को इस लोक तथा परलोक के सुख की आशा नहीं रहती तो फिर भला सर्व सुख का मूल ऐसा जो अपना स्वरूप पहचानना उसकी आशा कैसे हो सकती है? इस कारण मनुष्यों को प्रथम जीव की सेना को भली-भांति पहचान कर उसे अपने अधीन करने की आवश्यकता है।"

इतना कहकर महात्मा मुनि फिर बोले—"हम लोग इस प्रकार समझें कि जीव यह समर्थ राजा है और यह शरीर उसकी राजधानी है। इसमें इसकी सेना भिन्न-भिन्न स्थानों में बसती है। इस देहराज्य का यथार्थ वर्णन तो बड़े विस्तार वाला है, पर समझने के लिये संक्षिप्त वर्णन करता हूं। शरीररूप जो जीव का राजनगर है उसमें बुद्धि-राजा का मंत्री है, काम अर्थात् सब प्रकार की भोगाभिलाषारूप जो माया यह प्रधान है, क्रोध सेनापति है, चक्षु तथा श्रोत्रादिक ज्ञानेन्द्रियां उसके कारबारी हैं और हस्तपादादिक कर्मेन्द्रियां उसके अनुचर हैं। भली बुरी वासनाएं तथा अनेक प्रकार की मनोवृत्तियां रूप उसकी प्रजा हैं। काम जो उसका प्रधान है वह बड़ा झूठा, पाखंडी तथा सब अधमता का मूल है। क्रोध सेनापति, की जो कोतवाल का काम भी करता है वह महाक्रूर तथा तीक्ष्ण है। वह सर्वदा जीव का घात ही चाहता है। कामरूप प्रधान यह चाहता है कि राजा का सब वैभव मैं ही भोगूं और उसका द्रव्य खर्च कर डालुं। इसी कारण बुद्धिरूप मंत्री से एकता तथा एक विचार नहीं रखता, केवल स्वेच्छाचारी बन जाता है। इन कारणों से जीवराज का नगर बहुत दुःखी रहता है। इतना होने पर भी जो सावधान और दृढ़ रहकर जीवराज अपने चतुर मंत्री बुद्धि के साथ एक मत हो शान्तिपूर्वक एकान्त में विचार करे और उन्मत्त हुए प्रधानरूप काम की सत्ता निर्बल कर उसे अपने वश में करके अच्छे मंत्री की सलाह से कुछ भी विरुद्ध न करने का नियम कर रखे तो फिर क्रोधरूप कोतवाल अपने आप ही उसके अधीन हो जाता है और फिर वह जीवराज के राज्य में कुछ भी उपद्रव नहीं कर सकता। ऐसा होने से जीव का राज्य उसके अधीन हो परम सुख रूप होता है। काम और क्रोध ये बड़े नटखट अवश्य हैं, पर वे भी शरीर की रक्षा ही के लिये हैं, न कि शरीर के नाश के लिये, परन्तु जो जीव उनके वश को दुराचारी बन जाय तो उसके सारे राज्य का नाश हो जावे। काम क्रोधादिक प्रधान मंत्री भी इन्द्रियादिक कारबारी तथा सेवक वर्गद्वारा अपना-अपना काम करता है। इन इन्द्रियों को भी जो स्वच्छन्दता से अपने इच्छित मार्ग में चलने दिया जाय तो उससे भी बड़ा अनर्थ होगा। इसलिये उस इन्द्रियादिक सेवक वर्ग को बुद्धिरूप मंत्री द्वारा जीवराज अपने

वश में ही रखे। सबको अपनी-अपनी इच्छानुसार चलने न दे तब ही जीवराज का राज्य सुखपूर्वक चलता है। परन्तु यह भी याद रखो कि काम, क्रोध, इन्द्रियादि के बिना भी काम नहीं चल सकता; देहरूपी राज्य का निर्वाह होना भी कठिन हो जाता है, उसी प्रकार यदि वे प्रबल और उन्मत्त हो जावें तो उससे अनर्थ भी बहुत होता है, इसलिये प्रत्येक समय बुद्धिरूप मन्त्री की सलाह से उनको प्रबल न होने देकर उनको दबाये ही रखना चाहिये। वे भी अपने वश रहें और जीवराज भी सदा सावधान रहे तो अपने आपको नहीं भूलता तथा अपने महाराजाधिराज परमात्मा को कि जिसका दिया हुआ राज भोगता है, उससे विमुख न होकर उसकी कृपा का पात्र बन जाता है। महाराजाधिराज की कृपा संपादन करना यही उसका मुख्य कर्तव्य है। क्योंकि उस कृपालु का स्वयं अंश होने पर भी उससे बहुत दूर पड़ गया है। वह उनकी कृपा के बिना उनका दर्शन नहीं पाता फिर उससे मिलने की आशा ही कैसे कर सकता है?"

इस प्रकार बातचीत करते-करते समय बीत गया। सांयकाल के अग्निहोत्र करने का समय हो गया। वह महात्मा गुरुदेव तत्काल गंगाजी में स्नान करने पधारे। सुमन शर्मा स्नान से शुद्ध हो यज्ञसेवा में सहायभूत हो गया।

इतनी कथा सुनकर राजपुत्र जीवनसिंह अपने गुरुदेव प्रति प्रणाम कर बोला—"कृपानाथ! अब तो मैं क्या, यह बात ये सब विद्यार्थी भी समझ गये होंगे कि अपना पहचानना यह कितना कठिन है। अच्छा, कृपानाथ! इस तरह के कुटिल कर्मचारी तथा नीच सेवकों के समूह के बीच रहने वाले जीव का स्वभाव कैसा है?"

जीव का स्वभाव

यह प्रश्न सुनकर उसके विद्याध्यापक गुरुजी इस प्रकार कहने लगे—"प्रिय जीवन! मूल स्वरूप जीव साक्षात् परब्रह्म परमात्मा का अंश होने से केवल शुद्ध सनातन तथा सत्त्वमय है, परम चैतन्यरूप है, महापवित्र तथा निर्लेप है, अविनाशी है, अप्रमेय है, अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, अद्वैत है, सबसे प्रथम है, अव्यय तथा अधिकारी है, अचिंत्य और अचल है, सर्वगत तथा अव्यक्त है, इतने पर भी स्वभाव से ही जड़, विकारी तथा परिणामवाली प्रकृति (माया) का संगी होने से उसमें अनेक प्रकार के विलक्षण स्वभावों का, कुतर्क-असक्ता का प्रवेश हुआ देखा जाता है। ऐसे उसके अनेक विलक्षण स्वभावं हैं, तथापि उनको जुदे-जुदे चार (स्वभाव) प्रकारों में विभाग किया

जाय तो वह समझने में सहज हो जावे। एक तो पशुवत् स्वभाव, दूसरा राक्षसी स्वभाव, तीसरा प्रेतादिक स्वभाव, चौथा दैवी स्वभाव, इनमें दैवी संपत्तिका जो जीव को साथ हो तो उससे वह उत्तम अवस्था को प्राप्त होता है और आसुरी संपत्ति का साथ हो तो नाश को प्राप्त होता है।"

यह सुनकर जीवनसिंह बोला–"कृपानाथ! आपने प्रथम तो कहा कि जीव अविनाशी है, वह किसी के द्वारा किसी साधन से भी नाश को प्राप्त नहीं होता; और अब कहते हो कि अशुभ कर्म करने से अर्थात् आसुरी संपत्ति का साथ होने से जीव नाश को प्राप्त हो जाता है, यह तो विरोध वाली बात हुई!"

महात्मा अध्यापक उसको धन्यवाद देकर बोला–"प्रिय जीवनसिंह! तेरा प्रश्न अति उत्तम है। मैंने जो पूर्व कहा है कि जीवात्मा अजर, अमर तथा अविनाशी है यही बात यथार्थ है। वह शुद्धात्मा है तो भी आसुरी संपदा के वश पड़ने से वह नाश को प्राप्त होता है, ऐसा कहने का हेतु यह है कि योनि में जन्म लेने के समय से जीव को अज्ञानरूपी अंधकार में ही पड़ा रहना पड़ता है और प्रकृति के संग से असंख्य दुःख ही भोगने पड़ते हैं तथा उत्तरोत्तर कर्मानुसार विशेष अधमाधम योनियों में अवतार लेकर सदा के लिये फसना पड़ता है तथा उसमें से उद्धार होने का प्रसंग बहुत ही अलभ्य हो कर दूर जाता रहता है। इसी का नाम आत्मा का नाश कहा जाता है। इस संसार में बारंबार जन्म लेना और मरना, एक खड्डे में से दूसरे में पड़ना यही आत्मा का नाश माना है। आत्मा स्वयं तो अजन्मा है, तो भी प्रकृति के साथ से उसे बारंबार अनेक प्रकार का शरीर लेना तथा छोड़ना पडता है, तथा बारंबार जन्म लेने और मरने का जो अपार कष्ट है, वह उसको देहरूप से निरुपाय भोगना पड़ता है। पुरुष* जो जीव वह प्रकृति के साथ रह कर प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों को भोगता है तथा ऊंची नीची योनियों में उसे जन्म लेना पड़ता है। इसका कारण इतना ही है कि वह प्रकृति के गुणों का संगी है। प्रकृति के गुणों में लवलीन होने से जब अपने आपको बिल्कुल ही भूल जाता है, तब 'मैं कौन' और 'क्या वस्तु हूं' इसका उसे पूर्ण विस्मरण हो जाता है। इस प्रकार अपने आपको भूले हुए प्राणी को सत् असत् वस्तु का एवम् आचरण का तथा दैवी आसुरी संपत् के सुख-दुःख का भान कहां से रहे? मेरी पहले कही हुई चार प्रकार की संपत्तियां उसमें प्रविष्ट हो जाती हैं। पशु, राक्षस, प्रेत और देव इन चार में से किसी संपत्ति के वश हुआ जीव वैसा ही कर्म करता है और अन्त में उस कर्मानुसार वैसा ही उत्तम या अधम फल भोगने के लिये मनुष्यता से भ्रष्ट होकर अधमाधम योनियों में अवतार लेता है।"

---

* पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्। भ. गी. 13। 21

इतना कह जीवनसिंह के विद्यागुरु बोले—"प्रिय जीवन! तू कदाचित् कहेगा कि मनुष्य में पशुवत् स्वभाव क्यों कर प्रविष्ट हो सकता है? इसके समाधान में समझना है कि मनुष्यों में जो नाना प्रकार के भोग भोगने की अभिलाषा तथा तृष्णा, क्षुधा, भय, निद्रादिक गुण हैं वे पशुओं के हैं। पशुओं में ये गुण तो स्वाभाविक ही होते हैं और इन्हीं में उनका कृतकृत्यपन भी है। पशुओं में जो गुण हैं वे मनुष्यों में भी होते ही हैं तथा इन गुणों से अधिक उत्तम गुण जिसमें न हों उस मनुष्य को पशुसंपत्ति का स्वामी जानना। दूसरा जो क्रोधमय स्वभाव है कि जिसमें पराई ईर्ष्या, कठोर वचन, निर्दयता तथा हिंसकपना इत्यादि दुर्गुण उपजते हैं, वह राक्षसों का स्वभाव है, राक्षसों में अनेक प्रकार के छल कपट करना, दंभ करना, दाव पेच खेलना, मिथ्या उपाधि पैदा करना, जिसका फल अन्त में पाप अथवा दुःख के बिना कुछ नहीं मिलता ऐसे कर्म करना, धर्म तथा परलोक का त्याग करना, गुण में भी दोषारोपण करना, यह सब आसुरी स्वभाव है। तीसरा प्रेतस्वभाव है। भूत तथा प्रेत अदृश्य रह कर अनेक छल कपट करके मनुष्यों को भय दिखाते हैं, दुःख देते हैं और उससे उनको कुछ भी फल नहीं होता, उलटा परिश्रम तथा दुःख ही इन कर्मों के करने में होता है। ऐसे स्वभाव का मनुष्य प्रेत स्वभाव की गिनती में है। इन तीन गुणवालों को श्रीकृष्णजी ने आसुरी सम्पत्ति में गिनाया है। चौथा स्वभाव देवता का है। इसका नाम दैवी संपत् है। देवता जैसे सब प्रकार से पवित्र रह कर अनेक प्रकार की संजीवनी आदिक का दिव्य विद्याओं का आश्रय करते हैं, परोपकार करते हैं, सत्त्व गुण के अनुसार अनेक सत्कार्य तथा पुण्यरूप कर्म करते हैं, सद् वस्तु का ग्रहण तथा असद् वस्तु से विराग धारण करते हैं, निंद्य कर्मो का सर्वथा त्याग कर सब जीवों को सुख होने का प्रयत्न करते हैं तथा सर्वदा कल्याण के मार्ग पर ही चलते हैं, ऐसे मनुष्य दैवी संपत वाले हैं। दैवी संपत् तितिक्षा, त्याग तथा तपका सर्वदा सेवन करती है।"

"हे जीवन! इन चारों से जो-जो प्राणी जिस-जिस स्वभाव के वश होता है वैसा ही होकर वैसे ही स्थान को पाता है। इन चारों में दैवी संपत्ति वालों के लिये ही देवयान मार्ग बनाया गया है। दैवी संपत् यही स्वात्मस्वरूप स्वात्मज्ञान-ब्रह्मज्ञान-प्राप्त करने में सहायक होने वाली है तथा परिणाम में परम सुख देने वाली है। शेष तीन तो अधोमार्ग-नरक ले जाने वाली है। इसलिये तू दैवी संपत्ति का आश्रय कर। हे प्रियवर! यह स्वभाव किसी मनुष्य के साथ

संबंध नहीं रखते बल्कि उसके हृदय के साथ संबंध रखते हैं, और इसी कारण जैसे स्वभाव का संबंध हो वैसा ही तद्रूप हृदय हो जाता है इस संबंध में तुझसे एक दृष्टान्त कहता हूं सो सुन!"

स्वप्न से स्वभावपरीक्षा

"कोई एक अति तृष्णा वाला मनुष्य था। उसने एक दिन ऐसा स्वप्न देखा कि वह कुत्ता हो गया है और वह बहुत भूखा और प्यासा है, और नगर में घर-घर भटकता है, पर उसे कहीं भी रोटी का टुकड़ा नहीं मिलता। इतने में उसने एक बालक को हाथ में पूड़ी लिये हुए घर के आंगन में खेलता देखा। उसे देख असह्य भूख का मारा दौड़कर उसके पास गया और उस पूड़ी को छीन कर भागा। इतने में उसके पिता ने इसको भागते और बालक को रोते देख, एक डंडा हाथ में लिया और दो चार कुत्ते को लगाये और वह कुत्ता मूर्छित हो गया। वह पूड़ी तो न जाने कहां गिर पड़ी व उसके मुंह में धूल भर गयी और वह बेहोश सा हो गया। यह सारा हाल यद्यपि स्वप्न में हुआ था पर मार के भय से उसकी चिल्लाहट तो प्रत्यक्ष सुनाई देती थी। यह मनुष्य सोता हुआ कुत्ते की तरह रो रहा था। मानो सचमुच ही उसको किसी ने लकड़ी मारी हो। उसी के त्रास में वह जाग पड़ा। उसके रोने का शब्द सुनकर उसकी स्त्री भी जाग पड़ी थी।

वह उसको आश्वासन देकर प्रेमपूर्वक पूछने लगी कि, 'हे प्रिय स्वामीनाथ! आपको एकाएक यह क्या हो गया? आप ऐसे गहरे श्वास क्यों ले रहे हो? क्यों ऐसा रुदन करते थे? क्या आपको सर्प या बीछी आदि किसी जहरीले जन्तु ने काट लिया है? क्या कोई आपको कठिन व्याधि हो गयी?'

यह सुन लज्जित होकर अपने रुदन को रोक चित्त को स्थिर करके बोला--"अहो! यह मुझे क्या हुआ? सचमुच मैं कौन और वह कुत्ता कौन? लकड़ी क्या? मुझे यह कैसे हो गया? अरे रे! यह तो बड़ा बुरा जंजाल! शिव! शिव! मैं जीव कहां भटक गया था? कुछ भी नहीं यह तो बिल्कुल मिथ्या है।'

यह सुन स्त्री ने पूछा—"कृपानाथ! लकड़ी कैसी और कुत्ता क्या? यह आप क्या कहते थे, सो मुझे समझाओ।"

वह पुरुष बोला—"प्रिये! यह तो मैंने कुछ स्वप्न देखा था। उसकी विलक्षणता देख मेरा जीव घबरा गया था!"

यह सुनकर स्त्री ने स्वप्न का हाल बड़े आग्रहपूर्वक पूछा तो उसने सारा

स्वप्न का इतिवृत्त कह सुनाया। यह सुनकर आश्चर्य सहित पहले तो स्त्री खूब हँसी, उसकी हँसी किसी तरह रुकी नहीं; फिर धीरज धरकर हँसी रोककर हाथ जोड़कर बोली—"कृपानाथ! इस दासी का कुछ आपसे कहने का अधिकार तो है नहीं तथापि विज्ञापन की तरह हितवचन* कहना कुछ अयोग्य नहीं गिना जायगा। आप सब बातों में योग्य तथा ज्ञाता हैं तथा अन्य पुरुषों को भी शुद्ध ज्ञान से सन्मार्ग में लगाने वाले हैं, तथापि अपने अन्तःकरण में जो एक महाप्रबल शत्रु बैठा है उसे जानकर कैसे निकाल नहीं डालते हो? मैं जानती हूँ कि आपको स्वप्न में भी ऐसा लज्जास्पद संकट देने वाला यह दुष्ट शत्रु ही है। यह शत्रु है, पर आप उसे परम मित्र मानकर उससे सदा लाड़ प्यार करते हो। यही इस भगवान की महामाया का विलक्षण बल है। भगवान की माया जो चाहे जैसा विद्वान् हो पर भगवान का भक्त न हो, भगवान से विमुख हो, उसे सहज ही मोह में डाल देती है। आप सुज्ञ होकर भी अपने अहित करने वाले के वश हो रहे हैं, इसी कारण आप पर भगवान की माया का प्राबल्य चला है। इसका मुख्य कारण भगवान की विमुखता ही है। आप संसार की तो सब बातों में चतुर हो पर यह संसार की सम्मुखता ही प्राणी को श्रीहरि से विमुख कर डालती है तथा इस संसार के सम्मुख हो, इसी कारण शत्रु को मित्र समझ रहे हो। आप यह नहीं जानते इस लिये मुझे बड़ा आश्चर्य मालूम होता है। तथा आपका यह हितशत्रु अपने आपको अच्छा लगे उसी प्रकार मदारी के मर्कट की भांति आपको नचाता है, रमण कराता है, हँसाता है, रुलाता है। यह आपका हितशत्रु कौन है, उसे आपने पहचाना? आवश्यक और अनावश्यक ऐसी सब वस्तुओं का अति लोभ आपके सारे शरीर में व्याप्त तृष्णा का पुत्र आपका शत्रु है। इन माता पुत्र दोनों ने आपके शरीर में स्थान किया है। स्वामिनाथ! पहले इन माता पुत्र दोनों ने तथा अकेली माता ने व अकेले पुत्र ने कैसे-कैसे महान् अनर्थ किये हैं, उस पर ध्यान दो। इसको आश्रय देनेवाले बड़े-बड़े वीरों का भी इसने कैसी निर्दयता से क्षय किया है सो विचारो, इसके समान किसी में दुष्टता नहीं है।'

'स्वामिनाथ! मेरा पिता पौराणिक था। वह कथा सुनाने के लिये नित्य राजदरबार में जाया करता था। वहां बड़े-बड़े सुन्दर इतिहास वह सुनाया करता था। उसके साथ जाकर बालकपन में मैं भी सुना करती थी। वहां का सुना हुआ एक इतिहास मुझको याद है, कि तृष्णा तथा लाभादिक ने बड़े-बड़े

---

* हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।

राजर्षि तथा महर्षियों को भी दुःख में डुबा दिया है और असंख्य विडम्बनाएं करायी हैं। जब बड़े-बड़े महात्माजन भी लोभ और तृष्णा में डूबकर तर नहीं सके तब आप जैसे साधारण पुरुष किस गिनती में हैं? बल्कि स्वामिनाथ! कदाचित् आप ऐसा कहेंगे कि मैं ऐसा लोभी हूं यह बात तू क्यों कहती है? इसका उत्तर यह है कि मैंने कथा में सुना है कि जो मनुष्य जिस प्रकृति तथा जिस अभिलाषा वाला होता है, उसका अंतःकरण सदा सर्वदा उसी वस्तु की प्राप्ति के विचारों में ही निमग्न रहा करता है तथा जाग्रतपन में किये हुए· विचार तथा अभिलाषाओं को भी वह स्वप्नावस्था में भी ज्यों का त्यों आशा का सफल तथा निष्फल होना रूप देखता है, तथा इसी से मैं जानती हूं कि आपके अति लोभ और अति तृष्णा का यह दिग्दर्शन हुआ है। तथा मैंने यह भी सुना है कि अति तृष्णा यह भटकते हुए कुत्ते की तरह है। कुत्ते की भूख प्यास कभी पूर्ण नहीं होती, क्योंकि कहीं पर भी इसको भर पेट अन्न तथा जल नहीं मिलता। वह अन्न के लिये घर-घर तथा आंगन-आंगन भटकता ही रहता है। यदि किसी घर में एक दिन रोटी का टुकड़ा मिल गया तो किसी-किसी जगह पर बिना दिये लेने के लिये भी घुस जाता है और वहां से उसे लकड़ी का सपाटा सहना पड़ता है, इसी प्रकार लालची मनुष्य का मन भी सदा भटकता ही फिरता है तथा अनेक अनर्थ करता है। इस कारण अन्त में उसे महानीच कुत्ते की योनि प्राप्त होती है। यह आपके इस स्वप्न से प्रकट है। ऐसा मैं मानती हूं। मेरा ऐसा विश्वास है। इससे आप कृपा करके ऐसी अकल्याण करने वाली तृष्णा का परित्याग करो।'

''इसके बाद वह जीव अपने मन में अच्छी तरह समझा कि मेरी तृष्णा अवश्य ही मुझे नीच योनि में ले जायगी और फिर मुझे नरक में गिरना पड़ेगा। उस दिन से अपने मन को भली-भांति सावधान करके उस बढ़ी हुई तृष्णा का धीरे-धीरे त्याग करने लगा। हे जीवनसिंह! जैसे बने वैसे मनुष्य को अपने स्वभाव को उत्तम और दैवी संपत्ति से पूर्ण संस्कारी करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये तथा नीच स्वभाव का किंचित् पट भी हृदय को नहीं लगने देना चाहिये।''

मनुष्य की उत्तमता

इतनी बड़ी लंबी कथा से कदाचित् वाचकों को विस्मृत हो गया होगा कि यह कथा प्रसंग किस बात पर कहा गया है। इसका हमको स्मरण कराना चाहिये। पहले बरफ से ढका और अत्यन्त ऊंचा गगनभेदी हिमगिरि का उन्नत शिखर, वहां पर बना हुआ पवित्र आश्रम, वहां की चिद्गुहा, वहां बसते हुए सद्गुरु महात्मा, सुविचार

तथा छद्मलिंग इस नाम के परम अधिकारी शिष्य इत्यादि बातें सदा स्मरण रखने योग्य हैं! इन सद्गुरु योगीश्वर के वचनामृत का पूर्ण प्रेम से पान करने वाले उन दिनों शिष्यों के आगे यह कथा प्रसंग चलता है।

यहां तक का प्रसंग सुनकर प्रसन्न हुए शिष्यों से छोटा छद्मलिंग हाथ जोड़कर बोला कि–"कृपालु गुरुदेव! अपने आपको पहचानने के लिये विद्यागुरु ने जो कुछ कहा, इतने से क्या वह बालक जीवनसिंह समझ गया होगा?"

योगीश्वर बोले–"नहीं, ऐसे क्षणभर में अपने आपको कहीं पहचान सकता है! यह तो तुमसे संक्षेप से कहा गया; जीवनसिंह को भी इतने से संतोष न होने के कारण उसके विद्यागुरु ने पुनः इस बात को अच्छी तरह कह सुनाया। हे शिष्यों! कोई भी बात हो, सुनकर उसकी उपेक्षा करने से समयान्तर में वह भूल जाती है तथा उसका तात्पर्य भी हृदय में नहीं समाता। इस कारण उस पीछे सुनी हुई वस्तु का अपने हृदय की गंभीरता में भली-भांति मनन होना चाहिये। मनन होने से उस वस्तु का सार हृदय में उतरता है, फिर उसका अनुभव हो सकता है और अनुभव से दृढ़ हुई बात मन में से फिर कभी विस्मृत नहीं होती। इसलिये जीवनसिंह ने गुरु के द्वारा सुने हुए उपदेश का कई दिन तक मनन किया। एक दिन पाठशाला में सब विद्यार्थी अपना-अपना पाठ पढ़ रहे थे और शान्तरूप जीवनसिंह अपनी पूर्व बात का मनन कर रहा था।

इतने में कुछ शंका हुई तो चौंककर गुरुदेव को वंदन कर पूछने लगा–"गुरुवर्य! आपने उस दिन मुझसे मनुष्य के जुदे-जुदे स्वभाव बतलाये थे और उनमें से देवस्वभाव सबसे श्रेष्ठ बतलाकर उसको ग्रहण करने को कहा था, वह मैं समझा तथा वह स्वभाव भी मनुष्य के शरीर के साथ नहीं बल्कि वह मनुष्य के अन्तःकरण के साथ संबंध रखता है, यह भी ठीक कहा। कृपानाथ! मनुष्य का अन्तःकरण ऐसा कितना बलवान् है कि जो देवादिक के श्रेष्ठ स्वभाव का भी संग्रह कर सकता है?"

यह प्रश्न सुनकर वे गुरु बोले–"प्रिय जीवनसिंह! मनुष्य यह ऐसा उत्तम रत्न प्रभु ने बनाया है और उसका अन्तःकरण ऐसा बड़ा चमत्कारिक है कि इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। पृथ्वी पर उत्पन्न हुए सब प्राणीयों से मनुष्य उत्तम है, सब बातों में श्रेष्ठ है। जल में बसने वाले जलचर प्राणी जैसे की छोटे-छोटे बुदबुद्, छोटी बड़ी मछलियाँ, मेंढ़क, कछुए, बड़े-बड़े मत्स्य, मगर, घड़ियाल, बड़े-बड़े दर्यायी घोड़े तथा हाथी तथा छोटी बड़ी नौकाओं को भी निगल जाने वाले बड़े मगरमच्छ आदि हैं, पर इन सबसे

मनुष्य श्रेष्ठ है। पृथ्वी पर तथा पृथ्वी में बसने वाले भूचर प्राणी जिनमें कि छोटे से छोटे जन्तु, कीड़े, मकोड़े, चींटी, चूहे, सर्प, बिल्ली, कुत्ते गीदड़, हिरन, वानर, गाय, भैंस, बकरी, गधा, घोड़ा, ऊंट, गेंडा, हाथी, बाघ, रीछ और सब वनचरों का राजा सिंह इत्यादि सबसे मनुष्य श्रेष्ठ है। आकाश में उड़ने वाले मक्खी पतंगादि से लेकर चक्रवात, तीतर, तोते, कबूतर, कौवे, मयूर, सारस, हंस, बाज, गीध और गरुड़ादि सब पक्षियों की अपेक्षा मनुष्य श्रेष्ठ है। अदृश्य रूप से फिरने वाले भूत, प्रेत, पिशाच, वेताल, तथा वीरादिक पिशाचवर्ग के प्राणियों से भी मनुष्य श्रेष्ठ है। इसी प्रकार यक्ष, राक्षस, दानव, दैत्य, इत्यादि महाबलवान् तथा मायावी प्राणियों से भी मनुष्य प्राणी श्रेष्ठ है बल्कि अपने से उत्तम कहे हुए देवता कि जिनके उत्तमोत्तम स्वभाव अपने में प्राप्त करने के लिये बड़ी सावधानी से अनुकरण करने की आवश्यकता है। वे देवता भी कभी-कभी मनुष्य प्राणी का बहुत अभिनन्दन करते हैं तथा मनुष्यपन की अभिलाषा करते हैं।"

इतना कह वह महात्मा कुछ देर ठहर कर फिर बोले—"प्रिय जीवन! तेरे मन को कदाचित् शंका होगी कि सब प्राणियों से मनुष्य प्राणी क्यों श्रेष्ठ है? तू स्वस्थ होकर सुन! समस्त जलचर, भूचर, खेचर-आकाशगामी पक्षी आदिक प्राणी चाहे जितने बड़े हों, अतिशय बलवाले तथा अतिशय भयंकर हों, पर वे मनुष्य की असावधानी की दशा में चाहे उसे साबित निगल जायँ, चाहे कष्ट दें, मार डालें तथा डरावें परन्तु सावधान दशा में यदि मनुष्य अपने बुद्धिबल का उपयोग करे तो उन महाभयंकर प्राणियों को भी अपने वश कर सकता है। वह मनुष्य-पिशाचवर्ग के तथा वायुरूप रहकर चाहे जैसा छल करने वाले भूतादिक प्राणियों को भी अपने बुद्धिबल से, मलिन मंत्रों की साधना कर एक चाकर की भांति वश कर लेता है और उनसे मनमाना काम कराता है यही नहीं, बल्कि जो वह इच्छा करे तो प्रयत्न करके अधोगति पाये हुए तथा महान् दुःखानुभव करने वाले पिशाचादिक प्राणियों को अपने बुद्धिबल से तथा अनेक श्राद्धादिक सत्क्रियाएं करके सद्गति को भी प्राप्त करा देता है।* इसी प्रकार यक्ष राक्षसादि को भी मनुष्य अपने बुद्धिबल से तथा अनके तप, संयम, योग, उपासना आदिक दैवी शक्तियों से उनकी माया में न फसकर उलटा उन्हीं को अधीन कर लेता है। इत्यादि कारणों से मनुष्य अन्य सब प्राणियों से श्रेष्ठ है।"

* यह विषय भली-भांति समझने के लिये श्रीमद्‌भागवत तथा गीता का माहात्म्य वांचना अधिकारी जीव को उचित है।

यह सुनकर जीवन हाथ जोड़कर बोला–"कृपानाथ! यह सब तो यथार्थ है; पर अभी आपने सूचित किया कि सब मनुष्यों से श्रेष्ठ ऐसे देवता भी *मनुष्य प्राणी का अभिनन्दन करते हैं तथा मनुष्यपने की अभिलाषा करते हैं, यह क्या सत्य और शास्त्रसम्मत है? यदि ऐसा है तो देवतापन मनुष्यपन से उतरती श्रेणी का माना जायगा!'*

गुरु जी बोले–"नहीं भाई! नहीं, ऐसा नहीं: बल्कि इसमें एक समझने की बात है। देवता मनुष्य की अपेक्षा सब बातों में श्रेष्ठ हैं। उनका शरीर मनुष्य की भांति मलिन तथा निस्तेज नहीं होता बल्कि बहुत पवित्र, निर्मल तथा दिव्य तेज वाला होता है। उनके धारण किये हुए वस्त्रालंकार भी बड़े तेजस्वी, शोभायमान तथा पवित्र होते हैं। उनके भक्ष्यभोज्यादिक भी बहुत सुन्दर तथा अलौकिक स्वाद वाले होते हैं तथा सर्व स्वादों का तत्त्वरूप तथा अमर करने वाले ऐसे अमृतरस का वे नित्य पान करते रहते हैं। उनके रहने के भवन भी परम दिव्य हैं, वाहन भी दिव्य, आसन भी दिव्य, शय्या भी दिव्य, इस प्रकार उनके उपभोग में आने वाली तथा क्रीड़ा करने की सब वस्तुएं, वैसे ही उनकी भूमि आदिक सब ही परम दिव्य, पवित्र तथा मनुष्यलोक की अपेक्षा अति दिव्य हैं। मनुष्य की भांति उनको अनेक प्रकार के दुःख नहीं होते, क्लेश नहीं होता तथा दुःख क्लेश भोगना भी नहीं पड़ता। मुख्य करके वे सबसे श्रेष्ठ तथा निर्मल तथा सत्त्व गुण का आश्रय करने वाले होने से उनमें छल, कपट, दंभ, ईर्ष्या, क्रोध, भय, मोह, इत्यादिक दुर्गुण भी नहीं होते। इस तरह सब प्रकार देवता मनुष्यों से श्रेष्ठ हैं, परम सुखी है; तथा मनुष्यों को भी सुख देने वाले हैं। इतना होने पर भी वह मनुष्य प्राणीयों का अभिनन्दन क्यों करते हैं और मनुष्यपन की अभिलाषा क्यों करते हैं इसका आश्चर्यमय कारण सुन!"

इतना कह थोड़ी देर बाद वह महात्मा बोले–"प्रिय जीवन! देवता स्वर्ग में रहते हैं और हम मनुष्य मृत्युलोक में अर्थात् पृथ्वी पर बसते हैं। पृथ्वी की अपेक्षा स्वर्ग अनेक प्रकार के सुख का स्थान है। यह पृथ्वी तथा उसमें भी विशेष करके जम्बूद्वीप का यह भारतवर्ष यह कर्मभूमि है। स्वर्ग यह भोग भूमि है। कर्मभूमि में बसता मनुष्य सब प्रकार के कर्म कर सकता है। स्वर्ग अर्थात् भोगभूमि में बसने वाले विविध भोगमात्र का ही भोग कर सकते हैं। वहां कोई नया कर्म नहीं बन सकता। उस सर्व नियन्ता परमेश्वर का ऐसा नियम है कि मनुष्य जैसा-जैसा भला या बुरा कर्म करता है उसके बदले में वैसा ही भला या बुरा फल भोगता है। अच्छे कर्म का फल सुखभोग है, बुरे कर्म का फल

दुःखभोग है। सुखभोग स्वर्ग में जाकर भोगा जाता है। दुःखभोग नरक में जाकर भोगा जाता है। स्वर्ग जैसे अच्छे कर्मों का फल भोगने की भोग भूमिका है, वैसे ही नरक खोटे कर्मो का फल भोगने की भोग भूमिका है, इस लिये स्वर्ग में अथवा नरक में भोग भोगने को जाकर प्राणी अपने कर्मों का भोग भोगकर वहां से छूट जाता है, पर वहां अच्छा या बुरा कोई नया कर्म नहीं बन सकता। स्वर्गवासी अथवा नरकवासी अपना भोग भोगकर वहां से फिर पृथ्वी पर आते हैं तथा फिर नये कर्म करते हैं। शास्त्र का वचन है:—

"ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।"

पुण्यवान् मनुष्य अपने पुण्य का फल भोगकर फिर मृत्यु लोक में आ जाता है, इसीलिये स्वर्ग में बसने वाले देवता मनुष्य योनि की बारंबार बड़ाई* करते हैं कि—'हे मनुष्य! तू महाभाग्यवान् है कि जिससे तेरा इस पवित्र कर्मभूमि में जन्म है। वहां रहकर तू अनेक पुण्यकर्म करके इस हमारे स्वर्गलोक को भी प्राप्त कर सकेगा तथा अधिक पुण्यबल प्राप्त करके हमसे भी अधिक सुख वाले ऊर्ध्व लोक को भी पा सकेगा तथा कदाचित् भगवत्कृपा से किसी सद्गुरु महात्मा का समागम प्राप्त होगा और उसके द्वारा भगवद्भक्ति रूप तत्त्वज्ञान प्राप्त करेगा, तो हमारे इन दूसरे सब नाशवान् स्वर्ग से श्रेष्ठ तथा अविनाशी भगवत्पदरूप परम धाम को भी तू प्राप्त कर सकेगा! इसलिये हे मनुष्य! तुझको धन्य है।' और हे जीवन! इसी कारण से देव बारंबार विचार करते हैं कि यद्यपि हम इस स्वर्ग में आकर बसे हैं और वह बड़ा सुखमय है, तथापि उस सुख भोगने की अमुक अवधि तो है ही, यदि कदाचित् हमारे लिये अवधि न हो अर्थात् जब तक स्वर्ग रहे तब तक यहीं रहकर हमको सुख भोगना मिलता रहे, तो भी वह कब तक टिका रहेगा? सत्पुरुषों का वचन है, कि चाहे जितनी अवधि बढ़ जाय पर अन्त में एक दिन स्वर्ग का भी नाश तो होता ही है और उस समय अपना भी यहां से पतन होता है। इसलिये स्वर्ग का यह अधूरा सुख-परम सुख नहीं गिना जाता। इससे प्रभु यदि अब कृपा करें तो इस समय का स्वर्गसुख भोगकर जब मृत्युलोक में जायं, तब ऐसा सदाचरण करें कि जिससे कभी पीछे लौटना न पड़े ऐसा उत्तमोत्तम तथा निर्भय भगवत्पद- परम पद प्राप्त हो, यह कामना पूर्ण हो ऐसा कर्म करें। इस कारण से वे मनुष्यपन की अभिलाषा करते हैं। इस प्रकार से मनुष्यपन तथा मनुष्ययोनि सबसे उत्तम है और अभिनन्दनीय है।"

---

* गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते........

इसके पश्चात् फिर थोड़ा विश्राम लेकर, उसके गुरुजी बोले–"प्रिय पुत्र जीवन!" कदाचित् तुझे यह शंका होगी कि जैसें मनुष्य सत्कर्म करके उत्तम लोक तथा उत्तम पद को प्राप्त हो सकता है, उसी प्रकार दूसरे जीव क्या प्राप्त नहीं हो सकते? विचार से सिद्ध हुआ है कि नहीं; और प्राणी से ऐसा नहीं हो सकता? मनुष्य के बिना दूसरे सब प्राणी जो कि पूर्व कहे गये जल के जीव, पृथ्वी पर बसने वाले पशु आदिक जीव, आकाश में फिरने वाले पक्षी तथा बसने वाले भूत, प्रेत, पिशाच इत्यादि सब केवल आसुरी संपत्ति वाले जीव हैं। इनमें कितने ही वाणीरहित हैं, इस कारण उनसे कुछ साधन तथा सत्कर्म किस रीति से हो सके? यद्यपि राक्षसादिक जीव, वाचा बोलने वाले तथा कुछ ज्ञान वाले हैं तथापि उनका भी वह ज्ञान, अनिवार्य काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर, निर्दयता इत्यादि महादुर्गुणों से बिल्कुल ढका हुआ है, इस कारण उनसे भी कोई सत्कर्म नहीं बन सकता।"

यह सुनकर बुद्धिमान् जीवनसिंह हाथ जोड़कर बोला–"कृपानाथ! आपने कहा उस प्रकार मनुष्य सत्कर्म करके देवादिकों का स्थान जो स्वर्ग, उसको प्राप्त कर सकता है और उससे वह देवताओं को भी श्लाध्य है यह ठीक, पर वे वे लोक तथा उन उन देवादिक की पदवी किसी मनुष्य को मानुषपन में भी मिल सकती है? इसके लिये तो उसे अपना मनुष्यशरीर छोड़कर दिव्य शरीर धारण करना पड़ता है। ऐसा आपके श्रीमुख से मैंने अनेक बार सुना है तो फिर इस मनुष्यपन का क्या महत्त्व?"

तब गुरुजी ने कहा–"शिष्य! यह तो प्रभु के घर का-सर्वेश्वर के साम्राज्य का सामान्य नियम ही है, कि मनुष्यादि किसी भी प्राणी को देहान्तर अथवा रूपान्तर हुए बिना लोकांतर की प्राप्ति नहीं होती, और ऐसा होने से मनुष्य प्राणी तथा मनुष्ययोनि की महत्ता तथा उत्तमता में कुछ हानि नहीं होती। तो भी अनेक बार ऐसा भी हुआ है कि मनुष्य प्राणी परमात्मा के दिये हुए बुद्धिबल तथा ज्ञानबल के कारण परम पुरुषार्थ का सेवन कर, सर्वेश्वर के सर्वसामान्य सृष्टिनियम का भी उल्लंघन कर परले पार जाने के समान शक्तिवाला होता है। अहा! कैसी प्रभु की उस पर कृपा है! वैसे ही अहो! उस कृपालु ने सारी सृष्टि की रचना में मनुष्य की मूर्ति कैसी सबसे अद्भुत और उत्तमोत्तम बनाइ है। धन्य उस कृति को और धन्य उस कर्ता को।"

यह सुनकर जीवनसिंह कुछ पूछने का विचार करता था कि 'मनुष्य ऐसा शक्तिमान् कैसे हो सकता है?' इस कहने से पूर्व ही उस प्रश्न का समाधानरूप

वह महात्मा बोले–प्रिय जीवन! तू अभी बालक है इससे मनुष्य की अद्भुत शक्ति का तुझे पूरा-पूरा ज्ञान नहीं, इसलिए तुझको समझाना उचित है कि मनुष्य की सामर्थ्य कहां तक है, सो अब तू श्रवण कर।"

मनुष्य क्या-क्या कर सकता है?

"प्रिय जीवन! मनुष्य की उत्तमता मैं तुझे बतलाता हूं और उसकी अद्‌भुत शक्ति का वर्णन करता हूं। उससे तुम यह न समझना कि संसार के सारे मनुष्य ऐसे शक्तिमान हैं। पर मनुष्य में प्रभु का दिया हुआ जो बुद्धिबल है, उस पर उत्तम प्रकार का संस्कार पाकर जिस मनुष्य का हृदय-आन्तर संस्कारी बना हो, वह मनुष्य असंस्कारी की अपेक्षा बहुत शक्तिमान् होता है तथा उसमें भी जिस-जिस प्रकार का संस्कार मिला होता है, वैसा ही वैसा अधिक या न्यून बुद्धिबल उसमें प्रकाशित होता है। जैसे कि शहर के प्रजा वर्ग के मनुष्यों के यहां भी अश्व हैं और तुम्हारे यहां भी अश्व हैं, परन्तु वे सब समान चंचल अथवा समान बलवान् नहीं। प्रजावर्ग के अश्वों की अपेक्षा तुम्हारे सैन्य के अश्व अधिक तेज हैं, उनकी अपेक्षा भी प्रधानों के अश्व और भी तेज हैं और तुम्हारे पिता का नीला घोड़ा सब अश्वों में शिरोमणि है। वैसे तो सब अश्व समान ही हैं, तथापि उस पर बहुत उत्तम संस्कार होने से वह सब अश्वों से अधिक बलवान्, चपल तथा मनुष्य की तरह स्वामी की सेवा और आज्ञा में तत्पर रहने वाला है। युद्धादि कठिन प्रसंग पड़ने पर जब तक उसके शरीर में प्राण है तब तक चोट नहीं आने देगा। संस्कारों के कारण कितने ही घोड़े ऐसे देखे गये हैं। इसी प्रकार संस्कार द्वारा मनुष्यों की उन्नति होती है।"

"बल्कि मनुष्य के कुछ भी उत्तम संस्कार न पाया हो, तो भी दूसरे पशु आदि प्राणीयों से श्रेष्ठ है। उसके जन्म से ही अन्य मनुष्यों का सहवास रहने से उसके अन्तःकरण का साधारण संस्कार तो सहज ही हो जाता है। ऐसा मनुष्य भी दूसरे उत्तम संस्कारी मनुष्यों की सेवा में उपयोगी बन जाता है और ऐसे सहवास होने पर बड़ा संस्कारी बन जाता है। मनुष्य भूमि में से अन्न उत्पन्न करता है। उस अन्न में से अनेकानेक भिन्न-भिन्न स्वाद वाले खाद्य पदार्थ बनाकर उनका सेवन करता है। पशुआदि की सहायता लेकर ऐसे अधिक बल के काम जो अकेले से नहीं बन सकें सो करता है। घोड़े हाथी आदि बड़े उन्मत्त तथा अतुल बल वाले प्राणियों को वश कर उन पर सवारी करता है, उन पर बोझा लादता है, पशुओं के थन में से अमृतरूप दूध दोहता

है, दूध में से दही, मक्खन और घृतादिक आश्चर्यजनक पदार्थ, बुद्धिबल से शोध निकालता है। मनुष्य मिट्टी में से सुवर्ण निकाल लेता है, पाषाणमय पर्वतों में से अमूल्य रत्न शोध निकालता है।

"पुत्र जीवन! तुने कभी समुद्र देखा है?"

"नहीं पिताजी!" जीवन ने कहा–"मैंने उसका अपार विस्तार तथा गहराई तथा उसमें बसते हुए भयंकर प्राणीयों का हाल सुना है लेकिन समुद्र देखा नहीं।"

"तो देखो वैसे अगाध समुद्रतल में रहने वाले अमूल्य रत्न तथा मौक्तिक भंडार की मनुष्य अंदर जाकर शोध निकालता है सैंकड़ा हजारों योजन के विस्तार वाले महा अगाध तथा उन्मत्त जल से भरे उस समुद्र को मनुष्य दृढ़ नौका आदि साधनों से तैरकर पार हो जाता है। मनुष्य अनेक विद्या तथा शास्त्रों के तत्त्व को जान सकता है। वह सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय आदि तत्त्व को भी जानता है; उसी प्रकार सृष्टि के सारे व्यवहार तत्त्व, धर्मतत्त्व भी भली-भांति जानता है। बल्कि वह विद्याओं से तथा शास्त्रों से इस सृष्टि में के पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाशादिक तत्त्वों को तथा उनके गुणों को जानता है और फिर उनको वश कर, उनसे सृष्टि के उपयोगी अनेक कार्य कर सकता है और अनेक यांत्रिक शक्तियां उत्पन्न कर सकता है। विद्याओं से मनुष्य जैसे पृथ्वी भर की सारी वस्तुओं को जानता है तथा प्राप्त करता है वैसे ही आकाश के अनेक चमत्कारों को भी वह भली-भांति जान सकता है और उपयोग में ला सकता है। आकाश में एक दूसरे से लाखों योजन पर रहने वाले ग्रह, नक्षत्रगण, राशिगण और दूसरे अनेक ताराओं की विचित्र गति को, उनके परस्पर संबंध तथा उनके पृथ्वी और आकाश में होने वाले अनेक चमत्कारों को विद्याओं से जानने और देखने वाला मनुष्य ही है। बल्कि विद्या के बल से विविध वनस्पतियों तथा औषधियों का गुण दोष जानकर उससे मनुष्यों का तथा पुशुपक्ष्यादि का महान् रोग मिटा सकता है; और रसायनादिक से दूसरे भी कितने ही चमत्कार स्वाधीन करके लोकोपकार कर सकता है। वैसे ही विषयादिक के समूह में उत्पन्न होने पर भी वह विषयों से तीव्र वैराग्य धारण कर, मनोनिग्रह से परम दुर्लभ योग संपादन कर सकता है और उसके प्रभाव से स्वाधीन हुई सिद्धियों द्वारा जगत में अद्भुत कार्य कर सकता है। वह सिद्धि के बल से प्रसंग पड़ने पर छोटे से छोटा बारीक से बारीक बन सकता है, बड़े से बड़ा बन सकता है, अत्यंत हलका तथा भारी हो सकता है, दूसरे का

मनोरथ पूर्ण कर सकता है, सबके ऊपर आधिपत्य जमा सकता है, सब जगत् को अपने वश में कर सकता है, दूसरे के मन की बात जान सकता है, एक स्थान पर बैठा-बैठा अनेक ठिकाने की बातें जान सकता है, एक स्थान से दूसरे स्थान पर बिना विलम्ब और बिना वाहन जा सकता है, स्वर्गादिक तथा ऊर्ध्व लोक में और पातालादिक में भी यथेच्छ विचर सकता है और ऐसे-ऐसे अनेक चमत्कार कर सकता है। इससे भी अधिक संस्कार को प्राप्त हुआ मनुष्य इन सिद्धि आदिकों के ऐश्वर्य को तुच्छ गिन, स्वाधीन हुए मन को परवश तथा उन्मत्त करने वाला गिनकर उसका अनादर करता है, वह सिद्धियों का कुछ भी स्पर्श न हो, इससे बहुत सावधान रहकर उससे बचकर ऐश्वर्य जो आत्मदर्शन-परमात्मदर्शन-ब्रह्मदर्शन-परम प्रेम का स्थान-अचल-अक्षरस्थान सत् चित् आनन्दघन का परम स्थान, उसी की आशा धारण कर-अभिलाषा करके अपनी पवित्र योगभक्ति परिपक्क करता है तथा अंत में वह परम पुरुष के, सच्चिदानन्द के धाम का अनन्त सुख भोगने के लिये भाग्यशाली होता है। इस प्रकार असंख्य उत्तमोत्तम साधन तथा विद्याओं द्वारा अपने अन्तःकरण को अप्रतिम बल तथा अद्‌भुत शक्तिवाला कर, मनुष्य प्राणी सकल सृष्टि में प्रपूर्ण हो रहा है, सबका आश्रयदाता होता है। सबसे श्रेष्ठ होता है, सबका स्वामी होता है, सबका स्रष्टा होता है, तथा 'शिवोऽहम्! शिवोऽहम्!' का जाप जपते-जपते स्वयं जीवभाव मिटाकर शिव होता है!!'

ये सब बातें एकाग्र चित्त से सुनता हुआ राजपुत्र जीवनसिंह नमन करके बोला—"हे कृपालु गुरुदेव! अहा! धन्य है, धन्य है, तब तो मनुष्य के समान संसार में दूसरा कोई प्राणी नहीं। अहो! वह प्राणिमात्र में श्रेष्ठ है। जो स्वयं एक समय में किसी का बनाया हुआ है, वह दूसरे समय में दूसरों का स्रष्टा हो सकता है यह कैसा आश्चर्य! आपने पूर्व यह भी कहा था कि सर्वेश्वर की सृष्टि के सर्व सामान्य नियम का भी कभी-कभी उल्लंघन कर परले पार जाने की शक्ति रखने वाला मनुष्य प्राणी ही है। तो यह भी कितना बड़ा आश्चर्यमय है! अहा! कृपानाथ! क्या ऐसा मनुष्य प्राणी कोई हुआ होगा?" इस प्रश्न के उत्तर में वह महात्मा ऋषि इस प्रकार कहने लगे।

विश्वामित्रचरित्र

प्रिय जीवन! उसके गुरुदेव बोले—"पूर्व काल में विश्वामित्र नाम के एक ऋषि कुशिक वंश में उत्पन्न हुए थे। उनका चरित्र इस विषय में परमोत्तम

उदाहरण है। प्रथम तो इस महात्मा ने मनुष्य क्या-क्या कर सकता है यह बात जनसमूह को स्पष्ट कर दिखाई है। स्वयं राजवंश में उत्पन्न क्षत्रिय पुत्र होकर, स्वात्मपुरुषार्थ से ब्राह्मण हुआ। इतना ही नहीं, बल्कि ब्राह्मणकुल में श्रेष्ठ ऐसे ऋषिकुल से बढ़कर महर्षिपद पाया। हे पुत्र! सब वर्णों में ब्रह्म का जानने वाला ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ तथा सबका पूज्य है। कारण कि वह तत्त्व का उपदेश एक समस्त प्रजाओं को सन्मार्ग तथा धर्ममार्ग में चलाता है और उनका कल्याण करता है। इस कारण वह ब्राह्मणपद प्राप्त होना भी दुर्लभ है। विश्वामित्र राजर्षि ने उस ब्राह्मणपद को पाने का ऐसा भारी प्रयत्न किया जो किसी सामान्य पुरुष को अशक्य ही था और आज भी अशक्य ही है।

कुशिक राजा के वंशज गाधि राजा का वह पुत्र था। पिता के राज्याभिषेक करने के उपरान्त बहुत समय तक सुखपूर्वक राज्य करते-करते एक बार अपनी बड़ी भारी सेनासहित राजा विश्वामित्र वन में आखेट को गया। मार्ग में वसिष्ठ मुनि का आश्रम मिला। वसिष्ठ के समान महर्षि कि जिनका दर्शन होना दुर्लभ, ऐसे दर्शनीय महात्मा का आश्रम अनायास मार्ग में आया, इस कारण उनको प्रणाम किये बिना आगे कैसे चलें, यह विचार विश्वामित्र ने आश्रम में जाकर उन महर्षि के दर्शन किये। वसिष्ठ मुनि ने कुशल समाचार पूछ बहुत आदर किया और अपने आश्रम में एक दिन अतिथिरूप से निवास करने का आग्रह किया। विश्वामित्र ने कहा—"मुनिवर! मैं अकेला होऊं तो आपका आतिथ्य मान्य करूं, पर इस समय तो मेरे साथ बहुत सी सेना है, इसलिये वनवासी आपको अपने आतिथ्य निमित्त दुःखी करूं यह ठीक नहीं।"

वसिष्ठ मुनि बोले—"राजा! "सो दुःख कुछ नहीं, आपके साथ चाहे जितनी अधिक सेना है तो क्या हुआ, भगवत्कृपा से सबका सम्मान हो जायगा।"

यह वचन सुनकर विश्वामित्र सेनासहित एक दिन वहां ठहरे। सेना ने वहां पड़ाव डाल दिया और विश्वामित्र उन मुनि के आश्रम तथा वन की शोभा देखते-देखते चारो ओर टहलने लगे और मन में विचार करने लगे कि 'देखो भला मुनि ने हमारे आतिथ्य को तो कह दिया तथापि आश्रम में तो सीधा सामान आदि किसी वस्तु का संग्रह देखने में आता नहीं, तो फिर वे इतने आदमियों के लिये तथा वाहनों के लिये भोजन साहित्य को किस प्रकार पूरा करेंगे।' इतने में थोड़ी देरे पीछे मुनि के आश्रम में से निमंत्रण आया

कि—"राजा जी! चलिये, समय हो गया, मुनि महाराज आपको सेनासहित भोजन करने को बुलाते हैं।"

मुनिवर वसिष्ठ के शिष्यों का यह वचन सुन राजा को तो बड़ा आश्चर्य हुआ कि इतनी देर में भोजन की तैयारी! यह कैसे बन सकता है! तुरन्त सजध ाज के साथ सेनासहित उन मुनि के आश्रम पर आये। वहां तो और भी अधिक आश्चर्य हुआ, अपने राज्य स्थान में भी कभी न होने वाली ऐसी अनेक तैयारियां, राजा तथा सैनिकों के अधिकार के अनुसार अनुक्रम से कर रखी थी। सर्व जनों के बैठने के लिए दिव्य आसन, कनक पात्र तथा उनमें परोसे हुए अनेक पक्वान्नादिक दिव्य भोजनसामग्री देख सानन्दाश्चर्य पाते हुए सर्व सैनिकों सहित राजा विश्वामित्र भोजन करने बैठे। भोजन के स्वाद का तो पूछना ही क्या! जैसी तैयारियां यहां उन के लिये थी वैसी ही सेना के हाथी, घोड़े आदि पशुओं के लिये भी खाने की तैयारियां की गयी थी। सब कोई तृप्तिपर्यन्त जीमकर पूर्ण आनन्द में मग्न हो गये। मुखवास ताम्बूल आदि ग्रहण करके आश्चर्यमय बातें करते सैनिकों सहित राजा विश्वामित्र सेना में आये और अतिशय विचार में पड़े कि क्षणमात्र में यह सब तैयारी और ऐसी उत्तमोत्तम दैवी समृद्धि वाली तैयारी कैसे हुई होगी! आश्रम में तो कुछ दिखाई नहीं देता! तब यह सब आया कहां से! क्षणमात्र में ऐसे-ऐसे उत्तम पदार्थ किस प्रकार तैयार हुए! इसमें तो कुछ अद्भुत कारण होना चाहिये! इसलिये मैं इसका भली-भांति शोधन करूंगा! यह विचार विश्वामित्र ने अपने-अपने गुप्तचरों को इस बात की तलाश करने भेजा, वे आश्रम के कोने-कोने में चारों ओर फिरकर लौट आये और कहने लगे कि, 'राजाजी! आश्रम में किसी स्थान में और कोई भी सामग्री कहीं भी एकत्र नहीं रखी है और इसमें कहीं भी सुरंग, तलघर तथा कोई गुप्तस्थान इस सामग्री के आने जाने का नहीं जान पड़ता, बल्कि बड़ा आश्चर्य तो यह है कि आपने वहां जिन पात्रों में जो-जो पदार्थ भोजन किये उनमें से वहां अब कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। ये सब पदार्थ तथा भोजन सामग्री इस आश्रम के जिस स्थल से विशेष रूप से लाई जाती थी वह स्थल भी हमने भली भांति देखा, पर वहां पर उस सामग्री के रखने का चिन्ह भी नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि यह स्थल तो एक छोटी अति सुन्दर पर्णकुटी है तथा वह भी कुछ खाली नहीं, बल्कि उसमें एक अतीव सुन्दर, सुशील तथा दर्शनीय धेनु बँधी हुई है। उस पर ये महामुनीश्वर वसिष्ट जी खड़े-खड़े हाथ फेरते हैं तथा लाड़-प्यार करते हैं।' इस सारी बात पर से महाराज विश्वामित्र

समझ गये कि अवश्य, जो कुछ चमत्कार है, वह इस सुन्दर धेनु में ही है। अनुमान होता है कि यह धेनु स्वर्ग की कामधेनु ही होगी, फिर दूसरी भी कितनी ही तलाश कराने पर और अन्त में वसिष्ठ मुनि से पूछने पर राजा को निश्चय हुआ कि इस सबका कारण कामधेनु ही है; इससे, ऐसा स्वर्गीय रत्न अपने दरबार ही में सुशोभित हो, यह लालसा उन्हें उत्पन्न हुई।"

विद्यागुरु बोले–"जीवनसिंह! रजोगुण के वशीभूत महाराज विश्वामित्र ने फिर क्या किया सो सुन! इस प्रकार का उत्तमोत्तम अवर्णनीय आतिथ्य जो मुनि ने किया उससे प्रसन्न होकर उसके बदले में मुनि को जो कुछ वन में अड़चन थी वह राजा को दूर करनी चाहिये थी अथवा उनका और कुछ प्रिय करके उनकी सेवा करनी थी। यह राजा मात्र का साधारण धर्म है और धर्मशील राजा का तो वह प्रथम धर्म है। उसमें भी जिसका अन्नादि ग्रहण किया उसके साथ उचित व्यवहार करना यह परम धर्म है। इनमें से कुछ न करके विश्वामित्र तो उलटा उस धेनु को अपने यहां ले जाने का विचार किया। अरण्य में से सेनासहित चलते समय आप मुनिवर से मिलने गये तब उन मुनि से धेनु मांगने लगे।

मुनिवर वसिष्ठ जी ने कहा–"राजा! यह धेनु तो तुमको अथवा किसी और को मैं कभी दे नहीं सकता, यह तो हमारा सर्वस्व है। इसी की कृपा से इस घोर अरण्य में हम सुखपूर्वक बसते हैं और इसी के चतुवर्ग-चार पुरुषार्थ-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन सुखपूर्वक होता है। इसके अतिरिक्त और कोई वस्तु जो तुम्हें चाहिये, वह सुखपूर्वक मांग लो!"

विश्वामित्र ने कहा–"महाराज! आप जैसे अरण्यवासी को इतनी समृद्धि किस लिये चाहिये! मुनि तो अकिंचनत्व (किसी द्रव्य का संचय न करना) पालने वाले कहे जाते है; ऐसा गोरत्न (गोरूप रत्न) तो हमारे राजदरबार मे ही शोभा देगा, इसलिये हमको दे देना यह तुम्हारे जैसों का धर्म है!"

यह सुन मुनिवर बोले–"राजा! तू जानता नहीं कि यह अमूल्य रत्न हम अकिंचन अरण्यवासी होने से हमारे ही यहां चाहिये। इसकी सहाय से हमारा तपोधर्म सुखपूर्वक चलता है, तुम्हारे राज्य में तो धनादिक जो कुछ चाहिये सब कुछ है, इससे तुम्हें इसकी अपेक्षा नहीं और यह धेनु तो तुम्हारे यहां सम्हलेगी भी नहीं और न तुमसे इसकी सेवा हो सकेगी। तू इसको द्रव्य समृद्धि रूप जानता है, पर यह कुछ द्रव्य अथवा जड़ संपत्ति नहीं बल्कि, हमारा परम दैवत तथा पूज्य तत्त्व है। समुद्रमथन के समान महान् प्रयत्न के अन्त में प्राप्त हुआ जो यह तत्त्व उसके अधिकारी बिना–अरे! मथन करने का प्रयत्न करने वाले

बड़े-बड़े देवताओं को भी जब नहीं दिया गया, तब वह तुम्हें कैसे दे सकूं?"

इस पर राजा विश्वामित्र ने निश्चय किया कि 'यह मुनि अपनी कामधेनु को इस प्रकार तो देगा नहीं, इसलिये इसे हरण करके ले जाना चाहिये।'

"जीवनसिहं! देखा!!" उसके गुरु ने कहा—"संपत्ति में मदमाते राजा की वृत्ति कैसे अविचार और लोभ के वश हो गई! हर! हर! गुण का भाई दोष ऐसा धर्मशील सत्ययुग राजा का न्याय! कोई दुष्ट राक्षसादिक या चौरादिक मुनि के पास से धेनुहरण किये जाता हो तो अति प्रयत्न से उसकी रक्षा करना और सतत उसकी रक्षा करने रूप मुनि की सेवा बजानी, यह धर्मशील का धर्मरूप कर्तव्य है। इसके बदले में विश्वामित्र आप ही उसके हरण करने की इच्छा करे, यह कितना बड़ा निंदापात्र और राजा के धर्म से विपरीत वर्तन!! प्रियवर! यह केवल उग्र रजोगुण का ही परिणाम है! अस्तु अब उससे क्या फल निकलता है, सो देखो! ऐसे बार-बार मांगने पर भी वसिष्ठ मुनि ने जब वह कामधेनु नहीं दी। तब क्रोधित हो विश्वामित्र ने वसिष्ठ मुनि से कहा—"महाराज! जो यह कामधेनु मुझे नहीं देते हो तो मैं बलात्कार से इसे हरण करा लूंगा।"

मुनि ने कहा—"भले, यदि तुम्हारी इच्छा ऐसी ही है तो ऐसा ही करो! इसमें हम वनवासी मुनियों को आग्रह करना, यह तप के लिये हानिकारक है।"

महर्षि का यह वचन सुन, तुरन्त विश्वामित्र ने अपने सैनिकों द्वारा धेनु का हरण कराया। सेवक उसको लेकर मार्ग पर चले और कामधेनु पीछे को खींचने और बल करने लगी, पर राजा के आज्ञापालक निर्दय सैनिक उसे बल से आगे को खींचने लगे, तो भी वह आगे को न चली तब तो वे अविचारीपन से उसके कोमल अंग तथा पूजनीय, वंदनीय अंग पर प्रहार करने लगे। उसका अतुल बल देखकर सारी सेना उसके आसपास हो गई। फिर तो पूछना ही क्या! महागंभीर सेना के बीच खड़ी हुई अत्यन्त सुन्दर तथा कोमल कामधेनु ने अपने शरीर को हिलाया (फुरहरी ली), तब तो उसके रोम-रोम खड़े हो गये और उसकी आकृति ऐसी विकराल हो गई कि जिसको देखते ही योद्धा लोग खिसकने लगे; भयभीत हो गये; इतना ही नहीं बल्कि जैसे-जैसे वह शरीर को हिलाने लगी वैसे ही वैसे उसमें से असंख्य, विकराल, प्रचंड शरीरवाले तथा नाशकारक शस्त्रधारी योद्धा प्रकट होने लगे। ये योद्धा विश्वामित्र की सेना पर टूट पड़े। देखते-देखते उन्होंने विश्वामित्र की आधी सेना का नाश कर डाला और रहे सहे सैनिक भागकर बचे और उनके साथ ही विश्वामित्र भी भयभीत हो भाग गये। बड़ी देर पीछे शान्त होकर कामधेनु फिर अपने आश्रम के स्थान पर आकर खड़ी रही।

यह चमत्कार—कामधेनु का ऐसा अद्भुत बल देख और अपना पराभव हुआ देख महाराज विश्वामित्र को बड़ा खेद तथा आश्चर्य हुआ और उसने यह विचार किया कि 'क्या हम क्षत्रियों की अपेक्षा इस वनवासी ब्राह्मण का बलअधिक है? चिन्ता नहीं, मैं कुछ युद्ध की तैयारी करके नहीं आया था। इस समय तो मेरे पास केवल मृगया का सामान ही था। पर अब मैं युद्ध को जाऊंगा और कामधेनु को हर लाऊंगा!' यह निश्चय करके उसने बहुत भारी सेना सजाइ और अपने सौ पुत्रों को साथ ले महर्षि वसिष्ठ के ऊपर चढ़ायी की और वहां जा आश्रम को घेरकर अस्त्रवर्षा करने लगा। महात्मा वसिष्ठ बाहर आये और विश्वामित्र के इस अन्याय से अत्यंत क्रोधित हो, उन्होंने एक हुकार मात्र किया, जिसके करते ही 99 पुत्रोंसहित विश्वामित्र की सारी सेना नष्ट हो गई। केवल एक पुत्र और विश्वामित्र बचे रहे। ऐसा होने से विश्वामित्र के मन में अत्यन्त खेद हुआ और ब्रह्मबल के आगे अपने क्षत्रिय बल के ऊपर इतना बड़ा तिरस्कार आया कि तुरन्त नगर में जा और अपने बचे हुए पुत्र को राज्य देकर तपश्चर्या के लिसे वन को चले गये। हिमालय पर्वत पर जाकर घोर तप आरम्भ किया। उसके सिद्ध होने पर उनको अनेक दिव्य तथा अतुल पराक्रम वाले शस्त्रों की प्राप्ति हुई। उनको लेकर फिर महर्षि वसिष्ठजी के आश्रम पर आये और उन पर उन शस्त्रों की वर्षा करनी आरंभ की। वसिष्ठ मुनि अपना ब्रह्मदंड हाथ में लेकर तत्काल बाहर आये और विश्वामित्र के चलाये हुए सब अस्त्रों का ग्रास करने लगे। इस समय इन महामुनि का स्वरूप ऐसा प्रचंड बन गया था कि आकाश में उड़ते पक्षी जैसे किसी गुफा के द्वार में प्रविष्ट हो जायँ, उस तरह विश्वामित्र के चलाये सब अस्त्र उनके फाड़े हुए मुख में प्रविष्ट हो जाते थे!

इस प्रकार अपने चलाये हुए सब दिव्य अस्त्र व्यर्थ गये देख और इन ब्रह्मर्षि के ब्रह्मबल का प्रभाव देख, उनके आगे अपने क्षात्रबल के लिये विश्वामित्र को बहुत ही धिक्कार* आया, पर इससे भी वह थक कर बैठा नहीं रहा, उसने अपने अति उग्र पुरुषार्थ को आगे और बढ़ाया। उसने यह निश्चय किया कि जब सबकी अपेक्षा ब्रह्मबल श्रेष्ठ है तथा उसके बिना दूसरी सब वस्तु व्यर्थ है, तब तो मुझको अब सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मत्व ही संपादन करना चाहिये, इस कारण अब मैं पुनः तपश्चरण की करूंगा। मैं क्षत्रियत्व मिटाकर ब्राह्मण होऊं तब ही तो मेरा जीना सफल है। वह जब तक प्राप्त न होगा, तब

* धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्।

तक मैं तप की करूंगा; ऐसे दृढ़ निश्चयपूर्वक राजर्षि विश्वामित्र फिर वन में गया और महातीव्र तपश्चर्या करने लगा।

इतना कह फिर जीवनसिंह के गुरुजी बोले—"प्रिय पुत्र जीवन! विश्वामित्र ने फिर ऐसी कठिन तपस्या हजारों वर्ष की, कि जिसकी तुलना किसी से हो नहीं सकती। चिरकाल के तप से अति प्रसन्न हो ब्रह्मादिक देवता उसके आगे आये और उसको वरदान दिया कि, 'हे विश्वामित्र! तुझे धन्य है! तुम्हारे पवित्र तप से हमको अत्यन्त सन्तोष हुआ है! इसलिये अब तुम तप से विराम पाओ, तुम आज से राजर्षि मिटकर ब्रह्मर्षि हुए हो!!'

विश्वामित्र बोले—"मुझे आप ब्रह्मर्षि कहते हैं सो ठीक, तथापि वसिष्ठाआदिक ब्रह्मर्षि मुझे ब्रह्मर्षि कहे तब मैं ब्रह्मर्षि सत्य!"

इसके उत्तर में 'काल पाकर ऐसा भी होगा।' यह कहकर सब देवता अन्तर्हित हो गये। फिर प्रसन्न हुए विश्वामित्र ऋषि ने वन में आश्रम बनाया और वहां निवास कर स्त्रीसह वर्तमान ही ऋषिधर्म का आचरण करने लगे। उत्तरोत्तर ऋषि पंक्ति में इनकी गणना होने लगी। ऋषियों की सभा से इनको निमंत्रण भी आने लगे। यज्ञ यागादिक में उत्तम स्थान पर इनका वरण भी होने लगा तथापि वसिष्ठ मुनि ने इनको अभी ब्रह्मर्षि नहीं कहा, यह तो जहां मिले वहां 'पधारो राजर्षि' कहकर ही सम्मान करते पर यह सुनकर विश्वामित्र के हृदय में महाखेदाग्नि की ज्वाला उत्पन्न होती थी। ऐसा कई बार होते देख विश्वामित्र ने अपने मन में विचार किया कि वसिष्ठ मुनि ने अवश्य मेरा पिछला वैर स्मरण कर मेरी ईर्ष्या से ही मुझे राजर्षि कह कर मेरी मानहानि करता है।' पर ऐसा नहीं था; वसिष्ठ मुनि तो स्पष्ट तथा सत्य ही बोलने वाले थे। विश्वामित्र के पीछे तो ऋषियों की सभा आदि में जहां-जहां प्रसंग आता था वहां बारंबार उनकी प्रशंसा करते कि—'अहा! क्या विश्वामित्र का तप! धन्य है इनको!! विश्वामित्र के समान तपस्वी तो विश्वामित्र ही है। इसी लोक में नहीं बल्कि और लोकों में भी इसके समान तपस्वी मिलना कठिन है।' परन्तु विश्वामित्र के समक्ष में उन्हें राजर्षि ही कहते थे। इसका कारण पिछले वैर की ईर्ष्या नहीं, बल्कि दूसरा ही कारण था। परन्तु वह समझ में न आने से विश्वामित्र उनके साथ बड़ा द्वेष मानने लगे। स्थान-स्थान और प्रसंग-प्रसंग पर वे वसिष्ठ के छिद्र ढूंढने लगे, विरुद्ध पड़ने लगे और सामर्थ्य भर उनको दुःखी करने का प्रयत्न करने लगे। एक राक्षस के द्वारा विश्वामित्र ने वसिष्ठ के सौ पुत्र मरवा डाले और ऐसी ही दूसरी बहुत सी विडम्बनाएँ कीं कि, जिनसे उन ब्रह्मर्षि को खेद हो और क्लेश पहुंचे।"

यह सुनकर राजपुत्र जीवनसिंह हाथ जोड़कर बोला–"कृपालु गुरुवर्य! *आपने कहा कि वसिष्ठ मुनि का विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि न कहने का दूसरा ही कुछ कारण था वह क्या? इतनी बड़ी तीव्र तपश्चर्या करने पर भी वसिष्ठ मुनि* उनको ब्रह्मर्षि क्यों नहीं कहते थे?"

इसके उत्तर में उसके विद्यागुरु बोले–"पुत्र! तेरा प्रश्न अति उत्तम है। तेरी शोधकबुद्धि देखने ही के लिये मैंने पहले यह कारण नहीं कहा था। सुन! ब्रह्मत्व प्राप्त हो तब तो मनुष्य को ब्राह्मण कहा जाता है और वह ब्राह्मणपन का यथार्थ रीति से आचरण करे तब ही ब्रह्मर्षिपन को प्राप्त होता है। विचार कर कि इन सबका मूल ब्रह्मत्व किसको कहते हैं? संक्षेप से यों समझना चाहिये कि ब्रह्म जो परमात्मस्वरूप, उसे प्राप्त करने के लिये जो उत्तमोत्तम गुण तथा स्वभाव-वह ब्रह्मत्व है तथा यह स्वभाव और गुण जिसमें परिपूर्ण हों वह ब्रह्मर्षि! स्वभाव तथा गुणों के अनुसार ब्राह्मण का स्वाभाविक आचरण कैसा होना चाहिये, इस विषय में शास्त्र कहता है:–

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।। (गीता, 18। 42)

मनोनिग्रह, इन्द्रियनिग्रह, तप, पवित्रता, सहनशीलता, सरलता, शास्त्रसंबंधी ज्ञान, अनुभवयुक्त ज्ञान तथा आस्तिकपन, ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। मन का निग्रह करना अर्थात् चपल तथा कभी भी एक स्थिति में नहीं रह सकने वाला मन अपने स्वाधीन करना-यह बहुत दुष्कर काम है, पर ब्राह्मण में तो स्वभाव से ही अपने मन को वश करने का आचरण होना चाहिये। दूसरा स्वाभाविक लक्षण दम-अपनी इंन्द्रियों का दमन अर्थात् वश करना, मन अत्यंत चपल अवश्य है पर सारे व्यापार इंद्रियों के द्वारा करता है, इसलिये यदि वह इंद्रियां स्वाधीन हुई हों तो फिर मन को भटकने का मार्ग नहीं मिलता। ब्राह्मण का स्वभाव तपस्वी अर्थात् तप करने वाला होना चाहिये। अनेक प्रकार से शरीर, मन तथा वाणी द्वारा भी कष्ट सहकर स्वधर्म का रक्षण करना तथा दुराचरण से बचना। यह तप, शौच-शरीर को सदा सर्वदा पवित्र रखना, मलिनता और भ्रष्टता को शरीर से दूर रखना, शरीर पवित्र रहने से उसमें रहने वाला मन स्वाभाविक ही पवित्र रहता है। क्षांति-सहनशीतला, अर्थात् सुख-दुःख, मान अपमान, स्तुति निंदा, लाभ हानि इत्यादि जो प्राप्त हो, उससे न अकुलाये और चंचल हुए बिना सब सहन करके झेल लेना यह सरलपन तथा खरापन ही आर्जव है। अर्थात् मन में किसी तरह की ग्रन्थि नहीं रखते हुए उसी तरह

सीधी सादी स्थिति होने का नाम आर्जव* है। वेदशास्त्र का परिपूर्ण ज्ञान अर्थात् वेदशास्त्र में कहे हुए के अनुसार परमात्मस्वरूप को-जीव शिव के अभेद को, माया को, माया के कार्य को जानना ज्ञान है तथा उस जानने के अनुसार संसार में रह परिपूर्ण अनुभव करना, इसको कहते हैं विज्ञान : तथा वेद, शास्त्र, धर्म, ईश्वर, परलोक इत्यदि वस्तुएं सत्य हैं, ऐसा निश्चयपूर्वक मान, उस पर श्रद्धा रखनी यह आस्तिक्य है। यह आस्तिक्य तो ब्राह्मण में सबसे पहले होना चाहिये। सब धर्मों की जड़ आस्तिक्य है। हे जीवन! इनमें से एक भी गुण न्यून हो तो उतनी ही ब्राह्मणपने में कमी समझना, इस प्रकार इन नये बने हुए ब्रह्मर्षि विश्वामित्र में भी कितनी ही न्यूनता होने के कारण ही उनको वसिष्टजी ब्रह्मर्षि कहकर नहीं बुलाते थे। इन्होंने तप तो अलौकिक किया था और दम-इंद्रियनिग्रह भी खूब संपादन किया था तथापि मनोनिग्रह नहीं हो सका था। वैसे ही क्षांति-सहनशीलता तथा आर्जव भी उनमें नहीं आया था। इच्छानुसार कार्य न होते ही सरलपना छोड़कर उनको बारंबार क्रोध हो जाता था। उनका मन वैर चुकाने के प्रयत्न में मग्न रहता था। 'अरे! मैं विश्वामित्र!' ऐसा अभिमान उनका नहीं गया था और जड़ से क्षत्रिय होने के कारण अहिंसा धर्म भी जैसे चाहिये वैसा वे पाल नहीं सकते थे।

वसिष्ठ इनको ब्रह्मर्षि नहीं कहते थे, इस वैर से विश्वामित्र उनकी अप्रतिष्ठा कराने का दाब बारंबार देखा करते थे। एक समय त्रिशंकु नाम का एक राजा जो कि वसिष्ठ मुनि का यजमान था और जिसको वसिष्ट मुनि के पुत्रों ने उसके मनस्वीपन तथा तरंगीपन के लिये शाप देकर त्याग दिया था, वह विश्वामित्र के शरण आया। इस राजा को अपने शरीर सहित स्वर्ग में जाकर वहां के सुख भोगने की ऊर्मि (लहर) हो आयी थी और ऐसा फल जिसका हो वैसा यज्ञ कराने के लिये उसने अपने कुलगुरु वसिष्ठ से प्रार्थना की, परन्तु वसिष्ठ मुनि के नाहीं कर देने पर उनके पुत्रों के पास जाकर प्रार्थना की।

पुत्रों ने कहा कि—'यहां इस लोक में अनेक यज्ञ स्वर्ग सुख की इच्छा से करे, फिर मृत्यु को प्राप्त होकर वहां दिव्य देहयुक्त स्वर्ग के उत्तम सुख भोगे, यह सनातन मार्ग है, पर यह मनुष्य शरीर स्वर्ग में निवास करे ऐसा सृष्टि नियम नहीं, तो फिर ऐसा यज्ञ क्यों कर कराया जाय?'

यह सुनकर चंचलचित्त राजा त्रिशंकु ने कहा कि—'यदि तुम ऐसा यज्ञ

---

* अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम्। आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।

नहीं कराते तो मेरे पुरोहित के पुत्र किस बात के? इसलिये ऐसा यज्ञ कराने वाला कोई दूसरा पुरोहित करूंगा।'

ऐसा अन्याययुक्त वाक्य सुन, उसके शासन करने की इच्छा से वसिष्ठ मुनि के पुत्र बोले—अरे! ओ मूर्ख! चांड़ाल! जा, गुरु का अपमान करने से तू चांडाल है!'

मुनिपुत्रों के मुख से यह वचन निकलते ही उसका सदेह स्वर्ग जाना तो जहां तहां रहा किन्तु वह तुरन्त काला, कुरूप तथा दुष्ट ऐसा चांडाल बन गया। इससे बहुत ग्लानि पाकर और क्रोध में भरकर त्रिशंकु वहां से वन में चला गया और भटकने लगा। वहां उसको विश्वामित्र मिले और वे उसको आश्वासन देने लगे कि 'राजा! कुछ चिंता नहीं, तू धीरज रख, मैं तुझे सदेह स्वर्ग को पहुंचा दूंगा।'

वसिष्ठ जी के विरुद्ध होने का यह अच्छा साधन अपने हाथ में आया देख विश्वामित्र बहुत संतोष पाकर, शीघ्रता से यज्ञ की तैयारियां करने लगे। अपने सैकड़ों शिष्यों को मुनियों के आश्रमों पर निमन्त्रण के लिये भेजा और लोग यज्ञ सामाग्री एकत्र करने लगे। 'विश्वामित्र ऋषि महा क्रोधी हैं इसलिए जो उनके निमंत्रण से यज्ञ में न जायेगा तो वे हमें शाप देंगे' इस भय से सारे ऋषि एक एक करके आने लगे।

पर वसिष्ठ ने कहा कि 'यज्ञकर्ता यजमान जिसमें चांड़ाल है और जिसमें यज्ञ कराने वाला आचार्य क्षत्रिय है ऐसे यज्ञ में मैं नहीं आऊंगा।' शिष्यों के मुख से वसिष्ठ के ये वचन सुन, विश्वामित्र को अत्यन्त क्रोध भर आया और बड़ी शीघ्रता से यज्ञ का आरंभ किया! यज्ञ सदोष होने से देवता भी यज्ञभाग लेने को नहीं आये, तब क्रोध से लाल हो गये हैं नेत्र जिनके ऐसे विश्वामित्र बोले—'अरे त्रिशंकु! मालूम होता है कि वसिष्ठ की तरह देवता भी मुझसे वैर मानते हैं, कुछ चिंता नहीं, यज्ञ भले रह जाय! मैं अपने तपोबल से ही तुझे स्वर्ग को भेजता हूं।'

यह कह कर हाथ में जल लेकर वह बोले—'मेरे अपने पुण्य से यह त्रिशंकु राजा सदेह स्वर्ग जाय!' यह कह संकल्प का जल नीचे डालते ही त्रिशंकु राजा वहां से पक्षी की भांति सड़सड़ाहट के साथ आकाश की ओर उड़ चला तथा नीचे देखने वाले ऋषि आदिकों के 'वह जाता है, वह जाता है' ऐसा कहते-कहते वह ठीक स्वर्ग में जा पहुंचा! मुनि का यह परम दैवत देख, सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। पर थोड़ी देर पीछे त्रिशंकु फिर नीचे की ओर आने लगा। क्योंकि स्वर्गपति इन्द्र ने उसको चाण्डाल देह से स्वर्ग में बसने का अनधिकारी जान स्वर्ग में प्रविष्ट नहीं होने दिया।

· यह देख बड़े क्षोभ को प्राप्त हुए विश्वामित्र बोले—'तिष्ठ-तिष्ठ!! खड़ा रह, खड़ा रहा' यह कह आकाश ही में रोक दिया। फिर सब ऋषि मंडली के बीच में दक्षिण दिशा की ओर मुख करके अपनी बढ़ी हुई क्रोधाग्नि की ज्वालाओं से तमतमाने और कांपने लगे तथा हाथ में जल लेकर बोले—'हे ऋषिवरों! मैंने इस त्रिशंकु राजा को जो सदेह स्वर्ग पहुंचाने की प्रतिज्ञा की है उसको स्वर्गपति इन्द्र झूठा करना चाहता है, पर यह कैसे होगा? मेरी प्रतिज्ञा झूठी हो नहीं सकती इस लिये मैं अपने तपके पुण्यवल से दूसरा नया स्वर्ग रच कर उसमें इस त्रिशंकु को स्थापित करूंगा।' यह कह कर फिर उन्होंने आकाश की ओर देखकर कहा—'जैसे उत्तर की ओर इन्द्र के लिये उत्तर ध्रुव मंडल तथा उसके आसपास प्रदक्षिणा करने वाले सप्तर्षि मंडल तथा अन्य मंडल है वैसे ही इस दक्षिण दिशा में मेरे तप के पुण्य से दक्षिण ध्रुव और उसके आसपास भ्रमण करने वाले सप्तर्षि मण्डल उत्पन्न हो और उनके बीच में जाकर यह राजा त्रिशंकु उनका इन्द्र हो।'

भाई जीवन! तपस्वियों के मुकुटमणि महर्षि विश्वामित्र का तप का प्रभाव कितना बड़ा है, यह तू देख! इनके 'मंडल उत्पन्न हों' यह शब्द कहने के साथ ही उनके अपार तपोबल से दक्षिण की ओर आकाश में बड़े-बड़े तेजस्वी ध्रुवादिक मंडल प्रकट होने लगे और उनसे दक्षिण दिशा प्रकाशित होने लगी।

यह देख तत्काल इन्द्रादिक देवताओं ने आकर उनसे बड़ी प्रार्थना की कि 'महाराज! आपका तपोबल अपार है और आप उससे जो चाहे सो कर सकते हो, समर्थ हो, तथापि आप सरीखे महापुरुषों का चरित्र सब प्रजा को अनुकरण करने योग्य होता है, इस कारण जगत में धर्म का यथार्थ मार्ग दृढ़ करने के लिये वैसे पुरुष स्वयं सब कुछ करने की सामर्थ्य वाले होने पर भी श्रुति के आधार पितामह ब्रह्मदेव के स्थापित किए हुए सृष्टि नियमों से विरुद्ध चलते ही नहीं। श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं उसके अनुसार ही इतर लोग भी आचरण करते हैं। **'यद्यदाचरति श्रेष्ठतस्तत्त्दवेतरो जनः'** इसलिये आपको एक मात्र राजा त्रिशकु के लिये ब्रह्मदेव के स्थापित किये वेदविहित सृष्टिनियम का उल्लंघन करना योग्य नहीं; बल्कि हे मुनिवर! ऐसा करने से आपके अपने स्वार्थ में भी बड़ी क्षति होना संभव है। आपका अपना चिरकाल का महाकष्टार्जित तप इस अपुण्यवान राजा के निमित्त व्यर्थ चला जायगा। और आप ऋषिपन को प्राप्त हुए होने से सर्व प्रकार सनातन धर्म की ही रक्षा करने योग्य हो, इस कारण इस राजा को अकारण इतना बड़ा स्थान देने योग्य नहीं, क्योंकि इसका चरित्र जो आपको विदित हो तो इसकी सारी आयुष्य में ऐसा किंचित् ही कर्म होगा कि जो इसे उत्तर गति देने वाला हो।'

ऐसे इन्द्र के वचन सुन कुछ शान्त होकर विश्वामित्र बोले-हे मघवन्! यह बहुत ठीक, पर मेरी प्रतिज्ञा सफल होनी चाहिये।'

इन्द्र ने कहा–'वह बात ठीक है, परन्तु क्या इस चांडाल देह से ही इसे आप स्वर्ग को भेजोगे? इससे क्या अधिक फल होगा? कदाचित् यह सदेह स्वर्ग में जा बसे तो भी इसे स्वर्गसुख के लिये तो उलटा कष्ट ही होगा; आप विचार करो, कि जो मनुष्य इस मृत्युलोक में सबसे नीची चांडाल की पंक्ति में है और सबसे बहिष्कृत गिना हुआ है वह स्वर्ग-जहां उत्तम से उत्तम मनुष्य भी जो दिव्यदेहधारी नहीं हो अर्थात् मनुष्यदेह में हो तो नीचे से नीची पंक्ति के स्वर्गवासी के साथ रह सकने के भी योग्य नहीं गिना जाता, तो यह किसके साथ रह सकेगा? स्वर्ग में यह सबसे नीच में नीच तथा तुच्छ में तुच्छ गिना जायगा और वहां सबसे दूर तथा नीचे मुंह छिपाये सदा कष्टरूप ही रहना पड़ेगा तथा वह तो यहां की अपेक्षा भी महानरक के समान इसे दुःखदाई होगा। ऋषिदेव! मुझे तो आश्चर्य होता है कि यह राजा कैसा चंचलचित्त है कि जो अधम देह से ही स्वर्ग जाने की इच्छा करता है। इसका नाम त्रिशंकु है, इसी पर से आप विचार करो कि यह कैसा पापी है। त्रि (तीन) शंकु (पाप) इसमें तीन पाप है। ब्राह्मण की स्त्री का हरण, पिता का क्रोध तथा धेनु का नाश। ऐसे कर्म इसके हाथ से हुए हैं। इन तीनों पापों के कारण अवश्य यह चांडालपन के ही योग्य है तथापि आप सरीखे समर्थ पुरुष का इसने शरण लिया है, तो अपने महत्पुण्य से आप इसे निष्पाप तथा दिव्य देह वाला करके स्वर्ग में भेजिये, कि जिससे यह वहां जाकर सुख से निवास करे और आपका सदा यशोगान करे।' इस प्रकार अनेक रीति से समझाने पर विश्वामित्र ने दिव्य देह वाला करके त्रिशंकु को स्वर्ग में भेज अपनी महाकठिन प्रतिज्ञा सत्य की थी।"

"पुत्र जीवन!" उसके गुरु ने कहा–"इससे तेरी समझ में आया होगा कि एक मनुष्यदेहधारी प्राणी का बल कहां तक चलता है सो देख! जब मनुष्यपन इतना बड़ा श्रेष्ठ है तब देवता उसकी इच्छा करें इसमें क्या आश्चर्य?"

जीवन ने प्रार्थना की कि–"कृपानाथ! आपकी कृपा से मेरी समझ में भली-भांति आया कि मनुष्य योनि बड़े महत्त्व वाली है। पर इसके बाद विश्वामित्र ने क्या-क्या किया सो सुनने की मेरी इच्छा है! क्योंकि इतनी बड़ी सत्ता भी उनमें आई तब भी ब्रह्मर्षिपन तो उनको मिला ही नहीं, वह फिर उनको किस प्रकार मिला! और वसिष्ठ मुनि ने उनको ब्रह्मर्षि कहा कि नहीं?"

गुरुजी इसके आगे का विश्वामित्र चरित्र कहने लगे। वे बोले–जीवन! इन्द्र ने

आकर विश्वामित्र को समझाया। यहां तक तेरे ध्यान में होगा ही। 'धर्म के विरुद्ध वर्ताव से तपस्वी के तप में हानि होती है।' तदनुसार त्रिशंकु को स्वर्ग भेजने के संबंध से मुनि का बहुत सा तप क्षीण हो गया। क्रोध करने से पाप या दुराचरण करने से और पुण्य भोगने से तप क्षीण होता है। जैसे भंडार में इकट्ठा कर रखा हुआ द्रव्य जो बिना विवेक के खर्च किया जाय तो वह थोड़े समय में समाप्त हो जाता है और यदि विवेक के साथ उसका सदुपयोग किया जाय तो घटने के बदले उलटा बढ़ता है। ऐसे ही तप रूप धन को भी समझना। तप क्षीण होने से विश्वामित्र को खेद हुआ और वह अपने आश्रम को छोड़ उत्तर दिशा की ओर चले और पवित्र पुष्कर क्षेत्र में जाकर कठिन तप करने लगे। ऐसे बहुत समय में फिर तपरूप धन उन्होंने एकत्र किया। इस अतुल तप के प्रभाव से उनकी कीर्ति दिगंत तक फैल गई। यज्ञादिक सब कर्मों में तथा ब्रह्मसभाओं में तथा ऐसे ही सब स्थलों से उनके लिये मुख्य निमंत्रण आता था और सब कोई उनको ब्रह्मर्षि की भांति ही देखते थे। परन्तु वसिष्ठ मुनि तो अब भी उन्हें जब-जब मिलते थे तब-तब राजर्षि कहकर ही बुलाते थे, इस कारण उनके मन में बड़ी जलन होती थी। वसिष्ठ मुनि का यह कर्म अब उन्हें सहन नहीं हुआ और उनकी क्रोधाग्नि प्रलयाग्नि के समान बढ़ी और उसके आवेश में अन्त में उन्होंने उन वसिष्ठ को अपना रिपु* तथा द्वेष्टा† जानकर उनका घात करने का निश्चय किया। इसके लिए वे अवसर देखते रहे। क्योंकि सावधानपने में तो इन महामुनि का घात किसी प्रकार कर ही नहीं सकते थे। पहले अनेक बार बड़ी-बड़ी सेना लेकर वे युद्ध के लिये गये थे और तपश्चर्या से संपादित किये सर्व शास्त्रास्त्रों का भी उपयोग किया था, पर वह सब व्यर्थ गया था, इसलिये इन ‡अजित महात्मा का असावधानपने में घात करने का दाव देखते थे।

क्रोध यह दुष्ट राक्षस है। क्रोध यह बड़ा क्रूर तथा पापी शत्रु है। जब यह बढ़ता है तब बड़ा अनर्थ= करने में तत्पर हो जाता है। पहले मैंने जीव की सेना के वर्णन में बताया है वह तुझे याद होगा ही, कि जीवरूप राजा जो अपने काम क्रोधादिक कारबारिओं के वश हो जाता है, तो वह कारबारी स्वतंत्र होकर अंत में उसका नाश कर डालते हैं। उसका यह उदाहरण है। इस समय मुनिपन को पाये हुए तथा महातपस्वी होकर भी विश्वामित्र का जीवात्मा, सारासार विवेकरूप सत्सभासद के विचार के अधीन न रहकर क्रोध द्वेषादि

---

* रिपु-शत्रु। † द्वेष्टा-द्वेष करने वाला। ‡अजित-जो जीता न जाय।

= Anger is like a falling Building. which breaks itself to pieces upon that which it fall upon.-(Bacon)

सैनिकों के वश होकर कैसा अनर्थ करने को तत्पर हुआ है उसे तू देख! जिस ब्रह्मत्व-जिस ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये ऐसे महासमर्थ विश्वामित्र सरीखे महापुरुष को भी, अभी इतना बड़ा काल बीत जाने पर भी छटपटाना पड़ रहा है, वह ब्रंह्मज्ञान कितना अमूल्य होगा, सो तू विचार कर! ऐसे अमूल्य ब्रह्मज्ञान को जिसने अनेक जन्मों के अपार पुण्यसंचय से संपादित किया होगा, वह पवित्र प्राणी इस सर्वेश्वर परब्रह्म परमात्मा को कितना बड़ा प्रिय होगा, इसका अनुमान कर देख! ऐसे ब्रह्मप्रिय-परमात्मप्रिय ब्राह्मण का घात करने वाला प्राणी कितना पापी गिना जाय! वह इस स्वयं परब्रह्म परमात्मा का ही बड़े से बड़ा द्वेषी हो और उससे उस कृपालु के कठिन से कठिन शासन का पात्र हो। ऐसा ब्रह्मघातक तो इस लोक तथा परलोक में सर्वत्र नीच तथा त्याग करने योग्य गिना जाता है। अरे! ऐसे सर्वांग ब्रह्मत्व को प्राप्त ब्राह्मण का घात करने रूप दुष्ट कर्म, यही ब्रह्म हत्या रूप इस जगत में माना जाता है और इससे मनुष्य प्राणी तो क्या, बल्कि बड़े-बड़े इन्द्रादिक देवता तथा विष्णु रुद्रादिक भी भय पाकर दूर भागते फिरते हैं। ऐसे घोर ब्रह्महत्या करने का इन विश्वामित्र मुनिराज ने क्रोध तथा द्वेष के वश होकर निश्चय किया, क्रूर राक्षस, क्रूर से भी क्रूर है। उस पर भी जब ईर्ष्या या द्वेष उसका मित्र मिल गया। तब तो अत्यन्त विपरीत गति को ही पहुँचाता है।

बहुत दिन तक देखते देखते एक बार रात्रि को इन महामुनि के आश्रम में प्रवेश करने का विश्वामित्र को अवसर मिला। अतिशय सुन्दर तथा सघन ऐसे नव पल्लवित अनेक जाति वृक्षों से सुशोभित उस आश्रम में अति विशाल तथा परम आनन्द का स्थान था। संसार के उत्तमोत्तम उद्यानशास्त्र के* ज्ञाता मालियों के हाथ से बनाया हुआ तथा सम्हाला हुआ बड़े-बड़े राजाओं का बाग तथा सुन्दर वाटिका कि जिनमें अतीव सुन्दर आराम देने वाली रचनाएं की गयी हों, उनकी अपेक्षा भी इस महामुनि के आश्रम की शोभा कुछ अद्‌भुत ही थी। देवताओं का नंदनवन भी इसके आगे झख मारता था। इसका कारण यह कि इन सारे वन तथा अरण्यों में सृष्टिलीला मात्र की उत्तमोत्तम शोभा ही होती है। परन्तु इस आश्रम में तो इस समस्त शोभा के सिवाय अद्‌भुत ब्रह्मप्रभा की [illegible] उसमें सारे वृक्ष, लताएं, कुंजे, स्तबक (गुच्छे), वल्लरी आदि मानों आगन्तुक ज्ञानी पुरुष का ज्ञानप्रकाश बढ़ाने वाली और अज्ञानी पुरुष के अज्ञानांधकार

* उद्यानशास्त्र—वृक्ष, वाडी, बगीचे की विद्या।

का नाश करने वाली थी। ऐसे पवित्र आश्रम के मध्य में महामुनि वसिष्ठजी की पर्णशालायें थी। सब पर्णशालाओं में यज्ञशाला बड़ी विशाल थी। उसमें गार्हपत्यादि तीन अग्नि* पृथक्-पृथक् कुंडों में विराजमान थे। पूर्व में श्रीमती कामदुघा का स्थान था। पश्चिम में जलस्थान था। दक्षिण दिशा में दर्भ समिधादि के संचय का स्थान था। उसी के समीप दूसरी एक पर्णशाला शयन स्थान के लिये थी, आग्नेय कोण में पाकशाला थी। उत्तर दिशा में पाठशाला थी और अन्य दिशाओं में चारों ओर बैठने उठने तथा विद्यार्थियों के, पठन-पाठन, मनन आदिक की पर्णशालाएं बनी हुई थीं। इसके पश्चात् इन महामुनि के अनेक असंख्य शिष्यादिकों के लिये भी आश्रम में जुदे-जुदे स्थानों पर पर्णशालाएं बनी हुई थी। आधी रात तक कई एक शिष्य अपने गुरु महामुनि वसिष्ठजी की परिचर्या में रहते और समय होने पर गुरुजी की आज्ञा पाय, उनको वंदन कर करके अपनी-अपनी पर्णशाला में सोने को चले जाते तब महामुनि वसिष्ठजी भी अपने शयनस्थान पर आकर ध्यानस्थ अवस्था में ब्रह्मानन्द का सुख अनुभव करते थे।

ऐसे ब्रह्मधामरूप आश्रम में गुप्त रीति से, रात्रि के समय सबके शान्त हो जाने पर क्रोधाविष्ट कृपण विश्वामित्र मुनि फिरते-फिरते ठीक वसिष्ठ मुनि की शयनशाला के पास आ पहुंचे। अंदर की बातचीत सुनकर उन्होंने निश्चय जान लिया कि 'यही वसिष्ठ जी का शयन स्थान है तथा इसी में शयन के लिये वसिष्ठजी आये भी हैं। जब ये बेहोश सो जायँ तभी मैं अपना कृपण कार्य करूं।' यह विचार कर ये उस शयनशाला के पीछे अपने शस्त्र ले श्वास रोक कर बैठे। शरदऋतु थी, पूर्णिमा का दिन था। मध्यरात्रि का चंद्र लगभग मस्तक पर आने लगा था, इस कारण कोई मुझे देख न ले। इस शंका से उन्होंने पर्णशालाा के पास लगे हुए एक भारी गुच्छे में अपना शरीर छिपा लिया था। वे थोड़ी ही देर बैठे थे कि इतने में अंदर से कुछ बातचीत होने का शब्द सुनाई पड़ा। उनका मन खिन्न हुआ कि आज का मेरा परिश्रम व्यर्थ जान पड़ता है, क्योंकि अन्दर कोई दूसरा मनुष्य भी वसिष्ठ जी के पास है, इससे मेरा कार्य सिद्ध न हो सकेगा, भला देंखे क्या होता है; यह विचार कर एकाग्र चित्त से कान लगाकर बैठे। शयनमन्दिर में से कुछ मंद, मधुर तथा सुकोमल शब्द सुन पड़ा कि—'कृपानाथ! अब एक क्षणभर इस दासी को चरण सेवा की आज्ञा दीजियेगा?' इसके उत्तर स्वरूप यह वाक्य सुन पड़ा कि 'साध्वी! अब बहुत

---

* तीन अग्नि—गार्हपत्य, 2 आहवनीय, 3 दक्षिणाग्नि।

समय हो गया, तूने बहुत काल तक मेरी सेवा की है और इससे मैं अत्यन्न प्रसन्न हूं। तेरा कल्याण हो! तुझ सी स्त्री तो सारे संसार में कल्याणरूप है, तेरी भी उत्तर अवस्था है, अब तुझे चरण सेवा से क्या प्रयोजन?'

यह संवाद सुन विश्वामित्र ने समझा कि यह तो महासती अरुधंती है। पर इतनी अवस्था पहुंचने पर भी साध्वी अभी अपने स्वामी के चरण सेवन की अभिलाषा करती है। यह कितना प्रशंसनीय तथा संसार की स्त्रियों को शिक्षणीय है। धन्य है ऐसी सतियों को!

इतने में महासती फिर बोली—स्वामीनाथ! ऐसा क्यों? इस दासी को तो आपके चरणारविंद की सेवा से अधिक कल्याणकारी कोई कार्य नहीं। प्रभो! आप मुझे जो साध्वी, सती इत्यादि संबोधनों से बुलाते हैं, वह सब आपके चरणारविंद की सेवा का ही प्रताप है। कृपानाथ स्त्री स्वभाव से ही महाभ्रष्ट, नीच तथा मायामयी अज्ञानमूर्ति है। उसे ऐसी दशा को पहुँचाने वाली तो एक आप कृपालु के चरणारविंद की पुण्यरूप सेवा ही है। कृपानाथ! आपने मुझसे पूर्व कहा है कि जहांतक मनुष्य प्राणी को अन्नपानादिक ग्रहण करना आदि शारीरिक क्रिया चलती है, वहां तक उसे शरीर धर्म भी अवश्य पालना चाहिये। मेरी वह क्रियाएं अभी अटकी नहीं तब तक मुझे आपकी सेवा रूप धर्म अवश्य कर्तव्य है। सेवक अपने सेव्य की सेवा करता है तभी उससे 'प्रसादस्तु प्रसन्नता' प्रसाद पाता है। वैसे ही मैं भी यथाशक्ति आपकी सेवा करूंगी तो मुझे भी कुछ कल्याण वार्तारूप आपके पास से प्रसाद मिलेगा। इस वार्ता विनोद से प्रसन्न हुए वसिष्ठ मुनि से आज्ञा पाकर सती अरुंधती प्रेम से चरणसेवा करने लगी।

थोड़ी देर पीछे मुनिवर बोले—'हे श्रेष्ठ तपस्विनी! अब बड़ी देर हुई, तू थक गई होगी इसलिये समाप्त कर।'

सती ने कहा—'प्रभो! मैं ऐसा क्या तप करती हूं कि आपने मुझे तपस्विनी कहा, तिसपर भी बड़ी श्रेष्ठ तपस्विनी!'

मुनिवर बोले—'अहो क्यों नहीं! स्त्री की अपने स्वामी की सेवा से बढ़कर दूसरा अधिक तप क्या है? जो शिष्य अपने गुरु की अन्तःकरण पूर्वक सेवा करता है, तथा जो पुत्र अपने माता पिता की सत्संकल्पपूर्वक प्रेम से सेवा करता है, तथा जो स्त्री अपने स्वामी की प्रेम से परिचर्या करती है वे सब बड़े तपस्वी ही हैं। इस वर्तमान समय में तो स्वामी का सेवन करने वाली वर्तमान स्त्रियों में तू श्रेष्ठ है। इसी से मैंने तुझे श्रेष्ठ तपस्विनी कहा है। इस समय मुझे दो ही श्रेष्ठ तपस्वी मालूम पड़ते हैं।

स्त्रियों में तू और पुरुषों में मुनिवर विश्वामित्र! तूने मेरी परिचर्यारूप तप किया है तथा विश्वामित्र ने तो जिसकी तुलना ही न हो सके ऐसा महातीव्र तप ब्रह्मत्वप्राप्त्यर्थ किया है। विश्वामित्र के समान तपस्वी तो विश्वामित्र है!'

यह सुन अरुधंती बोली—'कृपानाथ! पूर्व आपके जो अतिथि हुए थे, और फिर आपकी कामधेनु हरण करते थे वही विश्वामित्र! अहो इनकी तो मैंने आपके मुख से अनेक बार प्रशंसा सुनी है। पर मुनि स्वामीनाथ! इन मुनि का नाम सुनते ही मेरे हृदय में तो बड़ा दाह होता है, कि अरे! यह ऐसे बड़े तपस्वी होकर तथा ब्रह्मत्वप्राप्ति के लिये महान् प्रयत्न कर चुकने पर भी इन्होंने मुझ अबला के भाग्य पर बड़ा क्रूर प्रहार किया है। कुछ भी दया न करके मेरे सौ पुत्रों का एक दुष्ट राक्षस द्वारा नाश करवा डाला। एक सत्कर्म करने वाले ब्राह्मण के सौ-सौ पुत्रों को मारकर समूल वंशनाश करना, यह कर्म क्या इन महातपस्वी को छाजता है? नाथ! इन बातों का स्मरण होते ही मेरे हृदय को अपार क्लेश होता है।'

ऐसा कहते-कहते सती का कंठावरोध हो गया और नेत्रों में जल भर आया। यह देख मुनिवर वसिष्ठ उसका आश्वासन करते हुए बोले—सति! यह क्या करती हो। तुम सरीखों को ऐसा करना योग्य नहीं। किसका पुत्र और किसका पिता! 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' अर्थात् जन्म लेने वाले की अवश्य मृत्यु होती है। संसार में जन्मा हुआ कोई भी प्राणी सर्वकाल रहता नहीं, यदि जन्मे हुए प्राणी मरते न होते तो फिर यह भूमितल जो पचास कोटि योजन विस्तार का है उस पर समाते भी कहां? इस सृष्टि का नियम ही ऐसा है कि इसमें नये-नये प्राणी उत्पन्न होते जाते हैं और पुराने लय होते जाते हैं। बीज पड़ता है, उगता है, वृक्ष होता है, फूलता है, फलता है तथा उसमें से फिर नया बीज उत्पन्न होता है, फिर पुराने वृक्ष के लय होने का समय आ जाता है, सति! ऐसे ही कभी-कभी वृक्ष के फल तथा बीज का भी अपने माता पिता रूप वृक्ष से पहले ही नाश हो जाता है, कितने ही फल कच्चे ही रोग लग जाने से गिर पड़ते हैं, कितने की कुम्हिला (मुर्झा) जाते हैं, कितनों को पक्षी खा जाते हैं, कितनों को मनुष्य तोड़ ले जाते हैं, इस प्रकार तो कुछ बचकर पकने पाये, तो उनका भी मनुष्य आदि के भक्षण द्वारा अंत में नाश ही होता है। कदाचित् कोई फल किसी के भक्षण से बच गया हो तो फिर पृथ्वी में बोने पर भी उसका नाश ही होता है। अथवा वहां पर अंकुररूप पुनर्जन्म होता है। सति! इसी प्रकार मनुष्य प्राणियों की भी मृत्यु हुए पीछे पुनर्जन्म होनारूप उग निकलना नियत ही होता है। क्योंकि **'ध्रुवं जन्म मृतस्य च'** इस प्रकार मरे हुए को फिर जन्म लेना पड़ता है ऐसा स्रष्टा का और सृष्टि का नियम है। यह सृष्टि नियम अनिवार्य है, अटल है; किसी से टल नहीं सकता,

तिसपर भी तुझसे ज्ञानी मनुष्यों को-अनुभव सहित यह भेद जानने वाले जन को इस विषय में क्लेश या शोक होना क्यों संभवे!;

यह सुन सती अरुंधती विनयसह बोली–'कृपानाथ! आपने जो-जो कहा वह सब यथार्थ है, पहले भी आपके द्वारा मैंने यही सुना है, तथापि उसमें क्लेश होने का सबल कारण आपसे अज्ञात नहीं। प्रभो! आपने जैसे यह कहा कि **'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च'** इस संसार में पैदा हुआ अवश्य मरता है और मरा हुआ अवश्य जन्मता है, वैसे ही आपने यह भी कहा है कि **'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः'** अर्थात् ज्ञान के द्वारा धुल गये हैं पाप जिनके, ऐसे पवित्र पुरुष जहां से कभी पीछे न लौटना पड़े ऐसे स्थान को प्राप्त होते हैं। स्वामीनाथ! यह संसार आपने परम क्लेशकारी-दुःखमय कहा है और इससे उसमें बारंबार जन्म लेकर उसके दुःखों का बार-बार अनुभव न लेना पड़े इसके लिये मनुष्य प्राणी को जन्म भर बड़े यत्न से ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। वह ज्ञान भी अधिकार हुए बिना प्राप्त नहीं होता। अनेक जन्मों के किये हुए पुरुषार्थ का समूह बढ़े तब उत्तम अधिकार प्राप्त होता है। ऐसे अधिकार को पाया हुआ मनुष्यप्राणी आप सरीखें सद्गुरु के सदुपदेश द्वारा परमात्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है। हे नाथ! ऐसे दुर्लभ ज्ञान की प्राप्ति के लिये अन्य सब मनुष्यों की अपेक्षा ब्रह्मतेजस्वी जीव तो जन्म से ही अधिकारसंपन्न है। उसमें भी आप सरीखे महात्मा के यहां जन्म, यह तो ज्ञानप्राप्ति की साक्षात् अभिसंधिका ही समय है। हे कृपालो! आपके यहां जन्म लेने से उत्तमोत्तम अधिकार पाये हुए तथा ब्रह्मप्राप्ति की अभिसंधि पर आ पहुंचे ऐसे मेरे पुत्र अनेक जन्म तथा बहुत-बहुत पुरुषार्थद्वारा प्राप्त होने वाले सर्वोत्तम तथा अलभ्य लाभों को गंवाय, महादुःखयुक्त अंधकाररूप मृत्यु के वश हुए; इससे क्या मुझे क्लेश न हो? उनका मरण हुआ, इतना ही नहीं, बल्कि असमय में तथा अपवित्र ऐसे राक्षस के हाथ से मरण को प्राप्त हुए, इससे मुझे अपार शोक और दाह होता है। क्योंकि ऐसी मृत्यु-अपमृत्यु अधोगति देनेवाली है। आप सरीखे महान पुरुष के यहां जन्मे प्राणी की अधोगति होना यह क्या थोड़ा खेदकारक है? ऐसा कृपण कर्म और वह भी बुद्धिपूर्वक करने तथा कराने वाले की क्या गति होगी? अच्छा! आप भले ही इन विश्वामित्र मुनि के अथाह तप की बारंबार प्रशंसा करो-अवश्य वह वीररत्न प्रशंसा योग्य भी है, तथापि ऐसा गर्हित कर्म उनके चरित्र में बड़ा दूषणरूप ही है और बहुत

समय तक ऐसा ही दूषित रहेगा; और आपने सब बात में समर्थ होकर इनके ऐसे बड़े अपराध के बदले में इनको कुछ भी शासन* नहीं किया और न शिष्योंद्वारा कराया, यह मुझे रुचता नहीं!'

सती का ऐसा प्रमाणयुक्त वचन सुन महामुनि बोले—'प्रिये! तू खेद मत कर। कल्याण के मार्ग पर चलने वाले तथा सत्कर्माचरण करनेवाले प्राणी की कभी दुर्गति† नहीं होती। तुम्हारे पुत्रों ने यद्यपि अकाल मृत्यु पाई है, तथापि वे कर्मयोग के अभ्यासी होने से योगभ्रष्टों की गति को पावेंगे, इसमें लेशमात्र भी शंका नहीं। 'शुचीनां श्रीमतां गेहेयोगभ्रष्टोऽभिजायते' योगभष्ट आत्मा पवित्र तथा श्रीमान के यहां अथवा महाबुद्धिमान् योगीयों के यहां जन्म लेता है। वहां अपने पूर्व के अभ्यास का स्फुरण पाकर अधूरे योग को पूरा करने का प्रयत्न करता है। इसलिये हे सति! अपने पुत्रों के संबंध में खेद का कोई कारण नहीं परन्तु इससे अधिकतर खेद तो मुझे उन मुनिवर विश्वामित्र के संबंध में होता है-क्योंकि अनंत काल तक अत्यंत परिश्रम सहकर इकट्ठा किया हुआ महान तप इन श्रेष्ठ मुनि ने ऐसे-ऐसे दूषित कर्मों से सहज में क्षीण कर डाला। सति! ब्रह्म तेजस्वी पुरुष का घात करना या कराना इसके समान दूसरा कोई महापातक नहीं, तिस पर भी मिथ्या द्वेष से ऐसे-ऐसे ब्रह्मतेजस्वी-ब्रह्मपरायण जीवों का नाश कराया, इस पाप की तो गणना ही नहीं हो सकती। इस पाप से उनका बहुत कालका बड़ा तप नष्ट हुआ है। तो हे सुव्रते! इससे अधिक दूसरा शासन क्या हो? कौन किसको शासन अथवा शिक्षा करने को समर्थ है? सो मुझसे कहो! अपने-अपने कर्म की प्राणी को उसका फलरूप शासन करते हैं। मुनीश्वर विश्वामित्र ने जैसे द्वेष से उन्मत्त हो ऐसा अनर्थ किया, उसके बदले में उनके अपार पुण्य की हानि हुई, तब क्या वैसे ही इनको शासन करने रूप उद्योग करके हम भी अपने तप की हानि कर लें?!! हमारे पुत्रों का नाश होना यह इस शरीर की बड़ी से बड़ी हानि हुई है; उपरान्त इससे भी अधिक विशेष हानि अपने ही स्वार्थ में करनी, ऐसी मूर्खता मैं किस लिये करूं? ब्रह्मपरायण जीव का धर्म—'क्षमा' है। ऐसे ब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ जीव अन्य का शासन करके क्षमा का त्याग तथा कंटकरूप क्रोध को अंगीकार करे, क्या यह उचित कर्म है, अपनी हानि करनेवाले का हानि करनेवाला मनुष्य द्विगुण मूर्ख है। एक तो अपनी हानि हुई है, उसे सुधार नहीं सकता और दूसरे की हानि करना चाहता है, इससे अपना और शत्रु दोनों का बिगाड़ करता है, यह बात उसके ध्यान में नहीं आती।

इतना कहकर महामुनि फिर बोले—"हे सुशीले! सुन मुनीश्वर का चरित्र और चारित्र्य! त्रिशंकु नामके अनधिकारी राजा को स्वर्ग भेजने में भी मुनिश्रेष्ठ

---

* शासन-दंड।

† नहि कल्याणकृत्कर्दुगतिं तात गच्छति।

ने अपने पुण्यरूपी तप कुसुम को कुचल डाला है तथा मेरे प्रति द्वेष के कारण पुण्यवान् हरिश्चन्द्र राजा का सत्य डिगाने में भी उनका बहुत सा तप दब गया है। मेनका अप्सरा के साथ विहार करने में हजारों वर्ष का तप नष्ट हुआ है। यह सब अज्ञान का तथा क्षत्रियपने की राजसी प्रकृति का ही लक्षण है। ब्रह्मत्व प्राप्ति के लिये इन्होंने अत्यन्त तप किया है और देवताओं ने भी इनके महान् परिश्रम को देख महर्षि कहा है सो ठीक है, तथापि अभी उन्हें सत्यसिद्ध ब्रह्मत्व मिला नहीं–यह सब जो मैं कहता हूं, उसका कारण यही है कि उनकी राजसी प्रकृति बदल कर, शुद्ध सात्त्विक भाव अभी प्रकट नहीं हुआ। अक्रोध, वैराग्य, जितेन्द्रियपन, नम्रता, क्षमा, दया, क्षान्ति, समता, अमात्सर्य* इत्यादि ब्रह्मत्व के भूषण यद्यपि अभी उनमें प्रकट तथा प्रकाशित नहीं हुए, तथापि इसकी कुछ चिन्ता नहीं, उनकी अभिलाषा उच्चतर है। अन्य कुछ भी कामना नहीं, केवल ब्रह्मत्व प्राप्ति की कामना ही से उन्होंने अपार तपोधन † संचित किया है इससे परिणाम में इन श्रेष्ठ जीव का अन्तःकरण शुद्ध सात्त्विक तथा अधिकारी होकर उन्हें सत्य वस्तु की प्राप्ति अवश्य होगी। चलो, समाप्त करो। सति! अब रात्रि बहुत व्यतीत हुई है, उषाःकाल से पूर्व उठा नहीं जायगा तो प्रातःकाल का होम का समय चूक जायंगे।"

यह कह सतीशिरोमणि को सोने की आज्ञा देकर, रात्रि कितनी गई है यह देखने के लिये महामुनि वसिष्ठ पर्णशाला के बाहर आये। पूर्णिमा का पूर्ण चंद्रमा स्वच्छ निरभ्र आकाश में ठीक मस्तक पर आ गया था। सारे वन में, आश्रम में, भूमि पर और आकाश में सर्वत्र स्वच्छ शुभ्र तथा शीतल प्रकाश छा रहा था, पशु, पक्षी, मनुष्यादि सब प्राणी निद्रावश थे। सर्वत्र शान्ति‡ हो रही थी। इस समय एकान्त स्थिति के प्रेमी तथा निवृत्ति के मार्ग के अनुयायी ऐसे महात्मा को तो अनायास ही ब्रह्मसुख का अनुभव हो–ऐसा था। ब्रह्मपुत्र महात्मा वसिष्ठ मुनि, ऐसी सर्वत्र सुप्रकाशितपने से व्याप्त, रौप्यमयी चन्द्रछटा देखकर बहुत ही आनंदित हुए और उसके आवेश में बोल उठे–'अहा सति! आज की रात्रि कैसी खिल रही है! इस सुप्रकाश को मैं किसकी उपमा दूं? बिल्कुल ठीक, दूसरा कोई नहीं, पर मुनिवर विश्वामित्र तथा उनका अप्रतिम तप ही इसके तुल्य है। जैसे उन मुनिवर की अतुल तप की विमल कीर्ति सर्वत्र प्रकाशित हो रही है, वैसे ही आज शरद रात्रि भी प्रकाश रही है। सुशीले! इस चन्द्रमण्डल के अधिपति महात्मा सोम के विषे भी ऐसी सुप्रभा, इन मुनिवर विश्वामित्र की तरह उसके किये हुए अपार तप

---

* अमात्सर्य–द्वेषरहितपन। † तपोधन–तपरूपी धन। ‡ शांति–सुनसान, सन्नाटा।

की ही महिमा है। देवताओं के कोटयवधि वर्षपर्यंत परब्रह्म नारायण की आराधना करने रूप अपने महान् तप से यह चन्द्रमण्डल का पति तथा सब नक्षत्र गणों का, वैसे ही पितरों का राजा* हुआ है। वैसे ही महान् तप रूप परब्रह्म परमात्मा की उपासना करने वाले मुनि विश्वामित्र भी परिणाम में आकाश के विषे प्रकाशते हुए सप्तर्षिमंडल में जाकर विराजेंगे।"

"प्रिय जीवन!" उसके गुरुजी बोले—"ब्राह्मणपन के उत्तमोत्तम गुणों का अवलोकन कर! ऐसे अद्भुत गुणों से सारा त्रैलोक्य वश में क्यों न हो? जिसने अपना आतिथ्य करने के बदले में, बन सके उतनी सेवा करने के बदले उलटा कामधेनु का हरण किया। वहां से पराजय पाकर, अपने साथ अमित सैन्यसमूह लेकर युद्ध में आ—अपने लिये अत्यन्त विडम्बनाएं दी, अनेक बार जिसने अस्त्र-शस्त्र की वृष्टि की, जिसने सौ पुत्र मरवा करके निर्वंश कर दिया। सारे संसार में स्वयं जो किसी का द्वेषी नहीं तथा जगत में कोई भी जिसका द्वेषी नहीं, ऐसे सर्व भूतों के परम अद्वेष्टा के साथ जिसने महान् क्लेशकारक द्वेष पैदा किया तथा ऐसी अनेक बिडम्बनाएं करते हुए अन्त में स्वयं उसका घात करने की संधि, जो जीव ताड़ रहा था, उसके संबंध में भी इन महामुनि वसिष्ठजी के मन में कुछ भी द्वेष न होकर कैसी शुद्ध भावना भी, यह तूने देखा। यह शुद्ध भावना भी पीठ पीछे, परोक्ष में यह नहीं कि किसी के आगे अथवा किसी को भला लगाने के लिये दर्शाई हो। ऐसे अद्भुत तथा महान् गुणों से वह महात्मा सारे संसार का सुहृद्, मित्र तथा कल्याण करने वाला है। ऐसे पुण्यपुरुष के सहज संबंध में आने वाला प्राणी भी जो कि महाक्रूर और भयंकर हो, तो भी सौम्य और शांत हो जाता है, निर्दय और घातकी होने पर भी परम दयालु और अहिंसक हो जाता है, क्रोधी हो वह अक्रोधी बन जाता है, पापी हो वह पवित्र हो जाता है, शत्रु हो वह सखा हो जाता है, अज्ञानी हो वह ज्ञानी हो जाता है। जड़ वह चेतन बन जाता है, शासक सेवक बन सेवा करने लगता है। ऐसा ही मुनि विश्वामित्र के संबंध में बना। वे पर्णशाला के पीछे जाकर पिछे, उस समय से इस ब्रह्मीभूत दंपती का पुण्यरूप संवाद एकाग्र चित्त से श्रवण कर, जड़ की भांति खड़े रहे थे। यह संवाद सुनते-सुनते ही, जैसे दीपक प्रज्वलित होते ही कोठरी का अंधेरा दूर हो जाता है और उसमें बैठा हुआ विषधर सर्प फुतकार मारता हुआ तथा जीभ लपकाता हुआ प्रत्यक्ष दिखायी पड़ता है, वैसे ही हृदय के अज्ञानादिक आवरण तत्काल दूर होकर

* सोमपा।

उसमें भरा हुआ अकारण क्रोध तथा द्वेषरूप दो मुख वाला फणिधर उन्होंने देखा और उन्हें बड़े आश्चर्य के साथ स्पष्ट रूप से दिखायी दिया कि, 'यह दुष्ट ही मेरा महाअनिष्ट कर रहा है। शिव! शिव!! इस कृपण ही ने मेरे हाथ से अकारण अनेक अनर्थ कराये हैं। शिव! शिव!! इसी ने मुझे ब्रह्मत्वरूप अलभ्य लाभ से आज पर्यंत अति दूर रखा है और जहां-तहां भर्माया है। अरेरे! ऐसे ब्रह्मरूप, सचराचर के सखा तथा सबके कल्याणदाता विश्वहितैषी महर्षि के साथ मिथ्या द्वेष! अरे! महा अकल्याणकारक अधम द्वेष!! इस गुप्त घर करके बसे हुए दुष्ट ही ने कराया है। रे! मित्रवत् होकर घर में आकर रहे हुए शत्रु की तरह इस दुष्ट ने तो मेरे हृदय में रह कर बड़े से बड़े शत्रु का काम किया है। अहो! इन महर्षिवर्य के इतने परोक्ष और क्षणभर के समागम से मेरा हृदय खुला, खिला; प्रकाशित हुआ तथा वह दुष्ट मुझे प्रत्यक्ष दिखायी दिया! यह अहोभाग्य तथा सत्ससमागम का महाप्रताप ही है। नहीं तो यह दुष्ट प्रबल होकर परिणाम में मेरा अवश्य नाश करता!!!'

इस प्रकार जैसे कोई भरपूर नींद में सोता हुआ मनुष्य अपने किसी हितेच्छु की समयोचित सूचना से एकाएक जाग्रत हो जाय तथा स्वयं सचमुच भंयकर स्थिति में है यह जानकर तत्काल सावधान बन जाय और उसमें से शीघ्रतापूर्वक अलग हट जाय, उसी तरह विश्वामित्र मुनि अपने अज्ञानांधकारपन में से जाग्रत हो गये। स्वयं कैसा बड़ा अनर्थ करने को तत्पर हुए थे और जिनके पास से प्रसाद मिलने योग्य है, ऐसे महापुरुष के साथ स्वयं कैसा अयोग्य वर्ताव चलाया थाः यह सब प्रत्यक्ष देखकर उन्हें अत्यन्त लज्जा और ग्लानि उत्पन्न हुई। मुनिधर्म से विपरीत ब्रह्मर्षि पद की प्राप्ति के अभिलाषी जीव की अति क्लेशकारिणी अधोगति को पाने वाली स्थिति का प्रत्यक्ष दर्शन होते ही, अपनी अविचारता को मन के साथ अतिशय धिक्कार देते हुए वह विश्वामित्र तत्काल वृक्षगुच्छ में से बाहर निकल आये तथा द्रवित हृदय, गद्‌गद कंठ, सजल नयन, प्रबल प्रेम और विशुद्ध मन से दौड़ कर महर्षि वसिष्ठजी के निर्मल चरणारविंद पर जा गिरे। इस समय के अद्‌भुत प्रसंग का मैं क्या वर्णन करूं!' इस निर्मल, एकान्त और शान्त रात्रि में एकाएक यह कौन?!' ऐसे आश्चर्य के साथ वसिष्ठ मुनि ने नीचे झुक कर देखा तो अभी जिसकी प्रशंसा करते थे, वहीं विश्वामित्र मुनिः परम नम्र, निर्मानी, निर्द्वन्द तथा शरणागत हो अपने चरणों में पड़े हुए हैं।

फिर बड़े सानन्दाश्चर्य से वह महर्षि बोले–"अहो! मुनि विश्वामित्रजी!!

इस समय तुम यहां कहां? उठो : उठो! तुम्हारा शुभागमन अकस्मात् क्यों हुआ है? खेद मत करो! तुम मुझे बहुत प्रिय हो, तुम्हारा कल्याण हो!!!"

पर विश्वामित्र ने तो दोनों भुजाओं से वसिष्ठजी से चरणों को दृढ़ आलिंगन कर पड़े हुए थे। उनके नेत्रों से अस्खलित बहता हुआ अश्रुप्रवाह दोनों चरणों का प्रक्षालन कर रहा था। कई बार बुलाने पर भी मुख से कुछ शब्द न निकला। अन्त में गद्गद कंठ व अति नम्रपने से उन्होंने कहा—"हे ब्रह्मन्! यह अपराधी आपके साथ बात करने योग्य नहीं है। क्षमामूर्ते! मैंने क्षमा न करने योग्य अनेक अपराध आपके साथ किये, पर आपने उन अपराधों की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया है। धन्य है आपकी सर्वोत्तम शांति, क्षांति को!! हे भगवन्! इतना होने पर भी आपके ऐसे अतुल प्रभावों को मुझ मूर्ख ने न जानकर बार-बार आपसे ईर्ष्या तथा बिड़म्बना ही की है, यही नहीं, बल्कि इसके उपरान्त मैं महादुष्ट आज एक ऐसा बड़ा अन्याय करने को उद्यत हुआ था कि जो आपके आगे प्रकट करने में भी मुझे बड़ी लज्जा उत्पन्न होती है। हे प्रभो! द्वेषादिक दुर्गुणों के कारण अधमता में लीन रहने वाला यह नराधम, आपको कैसे मुख दिखावे?! आपके प्रताप से ब्रह्मत्व का सच्चा तत्त्व, अब मेरी समझ में आया और वह केवल तप मात्र से ही नहीं, बल्कि आप सरीखे अद्भुत सौजन्यादिक ईश्वरी गुणों से ही प्राप्त होता है : यह भी मैंने आपकी कृपा से समझा है। हे मुनीश्वर! आप सरीखे पुरुष तो विरले ही हैं। आपकी तुलना में कहने योग्य ब्रह्मर्षि तीन लोक में कोई नहीं, अपने किए हुए असंख्य तथा असह्य अपराधों का स्मरण कर, अब मुझे जो अपार खेद होता है वह मुझसे वर्णन नहीं किया जाता। क्षमा! क्षमा!!! हे ऋषिवर! यह अपराधी प्राणी--मन, वाणी तथा शरीर से आपकी शरण है। उसको आप जैसा चाहें दंड दें, यह आपको अधिकार है।"

यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुए वसिष्ठमुनि विश्वामित्र को बेठा कर अत्यन्त स्नेहपूर्वक हृदय से लगाकर आश्वासन देकर बोले—"प्रिय विश्वामित्र! चिंता न करो, तुम निष्पाप हो; तुम्हारा चिरकाल का तप आज सफल हुआ है। आज तुम योग्य हुए, आज तुमको यथार्थ ब्रह्मर्षिपन प्राप्त हुआ। तुम्हारे संबंध में मुझे किसी प्रकार का द्वेषांकुर न था, न है ही। तुमको प्राप्त हुआ जो अलभ्य ब्रह्मत्व-उसी से तुम्हारे सब अपराध भस्म हुए हैं अर्थात् 'मैं अपराधी हूं' और 'अरे! यह मैंने बहुत ही खोटा कर्म किया है,' ऐसे ज्ञानपूर्वक बोध से कृत कर्म के लिये अनिवार्य पश्चात्ताप करना, यही कृतकर्म पाप का प्रायश्चित है।"

यह प्रसंग चल ही रहा था कि इतने में सतीशिरोमणि अरुंधती भी पर्णशाला में से बाहर आयी। उनको देख विश्वामित्र ने प्रेम से वंदना की, क्षमा मांगी।

तब वसिष्ठजी बोले—"कौशिक* यह सद्गुणरूपा सती, आकाश में प्रकाशित चंद्रदेव, ध्रुव, सप्तर्षि तथा नक्षत्रगण तुम्हारा और मेरा समागम अन्तरिक्ष में देखते हुए विमानस्थ देवता, यह जगन्माता पृथ्वी देवी, यह पवित्र आश्रम तथा उसमें के वृक्ष-तरुवर तथा तुम्हें क्षात्रपन का तिरस्कार करा कर ब्रह्मत्व के लिय अपार प्रयत्न कराने वाली यह श्रीमती कामधेनु ये सब तुम पर अति प्रसन्न हुए हैं तथा तुम्हारे अप्रतिम तप की प्रशंसा करते हैं। हे ब्रह्मर्षि! आज तुम ब्रह्मर्षि हुए। इतना ही नहीं, बल्कि ब्रह्मर्षियों में श्रेष्ठ हुए हो। तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारा तपस्तेज चिरकाल अखंड प्रकाशित हो।" यह शब्द वसिष्ठजी के मुख से निकलते ही अन्तरिक्ष में से दिव्य पुष्पों की वसिष्ठ जी के साथ-साथ जय-जयकार की ध्वनि होने लगी।

"प्रिय पुत्र जीवनसिहं! इस प्रकार चिरकाल का दुर्धर द्वेष मिटकर वसिष्टमुनि के साथ विश्वामित्र का परम सख्य हुआ। वह आज तक ज्यों का त्यों है। यही विश्वामित्र महर्षि वर्तमान में वसिष्ठ मुनि के साथ सप्तर्षि मण्डल के विषे सुप्रकाशित रूप से विराजमान हैं। इस संक्षिप्त पवित्र चरित्रपर से तुम जान गये होगे कि मनुष्यपन कितना अमूल्य तथा देवताओं करके भी कितना सराहनीय है! ऐसा अद्भुत तत्त्व मनुष्यपने में है। अपने आपको जानना देखना, अनुभव करना इसी में मनुष्यपने की श्रेष्ठता है।"

मनुष्य किस कारण से उत्तम है?

हिमालय पर के एकान्त आश्रम में महात्मा योगीश्वर की प्रथम परिचर्या करने वाले दोनों शिष्यों प्रति उस योगिश्वर ने कहा—"वत्सो! वय में बालक, पर पूर्व का बड़ा संस्कारी राजपुत्र जीवन, अब व्यावहारिक पढ़ना गुनना छोड़कर, बारंबार अपने विद्यागुरू के पास ऐसी ब्रह्मकथा ही सुनने में तत्पर हो गया। वेदाध्ययन तथा धनुर्वेद का अध्ययन चलता था, उसे भी ब्रह्मकथा के आगे इसने शिथिल कर दिया तथा प्रतिदिन आत्मविद्या का ही प्रश्न गुरुजी से पूछने लगा। गुरुजी भी उसको—यद्यपि क्षत्रियपुत्र को आवश्यक ऐसी धनुर्विद्या पढ़ाते थे, तथापि उसका अधिकार उत्तम जानकर प्रसंग-प्रसंग पर उसके उत्तमोत्तम प्रश्नों का प्रेमपुर्वक समाधान करते और उसके सहपाठियों का उसके समान उत्तम अधिकार न होने से गुरुजी ने उस अध्यात्मकथा के लिये समय भी जुदा ही ऐसा नियत कर दिया था, जो उसे अकेले के लिये अनुकूल पड़े!

* कुशिकवंध में होने के कारण विश्वामित्र कौशिक कहे जाते हैं।

मनुष्यपन यह कैसा अत्युत्तम है' यह विश्वामित्र जी के चरित्र से जानकर इसने बड़ी देर तक मनन करने के बाद अपने गुरुजी से प्रश्न किया कि, 'हे कृपानाथ! मनुष्य में अन्य प्राणियों की अपेक्षा इतनी बड़ी उत्तमता क्यों है? किस तत्त्व के कारण मनुष्य इतना उत्तम हो सकता है!' इस प्रकार के उसके प्रश्नों का गुरुजी ने समाधान करना प्रारंभ किया :—

गुरुजी ने कहा—"हे राजपुत्र! संसार में के प्रत्येक प्राणी का जो शरीर प्रत्यक्ष अपनी आंखों से दीखता है वह कुछ ऐसा ही तथा इतना ही नहीं है। उसमें कई भेद हैं। जिसे हम प्रत्यक्ष देखते हैं उसे तत्त्ववेत्ता लोग स्थूल अर्थात् मोटा, बड़ा, देखा जा सके ऐसा शरीर कहते हैं। सो यह शरीर तो प्राणी के रहने के एक घर के समान है। जल में रहने वाले छोटे बड़े शंख तुमने देखे होंगे। यह शंख उसके अन्दर रहने वाले शंखनाम कीड़े क़ा घर है। और यद्यपि वास्तव में उस कीड़ें से जुदा है, तथापि शरीर के साथ मिला हुआ रहने से वह कीड़ा जल में थल में जहां-जहां चलता-फिरता है वहां-वहां वह उसके साथ फिरता है। इसी प्रकार प्राणी का स्थूल शरीर यह प्राणी का चलता-फिरता घर है। पर शंख कीड़ा शंख को जैसे अपना शरीर ही मानता है, उसी प्रकार प्राणीमात्र अपने स्थूल देह को अपना मुख्य शरीर मानता है। वास्तविक विचार से देखिये तो इसमें विशेष जानने योग्य यह है कि, यह शरीर तो मिट्टी का पुलता मात्र है और इसको जाग्रत करके हिलाने चलाने वाला तो इसमें रहता हुआ दूसरा शरीर है। इसको तत्त्ववेत्ता सूक्ष्म शरीर कहते हैं। सूक्ष्म अर्थात् बारीक। यह शरीर सूक्ष्म तत्त्वों से बना तथा सत्तारूप है। स्थूल शरीर के विषे यह सर्वत्र व्याप्त होने से उसी के बराबर हो रहा है; तथापि मुख्य स्थान उसका हृदय या अन्तःकरण है। सारी सत्ता इस अन्तःकरण में रहती है तथा सारे व्यवहार, स्थूलदेहद्वारा, उसके अन्दर रहकर करती या कराती रहती है। यह अन्तःकरण जितना शुद्ध, जितना पवित्र, जितना स्थिर, जितना दृढ़, जितना निरुद्ध होता है, उतना ही वह प्राणी योग्यता वाला होता है, प्राणीमात्र के अन्तःकरण पर अज्ञानरूप अन्धेरे का पर्दा होता है, इससे वह अज्ञान ही में ढँका हुआ अन्तःकरण केवल अज्ञानमय ही बनकर सर्वथा अशक्त हो पड़ा रहता है और उसकी उन्नति नहीं हो सकती। मनुष्य के सिवाय दूसरे सब प्राणीयों का हृदय ऐसे अज्ञान से ढँका हुआ होता है कि जिससे यह मनुष्य प्राणी अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। जितना-जितना सूर्य के आसपास बादलों का पटल बारीक या छोटा होता है उतना ही सूर्य का प्रकाश भी न्युनाधिक होता है। इसी प्रकार जिस प्राणी के हृदय पर का अज्ञानपटल जितना बारीक या छोटा होता है उतना

ही वह प्रकाशित तथा उन्नत अथवा ज्ञान वाली स्थिति में होता है। ज्ञान तथा अज्ञान इन दोनों की बीच की स्थिति में मनुष्य का हृदय होता है। पर उसका संस्कार करते-करते ज्यों-ज्यों उस पर का अज्ञान पटल अच्छा निर्मल या दूर होता जाता है, त्यों-त्यों उसका प्रकाश बढ़ता जाता है तथा प्रकाश के बढ़ने के साथ उसकी सत्ता बढ़ती है। मनुष्यों में जो कुछ सत्ता है वह सब उसके अन्तःकरण की है। प्राणी का स्थूल तथा सूक्ष्म ये दोनों शरीर उसके अन्तःकरण के अधीन हैं। अन्तःकरण जैसी प्रेरणा करता है, वैसी ही उसकी प्रवृत्ति होती है। 'अनुमान करना, सारासार का विचार करके वस्तु को जानना, पहचानना, चिंतवन करना, तथा अपने पर और अहंकार का अभिमान रखना यह अन्तःकरण का मुख्य गुण है।' इसी से तत्त्वज्ञों ने उसके चार विभाग माने हैं। तुझे अपने आपको तथा उसके बाद परमात्मा को पहचानने की शक्ति इस तेरे अन्तःकरण में ही है, इस लिये पहले तू अपने अन्तःकरण को संस्कारवाला कर।"

अन्तःकरण का आवरण–पवित्रता का ही कारण

अपने गुरुजी का यह व्याख्यान सुन विचारशील जीवन् सिंह बोला–"कृपानाथ! मनुष्य का महत्त्व तथा उत्तमता, उसके हृदय के अनुसार ही है, तो उस पर पटल किंवा आवरण होता है वह किस कारण है और वह किस तरह दूर हो सकता है? यह पटल अपनी दृष्टि से दीखता नहीं।"

गुरुजी ने कहा–"हम लोग अन्तःकरण या हृदय के नाम से जिसे पुकारते हैं, वह क्या है और किस स्थलपर है यह प्रथम जानना चाहिये। प्राणी का शरीर जो अस्थि, मांस, मज्जा, मेद, रुधिर, नाडियां, त्वचा, रोम इत्यादि वस्तुओं का बना हुआ है, उसमें वैसी ही वस्तुओं का उसका हृदय भी बना हुआ है। उदर से ऊपर कंठ से नीचे तथा दोनों स्तनों के बीच में मनुष्य का हृदय स्थान है। जो उघाड़ा (खोल) करके देखने में आवे तो मन को कॅपकंपी उपजे ऐसे गीले और कोमल मांस की एक छोटी सी थैली के समान वह जान पड़ेगा। इस पोली थैली के साथ सारे शरीर की सब *रुधिरवाहिनी तथा †वायुवाहिनी तथा अन्य सब नाड़ियों का मुख्य संबंध है। इसकी पोल में किसी ऐसे अद्भुत पदार्थ का पर्दा है कि, जिससे उसके दो भाग हो गये हैं। उसमें का एक भाग अंदर ठीक बीच में तथा दूसरा उसके आसपास है। यह बाहर का भाग अन्तःकरण का स्थान है। इसके भीतर अपने चार विभागोंसहित अन्तःकरण

---

* रुधिरवाहिनी–रुधिर को वहन करनेवाली।

† वायुवाहिनी–वायुश्वासादिक को वहन करनेवाली

स्थिति करता है और वहां रहकर सारे शरीररूपी देश पर राज्य करता है। जैसे एक राजा की राजगद्दी एक स्थान पर होती है और न्यायादिक सारे राजकाज के लिये कचहरियां एक तरफ जहां सबको बहुत अनुकूल पड़े और सब पर देखरेख रहे, ऐसे स्थान राज्य के किसी पर्वतादि ऊंचे स्थान पर बनाई जाती हैं; इसी प्रकार इस शरीरदेश में भी अन्तःकरण रूप राजदरबार की न्यायादिक विचारणीय कचहरियां, शिरःप्रदेश में ऊंचे स्थान पर रहती हैं। वहां बैठ अनतःकरण के सब कारबारियों की सभा विचारादिक का निश्चय करती है। नीच वस्तुओं से बने हुए हृदयप्रदेश में यह अन्तःकरण रहता है, इससे उसे मलिन होने में भी देर नहीं लगती। मलिन होना, इस पर मल-मैल का चढ़ना, यही उसका आवरण या पटल है। इस मलरूप आवरण से हृदयस्थान ढक जाता है तथा उसके योग से अन्तःकरण अर्थात् परम पवित्र आत्मा मल में दब जाने से अज्ञानी बनकर, सत्य स्वरूप से प्रकाशित नहीं हो सकता तथा अज्ञान के संग में रहने से वह अपने मूल स्वरूप को दिन-दिन बिसरता जाता है और अधिक समय के उपरान्त केवल मलमय बन जाता है। आत्मप्रदेश पर का यह आवरण दो प्रकार का है। एक स्थूल, दूसरा सूक्ष्म, स्थूल आवरण शारीरिक मल का होता है तथा सूक्ष्म आवरण पापरूप मल का होता है। स्थूल आवरण हृदय स्थान पर तथा सूक्ष्म आवरण अंतःकरण पर होता है। हृदय तथा अन्तःकरण का परस्पर गाढ़ संबंध होने के कारण ऐक्य होने से ये दोनों आवरण एक दूसरे को महान् हानिकारक तथा आच्छादक (ढांक देनेवाले) हैं। इस लिये इन दोनों आवरणों को दूर करने के लिये मनुष्यों को सदा शरीर से तथा इन्द्रियों से पवित्र रहना चाहिये। हाथ, पांव, मुख, गुदा‡ तथा उपस्थ£ ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं। इनकी प्रत्येक स्वाभाविक क्रिया करके इन्हें शास्त्रविधि के अनुसार, जल मृत्तिका आदि से धोकर शुद्ध करना, स्नान करना, इसे शारीरिक शुद्धि कहते हैं। नेत्र, कान नासिका, जिह्वा, त्वचा, इन ज्ञानइन्द्रियों को दुष्ट वासनाओं अर्थात् माया से बचाने से अन्तःशुद्धि होती है।

यदि ये कर्मेन्द्रियां तथा ज्ञानेन्द्रियां सदा सर्वदा शुद्ध रखने में न आवें तो क्रम से शरीर अशुद्ध होकर अन्तःकरण का अज्ञानावरण दृढ़ होता जाता है और फिर उसकी सारासार विचार करने की शक्ति जाती रहने से वह उत्तरोत्तर अधम दशा हो पहुंच जाता है।

यह मैंने तुझसे सामान्य शुद्धि कही। इस क्रिया कर्म से अन्तःकरण सामान्य रूप से शुद्ध रहता है, अर्थात मनुष्यपने में उसको प्राप्त हुआ

---

‡ गुदा—मल त्याग करनेवाली इन्द्रिय।

£ उपस्थ—मूत्र् त्याग करने की इन्द्रिय।

अन्तःकरण शुद्धि करने के कारण बहुत मलिन न होते हुए मानुषी स्थिति से नीचे प्रकार का नहीं हो जाता पर इस अन्तःकरण के ऊपर पूर्व के अनेक जन्मों के पापरूप मल का आवरण तो होता ही है। उसे दूर करने के लिऐ तुझको बताये हुए नित्य तथा शारीरिक शुद्धि के कर्म तथा अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुसार नित्य कर्म भी मनुष्य को करने चाहिये। वह जो विधिवत् किये जाते हैं तो अवश्य उसके अन्तःकरण का पापरूप आवरण मिट जाता है। वह नित्य कर्म-क्या-त्रिकाल संध्यावंदन, अग्निहोत्र, स्वाध्याय, देवपूजन इत्यादि हैं, ये नित्य कर्म अन्तःकरण के पापरूप मल को दूर करने के लिये ही धर्मशास्त्र में उपदिष्ट किये (बतलाये गये) हैं। इसलिये उनसे कभी न चूकना चाहिये। संध्यावदंन व गायत्री जप को तो तू करता ही है।"

जीवनसिंह बोला—"गुरुदेव! संध्यावदंन तो नित्य त्रिकाल मैं कभी भूलता नहीं, आपकी आज्ञानुसार सूर्यमंडलस्थ परमात्मा के तेजोमय स्वरूप का ध्यान भी नित्य करता हूं, तथापि 'मैं कौन?' यह शंका जब से मेरे मन में खड़ी हुई है, तब से तो पढ़ने के समय, संध्यावंदन के समय तथा भोजनादि कर्मों के समय मुझे इसी बात का मनन हुआ करता है। इस संबंध में आपके कहे हुए सिद्धान्त बारंबार मेरी दृष्टि के आगे खड़े रहते हैं। और जो बात समझ में नहीं आती उसके लिये अनेक प्रश्न भी उत्पन्न होते हैं, जिन्हें बारंबार पूछकर मैं आपको कष्ट देता हूं। कृपानाथ! ऐसा ही एक प्रश्न मुझे फिर उत्पन्न हुआ है। आज्ञा हो तो निवेदन करूं।"

गुरुजी ने कहा—"पुत्र! प्रसन्नतापूर्वक कहो। यह न समझो कि मुझे कष्ट होता है। तू तो भाग्यशाली है ही। पर तेरे कारण मैं भी बड़ा भाग्यशाली हुआ हूं। क्योंकि अध्यात्मविद्या*-ब्रह्मविद्या-भगवत्प्राप्ति संबंधी प्रश्न करने वाले की अपेक्षा जिससे ये प्रश्न किये जाए वह मनुष्य बडा भाग्यशाली है। ऐसे प्रश्न करने वाले को तो कोई एक शंका होती है और उसके समाधान के लिए वह पूछता है, पर उसके उत्तरदाता को तो शंका का समाधान करने के लिये ब्रह्मविद्या संबंधी अनेक सिद्धान्तों का स्मरण, मनन और संशोधन करने को मथन करना पड़ता है, बड़े-बड़े दृष्टान्त उसके लिये सोचने पड़ते हैं तथा उसका अन्तःकरण उतने समय तक केवल ब्रह्म के विचार में ही लीन हो जाता है। अन्तःकरण का सदा ब्रह्मविचार में निमग्न रहना यह बड़े भाग्य की बात है। इसलिये, सुख से तू अपने मन में उपजा हुआ प्रश्न कर!"

---

* अध्यात्मविद्या विद्यानाम्।

यह सुन जीवनसिंह बोला–"कृपानाथ! पूर्व कहे हुए कथाप्रसंग में सुमनशर्मा नामक द्विजपुत्र के इतिहास में आपने शरीर पंचकुटी का वर्णन करते समय कहा था कि, "मनुष्य का शरीर पृथ्वी आदिक पांच* तत्त्वों से बना हुआ है और उसमें चार विभाग वाला अन्तःकरण मिलने से नव† तत्त्व हुए हैं' और आज अन्तःकरण का स्थान वर्णन करने में आप कहते हैं कि मनुष्य का शरीर अस्थि, मांस, रुधिरादिक वस्तुओं से बना हुआ है, यह कैसे?"

इस प्रश्न के उत्तर में गुरुजी तत्त्वों की व्यवस्था इस प्रकार कहने लगे–"हे वत्स! इन पांच तत्त्वों में से प्रथम तत्त्व पर तुम विचार करो। प्रथम तत्त्व पृथ्वी है। इस पृथ्वी तत्त्व का शरीर में क्या-क्या भाग है, सो तू जानता है? यदि नहीं जानता, तो तू उसे जान! रोम (बाल), शरीर के ऊपर की त्वचा, उसके भीतर रहने वाली नाड़ी, उसके भीतर का मांस तथा उसके अंदर की हड्डी ये सब पृथ्वी तत्त्व के बने हुए भाग हैं। दूसरा तत्त्व जल है। शरीर में से जो प्रस्वेद (पसीना) निकलना है तथा मूत्र, लार, अन्दर के भाग में रहा हुआ रुधिर तथा शुक्र अर्थात् वीर्य- ये पदार्थ जल तत्त्व से बने हुए हैं। तेज यह तीसरा तत्त्व है। शरीर की कांति, निद्रा, आलस, तृषा, क्षुध ादि विकार, ये सब तेज तत्त्व के भाग से बनते हैं। चौथा तत्त्व वायु है। शरीर में जो संकोचन और प्रसारण होता है, शीघ्रता से जो चलना होता है; दौड़ना घूमता, चलना, फिरना, श्वासोच्छ्वास करना, यह सब शरीर में रहने वाले वायु तत्त्व से होता है। पांचवां तत्त्व आकाश है। शरीर को जो भय लगता है, मोह अथवा भ्रम (भुलावा) होता है। शोक होता है, क्रोध तथा काम व्यापता है तथा शरीर में का पोलापन, यह सब आकाश तत्त्व का विकार है।

तुझे कदाचित् शंका होगी कि, एक ही पृथ्वी तत्त्वों में से रोम, नाड़ी, त्वचा, मांस तथा हड्डी जो परस्पर अत्यन्त भिन्न पदार्थ दिखायी देते हैं वे कैसे बने होंगे! पर जान ले कि यह प्रत्येक पदार्थ केवल पृथ्वी तत्त्व ही से नहीं बने, बल्कि उनके साथ दूसरे तत्त्व भी शामिल हैं। किसी में थोड़ा, किसी में अधिक इस प्रकार मिले हैं। इसी कारण जुदे-जुदे रूप उत्पन्न हुए हैं। पृथ्वी तत्त्व में मुख्य भाग पृथ्वी का है तथा बाकी के तत्त्वों का थोड़ा बहुत मिश्रण होने से अस्थि बने हैं। जल तत्त्व का मिश्रण होने से मांस बना है, वायु तत्त्व का मिश्रण होने से त्वचा बनी है, तेज तत्त्व का मिश्रण होने से नाडियां बनी हैं, आकाश तत्त्व का मिश्रण होने से रोम बने हैं। इसी प्रकार जल तत्त्व में जल का मुख्य भाग होने से शुक्र बनता है, पृथ्वी

---

* पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाश। † मनोबुद्ध्यहंकारचेतांसि।

तत्त्व का भाग मिलने से शोणित अथवा रुधिर बनता है, आकाश का भाग मिलने से लार, तेज का भाग मिलने से मूत्र बनता है, वायु का भाग मिलने से स्वेद बनता है, इसी प्रकार तेज तत्त्व में तेज का मुख्य भाग होने से क्षुधा उपजती है, वायु के मिलने से तृषा उपजती है, पृथ्वी तत्त्व के मिलने से आलस्य उपजता है, आकाश तत्त्व के मिलने से निद्रा उपजती है, जल का मिश्रण होने से कान्ति उपजती है, वायु तत्त्व में वायु का मुख्य भाग होने से श्वासोच्छ्वास की क्रिया उपजती है, आकाश का भाग मिलने से शरीर का प्रसारण होता है, पृथ्वी तत्त्व के मिलने से आकुंचन अर्थात् संकोच होता है, तेज का भाग मिलने से चेष्टा अर्थात् अंगों का चलना होता है तथा जल का भाग मिलने से चलने की क्रिया होती है। आकाश तत्त्व में मुख्य आकाश तत्त्व का प्रमाण विशेष होने से शोक होता है, तेज मिलने से क्रोध होता है, वायु मिलने से काम व्यापता है, पृथ्वी मिलने से भय व्यापता है और जल तत्त्व मिलने से मोह उत्पन्न हुआ करता है।

"इस प्रकार इन पांच तत्त्वों के मिलने से प्रथम जन्म, फिर अस्तित्व, फिर वृद्धि, फिर विपरिणाम, फिर अपक्षय और अंत में विनाशः• इन छः विकारों वाले इस प्रत्यक्ष दिखायी देते हुए स्थूल शरीर की अवस्था होती है। इसमें रहता हुआ जो सूक्ष्य शरीर वह भी इन्हीं तत्त्वों के सूक्ष्मांशों से बना है और इन सूक्ष्म तत्त्वों का एक दूसरे के साथ न्यूनाधिक संबंध होने से देह में अनेक प्रकार की वस्तुएं और क्रिया विक्रियाएं हो जाती हैं। इन सूक्ष्म तत्त्वों में रहता हुआ आकाश तत्त्व है। उसका मुख्य स्वरूप पोलापन और वह शरीर के हृदय स्थान में मुख्य रूप से व्याप्त है- इसी में अंतःकरण है। इसमें क्रम से दूसरे सूक्ष्म तत्त्व मिलने से विभाग होते हैं। और जुदीं-जुदी क्रियांए उत्पन्न होती हैं। आकाशरूप अन्तःकरण में प्रथम किसी बात का स्फुरण होता है तथा उसमें सूक्ष्म वायु तत्त्व का मिश्रण होने में मन बना है। यह मन अन्तःकरण में स्फुरित हुई वृत्ति संबंधी संकल्प विकल्प करता है। आकाशतत्त्व में तेज का सूक्ष्म तत्त्व मिलकर बुद्धि बनी है। यह बुद्धि मन के किये हुए संकल्प विकल्प का निश्चय करती है। आकाशरूप अन्तःकरण में अप्-अर्थात् जल का सूक्ष्म तत्त्व मिलकर चित्त बना है। जो बुद्धि के निश्चय किये हुए संकल्प विकल्प के ऊपर चिंतन व स्मरण करता है। आकाशतत्त्वरूप अन्त्ःकरण में पृथ्वी का सूक्ष्म तत्त्व मिलकर अंहकार बना है। यह अहंकार अहंता (मैं पना) है। इसके साथ जीव को 'मैं पने' का स्फुरण अभिमान होता है।

"अब दूसरा सूक्ष्म तत्त्व 'वायु' है, उसमें दूसरे तत्त्वों के मिलने से जुदी-जुदी क्रियाओं के करने वाले पांच* प्राण जो शरीर का वहन करने वाले वाहन के समान हैं वे उत्पन्न हुए हैं। सूक्ष्म वायु तत्त्व में आकाश तत्त्व मिलने में 'ब्यान' नामक प्राण बना है। जो शरीर के सब अंगों में व्याप रहा है और उनकी संधियों के घूमने फिरने की क्रिया उसी से होती है। वायु में वायु तत्त्व का भाग मिलने से 'समान' नामक वायु उत्पन्न हुआ है, जो शरीर के नाभिस्थान में रहता है और वहां से अन्न रस सर्व नाड़ियोंद्वारा सारे शरीर में रोम-रोम प्रति पहुँचाता है। वायु में तेज तत्त्व का भाग मिलने से 'उदान' नामक प्राण बना है। यह देह में कंठस्थान में रहता है और कंठस्थान में होकर उदर में एक साथ उतरते हुए अन्न जल का विभाग करता है तथा विकार को प्राप्त होकर स्वप्नादि को दिखाता है। जल तत्त्व का भाग मिलने से 'प्राण' नामक प्राण उत्पन्न होता है जो हृदय में रहकर श्वासोच्छ्वास करने का कार्य करता है तथा पृथ्वीतत्त्व का भाग मिलने से 'अपान' नाम का प्राण उत्पन्न हुआ है जो गुदास्थान में रहता है तथा मल का उत्सर्ग करता है।

"तीसरा सूक्ष्म तत्त्व 'तेज' है। इसमें दूसरे तत्त्व मिलने से पांच ज्ञानेन्द्रियां उपजी हैं। ये ज्ञानेन्द्रियां शरीर में नगर के द्वार के समान हैं। तेज में आकाशतत्त्व मिलने से श्रोत्र (कर्ण) इन्द्रिय उत्पन्न हुई है। वह शब्द का श्रवण कराती है। वायुतत्त्व मिलने से स्पर्शेन्द्रिय उपजी है; यह शरीर की त्वचा में रहती है और स्पर्श करते ही शीतोक्ष्ण मृदु कठिन इत्यादि प्रकारों को जानती हैं। उसमें तेजतत्त्व मुख्यत्व करके मिलने से चक्षु इन्द्रिय उत्पन्न हुई है। वह दोनों नेत्रों में समभाग रहकर स्वरूप ग्रहण कराने तथा दिखाने का काम कराती है। जलतत्त्व मिलने से रसना इन्द्रिय उत्पन्न हुई है। वह जिह्वा के विषे रहकर मधुर, क्षार, कटु इत्यादि रस को पहचनवाती है और पृथ्वीतत्त्व मिलने से घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न हुई है। वह नासिका में रहकर सुगंधदुर्गधादिक की परीक्षा तथा ग्रहण कराती है।

"चौथा तत्त्व 'जल' है उसमें दूसरे तत्त्वों का मिश्रण होने से पांच कर्मेंद्रियां कि जो सूक्ष्म शरीर के सेवक के समान हैं। वे उत्पन्न होकर सारी बाहर की क्रियाएं करती है। जल में आकाशतत्त्व मिलने से वाक् अथवा वाचा इन्द्रिय उत्पन्न हुई है-वह मुख में रहकर वाणी बोलने का कार्य करती है। जल में वायुतत्त्व मिलने से पाणि अर्थात् हस्त इन्द्रिय

---

* प्राणापानौ तथा व्यानमुदानं च समानकम्।

उपजी है और वह दोनों हाथों में रहकर लेने-देने का—पकडने फेंकने का इत्यादि कार्य करती है। जलतत्त्व में तेज तत्त्व मिलने से पाद इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई है। वे दोनों पादपगों में रहकर जाना आना, बैठना उठना आदि क्रिया उत्पन्न करते हैं। जलतत्त्व में जलतत्त्व मिलने से शिश्नेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई है। वह मूत्रद्वार में रहकर मूत्रोत्सर्ग तथा रतिभोग कराती है। तथा पृथ्वीतत्त्व मिलने से गुदा इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई है। वह मलद्वार में रहकर मल का त्याग करने का कार्य करती है।

पृथ्वीरूप सूक्ष्म तत्त्व में दूसरे तत्त्वों का* न्यूनाधिक मिश्रण होने से इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले अर्थात् भोगने के विषय उत्पन्न हुए हैं। आकाशतत्त्व मिलने से शब्द नाम का विषय उत्पन्न होता है, वायु तत्त्व मिलने से स्पर्श नाम का विषय उत्पन्न होता है, तेज तत्त्व के मिलने से रूप, जल तत्त्व के मिलने से रस, पृथ्वी तत्त्व के मिलने से गंध नाम का विषय उत्पन्न होता है। इस प्रकार सूक्ष्म तत्त्वों की व्यवस्था है और उनसे सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है। इसके सिवाय देह में दूसरी कितनी ही क्रियाएं निरंतर हुआ करती हैं, वे सब भी उन्हीं तत्त्वों के मिलने के कारण समझो। मैंने तुमसे पूर्व जो जीव की सेना कहीं थी, वह सब जीव की सेना तू अच्छी तरह पहचान ले।''

तत्त्वों का अधिष्ठाता

गुरुजी के मुख से स्थूल देह तथा सुक्ष्म देह और उनके विभागरूप उनमें व्याप्त स्थूल, सूक्ष्म तत्त्वों का विवेचन सुन, जीवनसिंह फिर हाथ जोड़कर बोला—''हे कृपानाथ! आपने मुझे अपनी मेरी निज पहचान के संबंध में प्रथम दिखाया था कि-हस्त, पाद, शिर, उदर आदिक अंगों वाला 'मेरा' स्थूल शरीर 'मैं' नहीं हूँ। इसी प्रकार अब मेरे जानने में आया कि स्थूल देह में रहने वाला सूक्ष्म शरीर भी मैं नहीं। मैं तो इन दोनों शरीरों से न्यारा ही हू पर, हे स्वामिन्! स्थूल सूक्ष्म देहों में से सारी क्रियाओं को एक दूसरे के साथ मिश्रित हुए ये तत्त्व ही स्वतन्त्रता से कराते रहते हैं और ऐसा होते हुए उनमें कुछ गड़बड़ नहीं होने पाती क्या?''

गुरुजी बोले—''वत्स! सारी क्रियाएं ये तत्त्व अवश्य करते हैं तथापि वे स्वतंत्र करें ऐसा तो नहीं है, क्योंकि वे सब जड़ है; उनसे स्वतंत्रतापूर्वक तो कोई कार्य हो नहीं सकता। विशेषतः उनमें अमुक-अमुक प्रकार का नियत गुण तथा बल तो है ही, तथापि उनका कोई भी नियन्ता न हो तो वे व्यवस्था में नहीं रह सकते है और न

*रूपं शब्दो गन्धरसस्पर्शाश्च विषया अमी। (इत्यमरः)

नियत कार्य कर सकते हैं। उदाहरणः 'जैसे कि जगत के व्यवहार में वर्तता अग्नि यह तेज तत्त्व का स्थूलरूप है-उसमें दहन करना, प्रकाश करना, उष्णता आदि गुण हैं, तथापि उसको नियम में लिये बिना उससे चाहे जैसा कार्य नहीं हो सकता। चूल्हें में अग्नि को सुलगा कर उस पर दाल या चावल सीजने को रख दिया जावे, पर जो उसकी कोई व्यवस्थानुसार सभाल रखने वाला न हो तो वह अग्नि उसको कच्चा रखती है या जला देती है', इसी प्रकार दूसरे तत्त्वों को भी समझना। इसलिये उनको नियम में रखने के लिये, प्रत्येक स्थान पर उनके अधिष्ठाता देवताओं को स्थापित कर सचराचर के प्रभु जगदीश्वर ने उत्तमोत्तम व्यवस्था कर रखी है।

"हे वत्स! अब हम लोग स्थूल शरीर के अंगों को देखें। इस स्थूल शरीर के आधाररूप जो कर्मेन्द्रियां हैं उनमें से वाचा इन्द्रिय में जो बोलने की शक्ति है उसको नियम में रखने वाला अग्नि* देवता है। उसकी सत्ता से वाणी बोलने का व्यवहार वागिन्द्रिय कर सकती है। दूसरी कर्मेन्द्रिय पाणि अर्थात् हाथ है। उसका देवता इन्द्र है। उसकी सत्ता से हाथ लेने देने का काम कर सकते हैं। तीसरी कर्मेन्द्रिय पाद है। उसका देवता उपेन्द्र है। उसकी सत्ता से जाना आना रूप क्रिया पैरों द्वारा हो सकती है चौथा कर्मेन्द्रिय शिश्न है। इसका देवता प्रजापति है। इसकी सत्ता से रति तथा मूत्रोत्सर्गादि क्रिया शिश्नद्वारा हो सकती है। पांचवीं कर्मेन्द्रिय गुदा है। इसका देवता निर्ऋतियम है। इसकी सत्ता से गुदा मलोत्सर्ग कर सकती है। इसी प्रकार पांच ज्ञानेन्द्रियों के भी अधिष्ठाता देव हैं।"

"श्रोत्र अथवा कर्णरूप ज्ञानेंद्रिय का देवता दिशाएं हैं। उनकी सत्ता से कानद्वारा शब्द सुन सकते हैं। दूसरी ज्ञानेन्द्रिय त्वचा है। इसका देव वायु† है। स्पर्शादि जानने की जो क्रिया है वह वायुदेव की सत्ता से होती है। तीसरी ज्ञानेन्द्रिंय चक्षु है और इसका देवता सूर्य‡ भगवान् है। उनकी सत्ता से स्वरूप ग्रहण करना-देखने की क्रिया होती है, चौथी रसनेंद्रिय है। इसका देवता वरुण है। उसकी सत्ता से वह स्वाद जान सकती है। पांचवीं घ्राणेंद्रिय है। इसके देव अश्विनीकुमार हैं। उनकी सत्ता से यह गंध ग्रहण कर सकती है।"

फिर गुरुवर्य ने कहा—"इन कर्मेन्द्रियादि का प्रेरक जो अन्तःकरण है उसके भी प्रत्येक विभाग पर पृथक्-पृथक् देवताओं का अधिष्ठान है। आकाश का पोलापन रूप जो अन्तःकरण, उसका देवता विष्णु है। उसकी सत्ता से उसमें

---

*मुखादग्निरजायत। † श्रोत्राद्वायुः। ‡ चक्षोः सूर्यो अजायत।

स्फुरण होता है। उसके चार विभागों में प्रथम मन है। उसका देवता चन्द्रमा* है। उसकी सत्ता से मन में संकल्प-विकल्प उठता है। दूसरा बुद्धि है। इसका देवता ब्रह्मा है। उसकी सत्ता से बुद्धि निश्चय कर सकती है। तीसरा चित्त है। इसका देवता नारायण है। और उसकी सत्ता से चित्त चिंतन करता है और चौथा विभाग अंहकार है। इसका देवता रुद्र है, जिसकी सत्ता से 'मैं पने' का अभिमान होता है। इस प्रकार ये अधिष्ठाता देव अपनी-अपनी सत्तारूप शरीर के उन-उन इंद्रियादिक स्थानों में रहकर शरीरधारी अथवा शरीर के राजा जीव की अस्खलित सेवा बजाते हैं! ऐसी उत्तमोत्तम व्यवस्था सर्वनियन्ता जगदीश्वर ने ही है और अपना अंशरूप† जो जीव, उसके ऊपर परम कृपालु परमेश्वर की कितनी बड़ी कृपा और प्रीति है, सो देख! इतने पर भी जीव जो कि परमेश्वर से दूर पड़ गया है, वह अपने मूल पुरुष को मिलने की इच्छा न करे, अथवा उसके आधार उपकार की गणना न करे तो उसके समान अपराधी तथा कृतघ्न कौन कहा जाय? तू ऐसा कृतघ्न (किये हुए उपकार का बदला न समझने वाला) नहीं, पर कृतज्ञ (उपकार का मानने वाला) तथा कृतात्मा है, इससे मैं प्रसन्न हूं। अपने अंशी ऐसे परम पुरुष परमात्मा को मिलने की तेरी उत्कट इच्छा है। यह तो बहुत स्तुति का पात्र है तथा इसके कारण उस परमेश्वररूप तत्त्व की प्राप्ति का तू पात्र है। तेरा कल्याण हो। हे पुत्र! यह जो तुझे मैंने स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर के तत्त्वों का वर्णन सुनाया, उस पर से तेरी समझ में आया होगा कि इन दोनों शरीरों से तू न्यारा ही है।"

जीवनसिंह ने कहा–"हे कृपानाथ! मैंने आपकी कृपा से भली-भांति समझा कि मैं स्थूल सूक्ष्म शरीर नहीं, पर उनका वर्णन सुनने से तो मुझको बड़ा आश्चर्य होता है कि अहो! ऊपर से तो साधारण दीखता है तथा सुंदर स्वच्छ ऐसा मनुष्य शरीर भीतर से ऐसा विचित्र तथा एक छोटे से राज्य स्थान के समान विस्तीर्ण है। प्रभो! क्या सब मनुष्यों का शरीर इसी प्रकार होगा? ओ हो हो! सर्वशक्तिमान् प्रभु की कैसी अद्‌भुत रचना है!"

यह सुन ऋषिवर्य–उसके गुरुदेव ने कहा–"पुत्र! ऐसा ही है। उस सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर की कृति ऐसी ही अद्‌भुत है! पर तू कहता है उतना ही, केवल एक राज्यस्थान या देश के समान ही विस्तीर्ण मनुष्यशरीर नहीं! बल्कि वह तो एक सारे ब्रह्माण्ड के समान है। मैंने जो तेरे आगे उसका वर्णन किया, सो

---

* चंद्रमा मनसो जातः। ‡ ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

विस्तारपूर्वक नहीं, बल्कि तेरे बालपने के अनुभव से तेरी समझ में आ सके ऐसा संक्षेप से वर्णन किया है, तथापि उसका विस्तार बहुत बड़ा है।"

पिंड और ब्रह्माण्ड

"जैसा विस्तार इस समग्र सृष्टि के स्थान रूप ब्रह्माण्ड का है, वैसा ही विस्तार इस पिंड अर्थात् शरीर का है। इसीलिये पिंड को ब्रह्माण्ड की उपमा देने में आती है। ब्रह्मरूप अंड अर्थात् अंडा जैसे लंबा गोल आकार में होता है, वैसे ही गर्भस्थान में प्राणी का देह अंडे के आकार में होता है। वह वहां से बाहर निकल छूट जाने के पीछे लंबा चौड़ा होता है; इसी प्रकार ब्रह्माण्ड का विराटरूप उत्पन्न हुआ है। ब्रह्माण्ड में जैसे मध्य में आकाश तथा नीचे भूमि से लेकर पाताल तक सात लोक तथा अंतरिक्ष से लेकर ब्रह्मलोक तक सात लोक हैं, वैसे ही पिंड में भी हैं। पिंड में बीच में आकाश का भाग नाभि से हृदय तक का और नाभि से नीचे पेडू, उपस्थ, गुदा, ऊरू, जंघा, पाद, तथा पादतल ये सात अंग पाताल लोक हैं। नाभि से ऊपर हृदय, कंठ, मुख, नासिका, नेत्र, श्रोत्र और शिर ये सात ऊर्ध्व लोक हैं। पृथ्वी से ऊपर स्वर्गादिक ऊर्ध्व लोक, जैसे उत्तरोत्तर एक दूसरे से अधिकाधिक तेजस्वी तथा पवित्र हैं, वैसे ही शरीर के उत्तरोत्तर ऊपर के अंग भी बड़े तेजस्वी तथा पवित्र हैं। ब्रह्माण्ड में जैसे छोटी बड़ी असंख्य सरिताएं जल वहन करती ही रहती हैं वैसे ही पिंड में शोणित रूप जल वहन करने वाली असंख्य छोटी बड़ी नाडियां हैं। ब्रह्माण्ड में जैसे भूमि पर बड़े-बड़े पर्वत हैं वैसे ही पिंड में बड़ी-बड़ी अस्थियां हैं। ब्रह्माण्ड में जैसे वृक्ष, लता तथा असंख्य वनस्पतियां हैं वैसे ही पिंड में भी असंख्य केश तथा रोमावली हैं। ब्रह्माण्ड में जैसे समुद्र तथा जलाशय हैं, वैसे ही पिंड में भी जल के स्थानरूप मध्य में महासमुद्र है। ब्रह्माण्ड में जैसे स्वर्ग तथा नरक हैं, वैसे ही मल मूत्राशय नरक तथा मस्तक में के हृदयादि से ऊपर के अंग एक-एक से बढ़कर स्वर्ग की भांति हैं। ब्रह्माण्ड में जैसे प्रचण्ड वायु बहता है, वैसे ही पिण्ड में निरन्तर श्वासोच्छ्वास रूप वायु बहा करता है। ब्रह्माण्ड में जैसे सूर्य, चन्द्रमा प्रकाश करते हैं वैसे ही पिंड में दो नेत्र शरीर को प्रकाशित करते हैं। ब्रह्माण्ड में जैसे इन्द्रादिक लोकपाल तथा दिग्पालों को उन-उन लोकों तथा दिशाओं का पालन करने का अधिकार सौंपा हुआ है तथा वे नियमानुसार अपना-अपना कर्तव्य पालन करते हैं, उसी प्रकार पिंड में भी इन्द्रियां तथा अंगरूप दिशाओं तथा लोकों का परिपालन उन-उन के अधिष्ठाता इन्द्रादिक देव किया करते हैं। *ब्रह्माण्ड में जैसे ये सब असंख्य प्राणी हैं, उनकी उत्पत्ति, स्थिति और लय तथा

---

* सर्व खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शांत उपासीताथ खलु क्रतुं कुवीर्त।

निर्वाह उसी में होता है, उसी प्रकार पिंड में भी कृमि, कीट, आदिक जन्तु उपजते हैं, स्थिति भोगते हैं और मरते हैं। इस प्रकार सारे ब्रह्माण्ड के साथ प्राणी के पिण्ड की समता की जा सकती है।"

अनन्त सृष्टि और जगदुदुम्बर

इतना कह कर उन ऋषिवर ने जीवनसिंह से कहा—"हे वत्स जीवन! तू पूछता है कि 'क्या सब मनुष्यों का शरीर ऐसा ही होगा?' सुन! जो रचना तेरे शरीर की बाहर भीतर से पहले तुझे बतायी गयी है वैसी ही रचना संसार के प्रत्येक मनुष्य की है तथा मनुष्य के अतिरिक्त दूसरे प्राणीयों की शरीर रचना भी उसी प्रकार हुई है। तथापि उनके अंग छोटे बड़े होने से उनमें थोड़ा बहुत फेरफार है। विचार कर कि इस ब्रह्माण्ड सृष्टि के मनुष्य प्राणी तथा दूसरे सर्व पशु, पक्षी आदिक तथा जलचर भूचरादिक प्राणी कितने असंख्य अगणित हैं; इन प्रत्येक प्राणी की पिंड रचना ब्रह्माण्ड की रचना के अनुसार हुई है। समझो कि ये छोटे-बड़े असंख्य पिंड असंख्य ब्रह्माण्ड हैं। क्योंकि उनके अन्दर रहते हुए कृमिकीटादिक प्राणीओं को तो वे अपने आश्रय स्थान रूप होते ही एक ब्रह्माण्ड के समान दिखाई पड़ते हैं। उनका ब्रह्माण्ड तो यही है। तूने अपने बाग में खड़ा हुआ उदुंबर का वृक्ष देखा है? चलो हम तुम चलकर देखें, उसे देखते ही तेरे ध्यान में आयगा कि प्रत्येक प्राणी का पिंड उसके प्रमाण में एक ब्रह्माण्ड रूप ही है।"

ऐसा कह, वह महात्मा ऋषि (मुनि) तत्काल अपने आसन से उठकर खड़े हो गये। फिर परम अधिकारी तथा अति प्रिय ऐसे शिष्य जीवन सिहं को साथ ले, रथ में बैठ, राजवाटिका में गये। इस सुन्दर वाटिका के मध्यभाग में, एक बड़ा विशाल, ऊंचा तथा चौफेर शाखा प्रशाखाओं से बड़े फैलाव वाला उदुम्बर (गूलर) वृक्ष खड़ा था।

उसे देखते ही जीवनसिंह बोला—"प्रभो! देखो, यह गूलर! अहो! कितना बड़ा विशाल और गंभीर है! हे गुरुजी! दूसरे बड़े-बड़े वृक्षों की अपेक्षा इसमें एक बड़ा आश्चर्य दिखायी पड़ता है कि दूसरे वृक्षों में जहां डालियों के सि॰ पर फूल फल आते हैं वहां इस वृक्ष में तो ठीक धड़ (तना) से लेकर सिरों तक तले ऊपर असंख्य फल लगे हैं।"

गुरुजी ने कहा—"इसके द्वारा ही मैं तुझे उपदेश करूंगा, इसमें जो अद्भुत चमत्कार है उसे तू देख! जा, इसके तने में लगा हुआ वह बड़ा तथा पका फल तोड़ ला!'

जीवन ने फल लाकर गुरु के हाथ में दिया, तब गुरु ने कहा—"यह तुझे देखने में इस समय एक बहुत छोटा फल मालूम होता है, परन्तु यह ऐसा नहीं, विचारपूर्वक देखें तो यह एक बड़ा ब्रह्माण्ड है। ब्रह्माण्ड में तुझसे कहा गया है कि असंख्य जीवों

का समूह होता है, वैसे ही इसमें भी असंख्य जीव हैं।'' ऐसे कहते-कहते गुरुजी ने ज्यों ही धीरे-धीरे उस फल को फोड़ा, तोड़ा त्यों ही उसमें से असंख्य प्राणी फड़फड़ाहट करके उड़ने लगे तथा फिर उसमें प्रविष्ट होने लगे।

''अहो! यह क्या?!'' जीवन बोला—''कृपानाथ! एक छोटे से फल में कितने जीव! क्या इन सब फलों में ऐसे ही जीव होंगे?''

गुरु ने कहा—''हां जैसा ही फल बड़ा और पका, वैसे ही जीव बढ़े। इच्छा हो तो जांच-पड़ताल लो।''

जीवन ने भिन्न-भिन्न डालियों से कितने ही फल तोड़-तोड़ कर देखे। उन सबमें असंख्य जीव देख कर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ, तब गुरु ने कहा—''पुत्र! देखा, इस एक-एक फल में कितने-कितने जीव हैं?!''

जीवन ने कहा—''प्रभो! असंख्य!''

गुरुजी ने कहा—''अच्छा तो, ऐसे फल इस वृक्ष में कितने लगे होंगे?''

जीवन ने कहा—''पिताजी! असंख्य! इनकी गणना कैसे हो सकती है?''

गुरुजी ने कहा—''जब तक इस फल का प्राणी फल ही में रहता है तब तक तो जानता भी नहीं होगा, कि मैं जैसे अपने समान बहुत से जीवों के साथ यहां इस फल में हूं, वैसे ही दूसरे फलों में दूसरे जीव भी होंगे, नहीं! वह तो गुलर के अन्दर ही सारा संसार जानता है। इसी प्रकार इस बड़े ब्रह्माण्ड में रहता हुआ मनुष्य प्राणी भी अज्ञानवशात् जहां रहता है उसी को सारा संसार मानता है, पर ऐसा नहीं; जैसा यह एक गूलर का वृक्ष है, वैसा ही परमात्मा का विश्वव्यापी विराटरूप भी है। असंख्य जीवों से भरे हुए असंख्य फल जैसे इस वृक्ष के तने से चोटी तक लगे हुए हैं, वैसे ही यह सारे ब्रह्माण्ड भी परम पुरुष परमात्मा के विराटरूप शरीर में बसते हैं, यह उदुम्बर जो इस समय एक बार फला है उसके सारे फल एक बार पक कर गिर जाने पर वह फिर केवल निष्किंचन के समान फल, फूल और पत्तों से रहित हो जायगा; पर उनकी ऋतु आते ही जैसा आज मालूम होता है वैसे ही नये फल, फूल पत्तों सहित हो जायगा, ब्रह्माण्ड की रचना भी ऐसी ही है। जिस जगत् को तू आज देखता है, वह जगत् ही नहीं, बल्कि कल्पान्त में सारा विश्वमंडल ब्रह्माण्ड में भरे हुए अनेक जीवों सहित, बिना जीवों का हो जायगा। एक मात्र निरंजन निराकार शेषशायी भगवान् नारायण बालमुकुंद* स्वरूप अपने करकमल से पादारविंद को मुखारविंद में लगाकर जिसका गुणगान महात्मा लोग कर रहे हैं ऐसे पवित्र तथा अमृत से भी अधिक स्वाद वाले रस का पान करता हुआ अक्षय

---

* करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि।।

वट के ऊपर विराजमान रहेगा। जैसे उदुम्बर के फलों तथा जुदे-जुदे फलों में रहते हुए जीवों का जुदा-जुदा ब्रह्माण्ड है, परन्तु उन सबका मूलस्थान एक उदुंबर वृक्ष ही है वैसे ही अनेक ब्रह्माण्डों का मूल स्थान एक परमात्मा ही है। जैसे उदुंबर वृक्ष में से जुदे-जुदे समय नये-नये फल और जीव उत्पन्न होते हैं वैसे ही परमात्म रूपी उदुम्बर वृक्ष में से भी अनेक ब्रह्माण्ड बारम्बार कल्प के आरंभ में उत्पन्न होते हैं। जैसे उदुम्बर वृक्ष के फलों में अनेक जीव भरे हुए रहते हैं वैसे ही परमात्मा के अनेक ब्रह्माण्डों में अनेक प्रकार के जीव समाये रहते हैं। यह जगत् भी उनमें का एक ब्रह्माण्ड है। इस ब्रह्माण्ड में हम तुमसे अनेक जीव हैं। वे स्थूल शरीर से किये हुए कर्मबंधन की फांसी से जकड़े हुए हैं। इसी से जीव अपने मूल स्थान को भूल गया है। पर उसका नित्य का आश्रय स्थान तो एक निराकार, निरंजन तथा सर्वव्यापक परमात्मा ही है। तू पूछेगा कि ये सब प्राणी मात्र उसे क्यों नहीं जान सकते? इसका उत्तर इतना ही है कि इस लोक के जीव को कर्म ही अज्ञान का कारण हो जाता है। कर्म से देह की प्राप्ति, देहप्राप्ति से प्रियाप्रिय, उससे राग द्वेष तथा पुनः कर्मबंधन होता है। इन कर्मों के भोगने के लिये बार-बार जन्म धारण करना पड़ता है। इसी प्रकार सारे संसार का चक्र* चलता रहता है तथा इस सबका कारण अज्ञान-माया है। इस माया के पाश में बँधा हुआ जीव सत् को न जानने से अहंकार में डूबा रहता है और आवर्जन विसर्जन का भागी बनता है। इस माया से मोहित जीव, 'मैं' और 'मेरा', ऐसी असत् बुद्धि में गिर कर कर्ममार्ग में भ्रमता है तथा स्वप्न की भांति अहंता ममता में जकड़ कर पुत्र, स्त्री, धन कुटुम्ब में सत्य बुद्धि रख कर भ्रमता है तथा तमोगुण से भ्रम कर, भूल भटक कर, उलझ पुलझ कर अनित्य और अनात्म दुःखों में विपरीत अर्थात् नित्य और आत्म बुद्धि वाला बन कर, द्वैत में आनन्द माने, आत्मा परमात्मा के पहचानने से दूर रहता है। इससे मुक्त होने के लिये जीव को मायापति की माया का नाश करने को आग्रह से परम पुरुषार्थ करना चाहिये। इस माया का नाश ज्ञानप्राप्ति से होता है। ज्ञान से नाश बिना राग द्वेष नहीं मिटता। कर्म के त्याग बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं और ज्ञान की प्राप्ति बिना संसार का निवृत्ति नहीं होती, जीव को परमात्मा का ज्ञान न होने से ही घटमाला† (रहट) की भांति ऊपर नीचे चक्र में घूमना पड़ता है। परन्तु ज्यों ही उसे सत्य पदार्थ की प्राप्ति होती है और वह आत्मस्वरूप को समझता है तभी उसका बाह्य अर्चन पूजन तथा पूज्य पूजकभाव नाश को प्राप्त होता है और अन्तरंग में एकाकार वृत्ति को प्राप्त होता है।"

---

* एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ! स जीवति।।

† नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

इस प्रकार अनेक रीति से राजपुत्र जीवनसिंह को जीव तथा ब्रह्माण्ड की एकता का स्वरूप, महात्मा गुरुदेव ने बहुत दिन तक समझाया, उस पर से जीवनसिंह की वृत्ति धीरे-धीरे परमात्मा के स्वरूप के साथ एक तार होने लगी।

मकड़ी का जाला–नया ब्रह्माण्ड

एक दिन गुरुदेव शिष्य जीवनसिंह के महल में बैठे थे। उन्होंने जीवनसिंह से कहा–"हे वत्स जीवन! परमात्मा की माया ऐसी अद्भुत और विशाल है कि वह साधारण मनुष्य के लक्ष्य में नहीं आ सकती। परमात्मा से ही वह सारा जगत् वेष्टित (घिरा) हुआ है तथा जो कुछ भासता है वह उसकी माया का ही प्रकाश है। इस माया के कारण अनेक जीव, अनेक ब्रह्माण्ड और अनेक प्रकार का वैचित्र्य देखने में आता है। यह दृष्टिमात्र से ही देखा जाता है। परन्तु वास्तव में परमात्मा से कुछ भी अलग नहीं, भिन्न नहीं। हे शिष्य जीवनसिंह! इस सामने भीत पर दिखाते मकड़ी के जाले पर तू दृष्टि कर! इस जाले के बीच में तुझे क्या दिखायी पड़ता है?"

जीवन सिंह ने कहा–"गुरुदेव! यह तो एक जीव है।"

गुरुदेव ने फिर पूछा–"इसके दूसरे भागों पर दृष्टि कर, वहां क्या देखने में आता है, उसको देख तथा उसका ध्यानपूर्वक अवलोकन कर!"

जीवनसिहं ने अच्छी तरह ध्यान देकर मकड़ी के जाले का अवलोकन किया और फिर बोला–"हे महाराज! बीच में रहती हुई मकड़ी के मुंह में से निकले हुए अनेक तन्तु मैं देखता हूं, वे उसके आसपास फैल गये हैं। इन तंतुओं में से भी निकले हुए अन्य अनेक तन्तु मुझे दीख रहे हैं। सब तन्तुओं के भी अनेक विभाग हो गये हैं। सूक्ष्म दृष्टि से उन तन्तुओं में खाली आंखों से देखने में न आवें ऐसे जन्तु खेल रहे हैं। इनमें से कोई-कोई जन्तु तो अपने मूलस्थान की ओर जाने का प्रयत्न कर रहें हैं। कितने ही सम्हल कर चलने वाले जन्तु मूल स्थान के बहुत ही समीप जा चढ़े हैं। कितने ही जन्तु चढ़े और फिर गिर पड़े हैं। कितने जन्तुओं का आश्रयस्थान टूट गया है, इससे वे नीचे गिर पड़े हैं। रे! इस सीमा पर पड़े हुए जन्तु तो जरा भी ऊंचे चढ़ने का प्रयत्न नहीं करते, वह तो दूसरे जन्तुओं के साथ जाले में ऐसे जकड़ गये हैं कि बड़े-बड़े कष्ट करके भी नहीं छूट सकते। फिर ऊंचे चढ़ ही कैसे सकते हैं! हे गुरुदेव! देखो! देखो! यह एक जन्तु मूल तन्तु के पास पहुंच गया! अहो हो! वह इसमें मिल गया, विलीन हो गया, अब तो बिल्कुल ही दिखाई नहीं

पड़ता कि वह कहां गया। फिर देखो! मुख्य जन्तु मकड़ी अपने पास के एक जाले को संकुचित करके दूसरे पास के जाले को बढ़ाती है और वहां नये जन्तु दिखाई पड़ते हैं। इस मकड़ी के आसपास का स्थान बहुत दृढ़ होते हुए वहां तो कोई जन्तु देखने में आता ही नहीं। सब जन्तु जो बड़े-बड़े छिद्र हैं उनमें दिखाई देते हैं और वहां के वहीं भटकते हैं।'' क्षणभर पीछे आश्चर्यचकित होता जीवनसिंह बोला–''अरे! यह क्या? यह जाला तो छोटा होने लगा, मकड़ी अपने विषे सारा जाला समेट लेती है! अहो हो! जन्तु भी थोड़े से रह गये, छोटे हो गये, अरे! अब जाला बिलकुल दिखाई नहीं देता। केवल एक मकड़ी ही है। अब न उसके पास जन्तु हैं और न जाला है।''

जीवनसिंह मकड़ी की यह अद्भुत लीला देख, गुरु के समीप बैठ, प्रणाम कर बोला–''हे गुरुदेव! इस मकड़ी की लीला तो अद्भुत जान पड़ती है।''

गुरुदेव ने कहा–''हे परम भाग्यशाली शिष्य! यह मकड़ी तो जव्याकृत है पर उसने व्याकृत होकर यह नामरूप जनाया, व्याकृत में से अव्याकृत होते हुए अद्यापि नामरूप से वह व्याकृत ही है। वैसे ही परमात्मा अव्याकृत-व्याकृत है। चित्त जैसे अपने रूप को जानता नहीं, भेद जैसे भेद का निर्वाह नहीं कर सकता, वैसे ही अपने तथा पराये को भुलावा देने में संभावना से भी पर की घटना-नूतन-नूतन लीला उपजाने में कुशल परमात्मा की माया विभ्रम से मोह उपजा कर जो सत् नहीं उसे सत् मनाती है तथा इसी से यह जीव जगत्- संसार की सत् मानता है, पर वह सत् नहीं, यह इस मकड़ी की अव्याकृत लीला से भली-भांति तूने समझा होगा, मकड़ी तथा उसके जाला के समान ही इस ब्रह्माण्ड की लीला-रचना है। जैसे मकड़ी मूल है तथा उसकी लार में से सारा यह जगद्रूप जाला बँधा है, वैसे ही परमात्मा एक ही और सनातन है तथा यह जगत् जो देखने में आता है वह उसकी माया का जाला है। मकड़ी को जहां-जहां इच्छा होती है वहीं-वहीं वह अपना जाला बांधती है, उसी तरह परमात्मा को भी जहां-जहां इच्छा होती है वहां-वहां वह जगत् को रचता है। उसे कामना हुई कि मैं अनेक* हो जाऊं, जन्मूं-उपजूं। उसने तप तपा। उसने तप द्वारा संसार की रचना की और रच कर इस मकड़ी की लीला की तरह सब में अनुप्रवेश† किया और वह सत् तथा असत् दोनों रूप रहा, पर असत् नाशवन्त रहा और सत् सत् ही। जैसे इस मकड़ी के जाले में छोटे, बड़े, मोटे, पतले खंड देखने में आते हैं, वैसे ही परमात्मा की सृष्टि में छोटे बड़े अनेक ब्रह्माण्ड हैं; मकडी के जाले के खंडों में भी जैसे बारीक-बारीक खंड हैं तथा उनमें अनेक जंतु बसते हैं, वैसे ही इस ब्रह्माण्ड में भी अनेक खंड तथा

---

* एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय। † रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव।

प्रतिखंड हैं, जिनमें अनेक जन्तु बसते हैं। जैसे मकड़ी में से ये जन्तु उत्पन्न हुए हैं, वैसे ही ब्रह्माण्ड के जीव भी परमात्मा में से उत्पन्न हुए हैं। जैसे मकड़ी के जाले में दिखाई देते हुए कोई-कोई जीव ऊंचे चढने का प्रयत्न करते हैं, वैसे ही ब्रह्माण्ड के जीव भी अपने सत्कर्मयोग से आत्मज्ञान संपादन करके ऊपर चढ़ते हैं। जाले में कितने ही जन्तु पीछे पड़ते देखे हैं, कारण कि उनका आश्रय स्थान दृढ़ नहीं था। सद्गुरु का समागम हुआ नहीं और जीवों का कर्मवासना बंध छूटा नहीं, भावना उत्तम और दृढ़ हुई नहीं, सत्संग का रंग पक्का चढ़ा नहीं, हरिरस में तर बतर नहीं हुआ, ऐसा जीव ऊंचा चढ़ने पर भी इसी प्रकार नीचे गिर पड़ता है। जाले की सीमा पर बँध जाने वाले जीव, माया में रचे पचे रहने वाले जगन्नगर के जीव हैं। मकड़ी के समीप का स्थान बहुत ही सुदृढ़ है। इस स्थान में रहने वाला जीव धीरे-धीरे आगे बढ़ कर जैसे थोड़े समय में लीन हो जाता है, वैसे ही संसारी जीव, कर्म करते-करते, भक्ति का पोषण कर धीरे-धीरे स्वरूप की दृढ़ भूमि में पहुंच कर, ज्ञानी बन सब माया का त्याग कर निरंजन होकर, परमात्मा में विलीन हो जाता है। परमात्मा में एकतार हो जाने वाले जीवों को गिरने का डर बहुत थोड़ा है, जरा भी नहीं, तथा गिरे भी तो परमात्मपद को शीघ्र प्राप्त होते हैं। यही मुक्त! मुक्ति! छूटना! सायुज्यता! कैवल्य! निर्वाण! जैसे मकड़ी के जाले में विलीन हुआ जीव, फिर सूक्ष्म दृष्टि से भी निकलता हुआ दिखायी नहीं दिया, वैसे ही परमात्मा में विलीन हुआ जीव भी फिर जन्ममरण को प्राप्त होता ही नहीं। उस जाले में कितने ही जीवों को तूने ऊंची भूमि में भी चढ़ते देखा है। वे अधिकारी हैं, परन्तु अनन्यता प्राप्त करने की उनकी शक्ति में कच्चापन होने से-वासना से मुक्त न होने से, सातवीं भूमिका में पहुंचने की शक्ति वाले हुए नहीं, इससे वे नीचे की भूमिकाओं में ही अटके रहते हैं। जब तक जीव, निर्वासन, निष्काम, निर्लेप, असंग, क्रियारहित, अहंता, ममता से रहित बन, अच्युत स्थान का प्रवासी नहीं होता तब तक वह दान, तप, पुण्य, परमार्थ, यजन, याजन, सेवन, पूजन, अर्चन करने वाला रहता है और वह पांचवीं छठी भूमिका तक ही पहुंचने की गति रखता है। जैसे मकड़ी अन्त में अपने सारे जाल को अपने ही विषे समा लेती है। उसी प्रकार अपने में से उत्पन्न हुए इस संसार को अपने विषे परमात्मा लीन कर लेता है। जब इच्छा होती है तब अपनी माया को अपने में समेट लेता है। इस माया को भेद कर इसी कल्प में जो जीव परम पद को प्राप्त करते हैं, उनको जीवन मरण का चक्र फिर नहीं भोगना पड़ता। पुनः परमात्मा की जब इच्छा होती है, तब अपने माया जाल को फैला देता है। मुक्त जीव के बिना अन्य सबको इस माया के जाल में लिपटना-रमण भ्रमण करना, क्लेश भोगना-सर्जित होता है।"

"हे जीवनसिंह! इस लोक के जीव परमात्मा से उत्पन्न होकर परमात्मा में ही समाने वाले हैं। यही मनुष्यदेह का सफल कर्तव्य है। पर यह बात कुछ सहज और शीघ्रता की नहीं। जगत् का जीव वासना का-मोह का-अहंता ममता का कीड़ा ही बना रहता है। इससे वह चार खानें जो परमात्मा ने उत्पन्न की हैं उन्हीं में अपने-अपने कर्मानुसार उसका रमण भ्रमण हुआ करता है, इसमें मनुष्यदेह मिलना, यह अति दुर्लभ है। तथा उसमें भी ज्ञान की प्राप्ति होनी, यह अति कठिन है। परमात्मा के मायिक जाल की लीला ही ऐसी अलौकिक है कि जहां तक जीव शुद्ध सात्त्विक वृत्ति को प्राप्त नहीं होता वहां तक उस जीव का सब प्रयत्न माया में अधिक से अधिक लिपटता ही रहता है।

मनुष्यदेह सार्थक करने वाले कौन हैं?

"प्रिय वत्स! जैसे किसी जन्मांध को निर्मल नेत्र प्राप्त हो, किंवा जन्म रोगी को सुखदायी अमृत प्राप्त हो, निर्धन को धन का भंडार प्राप्त हो, अथवा बड़े वैभव सुखासन पर विराजे और उससे उसे जो आनंद प्राप्त हो, वैसा ही आनन्द पूर्व जन्म के संस्कारी जीव को मनुष्य देह प्राप्त होने पर होता है। पर, यह मनुष्यदेह प्राप्त होकर कितनों ही को हर्ष होता है और उसी में वह जीव कुछ भी सत्कर्म किये बिना अथवा नया संपादन किये बिना प्राण छोड़ देता है तो फिर चौरासी की रहँटमाला में चक्कर खाता रहता है। संसार की माया को देखा। उसी में मोहांध बनकर कितने ही जीव तो विक्षिप्त मन के बन जाते हैं। वे बाग-बगीचे, घोड़ा, गाड़ी, कनक, कांता तथा कीर्ति, धंधे रोजगार और व्यवहार में ही लीन बन जाते हैं। परन्तु जो आत्मशोधन में उत्सुक हैं, पूर्व जन्म के सुकर्म के पाश से कुछ अंश में बँधे हुए हैं,वे ही इस मनुष्य देह को सार्थक करने में प्रयत्नशील रहते हैं। वे जगत की माया से निर्लिप्त रहते हैं। उनकी वृत्ति का स्थान उच्चतम ही रहता है। उनका मोह जो-इसे मोह कहिए तो परम पवित्र पुरुषोत्तम के चरणारविंद पर ही रहता है। प्रसंग पाकर यदि उनको माया बाध करती है तो उसके साथ वे पूरा-पूरा युद्ध करते हैं और इस प्रकार युद्ध करते-करते किसी समय माया पर विजय पाने से पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं, तो दूसरे जन्म में पुनः मनुष्य देह को प्राप्त करके, अपने जन्म का-देह का सार्थक करने में समर्थ होते हैं। जिसने पूर्व जन्म में माया की उपेक्षा की है, निर्बाधित रूप से माया पर विजय प्राप्त करने का श्रम किया है वह इस जन्म में विजय ही को प्राप्त होता है और अनन्त जन्म के अज्ञान का नाश करता है तथा बहुत ही संभाल कर मनुष्य देह को व्यतीत करता है। इतने ही में जब उसे सद्गुरु का समागम होता है, तब वह अपनी मनुष्य देह को सिद्ध करता है। इस पर मैं तुझसे एक दृष्टांत कहता हूं ,उसे तू श्रवण कर!"

जन्मदरिद्री को पारसप्राप्ति

"एक अत्यन्त दरिद्री और महाकृपण जीव था। वह दमड़ी दमड़ी का संग्रह करता था। किसी समय वह गिरिराज के समीप जा पहुँचा। उसके पूर्व जन्म के सत्कर्म और सुदैव से अकस्मात् गिरिकन्दरा में से एक देदीप्यमान उज्जवल बहुत बड़ा हीरा प्राप्त हुआ। इससे उस दरिद्री के आनन्द का पार नहीं रहा। उस हीरे को उसने पेट के साथ दबा कर रक्खा, फिर गले से लगाया, आंखों से लगाया, हर्ष से नाचने लगा तथा क्षण-क्षण उसके प्रकाश को देखने लगा। उसको इतना बड़ा आनन्द था कि त्रिभुवन में भी न समाये। इस आनन्द में उसकी भूख प्यास भी उड़ गयी। गिरिकन्दरा में से उसे जो हीरा मिला था उसे कोई ले न ले (छीन न ले) इस भय से वह कितनी ही देर तक तो गिरिकन्दरा ही में छिपा रहा।

एक समय छिपते लुकते वह गिरिकन्दरा में से बाहर निकला और चित्त में बहुत घबराया। किसी निर्भय स्थान में जाकर जो हीरा मणि उसे प्राप्त हुआ था उसका सुख-आनन्द भोगने का विचार करने लगा। वह हक्का बक्का होकर चारों ओर देखता था कि कदाचित् ऐसा न हो कि कोई हीरा छीन ले! ऐसा भय होने पर सम्हाल करता आगे जाता था, इतने में मार्ग में उसे एक पुरुष का दर्शन हुआ। उसे देखकर वह बहुत घबड़ाया। यह पुरुष परम कल्याणकर्त्ता सन्त था। वह तो उदासीन था, पर उस दरिद्री को यह भय था कि कहीं हीरा न छीन लेवे, इस भय से वह मुट्ठी बांधकर ऐसा दौड़ा कि उसे आस-पास का कुछ भी भान न रहा। ऐसा करने से वह मार्ग में गहरे कुएं में गिर पड़ा।

दैवयोग से उस संत ने इसे कुएं में गिरते देख लिया। वह उसके पास गया। और उस दरिद्री को कुएं में से निकालने का प्रयत्न करने लगा। पर दुर्दैव के मुख से लिपटे हुए इस मनुष्य के नेत्र नहीं खुले। यह नहीं समझा कि यह संत तो परोपकारी है-तारने वाला है। उसने तो उलटा यहीं जाना कि यह आदमी अवश्य मेरा हीरा छीन लेगा, इस भय से वह दरिद्री दहाड़ मारकर रोने लगा। यह देख संत को बड़ा आश्चर्य हुआ। संयोगवश दरिद्री के हाथ का हीरा संत की दृष्टि पड़ गया। उसे देखकर संत को विचार हुआ, कि 'इस मूर्ख के हाथ में यह रत्न पड़ गया है इसी कारण इसको हर्षोन्माद हो रहा है। यदि इसको महामणि प्राप्त हो तो इसकी क्या दशा होगी?'

तब संत ने उससे कहा कि "हे हीरकमणि प्राप्त करने वाले जीव! अच्छा हुआ कि मैं तुझे मिल गया। यदि कोई लुच्चा लफंगा तुझे मिला होता तो तेरे इस

हीरे को छीन ही लेता और तू दरिद्री का दरिद्री ही फिर हो जाता। पर अब निर्भय रह, मुझ पर विश्वास कर, श्रद्धा रख तथा जैसा मैं कहूं वैसा ही करेगा तो इस हीरे से तेरा सब दरिद्र चला जायेगा। इस मणि के प्रताप से तू परम आनंद का भोक्ता होगा। इस समय तो मेरे साथ चल तथा मेरा वैभव क्या है सो तू देख!"

इतना कह कर संत महात्मा अपना वैभव दिखाने के लिये, उस जन्मदरिद्री को कुएं में से निकाल अपने आश्रम प्रति ले गया। जन्मदरिद्री ऐसे जीव को सन्त महात्मा के ऐश्वर्य का अनुमान न था कि वह कितना होगा। उसको इसकी कल्पना भी न थी। क्योंकि जो एक तुच्छ हीरे के लाभ से अपना अहोभाग्य मानता था, उस जीव को दिव्यमणि की कल्पना कहां से हो? फिर वह संत महात्मा उसे अपने साथ अपने आश्रम में ले गया। वहां वह क्या देखता है कि हीरे के बड़े-बड़े पर्वत, हीरे की नदी, हीरे के वृक्ष, हीरे की भूमि, हीरे की छत,ऐसा सब हीरे ही का दिखाई दिया। जहां दृष्टि करे,जहां पैर रखे, जहां स्पर्श करे वहां सब ठिकाने ही हीरे का प्रकाश था। यह देखते ही उस जन्म दरिद्री को मूर्छा आ गयी। जब उस सत्पुरुष की शुश्रूषा से, उस जन्मदरिद्री की मुर्छा जगी, तब तो वह नाचने, कूदने और हर्ष के आंसू बहाने लगा, आनन्द के आंसू बरसाने लगा। उसके मन को जो आनन्द हुआ वह उसका मन ही जाने। उस आनन्द का वर्णन करना मेरी शक्ति से बाहर है। कभी तो वह हीरे की नदी के घाट पर जा बैठे, फिर वहां से उठकर हीरे की पर्वत पर जा बैठे; फिर हीरे के वृक्ष से जा भेटे तथा क्षण भर में हीरे की पलगं पर जाकर लेट रहे, कभी हीरे के हिंडोले पर जा झूले! उसकी यह दशा हो गयी!

इस महात्मा सन्त की ऐसी अलौकिक गति थी। फिर उसने उस जन्म दरिद्री को उसकी निद्रा में से जाग्रत कर उसके शरीर पर दृष्टि करने को कहा। आश्चर्य! वह भी हीरामय! सचमुच! 'अहो हो! मैं आप भी हीरा! मणि! माणिक! अहा हा!!! मेरे समान कौन भाग्यशाली होगा?!' वह ऐसा विचारने लगा।

पर इतना गड़बड़ में इस जन्मदरिद्री का गिरिकन्दरा में से प्राप्त पहला अल्प हीरा, कहीं गिर पड़ा तथा हीरे की सृष्टि में रहता हुआ जन्मदरिद्री पुरुष उस हीरे की कनी से लिये, फूट-फूट कर रोने लगा। वत्स जीवन! देख कौतुक! वह उस हीरक भूमि में है। जहां पृथ्वी, पानी, पर्वत, वृक्ष, प्राणी, पदार्थ मात्र हीरे के ही हैं, जहां देखो वहां हीरे ही हीरे हैं, सच्चे हीरे हैं, पर यह जन्मदरिद्री, इस हीरे की भूमि में उस हीरे की एक कनी को खोजने लगा। यह देख उस सन्त महात्मा को बड़ी हँसी आयी।

उसने कहा—"अरे ओ मूर्ख! पागल! इस हीरे की भूमि में रहने पर, स्वतः स्वयंप्रकाश हीरा होने पर, इस परिच्छिन्न हीरे के लिये तू क्यों खेद करता है? जैसा तेरा हीरा था वैसे तो अनेक हीरे तेरे पैरों के नीचे पड़े हैं तथा इस हीरामय पत्थर में से जो हीरे की एक शिला तेरे ऊपर गिरे तो तू दब कर मर जाय, ऐसे बड़े-बड़े हीरे सर्वत्र पड़े हैं। पर तू एक हीरे की कनी के लिये शोक करता है। सचमुच तू भाग्यहीन दरिद्री का दरिद्री ही रहा। जो कोई भाग्यवान् दरिद्री एक बार इस भूमि में पैर रखता है तो वह कभी अभागा नहीं रह सकता, क्योंकि स्वयं श्रीमान् बन जाता है। यहां किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं, तो भी तू एक हीरा की कनी के लिये रोता है। यह तू कैसा भाग्यहीन! यह सब तेरा है। तेरी इच्छा तो उतने हीरे ले जा। तुझे किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं!" यह कह कर वह महात्मा अन्तर्धान हो गया।

फिर वह दरिद्री आनन्द से उस हीरे के प्रदेश में विहार करने लगा तथा उस हीरक भूमि का आप ही स्वामी है इससे अधिकाधिक आनन्द से उस भूमि का सुख भोगने लगा। वह आनन्द में मस्त था। इस समय वह पूर्व के दरिद्रीपन के लिये शरमाने लगा और अपने आपको निःसीम अखंड श्रीमान् मानने लगा। अब उसे दरिद्र तो स्वप्न में भी दर्शन नहीं देता। एक समय इस अमूल्य मणिमय देश का विस्तार कितना होगा, यह देखने को वह तत्पर हुआ और स्वस्थान में से निकला, चारों ओर फिरने लगा, चलते-चलते थक गया, पर इस हीरक प्रदेश की सीमा नहीं दिखाई दी। ऊपर, नीचे, आगे, पीछे, दायें, बायें जहां दृष्टि फेंके वहां अपूर्व मणिमय प्रदेश ही वह देखता था। यह देख उसे बड़ा आश्चर्य, अत्यन्त प्रमोद, निरतिशय आनन्द प्राप्त हुआ पुनः फिरता-फिरता वह मूल स्थान के आगे आ पहुँचा। वहां गिरिकन्दरा में से प्राप्त हुई हीरकमणि का उसे स्मरण हो आया। इतने में वह हीरा उसकी दृष्टि पड़ा। अब वह जन्मदरिद्री पूर्व का भिखारी न था, इससे उस हीरे को हाथ में ले हँसकर कहने लगा—'अपनी दरिद्रावस्था में प्राप्त हुए इस हीरे को अब मैं क्या करूं? इसे गले में बाँधू, या माथे पर रखूं, हाथ में बाँधू या पैर में पहनूं। इससे मुझे क्या आनन्द होगा, मैं दरिद्री था तब यह हीरा अमूल्य था; तब मुझे इसकी कुछ कीमत भी थी, पर आज जहां मैं स्वयं मणिमय हूँ। दिशायें भी मणिमय हैं, भूमि भी मणिमय है, मैं जहां देखता हूँ वहां हीरा, मोती, माणिक, पन्ना आदि ही दिखाई पड़ते हैं, वहां इस टुकड़े की क्या गिनती? क्या कीमत? क्या शोभा? इससे क्या आनन्द? आज मैं हीरक देश का स्वामी हूं। चाहे जितना

हीरा लेऊं तो कोई रोकने वाला नहीं। छिः!! टुकड़ा तुच्छ! अल्प! इसको क्या करूं?' ऐसे कह कर उस हीरे को फेंक दिया, क्योंकि आज तो वह श्रीमान् का श्रीमान् था। आज उसकी श्रीमन्ताई का पार न था। संसार के सब जीवों से श्रेष्ठ था। इस सयम उसके वैभव का पार न था। आज उसके दरिद्र का नाश हो गया है। आज वह निश्चिंत तथा शान्त बन गय्रा था। उसकी उदासीनता सदा के लिये मिट गयी थी।

महात्मा गुरुदेव ने जीवन से कहा—"हे राजपुत्र! मनुष्यदेह प्राप्त होने के पीछे सद्गुरु के समागम से जो अवस्था प्राप्त होती है वह ऐसी ही है। प्रिय जीवनसिंह! दृष्टांत का रहस्य तू समझा होगा। न समझा हो तो सुन! जीव आत्मज्ञान—विद्वत्संन्यास के बिना परम स्थान को नहीं पाता, इस लोक का जीव 'तत्त्वमसि' के ज्ञान के बिना जन्मदरिद्री ही है। ऐसे जीव को कर्म, यज्ञ, तप, दानादि या उपासना, प्रभु भजन, सेवन, स्मरण, पूजादिक हीरा प्राप्त हुआ है; ये सब हीरे की कनी के समान ही हैं। 'तत्त्वमसि' समझाने वाले गुरु तथा संत समागम से उस जीव ने जाना कि उपास्य और उपासक मैं ही हूं, अर्थात् सबका त्याग कर जिस परमात्मा मे विलीन हुआ है, वह परमात्मा का रूप भी मैं ही हूं, ऐसा जानना, यह उसकी हीरक भूमि है। इस भूमि में पहुँचने के पश्चात् उसे अन्य हीरे की तरह कर्म पर या बाह्य उपासना पर प्रेम रहता नहीं, और आनन्द भी होता नहीं, हीरे की जो कनीं जीव को प्राप्त हुई वह बाहर की कर्म उपासना है। इन कर्म उपासनाओं में अनेक जन्मदरिद्री जीव अपने को कृतकार्य मान आनंदित होते हैं। पर सद्गुरु के समागम से जो मणिमय प्रदेश प्राप्त हुआ है वह प्राप्त होते ही, पिंड ब्रह्माण्ड की एकता होते ही, जीव शिव का भेद टूटते ही जैसे जन्मदरिद्री को महातेजस्वी हीरा प्राप्त हो जाने पर हीरे की कनी तुच्छ मालूम पड़ती है, वैसे ही बाह्य प्रपंच की पूजा सेवा में, माया के विदारने वाले परम तत्त्व के जानने वाले जीव को—आत्मदर्शी को लेश मात्र भी आनन्द नहीं होता, यह आनन्द स्वल्प है, काल पाकर नाश को प्राप्त होने वाला है, परन्तु अविच्छिन्न परब्रह्म की लीला में ही एकतार बनकर शुद्ध आत्मदर्शी—सात्त्विक भावना में मस्त जीव, जिस अखंड आनन्द को भोगता है, उस आनन्द का वर्णन नहीं हो सकता, इस स्थिति को प्राप्त होने वाला जीव, 'मैं कौन?' 'कहां से आया?' यह विचार करने का भाग्यशाली बनता है, जानता है : दूषित का त्याग कर निर्मल—अमल का ग्रहण कर शुद्ध सात्त्विक निरंजन हो संसार से तिरकर मुक्त दशा के सुख का अनुभव करता है।

"ऐसी स्थिति प्राप्त करने के लिये हे शिष्य! जो ज्ञान जीव शिव का अभेद—ब्रह्माण्ड की रचना का रहस्य, मैंने तुझे समझाया है, उसका तू विचार कर और अपने नेत्र से एक लक्ष कर उसकी सीमा पर देख; तब तुझे क्या प्रत्यक्ष होता है? तेरी दृष्टि के आवरण तथा विक्षेप शक्ति से रहित होने पर तू देखेगा कि तू कौन है! उसमें जो दृष्टिगोचर होगा उससे तेरे नेत्रपटल खुल जायँगे और स्वस्वरूप का यथार्थ दर्शन होगा।"

इस प्रकार कहकर गुरुदेव ने शिष्य की पीठ ठोंककर—थपथपाकर जीवन सिंह को निजानंद के स्वरूप में एकतार होने की आज्ञा दी।

जीवनसिंह का विद्वत्संन्यास

फिर जीवनसिंह नहा धोके स्वच्छ होकर गुरु की आज्ञानुसार पद्मासन तथा दृष्टि नासाग्र पर स्थिर करके गुरु के समीप बैठा।

गुरु ने कहा—"हे शिष्य! अब अपनी बहिर्वृत्ति को अन्तर्मुखी कर तथा वृत्ति रूप से जो व्यष्टि तुझे प्रकट दिखायी देता है, उसे संकुचित कर स्थूल देह का भान भूल कर उसका समष्टि में विलय कर; फिर अन्तःकरण को दृढ़ कर तथा सब भूमि प्रदेश का लय हो गया हो ऐसी वृत्ति कर नेत्र मीच के तुझे जो दिखायी देता है उसे तू देख!"

गुरु की आज्ञानुसार जीवनसिंह सब वृत्तियों को संकुचित करके समष्टि के विलास में अपनी सात्त्विक वृत्तियों को आरोपण कर धीरे-धीरे सारे संसार को जलमय देखने लगा; फिर धीरे-धीरे सब विषयों को जल में डूबता देखने लगा, जल की लहरें दौड़ती हों, इस प्रकार उसकी अंतर्दृष्टि में दिखायी देने लगा। इस समय अनेक लहरें उठकर लय पाती थीं, इस विशाल जल प्रदेश के मध्य के अवकाश में एक दिव्य ज्योति उसे मालूम होने लगी। यह ज्योति क्षण में जल से अलग दीखती और क्षण में जल में तिरोहित दीखती थी। वह सर्वत्र व्याप्त थी। यह ज्योति क्षण में अणु के भी परम अणु थी और फिर ब्रह्माण्ड से भी बड़ी मालूम पड़ती थी। ये जल की तरंगे जल में से उपज कर जल ही में लीन हो जाती थी; जल के बाहर नहीं जाती थी। इस जलप्रदेश के बीच में अधिष्ठानरूप जो ज्योति दीखती थी, वह ज्यों ही उसे दिखायी दी कि तुरन्त ही गुरु ने समाधिनिष्ठ जीवनसिंह से कहा—हे शिष्य! इस अधिष्ठान के मध्य में दृष्टि लगा!"

तुरन्त जीवनसिंह ने दृष्टि लगायी और बोला हे गुरुदेव! यह अधिष्ठान तो विश्वरूप दिखायी पड़ता है।"

गुरु ने कहा–"दृश्य, दर्शन तथा द्रष्टा यहां भिन्न नहीं; तू ही अपने आपको देखने वाला है। साक्षी, वृत्ति, भावना, संवेदना, क्रिया, विश्व यह सब तेरे अपने ही नाम रूप हैं। देख! स्थिर होकर देख!! वह तू ही है!"

स्थिर होकर जीवनसिंह ने एक तार हो, उस चिद्विलास अधिष्ठान में अपनी दृष्टि लगाकर क्या देखा कि 'स्वस्वरूप' देखने वाला और दृश्य भिन्न नहीं था। दोनों एक ही थे।' अपनी सूक्ष्म देह पर दृष्टि की तो अपने आपको देखा। ज्योति के मध्य में देखा तो वहां भी अपने आपको देखा, वह जहां देखे वहां अपने आप ही को देंखे; यह देख वह परमानन्द में विलीन होता गया।

उसे समाधि से मुक्त करने के लिये गुरुदेव ने जागृत किया। इस देह की उसकी दृष्टि खुली हुई थी। पर राजपुत्र अंतःस्थिति में पूर्ववत् था। इस कारण क्षण भर तो उसकी दृष्टि में यह लोक मालूम ही न हुआ। उसकी वृत्ति व्यष्टि परिच्छिन्न को भूलकर अपार व्याप रही थी।

वह स्वतः बोला–'मैं अल्पपरिच्छिन्न नहीं, मैं सर्वाधार, सर्वस्वरूप, सर्वात्मा हूं। मैं सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कर्ता हूं। माया यह मेरी अंशभूत शक्ति है। मेरी इच्छा प्रमाण लीला फैलाती है। त्रिमूर्ति भी मेरा अंश है। मेरी आज्ञानुसार सृष्टि की व्यवस्था होती रहती है। इस मेरे निमिषोन्मेष में कितनी सृष्टि हुई और कितनी गयीं, यह जान भी नहीं पड़ता, हे देव! मैं अनाद्यनंत हूं। जैसे उदुंबर में अनेक फल हैं और उसके प्रत्येक फल में अनेक प्रकार के जीव हैं और जीवों में अनेक प्रकार के जीवों का अन्तर्वास है, वैसे ही मेरे से ओतप्रोत अनन्त ब्रह्माण्ड मुझमें परमाणुवत् आन्दोलन कर रहे हैं। अपने स्वरूप की वैभव लीला में मैं मौज करता हूं। मुझे बंध क्या और मोक्ष क्या? मैं त्रिकालाबाधित अखण्ड एक रस हूं। सर्वव्यापी हूं, सर्व में मैं हूं। शब्द भी मैं हूं–शब्दातीत भी मैं हूं।'

परमप्राप्ति के परम स्वरूप

ऐसे कहते-कहते गुरु की दृष्टि जीवनसिंह पर पड़ते ही क्षण-क्षण जीवनसिंह की दृष्टि (आंख) मिचने लगी; पुनः वह अपार परमानन्द सागर में तैरने लगा। सुविचारशील! यही दशा उस ब्रह्मानुभव की उन्मत्त दशा है। व्यापकानुभूति को व्यापक के साथ तन्मयता हुई–उसके सब संस्कार छूट गये–प्रारब्ध कर्मरूपी चरखे में रहने वाली कुकड़ी (अन्डिया) ज्ञानाग्नि से भस्म

हो गयी। फिर जीवनसिंह जाग्रत हुआ और सावधान होकर बोला—"हे भगवन्! मुझे कैसी दशा प्राप्त हुई सो मैं नहीं जानता। उस दशा में मैं क्या-क्या बक गया, उसे कहने में मुझे संकोच होता है।"

गुरु ने कहा—"हे वत्स! मैं कृतकार्य हुआ हूं, अब तू निर्भय तथा निःशंक हो। इस स्थिति में तूने जो कुछ कहा, वह शक्ति ही कुछ निराली थी। सन्निपात में जो शक्ति आती है और उसमें जीव भड़क-भड़क उठता है, उस तरह ही यह शक्ति नहीं थी, परन्तु उससे विलक्षण थी, वह दिव्य शक्ति है। 'वह तू है' तथा 'वह मैं नहीं,' इन दो वचनों का भेदाभेद अब तुझे स्वप्न रूप ही रहेगा। तू अब यथेच्छ स्वच्छंदपन से विहार कर। अब तूने जाना कि तू कौन?"

जीवनसिंह गुरु के चरणकमलों पर माथा रखकर बोला—"हे नाथ! हे गुरुदेव! मैं क्या कहूं? भेदाभेद होने पर भी सचमुच मैं तुम्हारा हूं, तुम मेरे नहीं, तरंग समुद्र के हैं, समुद्र तरंग का नहीं, हे प्रभो! आपकी पूर्ण कृपाप्रसाद से मैंने सत् जाना है तथा मुझे अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का ज्ञान हुआ है। हे महाराज! विश्वरूप में व्याप्त होने वाली अपनी व्याप्ति को मैंने भली-भाँति देखा है। इस सब में मैं हूं, यह सत्य है, तथापि हे भगवन्! व्यष्टि के व्यवहार से मुझे जो भान होता है उस प्रकार, मैं तुम्हारा दास और तुम मेरे उपास्य हो। इस लिये हे गुरुदेव! तुम मुझे अपनी उपासना करने दो!"

तपस्वी गुरुदेव ने कहा—"तेरी आत्मनिष्ठा पूर्ण है। तेरी इच्छा में आवे सो कर। तू जो करेगा उसका फल तुझे अपने आप ही भोगना है। ईश्वर के परम भक्त की जो सात्त्विक अनन्यभक्ति, वही आत्मनिष्ठा है। परम आत्मनिष्ठ भक्तप्रति अपना प्रेम दर्शित करते हुए परमात्मा ने अभय वर दिया है, कि 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है, परमात्मा का यह अमृतवचन है। जिसने परमात्मा का अमृत वचन पहचाना है तथा परमात्मा का शुद्ध सात्त्विक स्वरूप पहचाना है, वही सच्चा भक्त है, वही नित्य सुखरूप है तथा वही नित्य मुक्त है। गुणातीत तुर्यावस्था का शुद्ध सात्त्विक स्वरूप आज तेरे विषे जाग्रत हुआ है। इसी से तू आज 'दासोऽहम्' कहकर मुझे पूजता है, परन्तु 'दासोऽहम्' तथा 'शिवोऽहम्' इन दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं। 'दासोऽहम्' यह जगत्—नाटक है, परन्तु उसका सूत्रधार भी तू ही है। 'दासोऽहम्' या 'शिवोऽहम्' इनमें कुछ भेद न होने पर भी यह भेद जहां तक जीव में अल्पता है, वहां तक प्रतीत होता है। अभी तेरा सातवां पटल खुलना बाकी है, उसका यह चिह्न है—जगन्नगर में दिखाते हुए प्रत्येक नाटकों का यह

स्वरूप है। तू सचमुच शिवरूप है तथा यह जगत् भी शिवरूप है। भेद का मालूम होना यह अज्ञान की लीला है। श्रीकृष्ण परमात्मा ने अपने साक्षात् स्वरूप का दर्शन कौरवों की सभा में तथा महाभारत के युद्ध में अर्जुन को कराया है, उस पर से हे वत्स! तू देख सकेगा कि इस जगत् के सब जीवों का केन्द्रस्थान वही परब्रह्म परमात्मा है। शुद्धाधिकारी को ही इस आत्मरूप का साक्षात्कार होता है, आत्मसाक्षात्कार वाला निर्गुण में लीन होता है। इस पद का अधिकार प्राप्त हुआ तभी जीव को सर्व कर्म त्यागी और संकल्प संन्यासी बनना चाहिये। सर्वकर्म का त्याग, अर्थात् जगन्मात्र में जो-जो कर्म करने में आते हैं उन-उन कर्मों में दोषारोप करना, उनको त्यागना तथा उन त्यागे हुए कर्मों को न करना, यदि करने की आवश्यकता हो तो सर्व कर्म परमात्मा को अर्पण करना तथा सर्व संकल्प का त्याग करना यही विचक्षण का मोक्ष है। फलाभिसंधि के त्याग से जो जीव—भक्त—अनन्य भक्त—जगत् में विचरता है, वही भक्त सच्चा ज्ञानी है, वही भक्त सायुज्य मुक्ति को पाकर परमात्मा की अनंत शक्ति का भजन करता हुआ उसी में नित्य निवास करता है। हे शिष्य! मैंने तुझसे कहा कि 'वह तू है' इसमें 'तू' शब्द का लक्ष्यार्थ तू आप ही हैं। तू 'दासोऽहम्' भले मान, पर 'शिवोऽहम्' यही तेरा नित्य शुद्ध स्वरूप है। इस रूप में 'दासोऽहम्'. होते हुए 'शिवोऽहम्' है और 'शिवोऽहम्' होते हुए 'दासोडहम् रहोगे। हे शिष्य! इस स्थिति से पूर्ण हुआ जीव, आप ही ब्रह्म है, स्वयं सच्चिदानंद ब्रह्म है। पीछे भले ही वह इस विश्व में रहकर उसका आनंद भोगे और माया की वृत्ति को अथवा उस वृत्ति में लीन न होकर तटस्थ मात्र साक्षीरूप देखता हुआ वह निजानंद मात्र का भोक्ता ही बनता है।

वृत्ति—वासना का लय, यही संपूर्ण मुक्ति का साधन है। इस साधन की किसी काल में तथा किसी भी स्थिति में उपेक्षा न करनी चाहिये। हे शीलसम्पन्न! तेरी स्थिति नूतन हो गयी है। तू कौन है, सो तूने जाना है। तेरे पिता ने जो पढ़ाने के लिये मुझे सौंपा था, सो मैंने तुझे पढ़ाया। मेरा तुझको पूर्ण आशीर्वाद है कि तू परमात्मा की अखण्ड लीला के स्थान का निवासी होगा, पुनः तू देख कि तू कौन है!"

जीवन्मुक्त की दशा

अपनी आंतर और बाह्य दृष्टि में एक चित्त से देखते-देखते जीवनसिंह को फिर समाधि हो गयी, पुनः उसको अखंड अविनाशी ज्योति का दर्शन हुआ। निमिषमात्र

देखने से ही वह ज्योति स्वमय मामूल हुई। ज्योति सो जीवन और जीवन सो ज्योति! ज्योति ही ज्योति! सर्वत्र वासुदेवमय, अन्य कुछ भी नहीं, एक परम पुरुष परमेश्वर–पुरुषोत्तम–जगदीश–परमात्मा! अन्य कोई नहीं, इस स्थिति को प्राप्त हुआ जीवनसिंह समाधि में से मुक्त हो बोला–"हे भगवन्! आज मेरी वृत्ति अनिर्वचनीय हो पड़ी है। उसे व्यक्त करने का मुझमें सामर्थ्य नहीं, मैं ही सच्चिदानंद स्वरूप रहा हुआ, स्वसत्ता से सबमें ओतप्रोत हूं। मेरी व्यावहारिक वृत्ति का लय हो गया है। जहां वृत्ति नहीं, वहां विषयाभास भी कहां से हो? जहां वृत्ति तथा विषयों का मेरे स्वरूप में लय हुआ है, वहां स्वसत्ता भी कहां हो? जहां स्वसत्ता का लय हुआ है, वहां द्रष्टा, दर्शन और दृश्य भी कहां से हो? मैं किसका साक्षी तथा किसका प्रकाशक? मैं तो केवल स्वस्वरूप हूं, निजात्मा निजानंद हूं, मैं अमुक हूं, ऐसा मैं नहीं देखता, हे गुरुदेव! इस समय मुझमें क्या हो रहा है सो मैं वाणी द्वारा कह नहीं सकता।"

गुरु ने कहा–"हे वत्स! बस! यह जो उद्गार तेरे मुख में से निकला है यही तेरी अवस्था है। जैसे शक्कर का स्वाद शक्कर नहीं जानती, उसके स्वाद का मनुष्य चाहे जैसे वर्णन करें, पर शक्कर का स्वाद–मिठास वर्णन से वर्णित नहीं हो सकती। वैसी ही स्थिति कैवल्य पद के प्राप्त करने वाले की है, ऐसा है कि वैसा है, इस प्रकार कैवल्य स्थिति का वर्णन नहीं किया जा सकता, जो जानता है वही जानता है। जो जानता नहीं वही बकता है, वर्णन करता है, पर जानने वाले को तो इसके लिये कोई शब्द ही नहीं मिलता। वह कहे क्या! क्या वर्णन करे! क्या दिखावे?! हे शिष्य! मेरा बोलना, कहना तथा तेरा सुनना, यही संपूर्ण होता है। हे सच्छिष्य! जो ज्ञान लाभ तुझे हुआ है, उससे तू कृतकृत्य है। एक बार तू मुझे हृदय से लगा लेने दे।' ऐसा कह गुरुदेव ने जीवनसिंह का आलिंगन किया फिर गुरुदेव शिष्य को प्रेमपूर्वक आशीर्वाद देकर वहां से बिदा हुए।

जिस जीवनसिंह ने गुरु के मुख से ज्ञान श्रवण किया था, मनन किया था तथा जो कैवल्य दशा को प्राप्त हुआ था, वह जीवनसिंह जीवन्मुक्त होता हुआ अपने पिता का दिया हुआ राज्य भोग कर अन्त में स्वस्वरूप में विलीन हो, कालक्रम से उत्तमोत्तम अक्षय ऐसे कैवल्य धाम का निवासी हुआ।

X X X X

यह लंबा इतिहास कह कर हिमगिरि के महात्मा ने सुविचार से कहा–"हे सुविचार! वास्तव में जीव कौन है और उसका शुद्ध सात्त्विक स्वरूप क्या है, इसका तुझे संपूर्ण ज्ञान हुआ होगा। इस विचार का श्रवण मनन करके, इस स्थिति को हमेशा लक्ष्य में रखकर वह स्थिति तुझे प्राप्त हो, यही मेरा तुझे भी आशीर्वाद है।"

ऐसा कहकर हिमगिरि के महात्मा समाधिस्थ हो गये। तब महात्मा को साष्टांग दंडवत् कर सुविचार अपनी स्त्री के साथ विदा हुआ।

जो अद्भुत कथा महात्मा ने कही थी, उसका उसी क्षण से वह मनन करने लगा। उसने धीरे-धीरे अपने शुद्ध स्वरूप के देखने का अभ्यास आरंभ किया तथा सब मानसिक वृत्तियों को संकुचित करके जिस स्वरूप का जीवनसिंह ने दर्शन किया था, उसे प्राप्त करने के लिये अश्रान्त श्रम किया। प्रथम तो वह स्वस्वरूप देखने को समर्थ ही नहीं हुआ, पर धीरे-धीरे शुद्ध सात्त्विक भाव को प्राप्त होकर वह श्रीकृष्णचन्द्र के ध्यान में एकतार हो गया तथा अन्त में वह स्वयं श्रीकृष्णरूप ही बन गया। जल में, स्थल में, वनस्पति में, आकाश में तथा अपने स्वरूप में भी उसको श्रीकृष्ण का स्वरूप देखने में आया। यह उसकी स्थिति अधिक कालतक ठहर नहीं सकी, परन्तु जिस क्षण वह 'श्रीकृष्णोऽहम्' कि स्थिति को प्राप्त हुआ था, उस समय को वह अहोभाग्य मानने लगा। अभी तक उसके संस्कार पूर्ण न हुए होने से उस स्थिति का वह संपूर्ण अनुभव नहीं ले सका। परन्तु जो मार्ग अपने को दर्शाने में आया है उसका क्षणिक अनुभव होने से भी वह अपना अहोभाग्य मानकर आनंद में कल्लोल करने लगा। जिस समय सुविचारशर्मा इस स्थिति का अनुभव करता था, उस समय उसकी स्त्री छद्मलिंग भी उस स्वरूप में रमण करती देखने में आयी। द्वैतनाश हो गया, अद्वैत का साम्राज्य सर्वत्र व्याप गया और समाधि के अंत में 'अहो गुरुदेव! आपकी कृपा से मैं भाग्यशाली बना हूं, ऐसा कहता हुआ वह हर्ष की मूर्च्छा में ऐसा निमग्न हुआ कि प्रभात होने तक भी उसकी तुर्यावस्था का नशा उतरा ही नहीं।

ॐ

द्वितीय बिन्दु

काम जीता उसने जगत् जीता

पराञ्चिखानिव्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यतिनान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरःप्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ कठोपनिषत् 4। 1

अर्थ :–परमात्मा ने इन्द्रियां बाह्य विषयों का प्रकाश करनेवाली बनायी हैं और इनकी अन्तर्विषयों का प्रकाश करने वाली सामर्थ्य का नाश किया है, इस लिये इन्द्रियां बाह्य विषयों को देख सकती हैं, अन्तरात्मा को नहीं देख सकतीं। परन्तु कोई धीर विवेकी पुरुष अमृतत्व–मोक्ष की इच्छा से नेत्र को मींचकर नेत्रादिक इन्द्रियों को विषयों से रोककर परमात्मा का दर्शन करता है।

श्री भगवान् सूर्यनारायण के पूर्व दिशा में उदय होने से पूर्व, ये दंपति स्नानसंध्यादि नित्यकर्म से निवृत्त हो सूर्य को अर्घ्य प्रदान करके गुरु के आश्रम की ओर सिधारे। जहां गगनभेदी हिमालय का सौन्दर्य संपूर्ण दीप रहा था। दिव्य फल फूल वाले वृक्षों की घटा चारों ओर छा रही थी। पतितपावनी गगां का प्रवाह खल-खल आवाज करता बहता था। आकाश निर्मल था। हिमगिरि के बर्फ से ढके हुए शिखर दृष्टि को आनंद दे रहे थे। दूर-दूर की गुफाओं में ऋषि मुनि परमात्मा के ध्यान में निमग्न हो रहे थे। उनके प्रभु भजन का घोष कानों को परम आनंद में लीन करता था। गुरु सेवा में परायण शिष्य ऋषि मुनियों की होम सामग्री इकट्ठी करने में गुँथे हुए थे। आकाश में से दिव्य गान का मधुर-मधुर स्वर सुनायी देता था।उससे हृदय परम उल्लास पा रहा था। मायिक मन के मनुष्यों का मन मोहरहित बनता था यक्ष, किन्नर, गंधर्व, विद्याधरादि दिव्य पुरुष शंकर समान उन महात्मा की पर्णकुटी के आस-पास मधुर स्वर से गान आरंभ कर रहे थे। दशों दिशाओं में ऐसा अलौकिक सौन्दर्य प्रदीप्त हो रहा था कि उसे देखकर दंपति ने यह धारणा की कि यह कोई दैवभूमि ही है।

ऐसी अलौकिक शोभा को देखते-देखते वे दंपति मार्ग में आते हुए दिव्य वृक्षों के दिव्य सुगंधित पुष्प, पत्र तथा मीठे फल लेकर गुरु के आश्रम की ओर

चले। गुरुदेव अभी समाधिस्थ थे। उनके चरण कमल में प्रणाम करके दंपति चरण समीप बैठे तथा गुरु समाधि में से जागृत हों उससे पहले सुगंधित पुष्पों की गुंथी हुई माला गुरु के कंठ में आरोपण करने की आतुरता से, गुरु के मुख कमल का एक दृष्टि से अवलोकन करने लगे।

पूर्व दिवस के उपदेश से दंपती का हृदय केवल निर्भय हुआ था। किसी प्रकार की सांसारिक इच्छा का उनके हृदय में स्थान नहीं रहा था, उनके मन में एक मात्र कामना थी, एक ही इच्छा थी, एक ही मनोरथ था, एक ही भावना थी, और वह गुरु दर्शन तथा गुरु वचन पर प्रेम, परम श्रद्धा- स्वरूप के ज्ञान की प्राप्ति! यही वासना थी। यह माया नहीं किन्तु यह शुद्ध सात्त्विक भावना थी। नया-नया आत्मा का कल्याण करने वाला उपदेश सुनना तथा उसका मान करना, इसी के लिए दोनों जने अति आतुर थे। दोनों जने यही विचारते थे कि गुरुजी की कब समाधि जगे और उपदेश करें इसके लिये अति उत्कंठित हो रहे थे।

घड़ी गयी, दो घड़ी गयीं। गुरुदेव समाधि में से जागृत हुए 'नारायण!' 'नारायण!' तथा 'ॐतत्सत्' शब्द उच्चारण करने लगे। तुरंत ही दंपति ने उठकर गुरुचरण में प्रणाम किया। गुरुदेव ने ऊंचा हाथ करके दोनों को आशीर्वाद दिया और बैठने का संकेत किया। दोनों स्त्री-पुरुष बैठे। इसके पीछे गुरुदेव नित्यकर्म में लग गये।

ब्रह्मवित् कौन?

कुछ देर तक तो योगेश्वर भगवान् ध्यानस्थ रहे, फिर नेत्र उघाड़ कर शिष्य का निरंतर कल्याण चाहने वाले गुरुदेव बोले—"हे वत्स! तू कौन है, सो तूने जाना? देखा! विचारा! अनुभव किया! हां, तूने जाना कि देहगेह में गुप्त वास करने वाला जीव साक्षात् निजरूप का अंशी है-अरे वही है, पर इस जगत् में रहने वाला अल्प प्राणी, इस देह तथा देह को ही सर्वस्व मान उसका अंशी बन बैठा है। वह कुटुंब परिवार में सदा रचापचा रहता है। 'मेरा-मेरा* कह अनेक झगड़ों में पड़ अनेक कष्ट सहन करता है, अहंता और ममता में लीन रहता है तथा छाती पर हाथ रख 'मैंने किया', 'मैं ही करूंगा,' यह 'मेरा,' यह 'तेरा,' अमुक पदार्थ नहीं दूंगा, 'फलाना लेऊंगा' ऐसे अभिमान में तदाकार हो मस्त बन, मधु पीने वाले मर्कट की भांति डोल रहा है। पर काल-मृत्यु-जन्म-मरण, आवर्जन और विसर्जन-परम पदार्थ-परम कल्याणरूप परमात्मा को क्षणभर भी

---

* अशनं मे वसनं मे जाया मे बन्धुवर्गो मे। इति मे मे कुर्वाणं कालवृको हन्ति पुरुषाजम् ॥

विचार नहीं करता वैसे ही भय भी नहीं रखता। अविद्या जो माया उसके तुच्छ दास की यह लीला है। संसार में दिखाई देते हुए मायिक पदार्थ कैसे नाशवान् हैं, स्त्री, पुत्र, धन, कीर्ति में क्या-क्या दोष है, इसका इसे क्षणभर भी विचार नहीं होता। उगती, प्रफुल्ल होती, शोभती और कुम्हिलाती कुसुमकली को देख जन्म, वृद्धि-जीवन और मरण से चेतने को समर्थ नहीं होता, परन्तु जो नाशवान् है उसे पकड़ने को दौड़-दौड़ कर, मार-मार कर प्रयास करता जाता है, इसका कारण क्या? जब तक पुरुष में से अहंवृत्ति का नाश नहीं हुआ तब तक अविद्या से माने हुए पदार्थ पर ही उसकी ममता रहती है तथा वहीं इस अहंता ममता का कारण है। वही ममता-प्रीति-वासना अकल्याण में आगे बढ़ाती है, यही माया है। परन्तु जैसे सर्प कांचली का त्याग करके पुनः उस कांचली का स्पर्श नहीं करता, उस पर दृष्टि भी नहीं डालता, उसी प्रकार संसार में रचापचा पुरुष भी विद्या की उपासना करके जब तक मायारूप कांचली का त्याग कर, देह के अभिमान को छोड़, पदार्थ मात्र में समाये हुए दोषों को नहीं देखता, तब तक ब्रह्माकार वृत्ति को धारण नहीं कर सकता तथा वह कभी ब्रह्मपद का-अनन्य पद का अधिकारी भी हो नहीं सकता, मोक्ष के मार्ग को देखता भी नहीं। केवल ब्रह्मवेत्ता पुरुष ही इन नाशवान् पदार्थों में समाये हुए दोषों को देखकर, विचार कर उनका त्याग करता है और संसार के लोभ मोह में से निर्लेप रहता है। वह देही अवश्य रहता है, पर संसार में रहकर जिसने आत्मज्ञान प्राप्त किया है, परमानन्द को देखा है, वह भले ही शरीर को धारण किये रहे, कर्मवश स्वर्ग या वैकुंठ का सुख भोगे, परन्तु वह आत्मस्वरूप को ही देखता हुआ उसी में लीन रहेगा और उसी में विलीन होगा। कारण कि—

'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

श्रद्धावान्, तत्पर और इन्द्रियों का संयम करने वाला ज्ञान को पाता है तथा ज्ञान को पाकर तुरंत ही मोक्ष-परा शान्ति को पाता है ऐसा भगवान् का वचन है, तो भी जहां तक समय नहीं आता वहां तक शरीर में वह अवश्य रहता है, पर ब्रह्मवेत्ता का शरीर है भी अवश्य, और नहीं भी है अवश्य। जब जगन्नगर के जीव माया ममता में लिपटे हुए चलन वलनकर संसार को भोगते हैं तब ब्रह्मवेत्ता का शरीर केवल प्राणवायु से ही हलचल कर सकता है तथा जैसे नदी का प्रवाह-प्रवाह में पड़ी हुई लकड़ी को प्रवाह के वेगानुसार ऊंचे-नीचे भले बुरे स्थल में ले जाता है, वैसे ही कर्म ब्रह्मवेत्ता

के शरीर को प्रारब्धकर्मानुसार प्राप्त होने योग्य फल भोगने के लिये घसीट ले जाता है, पर उस कर्म में उसे बंधन नहीं होता, भोगने की कामना नहीं होती। प्राप्त हुआ तो भोग लिया और न प्राप्त हुआ तो नहीं, ऐसी स्थिति से वह देही होते हुए विदेही रह कर विचरता है। इस प्रारब्ध कर्म द्वारा कल्पित हुई वासना के योग से संसार में रहकर भोग भोगते हुए वह ब्रह्मवेत्ता संसार में विचरता है, परन्तु उसकी देह में रहता हुआ जो मुक्त पुरुष जीव वह तो केवल साक्षीरूप ही रहता है। वह संकल्परहित है। स्वरूपानंद का गाढ़ा रस पीने से परम उदार चित्त वाला बन जाता है। पर वह इन्द्रियों को विषयों में नहीं लगाता वैसे ही विषयों से हटाता भी नहीं तथा कर्म के फल पर क्षणभर भी संकल्प विकल्प नहीं करता और न आसक्ति को ही रखता है। यही ब्रह्मवेत्ता स्थूल सूक्ष्म के अभिमान को त्याग कर कैवल्य ही बन जाता है। यही रूप सच्चा शिवरूप परब्रह्म स्वरूप है। ब्रह्मवेत्ता पुरुष महेश्वर का ज्ञाता है। वह सम्पूर्ण उपाधियों का नाश कर डालता है तथा जैसे नट अनेक प्रकार के वेष बदलकर द्रष्टाओं को अनेक प्रकार का तमाशा दिखाता है, वैसे ही ब्रह्मवेत्ता भी संसार में रहकर अपने स्वरूप को पहचानने के पीछे, ब्रह्मरूप बनने के बाद-नट की भांति ही संसार में विचरता है, परन्तु जैसे नट-राजा, रानी, सिपाही अथवा शूरवीर का वेष बनाते समय उस रूप को यथार्थ रूप से बनाता है तथापि स्वस्वरूप को जरा भी नहीं भूलता, वैसे ही ज्ञानी भी व्यवहार में अपना वेष बनाने के बाद उसका त्याग कर प्रसन्नरूप ही बना रहता है। उसे सुख या दुःख, भला या बुरा, लाभ-हानि, मान-अपमान, कुछ भी नहीं लगता। वह तो समय प्राप्त होते ही स्वस्वरूप जानने के लिये-पूर्ण आत्म ज्ञान संपादनार्थ, घर बार का त्याग, कुटुंब का त्याग, दंड़ कमंडलु का त्याग कर स्वरूपानुसंधान में ही लग जाता है। क्योंकि धन, धान, ग्राम, पुत्र, कलत्र, भगवा वस्त्र अथवा आश्रम कोई भी मोक्ष का साधन नहीं, मोक्ष का साधन तो सब उपाधियों का त्याग, सर्व कामनाओं का त्याग और उत्तम भावनाओं का संग्रह है। जगन्नगर के जीवों का यही सबसे श्रेष्ठ और प्रथम कर्तव्य है। जैसे शिवजी का बिल्वपत्र, नदी में, घर में या शिवालय में पड़ने से उसका शुभाशुभ कुछ भी नहीं (अपवित्र नहीं होता) वैसे ही ब्रह्मवेत्ता को भी चाहे जहां जाना पड़े, तथापि उसके स्वरूपानुसंधान में कुछ भी अंतर नहीं पड़ता। जीव शिव की एकता का अनुभवी संचित को प्रारब्ध के द्वारा भोगता रहता है, पर अपना क्रियमाण ऐसा शुद्ध और सात्त्विक

रखता है कि भविष्य में उसके लिये संचित शेष नहीं रहता। प्रारब्धभोग पूरा होने पर स्वरूपानुसंधान साध कर विशुद्ध स्थिति को पाता है। इस स्थिति को पहुँचा हुआ पुरुष, 'मैं कौन हूं,' 'कहां से आया हूं' तथा 'मुझे कहां जाना है' इसे भली भांति जान सकता है। हे वत्स! यह जो दुर्घट ज्ञान तुमको समझाया है, इसका तुमने यथार्थ मनन किया होगा। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये क्या तुम प्रयत्नशील हो रहे हो।"

"गुरुदेव!" सुविचारशर्मा ने कहा—"आप महात्मा के मुखारविंद में से अमृतज्ञान का जो निर्मल प्रवाह बहा है उसमें स्नान करने से हम अमृत ही हुए हैं। हे देव! जो ज्ञान आपने कल कहा और हमें अमूल्य लाभ दिया है उसका मनन तथा निदिध्यासन हो ही रहा है। परन्तु हे गुरुदेव! आपने हमको पुनः संसार में विचरने की आज्ञा दी है तो आपके मुखकमल में से संसार में रहकर हमें अपना रूप न भूल जाँय उसके लिये विशेष ज्ञान सुनने की अपेक्षा है। यह प्रपंच माया से इतना लदबद है कि इसमें रहता हुआ जीव स्वरूपानुसंधान को प्राप्त होने पर भी उससे गिरने का क्षण-क्षण भय है। हे कृपासिन्धों! हे करुणासागर! हे भक्तवत्सल! हे अधमोद्धारक प्रभो! आप कृपा करके हमको संसार में पुनः विचरने की आज्ञा न दीजिये। आप जैसे साक्षात् योगीश्वर के चरण की प्राप्ति होने के पीछे विष्ठारूप संसार विषे पड़ने में हमको भय है कि इससे हमारा आत्मज्ञान नष्ट हो जाय और हमको पुनः चौराशी की रहँटमाला में पड़ना पड़े। आप यह आज्ञा दीजिये कि हम आपके चरणकमलों की सेवा करें और आपके अमृतरूपी वचनों का पान करते रहें यही कृपा कीजिये। संसार कैसा पापमय, कैसा दुःखमय है, उसका हमको भली-भांति भान हुआ है और इसी से हम ऐसे थर्रा गये हैं कि इस पापरूप प्रपंच में पड़ने की अब हमको बिल्कुल इच्छा नहीं है। तथापि हे गुरुदेव! गुरु आज्ञा उल्लंघन का हमारा अपराध आप क्षमा करेंगे। आपने हमको गृहस्थधर्म पुनः धारण करने की जो आज्ञा की है तथा स्वधर्म में प्रवर्तने की जो आज्ञा की है, वह हमको शिरोधार्य है। शिष्यों के कल्याण की निरंतर इच्छा करने वाले आपने जो आज्ञा करी है सो विचार कर ही की है, और निःशंक है। बाहर से सुन्दर मालूम होते हुए, सब अंग की संपूर्णता से भरे हुए, परकीय धर्म के पालन करने की अपेक्षा, अपना धर्म जो किसी दृष्टि से कुछ विगुण मालूम होता हो तो भी उसी का पालन करना ही अत्यंत श्रेयस्कर है और उसमें कदाचित् मृत्यु हो तो भी वह विशेष श्रेयस्कर है; पर उसके उलटा परधर्म ग्रहण सर्वथा भयानक है, ऐसा जब

आप हमको उपदेश करते हैं, तब इस संसार में मनुष्य पापकर्म करने से कैसे बचे, इसका मार्ग कृपा कर हमको दिखाओ, हे कृपासागर! आप हमको जो गृहस्थधर्म धारण कर संसार के व्यवहार चलाने की आज्ञा देते हो तथा इस दुःखमय विविध प्रकार ललचाने वाले संसार में लीन रह कर भी उसके एक अंश से भी यत्किंचित् लिप्त न होकर सर्वदा परब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र में मन लगाने को आप कहते हैं। यह दो प्रतिकुल आचरण हमसे कैसे बनेंगे? इसका हमको हर घड़ी विचार हुआ करता है। इस संसार में कोई भी पुरुष* अपने आप पाप कर्म करने की इच्छा नहीं करता, तो भी मानो कोई जबरदस्ती से पापकर्म करने की प्रेरणा करता हो, ऐसे बलात्कार से वे पापकर्म करते देखने में आते हैं, इसका कारण क्या? तथा परम पुरुषार्थ का साधनरूप आपके कहे हुए अमूल्य उपदेश के अनुसार सत्कर्म करने की इच्छा करने पर भी वह पुरुष उस कर्म को कर नहीं सकता, ऐसा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है, इससे यह सिद्ध होता है, कि पुरुष इस बाबत में परतंत्र है, स्वतंत्र नहीं। कारण कि परतंत्र हुए बिना यह बात होना संभव नहीं। जैसे कोई राजा किसी कार्य में बलात्कार से अपने भृत्य को प्रेरणा करता है तथा इस भृत्य की उस कार्य परने की इच्छा न होने पर भी वह उस कार्य को अवश्य करता है, वैसे ही किसी बलवान् कारण से प्रवृत्त हुआ पुरुष अपने मत के विरोधी पापकर्म को सब अनर्थो की जड़ जानने पर भी करता है। इसलिये हे कृपालु गुरुदेव! इस अनर्थ में प्रवृत्ति कराने वाले कारण का स्वरूप आप मुझसे यथार्थ कहिये, जिससे इस कारण का स्वरूप जानकर हम उस कारण का नाश करने और आपके उपदेशानुसार वर्तने में प्रवृत्तिमान् हों। हे दयासागर! पाप का मूल क्या है यह जो हम यथार्थ समझ जायँगे, तो उससे दूर रहकर आपकी आज्ञानुसार स्वधर्म का पालन करने को हम सावधानता से शक्तिमान् होंगे।"

अत्रि ऋषि के शिष्यों की कथा

गुरुदेव ने कहा–"हे वत्स! हे तात! घबड़ाओ मत! वीर धीर बनो और मैं कहूं उसे सुनो! जब तक इस लोक का तुम्हारा कर्म नाश को प्राप्त नहीं हुआ, तब तक तुम्हारा संसार भोगना वर्जित नहीं है। पूर्व जन्म और जन्मान्तर के संचित कर्म भोग बिना तुमको मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। तुम्हारा संचित कर्म भोग कर अभी पूरा नहीं हुआ है और उसके भोगे बिना परम पद का

* अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः। अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय! बलादिव नियोजितः ॥

अधिकारी होता नहीं। कुंदन ही शुद्ध सुवर्ण है, उसी प्रकार जो जीव सब संचित कर्म भोग कर परम सत्वशील बन जाता है और क्रियमाण जिसका शुद्ध है, वहीं जीव परमेश्वर धाम का अधिकारी बनता है। वह कल्पान्त में भी पुनः संसार भोगने को उत्पन्न नहीं होता। पर जहां तक संचित कर्म का फल अवशेष रहता है, वहां तक जीव को वह भोगना ही पड़ता है। कर्मफल बिना भोगे नहीं छूटता। जो पुरुष संसार में रहकर कर्मफल भोगता हुआ अपने स्वरूप को नहीं भूलता, वही पुरुष क्षर से पर अक्षर ऐसा जो परमात्मा का अनन्त लीलामय स्थान है उसमें निवास करने का अधिकारी है। संसार में रहता हुआ पुरुष संसारी माया के जितना विशेष सावधान रहे उतना ही शीघ्रतर कर पार होता है। जैसे कुन्दन बनने के लिये सुवर्ण को अनेक बार अग्नि में तपाते हैं, क्योंकि जहां तक इस सुवर्ण की मलिनता का नाश नहीं होता, वहां तक वह कुन्दन नहीं होता। वैसे ही जब तक जो कर्म का फल भोगना शेष है उसे भोग कर सर्व मलिनता भस्म हुई नहीं और आत्मतत्त्व की शुद्धि हुई नहीं, वहां तक जैसे सुवर्ण अधम (हलका) गिना जाता है वैसे ही जीव भी निर्लेप-वासना-कामना-माया से जहां तक शुद्ध नहीं होता वहां तक वह अधम गिना जाता है। उसका किसी न किसी समय पतन होता ही है! शुद्धता-अनन्यता बिना परम धाम की प्राप्ति होती नहीं। अब इस संसार में बड़े से बड़े दुःखरूप, पुरुष को पापकर्म में बलात्कार प्रवृत्त करने वाला, आत्मज्ञान का नाश करने वाला, सर्व उपाधि उत्पन्न करने वाला, सारी माया का मूल भंडार-काम है। दुष्कृति, मूढ़, नराधम तथा माया से आवृत हुए जीव चाहे जितने काम के दोष जाननेवाले हों, चाहे जैसे संसार के ज्ञाता हों तो भी वह जहां तक काम के बाण से सुरक्षित रह कर निर्लेपता का कवच धारण नहीं कर सके वहां तक अनन्य हो नहीं सकते और अनन्यता बिना परब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकते। जो जीव आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी हैं वे ही नित्य परमात्मा की भक्ति में लीन रहते हैं और जगत् की उपाधि में न लिपटते हुए काम को जीतते हैं, वे ही सच्चे परब्रह्म को प्राप्त होने वाले संस्कारियों में प्रमुख हैं। जगन्नगर की लीला-माया जीतनी-तरनी सरल है, पर रजोगुण से उत्पन्न हुआ, बड़े आहार वाला तथा अत्यतं उग्र कामरूपी महाशत्रु जीतना यह कठिन है, यह दुस्तर-प्रबल-अजित-तथा बड़ा शूरवीर है। उसके जीतने को बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुष भी असमर्थ हो चुके हैं। जैसे धुंआ (धूम्र) अग्नि को ढक देता है, जैसे रजरूप मल दर्पण को आच्छादित कर देता है,

जैसे जरायु चर्म गर्भ को आवृत कर डालता है वैसे ही वह दुष्ट काम ज्ञान को आवृत्त कर डालता है। यह काम ज्ञानी पुरुषों का नित्य वैरी है। यह तृष्णा तथा इच्छारूप है तथा अग्नि की भान्ति तृप्तिरहित है। जैसे अग्नि घृत काष्ठादि से तृप्त नहीं होता, वैसे ही यह काम* अनेक प्रकार के भोगों से तृप्त नहीं होता। यह कामरूप शत्रु किसके आलंबन से रहता है तथा सब पाप की जड़ किस प्रकार है तथा वह कैसे जीता जा सकता है तथा अनिच्छित पापकर्म करने से कैसे बच सकता है, वैसे ही स्वधर्म कैसे पाल सके, यह मैं तुम्हें भली-भांति समझाऊंगा पर वह सब यथार्थ रीति से ध्यान में आवे इसके लिये मैं तुमसे पहले एक दृष्टान्त कहता हूं, उसे एकाग्रचित्त से सुनो।

पूर्वकाल में पतितपावनी भागीरथी के तट पर, एक पर्णकुटी में अत्रि नाम के एक पवित्र ऋषि रहते थे। सांसारिक पदार्थों में उनको बिल्कुल मोह न था। ये ऋषि बड़े ब्रह्मवेत्ता थे। ये मुनि प्रजापति अत्रि के वशंज थे। जिस वंश को कृष्णादिक महात्माओं ने पवित्र किया है। यह मुनि अहंकार रहित थे। उनकी बुद्धि भेदभाव से मुक्त थी। वे इष्ट और अनिष्ट वस्तु के प्राप्त होने पर समदर्शी रहते थे। गुणदोष से भरे हुए इस विलक्षण संसार की ओर उनकी क्षणभर भी दृष्टि नहीं थी। मान अपमान को वे समान गिनते थे। समुद्र में मिलकर अनेक नदियां जैसे एकरूप हो जाती हैं और उन नदियों के मिलने से जैसे समुद्र को किसी प्रकार का विकार पैदा नहीं होता वैसे ही इन मुनि को संसारियों का साथ होने पर भी किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता था। समदर्शी, निर्विकारी और जीवन्मुक्त की तरह इस जगत में ये मुनि विचरते थे। इन मुनि की सेवा में परम पवित्र, सत् के ज्ञाता, गुरु वचन पर परम आस्थावान् और गुरु की भांति ही निर्विकार ऐसे चार शिष्य थे। उनके नाम 'कंदर्पहर, मन्युहर, मोहहर तथा भयहर' थे। ये चार शिष्य सदा गुरु-शुश्रूषा में तत्पर रहते थे। जैसे मुनि आत्मनिष्ठ थे, वैसे ही शिष्य भी अपने-अपने बल के अनुसार आत्मनिष्ठ थे। चारों बाल ब्रह्मचारी थे। इन चारों में से किसी शिष्य को भी संसार की माया का संबंध नहीं था। गुरुभक्ति में चारों एक दूसरे की स्पर्धा करते थे। गुरुवचन में एक से एक अधिक श्रद्धावान् थे। गुरु आज्ञानुसार चारों शिष्य अरुणोदय से पूर्व शय्या से उठ कर गुरु सेवा में प्रवृत्त हो जाते थे और अनेक प्रकार की सांसारिक माया का उन्होंने नाश-त्याग किया था अत्रिमुनि को भी चारों पर समान प्रीति थी।

---

* न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

शिष्यों की कसौटी

मुनि को एक समय इच्छा हुई कि इन चारों शिष्यों में श्रेष्ठ कौन सा है उसकी परीक्षा करें। यह परीक्षा करने के लिये एक चातुर्मास प्रारंभ के पूर्व मुनिदेव अपनी पर्णकुटी में से किसी स्थल पर विश्राम करने को यात्रा के लिये निकल पड़े। फिरते-फिरते वे राजा जनक की विदेह नगरी में जा पहुँचे। चातुर्मास का प्रारंभ था।

मुनि ने चारों शिष्यों को बुलाकर कहा–"हे परम पवित्र नैष्ठिक ज्ञानी शिष्यों! इस चातुर्मास को यही व्यतीत करना मैंने निश्चय किया है इससे तुम सब किसी दूसरे स्थान पर जाकर निवास करो।"

तब पट्टशिष्य ने कहा–"हे गुरुदेव! आप जहां जाने की आज्ञा करेंगे, वहीं जाकर हम निवास करेंगे।"

क्षणभर विचार करके मुनि महाराज ने भयहर से कहा–"वत्स भयहर! तू इस नगर की पूर्व दिशा में जो पर्वत है उस पर जा। इस पर्वत की दूसरी श्रेणी पर जो बाघ की मांद है, उसके मुख के आगे तू चार मास बैठा रह चातुर्मास पूरा होने पर वापस आ जाना।"

फिर दूसरे शिष्य मोहहर को आज्ञा दी–"तू नगर के मुख्य पनघट पर जाकर चार महिना बैठा रह।"

तीसरे शिष्य मन्युहर से कहा–"इस नगर के पश्चिम की ओर वन में एक पीपल की जड़ के पास सर्प की बांबी है वहां जाकर तू बैठा रह।"

चौथे शिष्य कंदर्पहर को आज्ञा दी कि–"तू विदेह नगर की परमरूपवती, लावण्य की मूर्ति, मोह मद से भरी हुई राजगणिका पिंगला के घर जाकर निवास कर।"

बाघ की मांद में वास!

इस प्रकार गुरु ने आज्ञा दी, तब चारों शिष्य आज्ञा किये हुए स्थानों की ओर विदा हुए। भयहर, पर्वत पर बनी हुई बाघ की मांद के आगे जा बैठा। इस गुफा में रहने वाला बाघ मनुष्य भक्षक था। मनुष्य की गंध आते ही वह बाघ मांद में से बाहर निकला और चारो ओर दृष्टिपात करके भयहर को देखते ही एकदम दहाड़ने लगा और 'खाऊं-खाऊं' करता हुआ गुफा से बाहर आकर भयहर की ओर विकराल दृष्टि करके थाप (पंजा) मारने को तैयार हो गया, भयहर तो भय का जीतने वाला था अतएव बाघ की विकराल गर्जना सुनने पर भी उसे कुछ भी

क्षोभ नहीं हुआ, बल्कि बाघ की ओर पीठ कर निर्भय अचल खड़ा रहा। भयहर तो भयहर ही था। भय को तो वह जानता ही न था। उसकी आत्मनिष्ठा प्रबल थी, इस कारण उसने भय को जीत लिया था। उसने विचारा कि 'आत्मा अजर-अमर है, अविनाशी है, उसे बाघ खा नहीं सकता, तलवार से वह कटता नहीं, अग्नि से जलता नहीं, वायु से सूखता नहीं, जल से भींगता, डुबता और सड़ता नहीं, तब यह हिंसक प्राणी किसको खायगा?'

हिंसक प्राणीयों का नियम होता है कि वे जहां तक हो सकें पीठ पर घाव करते हैं, क्योंकि ऐसा करने में उन्हें श्रम कम पड़ता है और शिकार सहज ही वश में हो जाता है, परन्तु जब सामने खड़े हुए भयहर को पीठ किये हुए खड़ा देखा तब यह बाघ आश्चर्य मानकर चकित हो क्षणभर ठहर गया। वह भी मर्द था, इस कारण पीठ पर घाव न करके सामने गया। भयहर ने फिर मुंह फेर लिया। तब बाघ फिर उसके सामने की ओर गया। इस प्रकार भयहर ने चारों दिशाओं की ओर मुंह फेरा और चारों दिशाओं में बाघ भी फिरा। फिर वह भय का हरने वाला 'भयहर' खड़ा रह गया। तब बाघ भी खड़ा रह गया। इतने में बाघिन आयी और बाघ के समीप गुर्रा कर खड़ी हो गयी। दोनों झपट मारने के लिये छटपटा रहे थे।

पर गुरुप्रताप से प्राप्त हुई योगविद्या के प्रताप से भयहर ने शान्तिपूर्वक धीरे-धीरे इस मांसाहारी बाघ पर त्राटक (एकटक दृष्टि) करना आरम्भ किया। ज्यों-ज्यों भयहर की दृष्टि उस बाघ बाघिन की दृष्टि के साथ एकतार होती गयी। त्यों-त्यों उनकी विकराल वृत्ति मंद पड़ती गयी। थोड़ी ही देर में जो बाघ बाघिन मनुष्य को देखते ही तत्काल प्राण लेने के लिये विकराल रूप हो जाते थे, वे भयहर की दृष्टि से शांत होकर उस महात्मा पुरुष को प्रणाम करते हुए उसके समीप आकर उसके चरण कमल पर लोटने लगे। थोड़ी देर में वे बाघ, बाघिन और भयहर मित्र बन गये।

तब भयहर पशु वाणी में बाघ बाघिन को उपदेश करने लगा—"हे शार्दूलो! तुमने जो अधोर पाप किये हैं, उनका तुमको कुछ भान-ज्ञान है? विचार है? स्मरण है? इन सब कर्मों का फल तुमको भोगना ही होगा। फिर अब नवीन कर्मबंध में पड़ने की वृत्ति क्यों करते हो? अब प्रायश्चित करो और पशुदेह से मुक्त होओ। तुम्हारी हिंसक वृत्ति जो तुम्हारे जन्म के साथ ही जन्मी है उसका नाश करो। शुद्ध हो, मनुष्य अनेक प्रकार से प्राणियों का उपकारक है। तुम उसका नाश करने में प्रवृत्त हुए हो। इस वृत्ति को जीतो। हे शार्दूलो! तुम्हारे दुष्ट कृत्य से अनेक स्त्रियां विधवा

हुई हैं। उनके जीवन के साधन नष्ट हो जाने से वे दुःख भोगती हैं और शाप देती हैं, उसका फल भोगने से तुम कैसे छूटोगे? एक बार की क्षुधा तृप्त करने में तुमने अनेक पिताओं को निर्वंश कर दिया है, अनेक बालक माता पिता रहित कर दिये हैं। प्राणीमात्र का कल्याण करने वाले धर्मवीर, दानवरी, विद्यावीर, परमार्थ वीरों का तुमने संहार किया है। इस महापाप से तुम्हारी मुक्ति होगी, क्या इस बात को तुम सच मानते हो? हे अल्प प्राणियों! तुम्हें इसका लेश मात्र भी ज्ञान नहीं और भविष्य के भय का भान भी नहीं है। परन्तु अब जाग्रत् हो जाओ और अपनी शेष आयु पूर्ण होने से पूर्व अपने पाप का प्रायश्चित्त कर पवित्र हो जाओ।"

भयहर का यह मधुर भाषण एकाग्र चित्त से बाघ और बाघिन सुनते थे। उनकी हिंसक वृत्ति धीरे-धीरे शान्त होने लगी। वे थोड़ी देर बैठ कर फिर खड़े हो गये और भयहर के चरणों में प्रणाम कर दोनों अपनी मांद में चले गये और भयहर तो उस मांद के मुख पर ही निर्भय बैठा हुआ प्रणव मंत्र जपता रहा।

दूसरे दिन क्षुधातुर बाघ बाघिन ज्यों ही अपनी खुराक खोजने के लिये गुफा से बाहर निकले त्यों ही उनकी दृष्टि फिर भयहर पर पड़ी। पूर्व दिवस का सर्व ज्ञान मानो नाश हो गया है इस प्रकार पुनः मनुष्य को देखते ही उसके ऊपर तड़पने को तैयार हो गये। परन्तु प्रथम दिवस की भांति ही भयहर ने गुरुप्रताप और गुरुवचन का स्मरण करके उन बाघ बाघिन को सत्त्वरहित कर दिया।

इस प्रकार तीन चार दिन बाघ को अपनी नित्य वृत्ति में से पीछे लौटा कर उसके हिंसक स्वभाव को अंकुश में लाने का भयहर ने पूर्ण प्रयत्न किया। भयहर के वचन सुनकर बाघ गुफा में चला जाता था। परन्तु उसकी क्षुधा ऐसी प्रदीप्त हो गयी थी कि एक दिन अकस्मात् गुफा में से निकल कर भयहर पर छलांग मारी पर भयहर ने कुछ भी भय न मान कर अपने नाम के अनुसार ही गुण दिखलाया।

बाघ के मुख में भयहर ने अपना हाथ डाल दिया और यही कहा कि "अरे दुष्ट शार्दूल! इतने-इतने उपदेश देने पर भी तेरा जाति स्वभाव न गया तो यह हाथ ले और अपना पेट तृप्त कर। मनुष्यों में भी तेरे समान अनेक हैं। पाप वृत्ति वाले जीव अनेक प्रकार का सुश्राव्य ज्ञान प्राप्त करते हैं। क्षणभर के लिये पाप कर्मों से पीछे लौटने का दृढ़ निश्चय करते हैं। परन्तु ज्यों ही कुछ अवकाश मिलता है, त्यों ही अपनी पूर्व वृत्ति को फिर प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे अधम प्राणी जिस प्रकार कभी भी अपना कल्याण प्राप्त नहीं कर सकते हैं उसी प्रकार तेरी दशा है। अपनी क्षणभर की क्षुधा तृप्त करने को तू जो मनुष्यों का आहार करता है, वह तेरा अधम कृत्य तेरे श्रेय में कितना हानिकाक है, उसका तुझे विचार ही नहीं होता है व्याघ्र! इसी से तू उसमें प्रवृत्त होता है। पर इस अधम कर्म से तेरे पूर्व जन्म के पापकर्मों की वृद्धि हो कर तू इससे भी अधिक

नीच स्थान में उतरने का अधिकारी बनता है, इसे तू नहीं जानता यही तेरा अज्ञान है। जो तेरी हमेशा की क्षुधा तृप्त हो जाय तो यह मेरी देह, जो केवल निरुपयोगी है, उसे खाकर अपनी क्षुधा शांत कर! परन्तु एक दिवस की क्षुधा की निवृत्ति के लिये परमात्मा की सृष्टि में से एक सुन्दर प्राणी का नाश करने के लिये तुझे परमात्मा ने उत्पन्न नहीं किया है।"

भयहर के उक्त वचन वह व्याघ्र खड़ा-खड़ा सुन रहा था। इससे उसका हाथ चबाने पर भी न चबा सका। उसके मुख में मनुष्य का हाथ था परन्तु वह उसे चबाने में सशक्त न था। ज्यों-ज्यों भयहर के वचन उसके कानों में प्रवेश करते गये। त्यों-त्यों वह भयहर के हाथ को मुख से बाहर निकालने लगा और भयहर के वचन पूर्ण होते ही उसने उसका सारा हाथ मुख से बाहर निकाल दिया और धीरे-धीरे बाघ और बाघिन दोनों अपने स्थान को चले गये।

इस प्रकार भयहर का नित्य का क्रम चालू था। दिन-दिन अपनी क्षुधा तृप्त करने को व्याघ्र जब असमर्थ हो गया, तब वह अपनी वाणी में बोला—"हे मनुष्य! मैं अपनी क्षुधा किस प्रकार शांत करूं?"

तब भयहर ने कहा कि—"तू वनस्पति का आहार कर।"

व्याघ्र को तो बड़ा विषम जान पड़ा। पर्वत पर लगे हुए फल फूल आदि वनस्पति खाने का प्रयत्न किया, परन्तु कुछ भाया नहीं (अच्छा नहीं लगा), तो भी वह कई दिन का भूखा था अतएव उसने थोड़े से फल फूलों से अपनी क्षुधा शांत की।

अब से व्याघ्र और भयहर रात को एक ही गुफा में सोते थे, समय-समय पर बाघ के मन में मनुष्याहार करने की इच्छा होती थी, पर जितनिद्र भयहर के रात दिन जाग्रत रहने से बाघ अपनी इच्छा पूर्ण नहीं कर सकता था। भयहर नित्य बाघ को उपदेश दिये जाता था। गुरुकृपा से चार मास में भयहर ने मनुष्याहारी बाघ बाघिन को ऐसा वश कर लिया कि चातुर्मास की पूर्णाहुति के समय भयहर ने उसके मुख के आगे मांस लाकर रखा पर उसने उसकी ओर दृष्टि तक भी न की। इतने समय में बाघ बाघिन ने अनेक बार भय उपजाया था। परन्तु भयहर को कभी जरा भी भय नहीं जान पड़ा था।

सर्प के फन पर नाच–नृत्य

योगीन्द्र मुनि ने कहा—"वत्स! भयहर ने अपना जो मानसिक और आत्मिक बल दर्शाकर व्याघ्र जैसे क्रूर प्राणी को, उसके हिंसक स्वभाव से बदल कर मृदु स्वभाव का बना दिया, यह कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं है। सामान्य प्राणी तो व्याघ्र को देखते ही घबड़ा जायेगा। गात्र शिथिल हो जायेगा। जीते हुए मुर्दा सा हो जायेगा। तो फिर उसको बस करना और उसको उसकी असल प्रकृति से लौटा देना, मांस खाने से रोक देना, यह तो बहुत ही कठिन और विषम कार्य है। वत्स सुविचार! जो अद्भुत बल और मन की स्थिरता भयहर ने दर्शायी है, इससे भी विशेष दृढ़ता और मनोबल मन्युहर

ने दर्शाया है। गुरु की आज्ञा अनुसार मन्युहर पश्चिम के अरण्य में गया और जिस दिशा की ओर वट का वृक्ष था उस दिशा को चलने लगा। मार्ग में मिलने वाले स्त्री पुरुषों ने इस साधु पुरुष से कहा—"हे महाराज! इस तरफ एक अति विकराल विष की ज्वाला वर्षाने वाला बड़ा सर्प रहता है। किसी मनुष्य की गंध पाते ही वह अपनी फन में से ऐसी विष की ज्वाला वर्षाता है कि इन विष भरी ज्वालाओं से अनेक पुरुष जलकर भस्म हो गये हैं। अतएव हे साधु महाराज! तुम इस मार्ग पर मत जाओ। कदाचित कोई वहां जाता है तो वह सर्प क्रोध से उसे दंश कर, उसका नाश कर देता है।"

लोगों के मुख से यह वृतांत जान कर, उन्हें आश्वासन देकर,वह शिष्य धीरे-धीरे आगे बढ़ा। गुरु स्मरण करता करता और प्रणव जाप जपता ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ा, त्यों-त्यों चारों ओर से व्याकुल करने वाली विष की ज्वालाएं बरसने लगीं। गुरु के बचन पर परम श्रद्धालु शिष्य, उस पीड़ा की कुछ भी परवाह न कर उस वृक्ष के पास जा पहुंचा। सर्प अपने फणों से ऐसी फूत्कारें मारने लगा जिससे आस पास का सब वायु विषमय हो गया। पर मन्युहर ने उसकी कुछ भी दहशत नहीं की। मन्युहर अपने तपोबल के कारण सर्प की बांबी के पास जा खड़ा हुआ और सर्प से कहने लगा—"हे कद्रुकुमार! तुममें जितना बल हो, उतना मुझ पर आजमाओ, तुम्हारी लीला देखने को मैं उत्सुक हूं।"

क्रोध की साक्षात् मुर्तिरूप वह सर्पराज, बिल में से बाहर निकला। मन्युहर ने उसके फण पर पांव रक्खा कि सर्प ने विषमय दंश किया, परन्तु वह जरा भी कोपायमान नहीं हुआ और सर्प को पुचकारने लगा। सर्पराज अपनी पुंछ से उसके शरीर पर झपाटे लगाने लगा और दाव पाते ही झट शरीर पर चढ़ गया और सारे शरीर पर दंश के अनेक घाव कर दिये। प्रथम हाथ पर मुंह मारा तब मन्युहर ने दूसरा कोमल हल्का हाथ उसके अंग पर फेरा, पर ज्यों-ज्यों मन्युहर उसका आश्वासन करने लगा त्यों-त्यों वह सर्प और भी अधिक अधिक क्रोधांध होता गया और उसके उसने सारे अंग को घायल कर दिया। मुंह की ओर अपना फण लाकर मन्युहर के मुख में विष छोड़ दिया। कान, नाक और आंख पर दंश किया। पर मन्युहर तो उसे पुचकारता ही गया। उसके जड़वे थक गये पर मन्युहर को कुछ भी न हुआ और न क्रोध आया और न विष का असर हुआ, तब तो आश्चर्यपूर्वक सर्प उसके सामने आकर फूत्कार करने लगा। सर्प को विशेष रूप से छेड़ने को, मन्युहर ने उसके फण पर पुनः पग रखा। क्रोधांध सर्प क्षण भर में फिर मन्युहर से लिपट गया। परन्तु उससे मन्युहर को जरा भी क्रोध और भय नहीं हुआ। फिर मन्युहर ने सर्प को अपने तुंबड़े में से दूध पिलाया। पर सर्प ने वह दूध पीकर वह विष मिला हुआ दूध उसके

मुंख पर उड़ेल दिया और गले पर जोर से लिपट गया। अब मन्युहर बेहोश होकर गिर पड़ा। पर सावधान होते ही क्रोध किये बिना सर्प को पुचकारता ही गया। सर्प राज ने उसे अनेक प्रकार से व्याकुल किया, पर सर्प को पीछे हटाने का उसने कुछ भी प्रयत्न नहीं किया। अंत ने सर्प ने अपनी लपेट छोड़ दी तब मन्युहर ने अपनी झोली में से पुष्प निकाले और सर्प पर वर्षाये और सर्प को शांत करने का प्रयत्न किया। पर ज्यों-ज्यों मन्युहर सर्प का आश्वासन करता गया, त्यों त्यों सर्प अधिक खिझता ही गया और मन्युहर को पीड़ा देने लगा। तथापि वह शांत ही रहा। उलटा सर्पराज का क्रोध शांत करने को उसके शरीर पर हाथ फेरने लगा। और सर्प शांत न होकर उलटा दंश देने लगा। मनुष्य का साधारण स्वभाव है कि वह किसी का कल्याण करने जाय या उपकार करे और दूसरा उसके बदले अपकार करे तो वह सहज ही क्रोध में डूब जाता है—क्षणभर तो उसका अज्ञान गिनता है, पर उपकार-कल्याण-आश्वासन के बदले में बारम्बार तुच्छकार तिरस्कार हो, कृतघ्नता देखी जाय, तब तो सहज ही क्रोध वश हो जाता है और अपना क्रोध प्रकट करने लगता है। यदि काटना न हो तो फुत्कार तो मारना ही चाहिए, इस प्रकार कृत्रिम क्रोध भी दर्शाता है परन्तु मन्युहर, सर्प से अनेक प्रकार की तुच्छकार-तिरस्कार और बैर के दंश और कृतघ्नता देखकर भी बिल्कुल क्रोधित नहीं हुआ। वह शांत चित ही रहा।

बहुत देर तक सर्प क्रोध से धुधाता विष की ज्वाला बरसाता हुआ दूर जाकर खड़ा रहा। तब मन्युहर ने फिर उसके फण से पग लगाया तो पुनः सर्प ने दंश दिया और लिपट गया। पर वह तो उसका पुनः-पुनः आश्वासन ही करता गया, इस कारण सर्पराज का गर्व जाता रहा और धीरे-धीरे मन्युहर के शरीर पर से छूट गया और ज्यों ही उसने पग उठाया कि वह सर्प तुरन्त अपने बिल में प्रवेश कर गया।

क्रोध से और मन्युहर को मारने के श्रम से थक कर लथपथ हुआ सर्पराज अत्यन्त फूत्कार मारता रहता था पर उसकी विषमय ज्वाला उसको कुछ असर नहीं कर सकी इस विचार से वह स्तब्ध हो गया था कि इस मनुष्य को मैंने अनेक दंश दिये, पर इसे बिलकुल क्रोध नहीं आया। मेरे खिझाने से वह किसी प्रकार नहीं खिझा इस विचार में लीन हो गया।

दूसरे दिन वह कृष्ण सर्प अपने बिल से बाहर निकलता है और सड़सड़ाता हुआ जहां मन्युहर बैठा था वहां जाकर उसके शरीर से लिपट कर उसने विषभरी ज्वालाओं से ऐसी फुत्कार मारी कि जिससे प्राणी तुरन्त भस्म हो जाय! 'पूर्व दिवस के उपकार को भूल कर सर्प अपनी जाति पर गया है' उस विचार से प्रत्येक को स्वाभाविक क्रोध आ सकता था, परन्तु मन्युहर को उससे भी कुछ क्रोध न आया। पूर्व दिवस की भांति ही वह सर्प विष की ज्वाला

वर्षाते-वर्षाते थक गया तब तक मन्युहर उसका आश्वासन ही करता रहा। फिर जब वह सर्पराज थक कर बिल में प्रवेश करना ही चाहता था कि तुरन्त मन्युहर से उसकी पूंछ पकड़ कर पीछे की ओर खींच लिया और उसे दूध पिलाकर उस पर पुष्प वर्षाये, पर इससे वह कृष्ण सर्प और भी अधिक चिढ़ा और मन्युहर के शरीर पर उसने जोर से दंश दिया। पर ज्यों ही वह रुके त्यों ही मन्युहर उसके फण से जरा पांव लगा दिया करे और सर्प कई बार डसा करे। ऐसा अनेक बार होने पर भी मन्युहर को जरा भी क्रोध न चढ़े तब आश्चर्य से वह सर्प बिल में चला जाय।

यह क्रम कई दिन तक चलता रहा कि सर्प डसे और मन्युहर उसे जैसे-जैसे सुख देवे वैसे ही वैसे सर्पराज अधिक दंश करने में अपनी सर्व सामर्थ्य लगावे। एक दिवस सारे दिन सर्पराज ने मन्युहर को जकड़ कर उसकी श्वास रोक ली और मुख, नाक और आंख पर फण फैला कर बैठा रहा। पर मन्युहर को क्रोध नहीं आया। सर्प भी सारे दिन के श्रम से थक गया था इससे अपनी लपेट छोड़ी और बिल में जाने को तैयार हुआ तब मन्युहर ने उसके फण में फिर पांव लगाया, पर वह निःसत्त्व बना हुआ सर्पराज विष की ज्वाला वर्षाने में असमर्थ हो गया था, अत एवं निरुपाय होकर फण चौड़ा किये खड़ा रह गया। ऐसा जान पड़ता था कि मानो मन्युहर को प्रणाम करता है। मन्युहर उसके फण पर खड़ा रहा। सर्प का फण कांपने लगा। उस समय मन्युहर ऐसा शोभायमान हो रहा था कि मानो काली दमन के समय काली नाग के फण पर श्रीकृष्ण नृत्य कर रहे हैं। उसे क्रोध पर विजय प्राप्त हुआ और महाक्रोधी तथा द्वेषी ऐसे कृष्ण सर्प को भी उसने अक्रोधी कर दिया। उस दिन से सर्पराज नित्य अपने बिल में से बाहर आकर मन्युहर के चरणों में प्रणाम करता था। मन्युहर पूर्व लिखे अनुसार ही उसके फण पर खड़ा होकर नृत्य करता था। गुरुवचन और तपोबल के प्रताप से उसे कभी गर्व नहीं आया। चातुर्मास पर्यन्त मन्युहर ने सर्प के फण पर नृत्य करने का नियम रखा था और मन्युहर के क्रोधित करने से समय-समय पर वह उसे डस लेता था, पर वह जरा भी क्रोध नहीं करता था बल्कि उलटा उसे पुचकारता, दूध पिलाता और पास बैठा लेता था। इस प्रकार क्रोध जितने से वह शिष्य अपने गुरुप्रताप की दिन रात प्रशंसा करता था।

पनघट का मोह

तीसरा शिष्य मोहहर, गुरु आज्ञानुसार पनघट पर जाकर बैठा। नगर और गांवों के पनघट सदा नयी-नयी लीलाओं से भरपूर रहते हैं। स्त्री और पुरुषों के टोल के टोल वहां इकट्ठे मिलते हैं। नयी-नयी बातों का विनोद चलता है। छैल

बटाऊ अनेक प्रकार की दुष्ट वृत्ति से वहां आकर खड़े होते हैं। स्त्रियां अपने-अपने घर की सुखदुःख की बातें अन्योन्य सखी सहेलियों से करती हैं, नंगी उघाड़ी बातें करती हुई अनेक छल छंद की बातें करती हैं। स्त्रियां अर्धनग्न अवस्था में स्नान करती हैं, उसे देख साधुओं का मन भी चलायमान होता है तब संसारी मनुष्यों का तो आश्चर्य ही क्या? पनघट पर आकर कितनी ही बेशरम स्त्रियां तो अमर्याद हो जाती हैं और उनके अंग प्रत्यंङ्ग पर सबकी नजर पड़ती है। शीलवान को भी मोह उपजावें ऐसे नखरे उनमें देखे जाते हैं और कामी जन वहां अमर्यादा से वर्तते हैं। पनघट ऐसा स्थान है कि वहां भले भले संत भी अपना स्वरूप भूल जाते हैं। कर्म और वाणी से नहीं तो मन में तो कुसकंल्प करते ही हैं। पनघट पर धर्मशील तथा अधर्मशील दोनों प्रकार की स्त्रियां आती हैं। वहां सबका रहस्य जानने से बड़े-बड़े समर्थ साधु पुरुषों के चित्त भी चलायमान हो गये हैं। ऐसे स्थान पर मोहहर जाकर बैठा है। उसका लावण्य अद्भुत है। कुटिल कामिनीएं उस पर कुटिलता से दृष्टि करती हैं। धर्मशील स्त्रियां महात्मा की भांति भक्ति भाव से दर्शन करती हैं। नवयौवना साधु पुरुषों को ललचाने का प्रयत्न करती हैं। नित्य-नित्य शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने वाले और कामोत्पादक-वीर्यवर्द्धक भोजन उसकी सेवा में लाकर रखती हैं। विषयलुब्ध स्त्रियां मोहहर को ललचाने को अनेक प्रकार के हाव-भाव और नाच-नखरे करती हैं, तथापि मोहहर का मन जरा भी चलायमान नहीं होता है। उसके कानों में किसी की वाणी का स्पर्श नहीं होता, उसकी दृष्टि नासाग्र से दूर नहीं होती। एकनिष्ठ पुरुष की भांति दृढ़ आसन लगाकर वह बैठ रहा है। प्रभात से सायंकाल तक, गुरु आज्ञानुसार वह पनघट की लीला देखता रहता है। वह अनेक पदार्थों को देखता है और अनेक शब्द सुनता है, पर बधिर है, खाता भी है, पीता भी है पर किसी वस्तु में मोह नहीं करता है। कपट कुशल स्त्रियां उस पर आरोप करती हैं पर वह किसी की परवाह नहीं करता है, न किसी के बुलाने पर ध्यान देता है। अपने मनोविकार पर उसने ऐसा अंकुश डाल दिया है कि किसी प्रकार की इन्द्रियों में विक्रिया होने नहीं देता, परब्रह्म के जिज्ञासुओं को अनेक भोगों के समागम में वाणी और दृष्टि से ऐसा चैतन्ययुक्त रहना पड़ता है कि किसी क्षण भी कुसंकल्प हो जाने से अपने तपोबल में अन्तर पड़ जाने का भय रहता है। ऐसी स्थिति में मोहहर अपना चातुर्मास व्यतीत करने लगा। दृढ़ शिष्य-निग्रही शिष्य-गुरुवचनों पर श्रद्धा रखने वाला, मोह को मारने वाला, चार मास तक पनघट पर ही बैठा रहा, उसे शंका होती थी कि ऐसे विषम स्थान पर मुझे भेजने का गुरु का क्या प्रयोजन होगा? कभी उसे शंका होती थी कि—'वासना उसके हृदय में उत्पन्न हो जाय तो क्या हो?' वासना बढ़ने से विषय बढ़ता है, विषय बढ़ने से वासना बढ़ती है और उसके परिणाम से जीव को चौरासी के झोंके खाने पड़ते हैं। साधु पुरुष को संसारी वासनाओं से भली-भांति मुक्त होने के लिये, विषय वासना को भस्म कर देना चाहिये। पर पनघट पर आने

वाले अजनवी जीवों की अजनवी बातें सुनने से, वासना और विषय बढ़ना संभव है, क्योंकि मोहक पदार्थों के दर्शन से और चिंतन से वासना जाग्रत होती है और उससे मानसिक संसार प्रथम उत्पन्न होता है और फिर सत्य संसार भोगने की लालसा होती है और अन्त में भोगों में लिपट जाता है। अतएव साधु पुरुष को तो चिंतन क्रिया और वासना जिस प्रकार हो सके त्याग देनी चाहिये। 'मैं वासना को ही भस्म करूंगा तो सुरक्षित रह सकूंगा।' यह विचार कर उसने नव नाड़ी और दश इन्द्रियों को संयम में रख, वासनाओं का नित्य प्रणवजप से होम करना आरंभ किया। 'मुझमें कुछ अपूर्णता देख गुरुदेव ने मुझे इस स्थान पर मेरे ही कल्याण के लिये भेजा है। मुझमें मोह का कुछ भी अंश होगा तो उसे शमन करने के लिये ही उन्होंने यह मार्ग ग्रहण किया होगा। अब मुझे मोह त्याग कर, कचंन की भांति शुद्ध होना चाहिये।' यह विचार उसके हृदयाकाश में उत्पन्न होते ही मोह मारने को, उसने ब्रह्मभाव की वासना को दृढ़ स्थान दिया। उसने क्रिया का ही नाश किया। क्रिया के नाश से चिंतन का नाश हुआ। चिंतन के नाश से वासना का नाश किया। इस प्रकार रग-रग में से अहंकार का नाश कर दिया। और जैसे सूर्य के प्रकाश से अंधकार का नाश हो जाता है, वैसे ही संसार के सब मोह का नाश ब्रह्मभाव की वासना से हो गया।

हिमगिरि के महात्मा कहते हैं कि--"हे वत्स सुविचार! जो जीव ब्रह्मनिष्ठा में प्रमाद करता है, वह जीव अंत में नाश को प्राप्त होता है। अतएव ज्ञानी पुरुष को स्वस्वरूप में कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। क्योंकि प्रमाद से मोह, मोह से अहंकार, अहंकार से बंध और बंध से व्यथा होती है। मोहहर ने पनघट पर बैठने पर, क्षणभर के लिये भी स्वस्वरूप जानने में प्रमाद नहीं किया और गुरुप्रताप से चातुर्मास सुखपूर्वक व्यतीत किया।

पिंगला के भवन में कंदर्पहर

चौथा शिष्य कंदर्पहर, गुरु आज्ञानुसार राजगणिका पिंगला के घर की ओर गया। राजगणिका सर्व ऐश्वर्यसम्पन्न थी। राजपुरुषों में उसका सम्मान था। उसके ऐश्वर्य में कुछ भी न्यूनता नहीं थी। उसके द्वार पर हाथी झूम रहे थे। क्षमा, क्षमा अर्थात् क्षमा करो, क्षमा करो कहने वाले हजारों दास-दासी उसके आसपास फिरते रहते थे। उसके धन का भंडार तो ऐसा भरपूर रहता था कि मुट्ठी भर-भर कर दिन भर दान किया जावे तो भी कभी खाली न हो। उसकी सखी सहेलियां अतीव रूपवती थीं। साधारण पुरुषों का तो कहना ही क्या, बड़े-बड़े श्रीमान् पुरुषों का भी उसके घर मे प्रवेश होना कठिन था। केवल श्रीमन्तों की ही वह मान्य थी। सौन्दर्यचूड़ामणि पिंगला केवल उन्हीं की सेवा करती थी। ऐसे स्थल में कंदर्पहर का प्रवेश होना यह महाकठिन काम था। वह स्वयं साधु था। पर गुरुचरणों का ध्यान धर, नीची दृष्टि किये हुए, कंदर्पहर गणिका के घर की ओर चला। उसके द्वार पर जाकर 'नारायण

हरे' कह कर खड़ा हो गया। साधु का स्वरूप अद्भुत तेजस्वी था, शरीर हृष्टपुष्ट था, चेहरा ऐसा दमकता था कि जिसका देखने वाले मनुष्य पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता था। वय तरुण था, होठ पर मूछों का दोरा खिल रहा था। वास्तव में उसका सर्वांग दिव्य था, इस पुरुष को देखते ही गणिका की ड्योढ़ी पर बैठे हुए चोबदार आश्चर्यचकित होकर प्रणाम करने को खड़े हो गये। प्रत्येक मनुष्य दोनों हाथ जोड़ कर कंदर्पहर को दंडवत् प्रणाम करने लगा। गणिका के घर के सेवक सेविकाएँ भी उस दिव्य पुरुष के दर्शनार्थ दौड़ी आयीं। प्रत्येक जन परस्पर बातें करने लगा कि ऐसी अद्भुत कान्तिमान मूर्ति हमने इस जन्म में तो कभी देखी नहीं। द्वार की ड्योढ़ी के पास ही चौकी पर पद्मासन लगा कर कंदर्पहर बैठ गया और अपने मधुर और मंजुल कंठ से परब्रह्म का गान करने लगा :–

" दिलदार यार प्यारे, गलियों में मेरे आ जा;
आंखे तरस रही हैं, सूरत इन्हें दिखा जा।
चेरी हूं तेरी प्यारे, इतना तो मत सता रे;
लाखों ही दुःख सहे रे, टुक अब तो रहम खा जा।
तेरे ही हेत मोहन, छानी है खाक बन बन;
दुःख झेले सबर अनगिन, अब तो गले लगा जा।
मन को रहूं मैं मारे, कब तक बता दे प्यारे;
सूखे विरह में तारे, पानी इन्हें पिला जा।
सब लोकलाज खोई, दिन रैन बैठ रोई;
जिसका नहीं न कोई, उसका तो जीव बचा जा।
मुझको न यों भुलाओ, कुछ शर्म्म जी में लाओ;
अपनों को मत सताओ। अये प्राण प्यारे राजा।
कंदर्पहर है चेरी तेरी, राखो जी लाज मेरी;
जलती है माशूका तेरी, आकर उसे उठा जा।*"

आज आषाढ़ मास की द्वादशी थी। गणिका पिंगला यद्यपि कर्म से धर्मशील नहीं थी, उसने गुणवान् बुद्धिमान् श्रीमन्तों को अपना अंग अर्पण कर दिया था, तथापि किसी जन्म जन्मान्तर के सुकर्मयोग से उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में आत्मज्ञान का बीज ढका हुआ था। वह प्रत्येक पर्व पर अनेक साधु-संतों का, अनाथ रंक रोगियों का, पंडित और ब्राह्मणों का सत्कार किया करती, वस्त्र देती, दान देती, ब्रह्मवेत्ता, षट्संपत्तिमान् पुरुषों को तलाश करवा-करवा कर अपने भवन में बुलवाती, भोजन करवाती, किसी को विद्याभ्यास करने के लिये धन की सहायता देती, संतों को बुलाकर कथा श्रवण करती, अतिथि महात्मा के सेवन में तत्पर रहती, तीर्थयात्रा भी करती। इतना

* इस पद में जीव शिव की विरह व्यथा का वर्णन है। यह एक हिन्दी कवि की रचना है।

होने पर भी उसमें यही पापवृत्ति थी कि वह अनेक लोगों को भ्रष्ट करती थी। आज उसके पूर्व जन्म का पुण्य सफल हुआ होने से, कंदर्पहर उसके द्वार पर आया है। वह गणिका* थी, इस कारण गुण को पहचानने वाली थी।

क्योंकि अनेक राजसी पुरुष उसके यहां पधारते थे। उनमें से गुणवान् और विद्वान के बिना वह और किसी की अंगीकार नहीं करती थी। उसके गुण को जानने वाले की वह ग्राहक थी। अपने मंदिर में आने वाले अगुणज्ञ लोगों को हँसा खिलाकर बिदा कर देती और विषय से दूर रखती थी। अंग तो गुणी जन को ही अर्पण करती थी। ऐसे अनेक पुरुषों के भोगने पर भी उसके हृदय में से विषय वासना दूर नहीं हुई थी। राजपुरुषों की तो वह माननीया थी। पर इससे वह सुखवती है ऐसा अपने को नहीं मानती थी। बड़े पुरुषों के अनेक पत्नी और उपपत्नी होती हैं। उन्हें अनेक प्रकार के राजकार्य करने पड़ते हैं। वे पत्नी और उपपत्नी को छोड़ कर दूसरी स्त्रियों को संतोष देने में समर्थ नहीं होते। इसी कारण पिंगला को राजपुरुषों से संतोष नहीं था। वह किसी गुणी पुरुष की मन में कामना किया करती थी।

कंदर्पहर ने धीरे-धीरे परब्रह्म प्रेम का गान प्रारम्भ किया। उसका सुस्वर पिंगला की खासबंरदारी के कान पर जा टकराया। उसने धीरे-धीरे प्रेमपूर्वक खिड़की पर आकर, यह गाने वाला कौन है उस पर दृष्टि डाली। कंदर्पहर की कान्ति देखकर, वह खासबरदारी-सहेली छक्क हो गयी कि यह एक साधु पुरुष, कान्तिमान् उत्तम गायक और परम धर्मशील नैष्ठिक है। यह देखकर उस सहचरी के हृदय में कुछ और ही भाव का संचार होने लगा।

उसने अपनी स्वामिनी के पास जाकर कहा—"बाई जी! आज चातुर्मास की प्रथम द्वादशी है। किसी संत पुरुष को भोजन कराने का कल आपने विचार प्रकट किया था। आज ऐसा संत पुरुष आपके द्वार पर आया हुआ है, उसकी ओर दृष्टि तो कीजिये! जो वह योग्य जान पड़े तो उसे तृप्त कर अपना जन्म सफल कीजिये!"

* 'गणिका, कचनी, रामजनी और वेश्या में बड़ा भेद है ऐसा मुझे ज्ञात हुआ है। गुण देखकर देहार्पण करने वाली गणिका-यह एक का ही सेवन करती है। कंचन लेकर देहार्पण करने वाली कचनी-इसकी स्वामी धन है। राम का-ईश्वर का भजन करनेवाली नामजनी। पर विजयी जन उसके मोहपाश में, उसकी धर्मवृत्ति देख फंस जावें वह रामजनी और न रूप, न गुण न धन कुछ भी देखे बिना, केवल विषय के अधीन होने वाली को वेश्या' कहते हैं। कुलटा उससे भी अधम।

नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः। सुरूपं वा कुरूपं वा पुमानित्येव भुन्जते ॥

दासी के ये द्वि-अर्थी वचन सुन कर, पिंगला एकदम खिड़की पर आयी और उसने कंदर्पहर के दर्शन किये। उसका लावण्ययुक्त अलौकिक स्वरूप देख कर उसका हृदय बिंध गया और तत्क्षण उसने सहचरी से कहा—"आली निपुणिके! इस साधु पुरुष को भोजन करने के लिऐ मंदिर में पधारने की प्रार्थना कर! इसको मैं तृप्त करूंगी और मैं भी पूर्ण तृप्त होऊंगी।" दासी तुरन्त ही आज्ञानुसार नीचे उतरी और द्वार पर आकर बोली—"हे साधु! आप हमारी स्वामिनी की मनःकामना तृप्त करो और भिक्षा के लिये भवन में पधारो!"

कंदर्पहर ने कहा—"तेरी बाई जी की मनःकामना पूर्ण किये बिना मैं यहां से विदा न होऊंगा!" तब दासी हँसती हुई कंदर्पहर को मंदिर में बुला ले गयी।

पिंगला ने भांति-भांति के भोजन तैयार करने की आज्ञा दी। भोजन का समय होते ही कंदर्पहर से भोजन करने की प्रार्थना की। कंदर्पहर ने उत्तर दिया-हे मैया! मैं एक संन्यासी हूं, एक ही बार भोजन करता हूं, दूसरी बार भोजन नहीं करता, इस कारण आज मैं भोजन नहीं लूंगा।"

साधु पुरुष के यह वचन सुनकर पिंगला को खेद हुआ, परन्तु अपनी मनःकामना को साधु से यहां कहे बिना संतोष न होगा यह विचार कर वह बोली—"आप इस दासी के भोजन का अंगीकार नहीं करते हैं यह मैं अपना दुर्भाग्य समझती हूं।"

कंदर्पहर ने कहा—"हे मैया! इसमें दुर्भाग्य कुछ भी नहीं। मैंने तुम्हारी दासी से कह दिया है कि तुम्हारी स्वामिनी की जो-जो कामना होगी उसे मैं पूर्ण करूंगा। और जब तक उसे पूर्ण न करूंगा तब तक यहां से कहीं नहीं जाऊंगा। आज नहीं तो कल से तुम्हारा भोजन लूंगा। इसमें तुम्हारे खेद पाने का कोई कारण बिल्कुल नहीं है।"

साधु पुरुष के ये वचन सुनकर गणिका ने मन में विचार किया कि जो मैं इस समय इससे आग्रह करूंगी तो मेरा देहगेह पवित्र किये बिना, यह महात्मा चला जायगा और मेरी मनःकामना व्यर्थ जायगी। पर इस महल में से वह कहां जानेवाला था। यह जोगटा है बड़ा पक्का उस्ताद, भाव दिखाना खूब जानता है। पर मैं भी क्या कुछ कच्ची हूं! ऐसे जोगटे अनेक देख लिये हैं! इस पिंगला के सपाटे में से कौन बचा है और क्या यही बच जाता है? यह विचार करती हुई गणिका ने कंदर्पहर से उस दिन विशेष आग्रह नहीं किया।

फिर उसने अपनी दासी को भेज कर दूसरे कमरे में साधु महाराज के निवास का प्रबंध कर दिया। यह कमरा विलास वैभव की विभूति के समान

था, रति के रहने का स्थानरूप था, मदन के मौज मारने का मंदिर था। चाहे जैसे ब्रह्मविद को चलायमान करने का यह चरित्र स्थान था। गणिका ने यह कमरा खास-खास राजपुरुषों के द्रव्य से सजाया था। इसी में कंदर्पहर को ठहराया गया।

कंदर्पहर ने कमरे में प्रवेश करते ही सूक्ष्म दृष्टिपात से आसपास की लीला का अवलोकन कर लिया। सुन्दर छत्र पलंग, चौरंग, सुखासन, सुवर्ण के मंच, रेशमी हिंडोले और मन को विषयलीन कराने योग्य चित्रों से भरपूर था। इसमें बिछे हुए किसी भी आसन पर न बैठकर उसने एक कोने में व्याघ्रांबर बिछा कर आसन किया।

दासी ने सुखासन पर बैठने के लिये बहुत आग्रह किया, पर कंदर्पहर ने कहा—"अये अंबे! मुझ जैसे साधु पुरुषों को ऐसे सुखासन योग्य नहीं हैं। इन्हें तो इश्कबाजों के लिये रहने दो।" यह सुन कर दासी वहां से बिदा हो गयी और कंदर्पहर परमात्मा के ध्यान में निमग्न हुआ।

दासी अपनी बाई के पास आकर बैठी। उस समय पिंगला अपने विचार में लीन हो रही थी। महान् तेजस्वी साधु पुरुष को देखकर उसके मन के विकार शान्त होने के बदले प्रदीप्त हुए थे! और नयी-नयी तरङ्गें उमड़ रही थी। जिस चित्त को अकेला विवेक ही प्राप्त हुआ है वह चित्त किसी काल में भोगों का त्याग कर नहीं सकता। विवेक के साथ जब विराग की भी प्राप्ति हो और सत्यासत्य का भेद जानने में आवे तब ही चित्त संसारी भोग का विष्ठा की तरह त्याग करता है। यद्यपि पिंगला को विवेक तो अवश्य प्राप्त हुआ था, तथापि उसकी वासना का क्षय नहीं हुआ था और विराग का तो अंकुर भी नहीं फूटा था।

उसने पास बैठी हुई दासी ने कहा—"अरी निपुणिके! मैं जैसे पुरुष की बहुत समय से कामना करती थी, वैसा ही पुरुष आज मुझे प्राप्त हुआ है। तू बड़ी चतुर है, इस कारण मेरा मनोभाव जान कर ही तू इस संत पुरुष के पास से वचन ले आयी है कि वह जब तक मेरी मनःकामना तृप्त न करेगा तब तक यहां से बिदा न होगा। देखने में तो यह साधु ठीक है। परन्तु चालाक और बातचीत में बड़ा वाचाल है। तू देखती है न, मुझसें मैया-मैया कहता है! पर अपनी इच्छा से यह इस पाप के भवन में आया है और यहां रहने की बातें करता है। यह जोगटा ऐसा वैसा नहीं जान पड़ता है। यह पुरुष जो मुझे प्राप्त हो तो मैं सचमुच कृतार्थ हो जाऊं! योगी पुरुषों का भोग भव रोग को नाश करता है। पर यह सहज में समझ जाय ऐसा नहीं है। क्या हो!"

दासी अपनी स्वामिनी का मनोभाव जान कर उसी के अनुसार कहने लगी–"बाईजी! तुम इसकी कुछ चिन्ता न करो। अनेक साधु बाबा ऐसे ही हैं! दाम और काम से कौन नहीं डिगा है?* इन्द्र डिगे, ब्रह्मा डिगे, विश्वामित्र जैसे मुनि डिगे, कृष्ण परमात्मा डिगे, तब इस जोगटे की बिसात ही क्या है! मैं मानती हूं कि यह तुम्हारा रूप देख कर ही चकित हो गया है, इसी से इसकी भूख जाती रही है। जो ऐसा न होता तो ऐसे सुन्दर पक्कान्नों को छोड़ कर कौन उठ जाता? अब देखिये तो सही, इसे मैं चुटकियों में कैसा ठिकाने लगाती हूं! महँगा सस्ता हो नहीं तो फिर साधु ही कैसा? परन्तु बाईजी! है तो कामदेव का ही अवतार!"

इस प्रकार बातचीत करते-करते सायंकाल हो गया। मुख्य दासी ने कंदर्पहर का निवास स्थान प्रकाशित करने की दूसरी दासियों को आज्ञा दी। सारे महल में चारों ओर सौगंधिक दीपक जगा दिये गये। इत्र आदिक सुगंधित पदार्थों का सौरभ चारों ओर फैल गया। उत्तम-उत्तम सुगंधित पुष्पों की और मालाओं की जालियां खिड़कियों पर बांध दी गयीं। कंदर्पहर के मन को हर किसी प्रकार प्रसन्न करने का प्रयत्न आरंभ किया गया। और साथ ही काम को बढ़ानेवाला मंगलनाद होने लगा। थोड़ी देर में दासी और पिंगला रूपे के थाल में केसर कस्तूरी पड़ा हुआ दूध का प्याला और काम की वृद्धि करे ऐसे सुंदर पक्कान्न लेकर कंदर्पहर के समीप आयीं और साधु से उनके भोजन करने की प्रार्थना की :

कंदर्पहर ने कहा–"मैया!"

यह शब्द सुनते ही पिंगला के रोम-रोम में आग लग गयी। पिंगला की मनःकामना कुछ और ही थी! और साधु ने उसे मैया कह कर बुलाया। इससे उसे क्रोध और खेद दोनों साथ ही साथ व्याप गये। 'जो देही है उसे देह वासनाहीन का विचार है। वह संतपुरुष की गति को नहीं जान सकता है। रूप में, यौवन में, धन में अबुध जनों को मोह उपजता है। परन्तु ज्ञानी जन धैर्य से उस मोह का त्याग कर देते हैं।' इस साधु का मन तो ब्रह्म के साथ लवलीन हुआ था। उसके हृदयस्थल के किसी अंश में विकार को स्थान ही नहीं था। पिंगला के हाव भाव, नखरे, वक्रदृष्टि के कोई भी उसके हृदय पर असर नहीं कर सकते थे।

उसके मन में तो पिंगला ही नहीं बल्कि जगत् की स्त्री मात्र मैया थी, और उसी संबोधन से गणिका को संबोधन कर फिर कहा कि "हे मैया! संतों के विधि निषेध को तू जानती नहीं है इससे यह थाल तू पुनः लायी है! परन्तु हम विरक्त

* (महात्मा कबीरदास ने एक दोहे में कहा है–"चलन-चलन सब कोउ कहे, पहुँचे बिरला कोय। एक कनक अरु कामिनी, दुर्लभ घाटी दोय।")

पुरुषों को दूसरी बार भोजन करने का निषेध है। मायिक सांसारिक जीव ही ये कामोत्पादक भोजन करते हैं—साधु पुरुषों को तो यह भोजन विषसमान है, तो क्या तू ये भोजन जिमा कर मेरा घात करना चाहती है? हे मैया! ज्ञानी पुरुषों का देह भोग के लिये नहीं है, बल्कि अनन्त मोक्ष के लिये है। क्षुद्र कामना के लिये नहीं है बल्कि तपश्चरण के लिये हैं। इस शरीररूप जीवन नगरी को प्राप्त कर जो जीव अपना जीवन, विलास वैभव में गँवाते हैं, वे जीव परमात्मा के अपराधी बनते हैं। ये तेरे मिष्टान्न मुझ जैसे साधु पुरुष के लिये अनेक प्रकार के दुःख प्राप्त कराने वाले हैं, अतएव कृपाकर तू इन्हें वापस ले जा और सुन मैया! यह सब ठाट किसके लिये चाहिये? यह वैभव किसके लिये किया है? चारों ओर सुगंध फैलाने वाले सौगांधिक पदार्थों की अपेक्षा, इस अंतरात्मा को आनन्द देने वाला जो सुगंध फैलता है वह क्या इससे श्रेष्ठ नहीं है? अपने अन्तरात्मा को स्थिर कर, अपने प्रपंची चक्षुओं को निर्मल करके, मेरी दृष्टि के सामने अपनी दृष्टि मिला! मुझे धर्म से भ्रष्ट करने के अपने मन के विचारों को दूर कर और इन तामसी भोजनों को यहां से वापस ले जा!"

पिंगला ने कहा—"महाराज! आप जैसे सत्पात्र तो अनेक जीवों का कल्याण करने वाले हैं! गुणी जन जिनके द्वार पर चरण रखते हैं उनका कल्याण निमेष मात्र में हो जाता है। मेरी मनःकामना तृप्त करने की—मेरे कल्याण की आपने प्रतिज्ञा की है। इसे क्या आप निष्फल करोगे?"

साधु पुरुष ने कहा—"हे मैया! जो प्रतिज्ञा मैंने की है उसे मैं अफल नहीं करूंगा। अपनी प्रतिज्ञा सफल किये बिना मैं यहां से बाहर कदम भी न धरूंगा, इसके लिये तू निश्चिन्त रह, पर इस वैभव से क्या तेरी कामना तृप्त होगी? नहीं, इसकी रीति तो निराली ही है, उसी से तू तृप्त होगी!"

साधु के ये मार्मिक वचन सुनकर, पिंगला को बहुत बुरा लगा, परन्तु वह कर क्या सके? उसने मन में विचार किया कि, 'अं हं ऐसे दंभ के विचार तो अनेक साधु बतलाते हैं, परन्तु वे सब स्त्रियों के छलकपट में लिपट मरे हैं। ब्रह्मा, शिव और विष्णु भी स्त्रियों के चरित्र में भूल गये हैं तब यह सामान्य साधुड़ा किस गिनती में है! 'ईश्वर को पहचानना, माया का त्याग करना, आसुरी सम्पत्ति को छोड़ना, लोभ का त्याग करना, क्रोध को वश रखना, सात्त्विक व्रत से रहना,' ऐसी-ऐसी बातें तो मुंह से अनेक लोग बकते आये हैं—'बोल बच्चा शूकड़ा अचरे-अचरे राम, तो कहे राम! राम! राम!' ऐसे कहा तो इसमें क्या! बाबाजी और साधु तो नित्य ऐसा कहा ही करते हैं कि 'स्त्री नरक का द्वार है, त्यागने योग्य है', परन्तु कौन सा साधु बाबा, यती, जंगम, योगी स्त्री के मोह में फँसकर मरा नहीं? मैं भी तब सच्ची वेश्या, जब

इन साधु महाराज के सारे विकार और अविकार भुला दूं और इनके अधम तथा पापिष्ठ शब्दप्रहार को फिर इन्हीं के मुंह में ठूंस देऊं। ऐसा करूं तो मेरा नाम पिंगला! आज नहीं तो कल, खायेगा नहीं तो जायेगा कहां! चूल्हे में? खाये बिना कौन जीता है! हवा खाकर तो नहीं जीवेगा! 'नारी नरक की खान है, नारी संसार में फसाने वाली है,' ऐसी-ऐसी बातें तो मैंने बहुत सी सुनी हैं। ऐसे-ऐसे बोलने वाले तो अनेक आये और अनेक ऐसे गड़प हो गये कि जिनका पता भी नहीं लगा कहां गये! तो फिर इस जोगटा की क्या बिसात है। यह किस गिनती में है।'

ऐसे अपने मन के संकल्प विकल्पों को जोर से दबा कर वह बोली—"साधु महाराज! इस संसार में मैंने तो ऐसा कोई जीव नहीं देखा कि जो मेरे हाथ का ऐसा उत्तम औटा हुआ दूध और सुन्दर पक्कान्न तथा सुगंध मारते हुए मुखवास (ताम्बूल को) को ठोकर मारने में तत्पर हो, इस मेरे हाथ की एक पान की बीड़ी की क्या कीमत है। उसकी तुमको खबर नहीं, इसी से उसे लेने के लिये तुम ना कहते हो। पर इस विदेह नगरी के अनेक गुणवान्, धनवान्, विद्वान् और तुम्हारे जैसे धर्मशील और ब्रह्मा और ब्रह्मा के दादा के हाथ में यह बीड़ी दूं तो वे भी अपने अहोभाग्य मानें! पर चिंता नहीं, कल तुम्हारी इच्छा में आवे तब भोजन करना।"

इतना कह कर दासी तथा पिंगला वहां से बिदा होने को तैयार हुई, तब कंदर्पहर ने कहा—"हे मैया! यह दीपकों की झकझकाहट तथा इत्रों की महकाहट, पुष्पों की जालियां, ये साधु पुरुषों के लिये नहीं होती हैं। इनको तू शीघ्र दूर कर! जो मेरी देह को सुख उपजाने की तेरी इच्छा हो तो इस सारी विलास की सामग्री को तू दूर रख। उससे तू तृप्त हो!"

पिंगला ने साधु की इच्छानुसार, सारे दीपक बंद करा दिये, केवल एक दीपक रहने दिया। फूलों की जालियां हटा दी।

फिर जब दासी और पिंगला अपने मन्दिर में जा बैठी तब दासी बोली—"बाई जी! यह तो मुआ बिल्कुल मूर्ख ही दिखायी पड़ता है। इसे तो कुछ कदर ही नहीं। इस मुए को यहां रख कर तुम क्या करोगी! मारो लात और निकालो बाहर। तुम्हारा मनोभाव यह पूर्ण करे इसकी तो मुझे कुछ भी आशा नहीं।"

पिंगला बोली—"छोकरी! अभी तू नादान है, इसे क्या मैं अपनी चंगुल से जाने दूंगी। अरे जा रे जा, मेरे मन की निर्बलता जानने के पीछे यह क्या चूल्हे में जाने वाला है?"

आधी रात को पिंगला झंझनाहट करती हुई कंदर्पहर की कोठरी में गयी

तथा कंदर्पहर के सामने बैठ, अनेक प्रकार चोचले और नाज नखरे करने लगी, परन्तु जिसके सब संकल्पों का नाश हो गया है, जिसमें विषय का गंध नहीं, ऐसे योगी पुरुष के चित्त पर उसका कुछ भी असर नहीं हुआ।

पिंगला ने साधु से चरण दाबने की प्रार्थना की, तब साधु ने कहा—"यह समय हमारे ध्यान धरने का है। इस ध्यान में से निश्चिन्त होने पर तेरी जो इच्छा हो सो पूरी करना!"

पिंगला ने मन में विचार किया कि ठीक है, इस समय साधु महाराज भले ही ध्यान धरें, कहां तक ध्यान धरेंगे? किसका ध्यान धरेंगे? देवी का या देवता का? परमेश्वर का या पिंगला का? जहां मैं बैठी हूं वहां दूसरे का ध्यान धरने की किसको शक्ति है?'

पिंगला साधु के समीप बड़ी देर तक बैठी रही कि अब साधु ध्यान में से मुक्त होगा, घड़ी पीछे मुक्त होगा, ऐसी आशा में बड़ी रात तक बैठी रही, फिर उसको नींद के झोंके आने लगे, परन्तु साधु महाराज समाधि में से नहीं उठे! पिछली रात हुई तो भी मुनि महाराज ध्यान से चलायमान नहीं हुए। आखिर को ऊब कर पिंगला वहां से बिदा हुई। जाते-जाते वह मन में कहने लगी, 'आज नहीं तो कल समझेगा, जायेगा कहां?'

मदनवश हुई पिंगला की आंख पिछली रात को खुली सो खुली। कब सबेरा हो और ऋषिराज से मिल कर उसका मन चलायमान करूं, इसकी वह माला जपने लगी। 'यह ऋषिदेव मेरी देह को सार्थक करेगा कि नहीं? जैसा कहा है उस तरह मेरी मनःकामना पूर्ण करेगा कि नहीं? मुझे प्रेम से भजेगा कि नहीं? इसके हृदय में प्रेम है कि नहीं?' ऐसे नये-नये अनेक तर्क वितर्कों से उसकी निद्रा जाती रही। कामदेव का बाण उसके अन्तःकरण के आरपार निकल गया था। वह जल भुन रही थी। 'रे तुच्छ मदन? तू मुझे मत मार, इस साधु में फंसा कर दुःख मत दे। अलि सखि! तू कुछ मेरी औषध नहीं करती है? मेरी विरहवेदना नहीं समझती? इस साधु पर मेरा ऐसा भारी मोह क्यों? मैं अंध क्यों बन गयी? यह सचमुच साक्षात् कामदेव है, इसी से में रति की भांति उसकी कामना करती हूं!' इस प्रकार हाय हत्या, संताप परिताप के बीच प्रभात हुआ।

दासी ने उठ पिंगला को धीरज देकर कहा—"जरा तुम तमाशा तो देखो! आज तुम ऐसी अधीर क्यों बन गयी हो। ऐसे जोगिया ऐसा दंभ न रखें तो तुमसे पक्षी कैसे वश में हो?"

फिर वह हाथ में जल का लोटा, मिट्टी, मंजन और दातून लेकर ऋषिदेव के सम्मुख आयी। धूर्ता दासी ने प्रेमपूर्वक प्रणाम किया और कंदर्पहर के समक्ष दंतधावन की वस्तुएं रख दी। आशीर्वाद देकर कंदर्पहर ने नियमपूर्वक दंतधावन किया तथा शौचादि से निवृत्त हो स्नान संध्या कर कंदर्पहर आसान लगा कर बैठा, कि तुरन्त ही दासी केसर, कस्तूरीं, बादाम, पिस्ता इलायची, शक्करादि डाला हुआ दूध ले आयी और ऋषिराज को प्रणाम कर प्राशन करने की प्रार्थना की।

कंदर्पहर ने कहा–"बेटा! ये पदार्थ ऐसे हैं जिनसे साधु पुरुषों को मद चढ़ता है, ज्ञान का विनाश होता है, सुस्ती आती है, सुज्ञ पुरुष जिनके कृत्य की निंदा करते हैं, शरीर में प्रविष्ट हुए ऐसे मादक पदार्थ सात्त्विक वृत्ति का नाश करके उसकी आस्तिक स्थिति में से गिरा देने के कारणभूत हो पड़ते हैं, ऐसे पदार्थों का सेवन कराकर तू क्या महाकष्ट से प्राप्त हुए मेरे शुद्ध ज्ञान का नाश कराने की इच्छा करती है? जो पदार्थ तू ले आयी है वह किसी भी सन्त पुरुष को विषय वासना की ओर दौड़ा कर, मन्मथ के मोह में डालने वाले हैं, इसलिये ये मेरे काम के नहीं, जो इनका भोगी हो उसे यह दे। सत्त्व, रज तथा तम त्रिगुणात्मक अंहकार का इस शरीर में पूर्ण रूप से विचरना यह सद्बुद्धि को चलायमान कर डालता है, अभेद का त्याग कराकर भेद को जागृत करता है, मन को अव्यवस्थित स्थिति में डाल देता है। वे सब पदार्थ मुझसे सन्त पुरुषों को भ्रष्ट करने के मुख्य साधन हैं। मैया! यह दूध का कटोरा उसको दे जिसकी इच्छा हो, माया में लवलीन हो, जिसे भेदाभेद का ज्ञान नहीं, सत्य वस्तु को जो समझता नहीं।"

दासी बड़े क्रोध से बोली–"तो महाराज! तुम क्या खाओगे? दूध नहीं, घी नही, पक्वान नहीं, शाक नहीं, तरकारी नहीं, दूध पाक नहीं, शिखण्ड नहीं, पूरी नहीं, तो क्या धूल खाओंगे?"

कंदर्पहर जो साधारण सन्त की तरह होता तो वह दासी के मुख से ऐसे क्रूर वचन सुन क्रोधवश हो जाता। मन्युहर भी इस दासी के तिरस्कार के वचन सुन उछल पड़ता। परन्तु कंदर्पहर इन सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ था।

उसने मुसकराते हुए दासी से कहा–"बेटा! धूल खाने की ही मेरी इच्छा है। मेरे वास्ते बाजरे की एक बड़ी रोटी और जरासी मूंग की दाल लाना, हमारे वास्ते यही भोजन अच्छा है।"

दासी तो ऋषिराज के वचन सुनकर मन ही मन में हजारों गालियां देती हुई वहां से चली गयी और विचारने लगी कि 'इस मुए गँवार के साथ मेरी

बाई को कैसे अच्छा लगेगा? मुआ जंगल का ढोर है। अरे! इससे तो, ढोर अच्छा। क्योंकि वह भी पक्वान को चबड़-चबड़ खा जाता है। पर यह मुआ तो उससे भी गया बीता है। पक्वान तो इस ढोर को भाते नहीं, दूध गले में अटकता है, पान खाना कठिन जान पड़ता है और इत्र की सुगंध से बेहोशी आती है। अरे सुगंधि से जुकाम होता है! रँडूए भूत को भला किस चीज का भान हो? मुआ जंगल का ढोर ही है!' ऐसे बड़बड़ाती फड़फड़ाती आधी कच्ची-पक्की मूंग की दाल का पतीला तथा चार बाटी इकट्ठी करने पर जैसी मुटाई हो ऐसी मोटी रोटी तथा वह भी सेक कर लकड़ी के समान कड़ी हो गयी थी, कि भीत में मारे तो उसमें भी गड्ढा पड़ जाय परन्तु रोटी की कोर भी न टूटे ऐसी रोटी थाली में रख कर ऋषिदेव के आगे रख दी।

प्रसन्नतापूर्वक ऋषिदेव ने कहा—"अरे मैया! हमारे ढोर के लिये ऐसा ही भोजन चाहिये। यह बड़ी अच्छी रोटी है! ऐसी ही रोटी खाने का हमको अभ्यास है!"

इतने में गणिका पिंगला वहां आ पहुँची। ऋषिदेव को बड़े प्रेम से बाजरे की रोटी और मूंग की दाल खाते देख उसका पेट तो खलबला गया। इस समय ऋषिदेव ऐसे प्रेम से उसे खाते थे और रोटी की स्तुति करते थे कि उसे देख पिंगला के पैर से चोटी तक क्रोध भर गया, तथा दासी को साथ लेकर एकदम वहां से चली गयी।

अलग जाकर पिंगला बोली—"अरी मनोहरी निपुणिका! इस मुए उजड्ड को लाकर तू मेरा क्या कल्याण करना चाहती है? जानो, मुआ जंगली जानवर है। जिसे न खाना आता है, न पीना आता है, न बोलना आता है, न बैठना आता है, न इसे सोना आता है औन न बातचीत करना ही आता है! अरी देख ना! हर घड़ी मैया कहता-कहता कैसे मरता रहता है? मैंने तो जाना था कि मेरा चिरकाल का मनोरथ इससे पूरा होगा और इस जिंदगी को सार्थक करूंगी, परन्तु इस मुए ढोर ने तो मुझे खूब ही छकाया है इससे मेरा कुछ भला होने की आशा मुझे नहीं।"

दासी बोली—"बाई साहिब! तुम जरा भी घबड़ाओ मत, इस मंदिर में तुम्हारे दर्शन को पधार कर ऐसा कौन माई का लाल है कि जो सांगोपांग तुम्हारे चरणकमलों का प्रसाद चखे बिना जा सका हो? तुम्हारा नयन बाण तो ऐसा वज्रबाण है कि उससे भले-भले साधुओं का तथा मुनियों का मन चलायमान हो गया है, उनके साधुपने का गौरव गलित हो गया है, तो यह साधुड़ा किस लेखे में! क्या यह नहीं जानता होगा कि यह गणिका का मंदिर है? इतने पर भी जब यह चल कर इस मंदिर में आया है, तब क्या तुम्हारी मनःकामना सिद्ध किये बिना एक पैर भी पीछे को जा सकेगा? नहीं जी। फिर

भी मैंने इसके मुख के कपटी प्रतिज्ञा करवा ली है, रात हो रहा है और रहने की पूर्ण इच्छा प्रकट की है, वह क्या अकस्मात् यहां से सटक जाय, यह बात तो 'न भूतो न भविष्यति' ही जानों, ऐसे जोगटे तो मैया-मैया कहते-कहते मैया के चरणकमलों का सेवन करने वाले चेरे बन जाते हैं। कढ़ाई के औटे दूध का पान नहीं करता है पर अधरामृत का पान करेगा। मत्स्येन्द्र जैसा योगी, स्त्री के अधरामृतपान में लीन हो गया था, तो यह किस देवालय का देव है! देखो तो सही, मैं चार दिन में इसको ठिकाने से लगा दूंगी, पर तुम भी जरा ठाटबाट ठीक रखो, अपना छमछमाहट बताओ और धीरज से पिघलाओ।"

हिमगिरि के महात्मा ने सुविचार को संबोधन करके कहा—"हे वत्स सुविचार! इस जगत् की नैसर्गिक बुद्धि ही ऐसी है कि वह चाहे जैसे महात्मा पुरुषों को भी प्राकृत पुरुषों के समान ही समझती है। निर्विकल्प समाधि से अद्वैत का ज्ञान प्राप्त किये हुए सौजन्यशील पुरुष के हृदय में भी अज्ञान की गांठ दृढ़ बँधी हुई है। ऐसा मान कर, जगत् के प्राकृत पुरुष के समान समझ उसका व्रतभंग करने को क्षुद्र प्राणी प्रयत्नशील होते हैं परन्तु शान्त, जितेन्द्रिय, उपराम पाया हुआ, क्षमाशील, नित्य परब्रह्म के ध्यान में लीन हुआ तथा ब्रह्मभाव को प्राप्त ब्रह्मवेत्ता, अपनी ब्रह्मभावना के निश्चय से क्षणभर भी चलायमान नहीं होता। जगत् की नाशवंत लीला को वह ज्ञानदीप के प्रकाश से निकाल डालता है। वह क्रियारहित और विकल्परहित बन कर ब्रह्माकार वृत्ति में ही स्थिर रहता है। उसके नेत्र, श्रोत्र, जिह्वादि इन्द्रियां मृतवत् कार्य करती हैं और वह सर्व दृश्य पदार्थों का चिदात्मा में लय कर स्वयं इस जगत् को तर जाता है। इतना ही नहीं बल्कि माया में डूबे जीव को तार कर उसे भी सन्मार्ग में चलाता है। हे वत्सो! जगत् में विचर के तुम्हें भी ऐसे हीं अद्वैत रस के आनन्द का अनुभव कर, करवा कर, जीवन्मुक्त रह अनादि अविद्या के किये हएु अंधकार का स्वस्वरूप ही एकता देख कर ऐसे की नाश करना चाहिये। संसार से पार होने का यही सबसे श्रेष्ठ साधन है।"

पिंगला अपने मन में अनेक प्रकार के मनोरथ गढ़ती रहती थी। इतने में सांयकाल हो गया। कंदर्पहर ने सायंसंध्या की कि तुरन्त ही पुनः एक सुवर्ण के थाल में भांति-भांति के मनोहर फल मूलादिक तथा दूध लेकर दासी आयी तथा कंदर्पहर से स्वीकार करने के लिये विनती की। कंदर्पहर ने पुनः उसका अनादर किया। इतने में पिंगला वहां आ पहुँची। इस समय का पिंगला का स्वरूप देवदानवों को छलने वाली तथा विस्मृति कराने वाली मोहिनी को भी पानी भराने

योग्य था। उसने बड़े-बड़े शृंगार शरीर पर धारण किये थे। मस्तक पर छोटी सी बेंदी शोभायमान थी। चित्त को आकर्षण करने वाला हीरे का हार कंठ में जगमगा रहा था। पैरों में झंझुनाहट करने वाले नुपूर (पायजेब) पहने हुए थी। नाक में पानीदार मोती वाली बेसर हिल रही थी। रंग बिरंगी कसी हुई चोली पहिने हुए थी। शरीर पर अंग प्रत्यंग दिखाएँ, ऐसा बारीक गुलाबी वस्त्र पहने हुए थी। नेत्रों में बारीक सुरमा आंजे हुए थी। अधरोष्ठ लालबिंब जैसे दीप्त हो रहे थे। शिर की मांग में सिंदूर की रेखा खिंची हुई थी। नेत्र हिरनी के नेत्रों की भांति चंचल थे। स्तनों का भाग हाथी के कुंभस्थल की तरह उन्नत होने के कारण यौवन का अभिमान दर्शा रहा था। वह कटाक्ष से बड़े ही तीव्र बाण मारती कंदर्पहर के सम्मुख आकर खड़ी रही तथा परम भक्तिभाव को दर्शाती हो इस प्रकार कंदर्पहर को प्रणाम करके सम्मुख जा बैठी।

"महाराज! देव! आप जैसे महात्मा पुरुष का अपने यहां पधारना में अपना अहोभाग्य समझती हूं। परन्तु मेरे पूर्वजन्म के किसी कुसंस्कार के कारण आप मेरी अल्प भेट को अस्वीकार करते हैं, इसका कारण मैं नहीं समझ सकती। हे कृपानिधे! मुझ पर दया करके इस थाल में से आपकी इच्छा में आवे उस वस्तु को ग्रहण करके मुझे पवित्र करो!" इत्यादि विनय करने लगी।

कंदर्पहर ने कहा—"हे मैया! मैंने तुझसे प्रथम ही कहा है कि, मुझ जैसे सन्त पुरुषों को ऐसे मीठे पदार्थ जहर समान हैं, ये पदार्थ खिला कर तू मेरी मृत्यु कराना चाहती है, तो तेरी मनःकामना मैं कैसे तृप्त कर सकूंगा। मैं तो जंगल का रहने वाला झाड़ पात पर निर्वाह करने वाला हूं। किसी कर्मवश तेरे मंदिर पर आया हूं। तू मेरे नित्य नियम में विक्षेप करा कर तथा विघ्न डाल कर पाप की भागिनी मत हो!"

कंदर्पहर के वचन सुनकर पिंगला ने दासी की ओर नेत्रों से संकेत किया कि थाल हटा ले। दासी तुरंत थाल लेकर चली गयी। कटाकटी का प्रसंग था। पिंगला यौवन में मदमस्त थी। मन्मथ का थनथनाहट मच रहा था। थोड़ी देर तक दोनों एक दूसरे के मुख सम्मुख इकटक देखते रहे फिर कंदर्पहर मुख से प्रणव का जप जपने लगा। परमेश्वर का स्वरूप उसके सम्मुख जगमगाता हुआ उपस्थित हुआ। पिंगला का स्वरूप उसे दिखाई नहीं देता था। उसकी दृष्टि में पिंगला नहीं थी। वह ब्रह्म के रूप में तदाकार हो रहा था। पिंगला की दृष्टि निर्मल नहीं थी। उसकी दृष्टि ही में नहीं बल्कि उसके अंग अंग,मन, चित्त, बुद्धि इन सब स्थानों में कंदर्पहर रमण कर रहा था। रगरग में कंदर्पहर व्याप्त हो रहा था। भवन में, पदार्थ में, प्रकाश में,

अवकाश में, अंधकार में सर्वत्र कंदर्पहर का ही रूप दृष्टि पड़ता था, वह भी बिल्कुल कंदर्पहर का रूप ही बन रही थी, उसका मैत्री गांठने का प्रयत्न व्यर्थ ही हुआ। धीरे-धीरे कंदर्पहर के मुख की निस्पृहता देख वह शिथिल होती गयी। अब उसका हृदय धड़क-धड़क होता था। उसके हाथ और पांव गुप्त रीति से कांप रहे थे, शरीर पर पसीना झलक रहा था, उसके मन में चटपटी लग रही थी कि एकदम दौड़कर कंदर्पहर से लिपट जाऊं! ऐसा उसका भाव जानते ही कंदर्पहर के प्रत्येक अंग में से एक प्रकार का दिव्य प्रकाश उसकी दृष्टि पड़ा जिससे पिंगला दंग हो गयी, जकड़ गयी, उसके पैर उठ न सके, नूपुर की मंद झनकार भी सुनाई नहीं दी। इस प्रकार से उसके नेत्र चौंधिया गये। वह महात्मा पुरुष के ऐश्वर्य में तल्लिन हो गयी। एक समय ऐसा भी विचार आया कि अपने मन की पापवृत्ति को दूर करूं। क्षण भर के लिए ऐसा भी विचार आया कि यह कोई दिव्य महात्मा पुरुष मुझे शाप देगा तो मेरे सब ऐश्वर्य का नाश हो जायेगा। ऐसे विचार से वह दिङ्मूढ़ बन गयी। उसकी इंद्रियां निःसत्त्व हो गयीं।

परन्तु वत्स सुविचार! प्राकृत मनुष्य के सद्विचार तपे हुए लोह पर पड़े हुए जल के बूंद सदृश हैं। जैसे उन कणों को उड़ते देर नहीं लगती, वैसे ही उसके सद्विचार को नाश होते देर नहीं लगती। ऐसे ही पिंगला की शुभ वृत्तियां क्षण भर में क्षीण हो गयीं तथा जैसे इंधन के बिना अग्नि अपने स्थान में ही समा जाती है, वैसे ही उसकी शुभ चित्तवृति अपने अधिष्ठान ही में समा गयी। वह पुनः माया में लिपट कर जाज्वल्यमान बन गयी। समुद्र का पान करना सरल है, मेरूपर्वत को उठा कर महासागर की तली में डूबा देना सरल है, दावानल पान करने को भी जीव समर्थ हो सकता है, पर वत्स सुविचार! चित्त का निग्रह करना, यह बहुत ही विषम है। उसके लिए प्रत्येक जीव को तपश्चरण कर श्रीहरि के रूप में लीन बन प्राप्त हुए बल को निर्गुण कर, वैराग्य आदि साधन करने में लगा रहना और चित्तजय करना चाहिए। प्राकृत ही नहीं, बल्कि ज्ञानशील जीव को भी माता, बहिन, पुत्री अथवा दूसरी किसी स्त्री के साथ एक शय्या अथवा एक आसन पर बैठना योग्य नहीं तथा एकान्त में बात चीत भी नही करनी चाहिए। इन्द्रियां ऐसी बलवान हैं कि वे चाहे जैसे विद्वान या सन्त को भी असन्मार्ग की तरफ घसिट ले जाती हैं।* जो जीव परस्त्री को माता की तरह, पराये धन को मिट्टी की तरह, तथा प्राणी मात्र को अपनी तरह देखते हैं, वे ही जीव इस लोक तथा परलोक

---

* मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ (मनुः 2। 215)

को जीत सकते हैं तथा यथार्थ ब्रह्मभाव को पाकर नीर्विकल्प निजानन्द के स्थान को प्राप्त होते हैं और वे ही जीव जीवनमुक्त बनते हैं। मृग, हाथी, पतंग, मछली और भ्रमर इनके एक एक इन्द्रिय प्रबल है और ये एक एक इन्द्रिय के विषय का स्वाद लेते हैं और एक एक इन्द्रिय के वश होकर ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं वा अकल्याण को प्राप्त होते है, तो पांच इन्द्रियों को प्राप्त हुआ पुरुष कैसे सुरक्षित रह सके? निश्चय वह तो विनाश को ही प्राप्त होगा। सुगंधभोगी भ्रमर नासा इंद्रिय का स्वाद लेते लेते कमल में बंध जाता है; स्वादभोगी मछली जिह्वा रस के लिये काटे में फँसकर मृत्यु को प्राप्त होती है; रूपभोगी पतंग दीपक की ज्योति पर झंपापातकर (टूट कर,गिरकर) मृत्यु को प्राप्त होता है; हाथी जैसा महान प्राणी भी कामातुर होने से सदा के लिए अंकुश के प्रहारों के सहन करने का भोगी बनता है; संगीत भोगी मृग संगीत पर लुभाकर मरण को प्राप्त होता है। इस प्रकार एक एक इंद्रिय का विषय भोगने वाले प्राणी भी जब विनाश को प्राप्त होते हैं तब जो पुरुष पांच इंद्रियों से घिर गया है उसके मोक्ष का तो मार्ग ही कहां है?

कंदर्पहर के समीप पिंगला अपने नखरे बताती और नयनबाण मारती बैठी है। वह धीरे-धीरे कामोद्दीपक संगीत का आलाप करने लगी। उसने अत्यन्त मधुर गाना आरंभ किया। राग का प्रत्येक शब्द शृंगार से भरपूर था। विरह की व्यथा का उसमें स्वरूप दर्शाया था। शब्द-शब्द में मदन को मस्त करवाया था। जिस गान से शंकर जैसे एकनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता लीन हो गये थे और भीलनी के भोगी बने थे, उस गान से पिंगला ने कंदर्पहर के हृदय को वेधना चाहा। पर कंदर्पहर तो कंदर्पहर ही था। पिंगला के गान का उस पर कुछ असर नहीं हुआ। वह पद्मासन मारे, नव नाड़ी तथा दश इंन्द्रियों का संयम कर ऐसी तो आनन्दजनक समाधि में लीन था कि उसके हृदय के किसी भाग में राग के असर को स्थान व मान न मिला। पिंगला की चेष्टा अकारथ् गयी। उसका हृदय टूट पड़ा। क्योंकि कंदर्पहर की समाधि श्रेष्ठ थी। उसकी दृष्टि केवल ब्रह्ममय थी। उसके कान भी ब्रह्ममय थे। उसका हृदय संकल्प-विकल्प रहित था। उसकी इंन्द्रियां उसके ही वश में थी। वह बिल्कुल चलायमान नहीं हुआ। धीरे-धीरे पिंगला को नींद आने लगी, नेत्र भारी पड़ गये। आखिर वह व्याकुल हो वहां से उठकर चली गयी। मन में कहती गयी कि 'देखूं तो सही यह जोगिया कहां तक ऐसे ढोंग चलाया करेगा।'

इस प्रकार पांच सात दिन पिंगला ने ब्रह्मवेत्ता कामजित को मोहित करने का प्रयत्न किया। पर कंदर्पहर को मोहित करने में वह सफल नहीं हुई। एक दिन उसके मन में विचार हुआ कि 'मैंने नये-नये नाज नखरे किये, नेत्रबाणों को भी तान-तान

कर मारा। अंग प्रत्यंग दिखलाकर ऐसे भाव दर्शाये कि जिससे नपुंसक में भी पुरुषत्व आ जावे। ऐसा मोह किया पर यह जोगटा वश नहीं होता। मेरी गति यह जान गया। मैंने वेश्यापन दिखाया, पर निष्फल। मेरे मन की निर्बलता जाने पीछे यह अपना माहात्म्य बखानेगा। मेरे लिये सब कोई छी-छी थू-थू करेगा। इसकी बड़ाई होगी और मेरी निन्दा होगी। यह लोगों में मेरी निन्दा करेगा। यह मुझे हँसेगा और जनसमूह में बार-बार निन्दा करेगा। पर मैं इसकी बड़ाई न होने दूंगी। इस पिंगला के ऊपर अनेक मनुष्य प्राण दे रहे हैं, अनेक पुरुष इस पिंगला के हाथ की पान की बीड़ी लेने के लिये हजारों तथा लाखों रुपये वारने को तैयार हैं। मेरे साथ एक शय्या पर क्षणभर रमण करके, खुद राजपुरुष भी अपना राजकाज भूलकर कई दिन तक मेरे कैदखाने में पड़े-पड़े सड़ा करते हैं। ऐसी मुझ परम सुन्दरी की यह जोगिया इच्छा नहीं करता, यह अपने मन में मेरा उपहास करे, यह मैं सहन नहीं कर सकती। आज रात्रि को यह मेरी इच्छा तृप्त नहीं करेगा तो मैं इसे धूल चाटने योग्य बना दूंगी।'

अब पिंगला का प्रेम क्रोध से रूप में बदल गया। और! वेश्या को प्रेम कैसा? उसका वह प्यार क्या? वह तो विषय की लौंडी ही है, द्रव्य की दासी ही है। यद्यपि पिंगला ऐसी काम की लालसा वाली इसके पूर्व कभी भी नहीं बनी थी, पर जब से उसकी दृष्टि कंदर्पहर पर पड़ी तब से वह मान शब्द ही भूल गयी थी। जिसका मान नष्ट हो जाता है वह प्रतिष्ठा के स्वरूप को भी भूल जाता है। पिंगला की भी वही दशा बन गयी है। वह काम की दासी बन गयी है। उसके तनमन में सर्वत्र काम व्याप रहा है। काम अर्थात् दूर के विषयों की तृष्णा और वश अर्थात् संग की अभिलाषा। कामवश जीव की स्थिति एक समान नहीं रहती। तृष्णा और अभिलाषा के नाश होने का जब समय आता है तब वह जीव मूढ़ बनकर क्रोध के अधीन हो जाता है। यही स्थिति इस समय पिंगला की बन गयी है। उसका वह प्रेम-प्रेम ही नहीं था। वह तो विषय सेवन मात्र की दासी थी। उसकी विषयेच्छा कभी तृप्त होती ही न थी। उसके हृदय में विशुद्ध प्रेम हो ही कहां से, तथा ऐसी अबला को कंदर्पहर के विशुद्ध स्वरूप का ज्ञान कहां से हो सके?

आज पिंगला कामक्रोध से अंधी बन गयी है। जैसे-जैसे रात्रि का समय समीप आता जाता है त्यों-त्यों वह अधिक अधीर बनती जाती है। आज जो कंदर्पहर उसकी इच्छा के अधीन न हो तो उसके प्राण लेने का गणिका ने निश्चय किया है। एक तीक्ष्ण कटार अपने पास छिपा रखा है। उसको सारे दिन खाना पीना भी अच्छा न लगा, स्थिर हो बैठी भी नहीं, आवरी बावरी

आकुल व्याकुल बन गयी है। वह विह्वल बन गयी है। उसे कंदर्पहर की ही लौ लगी है। रात्रि हुई। अंधकार हो गया। पिंगला के हृदय में वह अंधकार व्याप गया। महात्मा कंदर्पहर के मन्दिर में उसकी आज्ञानुसार एक ही मलिन दीपक जलता है। वहां पर पिंगला अपना मोहपन दिखाती हुई गयी। कंदर्पहर ॐकार के जप में एकतार था, इस कारण पिंगला के नूपुरों का शब्द उसने सुना नहीं और न उसकी ओर दृष्टि की तो फिर उसके सौन्दर्य पर तो दृष्टि ही क्यों देवे? पिंगला रोष में–क्रोध में जल बल रही थी। वह ठमकार करती आयी। कदंर्पहर स्थिर ही बैठा रहा। पिंगला प्रणाम कर ऋषिदेव के सम्मुख बैठ गयी।

उसके हृदय का भाव महात्मा से गुप्त न था, अपनी ओर को काम से मस्त आंखों द्वारा पिंगला को निहारते देख महात्मा ने कहा–"मैया तुम्हारा कल्याण हो!"

पिंगला को यह शब्द वज्र के समान लगा। वह क्रोधित हो बोली–"अरे ओ जोगिया! आज मैया बैया की बात दूर छोड़ दे, तू बड़ा महात्मा है सो मैंने तुझे जाना है। इस घर में जब तू आया तब तूने क्या शर्त की थी उसका स्मरण है क्या?"

महात्मा बोला–"मैया! है!"

पिंगला बोली–"चल! आज उस प्रतिज्ञा के अनुसार मेरी इच्छा पूर्ण कर, मेरी इच्छा तृप्त कर!"

महात्मा बोला–"मैया! तेरी इच्छा तृप्त हो चुकी है। तू क्यों बावली सी बनी जाती है?"

इस समय पिंगला की रग-रग में काम व्याप रहा था। उसने एकदम खड़े होकर ऋषिराज का हाथ पकड़ा और कहा–"हे महाराज! मेरे प्राणप्रिय! आप पलंग पर चलो और मेरे जीव को तृप्त करो और ये व्यर्थ बातें छोड़ दो।" ऐसे कह कर संत का हाथ खींचा।

ऋषि ने कहा–"मैया! धीरज धर तेरी इच्छा तृप्त होगी ही, तू उतावली क्यों बनती है। आज क्या जल्दी है।"

ऋषिराज का यह वचन सुनते ही पिंगला क्रोधांध हो गयी। क्रोध से संमोह हुआ, कर्मेन्द्रियां उद्धत बन गयीं, मन से ही विषयों में लवलीन हो गयी, उसका मन बिल्कुल मूढ़ बन गया। वह मिथ्याचारिणी बन गयी। वह अपने तथा ऋषि के रूप को भूल गयी तथा खंजर निकाल ऋषि को धक्का देकर गिरा दिया। कहा–"अरे साधुड़े! आज कितने दिन हुए तब से मुझे छला करता है, परन्तु आज छली जाने वाली नहीं, जो तू आज मेरी इच्छा तृप्त नहीं करेगा तो मैं तुझे इस कटार से मार डालूंगी!"

संत ने दखा कि कटाकटी का समय है, यह दुष्ट अबला सबला होकर मेरा घात करने में क्षणभर भी विचार न करेगी तथा घात हुआ कि गुरुवर्य ने जो आज्ञा की है वह पूर्ण नहीं होगी, इससे उसने सामोपचार का आरंभ किया।

"हे विवेकी अबला! इस एक संत पुरुष की प्राणहानि करने से तेरी कामना पूर्ण होती हो तो ऐसा भले ही कर! पर मेरी एक बात याद रखना, तू जो घोर पाप करने को तैयार हुई है उससे तेरी इच्छा पूर्ण नहीं होगी, बल्कि उलटी तू पापभागिनी होगी, इस जन्म में पूर्वजन्म के कुसंस्कार के योग से तुझको वेश्यापन प्राप्त हुआ है और किसी सुसंस्कार के योग से ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है, उसके बदले अगले जन्म में तुझे नरक में ही पड़ना पड़ेगा।"

पूर्ण तिरस्कार जनाती हुई पिंगला बोली—"अरे साधुड़ा! मुझे नरकादिक का कुछ भय नहीं। तेरे साथ क्रीड़ा करने से चाहे नरक भले ही प्राप्त हो पर वह नरक का दुःख मुझे स्वर्ग के समान होगा। तेरी अनुपम कान्ति देख कर ही मैंने अपने दोनों मंदिरों में तुझे निवास करने दिया है। वहां से तू किसी प्रकार खिसकता नहीं और मेरी कामनाएं भी पूर्ण नहीं करता। तू या तो मेरी कामना पूर्ण कर अपनी प्रतिज्ञा पाल, नहीं तो यमलोक में जा! जो स्त्री कि हजारों लाखों रुपये देने पर भी अप्राप्य है वह तेरी सेवा में तैयार है, वह तेरी किसी भी गिनती में ही नहीं क्या? तूने वचन दिया है कि तेरी कामना पूर्ण किये बिना मैं यहां से नहीं जाऊंगा, उस मेरी कामना को कब पूर्ण करेगा? आज आठ दिन हुए कि मैं तेरी सेवा करती हूं, प्रार्थना करती हूं, विनती करती हूं, पांव पड़ती हूं, उसकी कुछ भी परवाह न करके तू बगुला भगत की तरह मैया-मैया बकता रहता है, तो क्या अपने बाप का माल उड़ाने यहां आया है? चल पलँग पर, नहीं तो अभी मार डालूंगी।"

इस समय पिंगला का लावण्य नष्ट हो गया था, वह राक्षसी रूप धारण कर हाथ में खंजर पकड़े खड़ी थी। उसके नेत्र लाल ईंगुर के समान हो गये थे। दायें हाथ से साधु की गर्दन पकड़ ली थी और कहती कि 'जो इसी क्षण पंलग पर नहीं चलेगा तो मार ही डालूंगी!'

ऋषि ने देखा कि पिंगला माननें वाली नहीं। 'कामातुराणां न भयं न लज्जा' कामातुर मनुष्य को भय और लज्जा नहीं होती, अर्थी को भाई बंद नहीं होता। अहो! इस जगत में बड़े बड़ों को चलायमान करने वाली स्त्री है। उसका शस्त्र अनिवार्य है। यह होने पर भी मूढ़मति उसे अबला कहते हैं।

पिंगला का सबलपन देख, अबल बन कर कंदर्पहर खड़ा हुआ और पंलग

की ओर चला। पिंगला आनंदित हुई। उसका क्रोध धीरे-धीरे कम होने लगा। वह शान्त बन, हँसी और प्रसन्नमुख जनायी।

तब ऋषि बोला—"हे पिंगला! मैं गुरुदेव की प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूं कि तेरी इच्छा पूर्ण किये बिना यहां से जाऊंगा नहीं।"

पिंगला ने कहा—"स्वामीनाथ! प्राण से भी अधिक प्रिय! मुझसे जो कुछ अपशब्द निकल गया हो उसे क्षमा करना।"

फिर पिंगला तुरन्त पंलग पर जाकर सो रही। तब ऋषिराज पलंग के पास खड़ा रह कर बोला—"पिंगला! मेरी एक बात सुन! आज से हम तुम दोनों एक ही पंलग पर शयन करेंगे, पर जहां तक मैं यहां रहूं वहां तक तुझे अन्य पुरुष से संभाषण भी नहीं करना चाहिये और लेटे-लेटे जो कथा मैं तुझसे कहूं उसको तुझे सुनना चाहिये और यदि उसके पीछे तेरी कामक्रीड़ा की इच्छा प्रबल रहे-अक्षय रहे तो उसे मैं पूर्ण करूंगा, परन्तु मेरे शरीर को स्पर्श न करना और मैं भी तेरे शरीर को स्पर्श नहीं करूंगा। यदि तू मेरे अंग को स्पर्श करेगी तो तत्क्षण भस्म हो जायगी। तुझे केवल मेरी कथा मात्र को ही लक्षपूर्वक श्रवण करना चाहिये।"

पिंगला ने मन में विचार किया कि 'बाबाजी फँसे तो हैं, पर अभी कुछ भाव खाते हैं, पर क्या हरकत है! भले ही चाहे जैसी कथा कहे, पिंगला तो उसमें फँसने वाली नहीं। ऐसी ज्ञानगोष्ठी मैंने बहुत सुनी है। एक शय्या पर स्त्री के साथ सोने पर कौन ऐसा महात्मा है जो अपना ब्रह्मचर्य रख सके। खैर, आज एक शय्या पर सोना तो कबूल किया, तब तो फँसा, कल लट्टूजी न बनाऊं तो मेरा नाम पिंगला ही नहीं। कल नहीं तो चार दिन पीछे बाबाजी भोगविलास को तैयार हो जायँगे। विश्वामित्र तथा पराशर जैसे तपस्वी स्त्री के सौन्दर्य पर लुब्ध हो गये हैं तो इसकी क्या बात है। इस समय तो जो कहे सो हां-हां कहो क्योंकि जो अधिक डराऊंगी तो-तो कदाचित् एकाध दिन सुख भुगवाकर चला भी जाय।'

ऐसा विचार कर वह बोली—"महाराज! आपकी ऐसी इच्छा है तो मैं वैसा ही बर्ताव करूंगी। आज से अन्य पुरुष के साथ बातचीत नहीं करूंगी। आपकी आज्ञा बिना आपके अंग का स्पर्श नहीं करूंगी। आपकी कथा को लक्षपूर्वक सुनूंगी, क्यों, अब तो राजी हो ना?"

कंदर्पहर ने कहा—"मैया, मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूं और मेरी प्रार्थना है कि तेरी कामना पूर्ण हो!" ऐसा कह कर कंदर्पहर तथा पिंगला एक शय्या में एक दूसरे के अंग का स्पर्श न हो सके इस प्रकार सोये।

चतुर कौन?

शय्या पर लेते हुए कंदर्पहर ने क्षण भर विचार कर पिंगला से कहा—हे सौंदर्य तथा बुद्धिमत्ता में श्रेष्ठ पिंगला! मैं तुझसे एक कथा कहता हूं, उसे सुन कर तुझे उचित जान पड़े तो मेरे प्रश्न का उत्तर देना। इस उत्तर से मालूम हो जायेगा कि लोग तुझे बुद्धिमती, चतुर, कार्यकुशल कहते हैं सो तू उसके योग्य है या नहीं। इसका निश्चय कर मैं तेरी मनःकामना पूर्ण करूंगा।

विश्वपुरी नाम की अनेक वैभव से परिपूर्ण एक अलौकिक नगरी है। इस नगरी का स्वामी महासमर्थ, सकल, कला-वैभव-विभूति-ऐश्वर्य का परम निधान है। इसके स्वामी का नाम पुराणपुरुष है। उसके वैभव में कुछ न्यूनता नहीं। उसकी शक्ति इतनी अगाध है कि वह जो चाहे सो कर सकता है। इस नगरी के स्वामी के दो पुत्र हैं। एक का नाम राजसलाल और दूसरे का नाम सात्त्विकलाल। एक समय पुराणपुरुष ने उन पुत्रों को समीप बुला कर कहा अब तुम सयाने हुए हो इस कारण तुम्हें अपने राज्य की दो नगरियों का नंबरदार बनाने की मुझे इच्छा है। उन नगरियों में से एक नगरी अति अद्भुत है, पर वहां की प्रजा अपने स्वामी का स्वामी होने को सदा उद्योग करने वाली और उद्धत है। जो उस प्रजा का स्वामी जरा भी गाफिल रहता है तो यह प्रजा उसे अपना दास बना कर बाजीगर के बंदर की तरह नचाती है और अन्त को कैद में भी डाल देती है। पर इस नगरी का दिखाव अति रमणीय है, वहां सदा थेई-थेई का शब्द सुनायी देता है, लोग हँसते, खेलते तथा स्वच्छन्द हैं और भवन सुशोभित और रम्य हैं। पर इस भवनों वाले नगर में जो अधिक काल तक निवास करता है वह अपने स्वरूप को भूल जाता है और उससे मेरी अवकृपा (क्रोध) का पात्र बनता है। दूसरी नगरी का दिखाव किसी प्रकार के भी ठाट-बाठ रहित है। उसके घर भी खँडहल से हैं। उसमें निवास करती हुई प्रजा भी बिना ठाट-बाट की है और दिखाव में उदास है और उसको देखते ही पहले ही निराशा उत्पन्न होती है। यह प्रजा पैसा टका बिना की, मौज या आनंद बिना की, बगीचे, फुलवाड़ी आदि विस्ताररहित, शृंगाररहित, पर श्रेष्ठ बुद्धिवाली, हिताहित जानने वाली और जो उसकी इच्छानुसार बरतें तो परम सुख देने वाली तथा मेरी भक्ति बढ़ाने वाली है। उस प्रजा के पास मौज की सामग्री नहीं। प्रथम तो उसका संग करते दुःख ही दिखाए ऐसी वह प्रजा है। प्रथम नगरी की प्रजा पैसे टके से परिपूर्ण, गब्बर, रंग राग में लवलीन-मस्तान, विलास, वैभव भोगने में शूरवीर, प्रथम तो अपने स्वामी की सेवक, फिर स्वामी की स्वामिनी होकर बैठने की कामना करने वाली है और मुझमें जिसकी भक्ति न्यून हो उसका सब मनोरथ पूरा करने वाली है। पर जो उसके वश हुआ उसको वह संकट में डालने

वाली और अनिर्वाय दुःख देने वाली है। वह बड़ी मोहक है। राजा को अनेक प्रकार के लाड़-प्यार करने वाली है, आनंद का दिखाव देने वाली है सदा थनथन करने वाली है। पर जब बिफड़ती-बिगड़ती है तब राजा को भी कैद में डाल दे ऐसी है। दूसरी नगरी का नाम दैवी संपत्ति है तथा पहली का नाम आसुरी संपत्ति है। इन दो नगरियों में से चाहे जो जिस नगरी को लेकर उसका स्वाधीन सुख रूप राज करो।

पुराणपुरुष का छोटा पुत्र लालाजी था। मौजी था, विलासी था। उसने विचार किया कि अपने राम (हम) तो जहां आनन्दोत्सव हो वहां ही रहेंगे। आसुरी संपत्तिपुरी में जो आनन्द ध्वनि सुनी जाती है वैसी दैवी संपत्ति पुरी में नहीं ऐसा पिताजी ही कहते हैं तो वहां जाने में लाभ क्या? बड़ा भाई आसुरी संपत् पुरी मांगे तो भी मैं तो उसको उस नगरी का राज नहीं दूंगा, उसे तो मैं ही लूंगा। राजसलाल ने आसुरी संपत्–पुरी का राज अपनी इच्छा से स्वाधीन कर लिया। दूसरे पुत्र सात्त्विकलाल बड़े भाई को दैवी संपत्पुरी का राज लेने की इच्छा थी और उसके मिलने से उसको अति आनन्द प्राप्त हुआ। राजसलाल को उसकी चतुरंगी प्रजा ने थोड़े दिन तक तो ऐसी मौज में मस्त किया कि वह आनंद का स्थान मानने लगा। भोक्ता बन गया इस पुरी को ही सर्वआनंद का स्थान मानने लगा। अनेक प्रकार की मौज भोगने लगा। प्रजा भी उसके कहने के अनुसार काम करती थी। धीरे-धीरे वह प्रजा का पूर्ण प्रेमपात्र बन गया; फिर जो प्रजा जैसा कहे वैसे ही राज्य करने लगा। उस नगरी के तुच्छ आनन्द में वह लवलीन हो गया और धीरे-धीरे अपने हाथ ही वह कैद की बेड़िया तैयार करने लगा। अन्त में वह प्रजा का ऐसा दास बन गया कि एक दिन उसकी स्वयमेव तैयार की हुई बेड़ी में उसकी प्रजा ने उसे जकड़ लिया और पीछे कहा–तेरे भविष्य में दुःख, हानि, आवर्जन, विसर्जन, क्षणिक आनंद और अनिवार्य दुःख ही है उनको तू भोग!' ऐसा कह उसको प्रजा ने ऐसे अंधकार में डाल दिया कि उसका अबतक पता नहीं लगता है और अपने पिताश्री पुराण पुरुष का दर्शन तो उसके भाग्य से हो सकता ही नहीं।

सात्त्विक लाल दैवी संपत्पुरी की प्रजा पर राज्य करने लगा। यह प्रजा न हंसीली, न विनोदी, न कौड़ीली, कुछ भी नहीं, वहां नाट्यारंभ नहीं, गीतगान नहीं, आनंद नहीं, उत्सव नहीं अधिक लीलाएं नहीं और अधिक जनों का समागम भी नहीं, उसकी प्रजा भी चतुरंगी थी। पर विरागी, दृश्य पर प्रेमरहित, सत् असत् के विचार वाली, सबको अभेद दृष्टि से देखने वाली थी, तो भी उसके मन में–चित्त में–आत्मा में जो आनन्द होता था, वह अलौकिक था, जहां प्रेम नहीं वहां भय किसका? प्रेम ही भय! वहां प्रेम था पर निर्गुण प्रेम था। निर्गुण प्रेम यह अलौकिक ही प्रेम है। ऐसा

अप्रेमी—अभोगी दीखता भी परिपूर्ण आनंद में स्थान में रहने वाला सात्त्विकलाल पूर्ण आनंद से उस प्रजा का पालन पोषण करने लगा, और जैसे-जैसे उसको पालता गया वैसे-वैसे उसका सामर्थ्य बढ़ता गया। प्रजा ज्यों-ज्यों ताबे होती गयी, त्यों-त्यों वह दूसरे-दूसरे राज्यों का स्वामी होता गया। इन राज्यों के जीतने में सात्त्विकलाल को बहुत परिश्रम करना पड़ा और तत्काल तो लाभ कुछ मालूम नहीं हुआ पर कुछ समय बीतने और संपूर्ण प्रजा पर पूर्ण प्रभाव होने पर वह इतना बलवान् हुआ कि उसका पिता प्रसन्न हुआ और उसने अपने राज्य पर उसे स्थापित कर दिया।"

कंदर्पहर ने पूछा—"हे पिंगला! इन दो बन्धुओं में बुद्धिमान् कौन? क्षणिक आनंद का भोगी, अथवा नित्यानंद का भोगी?"

पिंगला ने कहा—"भला इसमें क्या पूछना? बुद्धिमान् सात्त्विकलाल ही तो! जो आनंद हमेशा का हो वही सच्चा आनंद है। इस समय जो आनंद मालूम पड़े और पीछे उदास होना पड़े वह क्या आनंद कहने योग्य है? यह तो मूर्ख की घड़ी भर की मौज!"

कंदर्पहर ने कहा—"तेरा कल्याण हो! तूने ठीक कहा।" थोड़ी देर चुप रह कर फिर संत ने कहा—"पिंगला! लोग तुझे बुद्धिमती तथा सयानी कहते हैं पर मुझे तो तू मूर्खों के शिरोमणि मालूम होती है!"

पिंगला बोली—"क्यों महाराज! आप की इच्छा हो तो आप जिसको कहो उसको अपने वश कर बंदर की भांति नचाऊं, इतनी मुझमें सामर्थ्य है तो मैं मूर्ख क्यों?"

"मूर्ख इसलिये कि चतुराई में उत्तम कहे जाते हुए राजा राणा जो लाखों को वश में करने वाले हैं, वे तेरे वश में हो जाते हैं तो ऐसा होने पर भी एक भिखमंगा जोगिया, जो यह घर-घर और द्वार-द्वार भीख मांग कर ज्यों त्यों पेट भरने वाला है, उजाड़ जंगल में रहने वाला पशुसमान है उस पर तू मोहित हो गयी है! मुझे तो तेरी चतुराई धूल में मिल गयी मालूम होती है और तुझे बुद्धिमती और चतुर कहने वालों को मैं मूर्खशिरोमणि मानता हूं। इस (मूर्खता) के बिना तू उस राजसलाल की तरह क्षणिक सुख भोग कर अपने हाथ से ही कैदखाने में पड़ने को तैयार न होती। यह कैदखाना राजबंधन नहीं, पर अनंत नरक का कैदखाना है। वहां जाने की तू क्यों कामना करती है, जो उत्तम चतुर है तो?" पिंगला चुप रही।

तब संत ने कहा—"तेरी इच्छा जो विलास रमने की है तो रमण करने के पूर्व जो मैं कहूं सो पुनः सुन! तू राज राणा की प्रिया है, किसी को कुछ गिनती नहीं तो मुझ पर क्यों तुष्टमान हुई है सो कह? इस शरीर में तुझे किस पर मोह हुआ है? तुझे मेरे रूप पर मोह हुआ है अथवा मेरे मुख पर, नेत्र पर, अगं पर,

हाथ पर, नाक पर, कान पर, किसके ऊपर तुझे मोह हुआ है, सो तू मुझसे कह, तब मैं उसके सौन्दर्य का तुझे भान कराऊं। जो तुझे मेरे मुखपर मोह हुआ हो तो यह मुख किस वस्तु का है सो देख! इसमें के दांत केवल हड्डियां हैं, एक दांत गिर पड़े तो फेंक देते हैं। इन दातों पर तुझे मोह होता हो तो ले ये दांत, जीभ पर मोह हो तो यह जीभ भी तेरे समीप में ही है। नेत्रों पर मोह हो तो नेत्र भी तेरे समीप में ही हैं।" ऐसे कहते-कहते अपने योगबल द्वारा दांत, जीभ, नेत्र की गोली (कोये) पिंगला के हाथ में लेकर दे दिये। "तेरी इच्छा में आवे तब तक इसे भोग! इस हाड़, चर्म, मांस, मज्जा और लोहू से भरे हुए यंत्र की तरह चलते शरीर रूपी पिंजरे में तुझे क्या सुंदर दिखता है? तूने आज दिन पर्यन्त सब पदार्थ भोगे हैं, तेरी देह तथा इन्द्रियां निरोग रहीं हैं, राज तथा वैभव की तू बड़ी रानी है, इस राज्य में तेरे जैसी बुद्धिमती कोई भी गिनी नहीं जाती, ऐसी तू किस पदार्थ पर मोहित है, मुझसे कह।"

शरीर मल-मूत्र का भंडार

पिंगला ने कहा—"हे साधो! मैं तुम्हारी कान्ति पर मोहित हुई हूं।"

कंदर्पहर ने कहा—"जो कान्ति पर तुझे मोह हुआ है तो (शरीर दिखा कर) कान्ति को भोग कर तृप्त हो?"

पिंगला बोली—"कान्ति को किस प्रकार भोगा जावे? रति केलि का स्थान तो जुदा ही है, उसके भोगने ही पर आनंद होता है, तृप्ति होती है।"

साधु ने कहा—"वह भोगने को तुझे चाहिये? ले, उसे भोग।"

पिंगला बोली—"यह तो जैसे भोगने की रीति है वैसे ही भोगा जाय, पुरुष तथा स्त्री को एक दूसरे की रति केलि के स्थान पर ही मोह है और मुझे भी यही भोग चाहिये।"

कंदर्पहर ने कहा—"हे चतुरा! इसमें मोह पाने योग्य क्या है! तू अज्ञान है इससे ऐसे बकती है। पर जगदीश ने जब मनुष्य को बनाया तब जो सुन्दर पदार्थ है उन्हें प्रकट रखा है और जो मल से भरे हुए पदार्थ हैं उन्हें गुप्त रखा है। इस गुप्त रहे हुए ऐसे अपवित्र स्थान पर तुझे मोह हुआ है यह कैसी तेरी मूर्खता! मैं तो तेरी चतुराई बिल्कुल चूल्हे में पड़ी हुई देखता हूं। मुंह, कान, नेत्र, नासिकादि जो सुन्दर हैं वे सब प्रकट हैं, उन पर तो तुझे मोह होता नहीं और जो मांस का पिंड है उस पर तुझे मोह हुआ है, इससे मुझे तेरी बुद्धि पर ग्लानि होती है। तुझे लोग व्यर्थ ही चतुर गुणवान और बुद्धिमान मानते हैं, पर

तू तो बिल्कुल मूर्ख ही है। जिस पर तू मोहित हो रही है उसमें से मूत्र तथा लिबलिबा पदार्थ झरा करता है तथा पृथ्वी पर गिर जाने से उसकी ओर देखने में भी घृणा होती है। ऐसे अपवित्र तथा गंदी मोरी के समान क्षुद्र स्थान पर भला क्या बुद्धिमान को मोह हो सकता है। इस गंदे स्थान पर किसी भी सज्जन पुरुष की तो क्षणभर भी प्रीति होती नहीं, तो फिर उस पर तुझे मोह हुआ है इससे तेरी बुद्धि पर मुझे हँसी आती है!"

पिंगला बोली—"हे साधो! मैं कुछ तुम्हारे अकेले इसी स्थान पर मोहित नहीं हुई, किन्तु मेरा तो तुम्हारे सर्वांग पर मोह है। यह गुप्त स्थान तो इसका एक विभाग है तथा स्त्री पुरुष के परम प्रेम का, सर्वांग के मोहने का स्थान—रमणस्थल है। इसी पर सब मर मिटते हैं, विश्वामित्र, पराशर, इंद्र, रावणादि को भी इसी पर मोह हुआ था!"

साधु ने कहा—"जिस पर सब मर मिटते हैं उसे लेकर तू आनन्द कल्लोल करने में क्यों तत्पर नहीं होती?"

गणिका ने कहा—"महाराज! मुझे अपने सर्वांग का सुख हो! यह अंग मेरा करो!!"

"ठीक-ठीक। यह शरीर तेरा ही है। ले, तुझे क्या दूं?" ऐसा कंदर्पहर ने कहा।

"अंग!" पिंगला बोली।

"तू किसको अंग कहती है? अंग इसमें क्या है? यह गला देऊं, कि हाथ दूं, पग दूं, कि माथा, भौंह, गाल, नेत्र, कर्ण कि नासिका, जीभ कि दांत, पेट कि पीठ, गुदा कि उपस्थेन्द्रिय! क्या दूं बोल?" कंदर्पहर ने ऐसे प्रत्येक अंग बता कर कहा।

"महाराज यह कोई नहीं, पर जिस पर मुझे मोह है, जो सुन्दर है, जो आनन्द देता है सो अंग दीजिये!" ऐसा पिंगला बोली।

साधु ने कहा—"अच्छा, जो अंग तुझे सुन्दर और आनन्द देने वाला मालूम होता हो उसे उठा ले और सुख से भोग कर आनन्द ले।"

पिंगला घबरा कर विचार में पड़ गयी और चुप रह गयी। थोड़ी देर विचार कर वह बोली—"मैं क्या उठाऊं?"

साधु—"अपने मन का माना सुन्दर अंग।"

पिंगला—"यह कैसे उठाया जावे?"

तब साधु ने कहा—"जो अंग को उठावेगी नहीं तो भोगेगी कैसे?"

पिंगला ने कहा—"महाराज! मैं कुछ समझती नहीं, पर यह जो सुन्दर, कान्तिमान् दीखता है, सब प्रकार सुन्दर है, भरा हुआ, हृष्ट-पुष्ट दीखता है, उस अंग से मैं और आप एक रस होकर भोगें, वह भोग मुझे चाहिये।"

संत ने कहा—"हे विचक्षण! मुझे तो इस नाशवन्त मिट्टी के शरीर में कुछ भी सुन्दर दीखता नहीं। यह जो शरीर तुझे सुन्दर दिखायी देता है वह तो केवल नरक की खान है। इस खान में क्या सुन्दरता दिखायी देती है? रात दिन इसमें से नरक झरता रहता है। इस पर तुझे मोह होता है? थूक, लार, चीपड़ा, रुधिर, मांस, मज्जा, हड्डी तथा मलमूत्र से भरे शरीर के किस भाग पर तुझे मोह उत्पन्न हुआ है, सो कह? क्योंकि जिसे तू उत्तम सुन्दर तथा अपने प्रेम का पात्र—आनन्द का पात्र मानती हो उसे देकर तेरी लालसा पूर्ण करने तथा अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने को मैं आतुर हूं।"

परम आनन्द का स्थान

पुनः पिंगला विचारावर्त में पड़ गयी। उसे कुछ सूझा नहीं। थोड़ी देर में बोली—"हे साधो! हे महात्मा! जो तुम्हारा मुझ पर प्रेम हो तथा अपना वचन पालना हो तो मुझे जिससे आनन्द हो वहँ दो।"

संत ने कहा—"तूने ठीक कहा। इस विदेहनगरी में सब लोग तुझे विचक्षण गिनते हैं। वह ठीक है। सत्य—शुद्ध—परम—आनन्द भोगने की तू परम पात्र है। पूर्व जन्म के अनेक सुसंस्कारों से विशुद्ध संस्कारी है। अधिकारी है। मैं तुझे परम आनंद दूगा। हे पिंगले! सुन प्रभु ने तुझे यह जो सर्वोत्तम मनुष्य शरीर दिया है वह क्षणिक सुख भोगने को नहीं, बल्कि परम आनंद भोगने को दिया है। वह आनंद क्या? इस देह का सर्व आनंद तो तुच्छ है। क्योंकि वह क्षणिक है, शरीर का क्षणिक सुख वा आनंद सुख नहीं और न आनंद है, बल्कि यह बुद्धि का भ्रम मात्र है। क्षणभर विचार कर जगत् का व्यवहार—उत्पत्ति, स्थिति तथा नाश प्रति लक्ष देगी तो तू स्पष्ट जानेगी कि इस शरीर में कुछ भी सुंदरता नहीं, यह शरीर अनेक प्रकार के सत्कर्म करने के लिये है, क्षणिक सुख भोगने और पाप कर्म करने के लिये नहीं। मोह तो उस पदार्थ पर करना चाहिये कि जिसमें से नित्य का आनंद प्राप्त हो। मुझे बता कि जो आनंद तू भोगने को तैयार हुई है यह क्रीड़ा का आनंद कितने काल तक रहेगा? वर्ष, दो वर्ष अथवा हमेशा रहेगा? तुझे क्षणिक आनंद दूं अथवा अंखडानंद दूं?" फिर वह चुप रह गयी। तब कंदर्पहर ने कहा—"उत्तर दे.

क्योंकि मुझे तेरी मनःकामना तृप्त करनी है। लौकिक आनंद कितनी देर रहेगा सो तू जानती है? वर्ष, दो वर्ष या जीवे तब तक रहेगा!"

पिंगला ने कहा–"अरे वर्ष दो वर्ष कैसा? तुरन्त भोगा और तुरन्त ही भूख। क्षणभर का ही यह आनंद है। जब तक भोगो तब तक ही सुख! जो प्रथम मीठा सो पीछे खट्टा।"

"अहो ऐसा है क्या! तथा इसके लिये ऐसी उत्कण्ठा! इतनी उखाड़ पछाड़, इतना उत्पाद, इतना खुराफात, पीड़ा तथा व्याकुलता! और उसके लिये इस खंजर से जिसने उस जगत की स्त्रीमात्र को माता मानी, कुछ भी अविरक्तता धारण नहीं कि, ऐसे एक संत का घात! मैं तो समझता था कि यह आनंद नित्य (स्थायी) होगा, पर तू तो कहती है कि विषयसुख का आनंद तो क्षणभर का ही है और वही तुझे भोगने की इच्छा है। अरे मूढ़! अरे पामर! यह जान ले कि मेरे साथ विषय रमने की तेरी इच्छा इस क्षण में तृप्त हुए पीछे फिर और भी अधिक जागृत होगी और इस पापरूप आनंद के लिये तुझे बड़ी-बड़ी व्याकुलता हुआ करेगी, तब तू क्या करेगी? जो सुख क्षणभर में नाश हो जायगा ऐसे सुख अथवा आनंद के भोगने से किसी भी मनुष्य का जीवन सार्थक नहीं होता और न सुख मिलता है और न आनंद ही मिलता है। आहार ऐसा करना चाहिये कि जो शरीर को अमर करे। सुख ऐसा भोगना कि जिसकी तुलना का कोई दूसरा सुख न हो, विलास ऐसा रमना कि जो सर्वोत्कृष्ट हो, आनंद ऐसा लेना कि जो परम आनंद ही हो और तृप्ति ऐसी होनी चाहिये कि कामना का ही लय हो। हे पिंगला! अपवित्र, धर्म का भंग करने वाले और नित्य नरक में डालने वाले विषयों से कोई भी जीव, किसी समय परम सुखी अथवा परम आनंदी नहीं हुआ और न होगा ही। इसी प्रकार तुझे भी मेरे साथ विलास करने से न तृप्ति होगी! न सुख मिलेगा और न आनंद होगा। क्षण की तृप्ति, क्षण का सुख, क्षण का आनंद यह क्या आनंद माना जायगा? इतना समझने पर भी तुझे मोह होता है यह तेरी मूढ़ता अज्ञान–ही है। तूने इतने समय तक विषय भोगा है तो भी तुझे तृप्ति नहीं हुई। पर उलटी विशेष लालसा होने लगी है तथा पुनः-पुनः विषय भोगने की इच्छा करती है उसका कारण यह कि इस जगत का मिथ्या आनंद भोगने से तृप्ति नहीं होती। वह आनंद मिथ्या है। उससे तृप्ति के बदले अधिकाधिक अतृप्त बनकर भोग की उत्तेजना और अधिक होती है। यदि तेरा पूर्व हुआ आनंद सत्य आनंद था तो वह आनंद कहां लुप्त हो गया? जो तुझे परम आनंद हुआ होता, नित्य आनंद

हुआ होता तो नये आनंद की अपेक्षा ही नहीं रहती। यदि तू सुखी बनी होती तो मुझसे अधिक सुख पाने का निश्चय किये बिना उसकी इच्छा करके मूढ़ न बन जाती। परन्तु वह परम आनंद नहीं था बल्कि मिथ्या आनंद था। मिथ्या आनंद से तृप्ति नहीं होती, यह स्वाभाविक रीति है तथा इसी कारण से तेरी तृप्ति नहीं हुई और उसी आनंद के लिये फिर इच्छा करती है। भोग भोगने योग्य तो एक ही दुर्गंधिवाला स्थान है तथा वह सर्वत्र समान है। इसमें विशेषता किसी में भी नहीं, शरीरमात्र की बाह्याकृति की जुदी-जुदी है और उस बाह्याकृति पर ही अविद्या से घिरे हुए अल्प प्राणियों को मोह होता है। वैसा ही मोह तुझे हुआ है। तुझे शरीर की सुन्दरता पर मोह है। पर मेरे शरीर के सौंदर्य पर मोह हुआ हो तो जान कि यह शरीर नाश होने पर मिट्टी में मिल जाने वाला है। उस पर मूढ़ ही मोह करते हैं। तथा तेरे भोगे हुए जो अनेक शरीर हैं वे जिन-जिन पदार्थों से बने हैं उन्हीं से यह भी बना है। सर्वत्र मिट्टी ही है और वह एक ही होने वाली है। इस मिट्टी पर, हड्डी, चमड़ा तथा मांस के इस पिंड़ पर ज्ञानी को मोह होता नहीं। रे पिंगला! अगणित मनुष्य युवावस्था (जवानी) की बहार में मदमस्त देखने में आते हैं, छैलछबीले बनकर न तो पापकर्म का, न नीतिधर्म का और न सदाचरण का विचार करते हैं और गधे की तरह विकल हो इच्छित भोग भोगकर अपना कर्तव्य भूल जाते हैं। एक पापाचरण में मस्त बन अनेक प्रकार के पापाचरण करते हैं। ऐसे जनों की अधम गति होती है। सो तू नहीं जानती, इसी से तुझे इस मलमूत्र से भरे हुए दुर्गंध से पूरित शरीर पर, अरे! तेरे मन के सौंदर्य वाले, कांति वाले अंग पर तुझे मोह उत्पन्न हुआ है। अपना यह मोह निकाल डाल तथा सूक्ष्म विचार वाली बन, सूक्ष्म दृष्टि से देख कि तू किसके ऊपर मोहित हुई है! मोह करना हो तो अविनाशी पर कर कि जिसके भोगने से नित्य का आनन्द हो, सदा को तृप्ति हो, परम सुखी हो। विलास रमना हो तो चिद्विलास में रम, कि जिसका सुख–आनन्द सर्वकाल भोगा जाय। परम आनंद का स्थान परम पुरुष के चरण में विलीनता है। यह मनुष्यशरीर धारण कर जिस जीव ने अपनी आत्मा का कल्याण नहीं किया, परम पुरुष की सिद्धि नहीं कि, अविनाशी का तत्त्व नहीं जाना उसका मनुष्यपन व्यर्थ ही हो गया। मनुष्य जाति में जन्म होना, महात्माओं का समागम होना तथा मोक्षेच्छा होनी यह जन्म की सार्थकता है। चौरासी लाख योनियों में मनुष्यजन्म मिलना दुर्लभ है। उसमें भी पाप पुण्य का विचार, आत्मा अनात्मा के विवेक का निर्णय, परमानन्द की उत्कंठा और परम सुख की प्राप्ति अति

दुर्लभ है। फिर स्वरूप का अनुभव होना यह तो विशेष दुर्लभ है। हे पिंगला! जिस मल मूत्र से भरे हुए नाशवन्त शरीर पर तुझे प्रीति हुई है उस शरीर को तू ध्यान से देख, कि उसमें मोह के योग्य क्या है।"*

परम पुरुष का सेवन की परमानन्दरूप है

इस प्रकार कंदर्पहर ने पिंगला से शांतपने से कहा। पिंगला यह ज्ञानोपदेश ध्यानपूर्वक सुनती थी। उसका हृदय द्रवीभूत हुआ। किसी जन्म की सदसद्विवेक बुद्धि खिल निकली। वह विचार रूपी भँवर में गोते खाने लगी। सुनते-सुनते उसको निद्रा आ गयी।

दूसरी रात्रि को भी कंदर्पहर ने इसी प्रकार अपना उपदेश आगे चलाया। कंदर्पहर ने कहा–"हे पिंगला! यह जीव जो इस संसार में आया है वह संसार के नाशवन्त विषय भोगने के लिये नहीं आया बल्कि आत्मा के कल्याण के लिये, परमात्मा को पहचान कर उसकी सेवा में विलीन होकर उसके अंग प्रत्यंग का मनन करने के लिये आया है। इस संसारात्मक शरीर में जीव की ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, अंतःकरण और प्राण ये सब परमानंद के लिये लालायित हैं। पर परमानन्द प्राप्ति के मार्ग में अविद्या से घिरा हुआ जीव विवेक वैराग्य–विहीन होने से संसाररूप अटवी के दावानलवाले मार्ग में ही भटका करता है। पर जो संस्कारी पुरुष हैं वे परम सत् की इच्छा करते हैं, परमानन्द की खोज करते हैं, उसके लिये उत्कण्ठित रहते हैं। उनको सत्य प्रेम का ही लक्ष्य रहता है। परमानन्द प्राप्ति परम तत्त्व के सेवन से होती है। यह परम तत्त्व का सेवन उसके चिंतन शोधन बिना हो नहीं सकता। परम तत्त्व के दर्शन से परम पुरुष का दर्शन होता है। इस परम पुरुष का दर्शन ही परमानंद हैं, परम सुख है, अवधि की तृप्ति है। जिनको परम पुरुष का दर्शन नहीं हुआ ऐसे जीव पुण्य कर्म द्वारा देवलोक में अवश्य जाते हैं पर देवलोक में बसते हुए, अल्प पुण्यवाले हैं इससे अल्प सुख भोगकर पुण्य का क्षय होने के पीछे फिर इस लोक में जन्म लेते हैं, मरते हैं तथा इस जगत् के प्राणीमात्र की स्थिति गर्भ से लेके मरणपर्यंत समान ही दुःखदायक है, उसको भोगते हैं। स्त्री के ऋतुकाल तथा भोग के समय जीव गर्भरूप कष्ट का प्रारंभ करता है। इस गर्भस्थान में जीव नीचे को सिर किये, मल-मूत्र के बीच रहता हुआ पड़ा रहता है। माता के उदर में रहता हुआ यह जीव-गर्भ माता के भले बुरे कर्म से कडुए खट्टे भोजन करने से ऐसा दुःखी होता है कि उसका वर्णन

---

*विवेकचुड़ामणि में लिखा है "जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता *तस्माद्वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वत्वमस्मात्परम्। आत्मानात्मविवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मात्मना संस्थितिर्मुक्तिर्नो शतजन्मकोटिषु कृतैः पुण्यैर्विना लभ्यते ॥*"

करने को शेषजी की भी सामर्थ्य नहीं। माता के क्रोध, काम, मद तथा मत्सर का गर्भ पर क्षण-क्षण असर हुआ करता है। हे पिंगले! इस गर्भ की कष्टात्मक स्थिति का जब मैं विचार करता हूं तब तुझे हुए मोह से मुझे अत्यन्त शोक होता है। ऐसे मलिन स्थान में रहते हुए गर्भस्थ जीव का जीवन केवल उसकी माता के भक्षण किये हुए रस के ऊपर ही होता है। उसकी माता के खाये हुए खट्टे, खारे, तीखे, कड़ुए आदि रस वाले पदार्थ के सेवन से गर्भस्थ बालक की अत्यंत सुकुमार त्वचा पर कैसी-कैसी पीड़ा होती है उसका तू विचार कर देख! ऐसी दुःखद अवस्था में से परमात्मा किसी पुण्ययोग से मनुष्यजन्म देता है। मनुष्य देह सर्वोत्तम है। इसी देह से मनुष्य कष्ट—भवसागर से तर सकता है। उसके तरने का साधन परम पुरुष का ज्ञान है। उसका परित्याग कर संसार का सेवन कर निवास करता अज्ञानी मनुष्य गर्भस्थान को ही सर्व सुख का स्थान समझता है, इसी में सर्व आनंद मानता है तथा इन्द्रियों के परस्पर संघर्षण से अपने को अलौकिक सुख मिलता समझता है। उसकी इस मूढ़ता के लिये मैं क्या कहूं? कैसा धिक्कार दूं? परन्तु प्राणीमात्र कैसे स्थानों से जन्मते हैं इसका विचार करते हुए ज्ञानी पुरुष समझ सकता है कि गर्भवास के समान एक भी संकट इस संसार में नहीं। ऐसे गर्भवास में से मनुष्य का छुटकारा हुए पीछे फिर इस गर्भवास में ही प्रवेश न हो ऐसा कर्म ज्ञानी पुरुष को करना चाहिये। उसको अपने मन में उत्पन्न हुई विपरीत भावनाओं को बड़े परिश्रमपूर्वक मारना चाहिये—शमन करना चाहिये। उनका शमन करने के बदले ज्योंही मनुष्य उसकी वृद्धि का उपाय करता है त्योंहि इस संसार का स्वामी उसके ऊपर क्रोधित होता है। तो तू ही बता कि ऐसे इस संसार में वह सुख है? उससे तृप्ति भी है? नहीं। अपना स्वरूप देख। इस जन्म में तूने अनेक पुरुषों से भोग किया है पर तेरी तृप्ति हुई नहीं तथा इस नाशवंत देह का तूने जो सुख भोगा है वह सुख आज नहीं रहा। इस सुख के भोगने में जो आनंद तूझे हुआ था वह आनन्द भी आज नहीं। आनंद, सुख, तृप्ति का स्थान ही भिन्न है! यह स्थान उस परमात्मा में लीन होना है! उसके बिना अन्य स्थल पर नहीं है। मनुष्य के पतन का मुख्य कारण काम है। यह काम अजित है। इसको जो जीतता है वह पुरुषार्थी है। क्योंकि भिन्न-भिन्न रीति से कामविलास में मस्त हुए जीव को अनंत काल तक कामभोग भोगने पर अन्तकालपर्यन्त तृप्ति नहीं होती। ऐसे काम सेवन की जो तुझे इच्छा हुई है वह बिल्कुल तेरे दुर्भाग्य की ही निशानी है। इस परम कष्टदायी कामभोग का आनंद अल्प ही है। तुझे मेरे रूप सौन्दर्य पर मोह होता हो तो यह रूप कैसा है इसका मैं तुझे यथार्थ दर्शन कराता हूं। उसे तू देख ले, फिर इस शरीर से जिस भाग—रूपवान् भाग पर तुझे मोह होता हो

अथवा जो तूझे अच्छा लगता हो वह अंग अपने पास रखना। पर क्या उससे तेरी इच्छा तृप्त होगी? नहीं। उल्टी दिन-दिन वह बढ़ेगी। जो तूझे नित्य की तृप्ति, नित्य का सुख, नित्य का आनंद भोगना हो तो तू उस परम पुरुष का सेवन करने में तत्पर हो जा। परम पुरुष के सेवन से जो आनन्द प्राप्त होता है वहीं अविनाशी है, शेष सब आनन्द विनाशी ही हैं"

पिंगला का पश्चात्ताप

इस प्रकार कंदर्पहर नित्य-नित्य गणिका पिंगला को देह के विनाशीपने का, काम की क्रूरता का, भोग के भय का, परम तृप्ति की तृप्ति का, परम सुख का, परमानन्द का, दिन-दिन बढ़ती जाती कामना से बढ़े हुए दुःखों का वर्णन कर उपदेश करता था। थोड़े दिनों में गणिका ऐसी शिथिल हो गयी कि कंदर्पहर के साथ विलास–रमण करने का विचार उसके हृदयपट में से समूल नष्ट हो गया! वह कंदर्पहर को परम संत रूप से पूजने लगी। वत्स सुविचार! लावण्य की मूर्ति का अहोरात्रि दृष्टि समीप रहना, विलास भवन में बैठना, नूपुर की झनकार सुनना तथा एक शय्या में साथ सोने पर भी जिस स्त्री अथवा पुरुष को काम बाधा न करे तो वह साक्षात् योगीन्द्रचक्रचुड़ामणि ही है। दिन-दिन पिंगला संत के उपदेश में लीन बनती थी। संत ब्रह्मचर्य में दृढ़ बनता था, पिंगला को कभी-कभी विकार होता था। पर ज्ञानामृत की वृष्टि होने पर वह शान्त पड़ जाती थी। वह सारे दिन कंदर्पहर की सेवा में उपस्थित रहती थी और यह मानने लगी कि यह कोई दिव्य महात्मा पुरुष मेरे कल्याण के लिये पधारे हैं। अपने पापकर्म के लिये उसके हृदय में अनेक प्रकार के पश्चात्ताप होने लगे। राजपुरुषों के साथ विलास को भी अब वह धिक्कारने लगी। उसको विचार हुआ–"अरे रे! इस लोक में जन्म लेकर मैंने जो पाप किया है, न जाने उसका मुझे क्या दंड मिलेगा? मैं पुरुष तथा पैसे में ही लीन थी। मैंने कभी भी धर्म अधर्म का विचार नहीं किया। इस गंदे शरीर का अपने मन में गुमान रखकर मैंने अनेक पुरुषों के साथ अपने अज्ञान में–अविद्या के ध्यान में पाप से भयरहित होकर यथेष्ट विहार किया है, अनेक मनुष्यों का द्रव्य हरण किया है। पर मेरे मन में कामभोग से तृप्ति क्यों नहीं होती? राजपुरुषों ने अपनी पत्नी से भी अधिक मुझे प्यार किया है, चिरकाल तक मैंने उनके साथ विहार किया है, तिस पर भी मेरे काम की शान्ति नहीं हुई? रे दुष्ट काम! तूने शिव ब्रह्मा को भी डामाडोल कर दिया, पतिव्रता स्त्रियों को भी चलायमान किया है

तो तुझे शंकर ने सदा के लिये जलाकर भस्म क्यों न कर दिया?' ऐसा विचार करते-करते वह बड़े भारी विचार में तल्लीन हो गयी। क्षण पीछे वह फिर विचार करने लगी—'अरे, मुझे किसके ऊपर मोह होता है? जिसमें से दुर्गंध मारता हुआ मूत्र तथा स्पर्श के अयोग्य व जिसके देखने में घृणा हो ऐसे वीर्य पर मोह होता है? समयान्तर में जिसे देखने का मन नहीं होता ऐसे गुह्यइंद्रिय मोह होता है? नहीं! तो किस पर मोह होता है? रूप पर! हां, हां, रूप पर। अहो! यह रूप तो आज खिलता है और कल मुरझा जाता है, आज जो यौवनवाला, मदमाता छैल है वह काल बीतने पर जर्जरित, शिथिल शरीर वाला, आखों में कीचड़, मुंह से लार बहाता हुआ, अशक्त शरीर हो जाता है। ऐसे रूप पर मोह किसे लिये करना? जो मुझे अपना काम ही शान्त करना है तो मुझे दूसरों से क्यों शान्ति न हुई? यह शरीर—हड्डी, मांस, रुधिर आदि से बना हुआ है। राजा रंक सबका शरीर समान वस्तुओं ही से बना है। रूप तो घड़ी-घड़ी पर बदल जाता है। अतिरूप वाला, कोढ़ी, रक्तपित्ती, शीतला के चिन्हों से चिन्हित, गर्मी से तड़पता, ग्रन्थिरोगी, ये सब अन्त में काष्ठ की चिता में जलकर भस्म होते देखे जाते हैं। ऐसे रूप में मुझे मोह होता है, ऐसे रूप पर प्रेम पसीजता है फिर भी मुझे लोग चतुर क्यों कहते हैं? सचमुच यह मेरी बिल्कुल मूर्खता है। लोगों की भी मूर्खता है। मूढ़ता ने मेरे यौवन को पापाग्नि से भरपूर 'वन' बनाया है! पूर्वजन्म के पापकर्मों का ही यह फल है। इस रूप का मोह छोड़ दूंगी तो व्यष्टि (एक-एक) और समष्टि सब समान ही हैं। आज से मुझे अपने पापकर्मों का प्रायश्चित् करना चाहिये। इस मलमूत्र से भरी हुई देह की आसक्ति छोड़ देनी चाहिये। इसी शरीर से अपना जन्म सार्थक करना चाहिये। जैसे सेना में राजा है, बैसे देहादिक में ज्ञान है। उसी का आश्रय करके जगत की वासनाओं का मुझे नाश कर देना चाहिये।'

मन का स्वरूप

ऐसे विचार पिंगला को नित्य ही हुआ करते थे। अब वह शुद्ध चित्त से कंदर्पहर की सेवा करती थी। कंदर्पहर तथा पिंगला एक ही शय्यापर शयन करते थे, तिस पर भी किसी को कामविकार नहीं सताता था। पिंगला का आत्मज्ञान संबंधी विचार ज्यों-ज्यों विस्तार पाने लगा त्यों-त्यों वह अपने मन का विशेष बल से निग्रह करने लगी। फिर भी उसके पूर्वस्वभाव के अनुसार कभी-कभी उसका मन संकल्प विकल्प वाला बन जाता था। मन ही में सब दोष भरे हुए हैं। जिनका मन अपने वश नहीं,

जिन्होंने अपने मन को स्वाधीन नहीं किया, जिन्होंने अपने मन को पैरों के नीचे नहीं दबाया वे जीव किसी समय भी संसार पर विजय नहीं पा सकते। जीवमात्र को अभय प्राप्ति का आधार मन का निग्रह है। मन ही दुःखक्षय, प्रबोध तथा अक्षय शान्ति का कारण है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः' मन ही बंध तथा मोक्ष का कारण है। विषयों के मनन से बंध तथा निर्विषय से मोक्ष। मन दो प्रकार का है। शुद्ध तथा अशुद्ध। विषयों की अभिलाषा वाला मन शुद्ध नहीं, अशुद्ध है। विषयों की अभिलाषा से रहित शुद्ध है। इस कारण मुमुक्षु जीव को अपने अन्तःकरण को—मन को निर्विषय करने का नित्य-नित्य प्रबल प्रयास करना चाहिये; कारण कि मन यह ऐसी विकारी माया के रजःकणों से रचा गया है कि वह क्षण में तो हाथी पर बिठालता है और क्षण में गधे पर चढ़ाता है, क्षण में निर्विकारी बन जाता है और क्षण में विकार के सिर पर चढ़ बैठता है। देही के ही मन में कल्पित सुख और दुःख, आनन्द और वैभव है। इसलिये जीव सब प्रयत्न से मन पर अंकुश लगाकर उसे वश करे और आप उसके वश में न रहे। विषयों की अभिलाषा से मुक्त तथा ब्रह्म के ऐक्य को प्राप्त मन ही परम पद को प्राप्त कराता है। इस कारण अल्प जीव जैसे बने वैसे मन को वश में करे।

पिंगला का मन अभी पूर्ण रूप से वश में नहीं हुआ था। उसके मनः प्रदेश के गुप्त स्थान में कभी-कभी विषय वासना जाग्रत हो जाती थी, जिसे कंदर्पहर बहुत अच्छी तरह देख सकता था।

अब मुनि ने उसके मन की स्थिति को सुधारने में चित्त लगाया। उसकी मनोवासना के नाश करने का प्रयत्न करने लगा।

एक दिन रात्रि को सोते-सोते कदंर्पहर ने कहा—"हे पिंगला! तू सचमुच विचारशील तथा भाग्यवती है, क्योंकि तुझे आत्मा का कल्याण करने और आत्मा को उन्नति स्थान में ले जाने की तथा परमानन्द पद प्राप्त करने की कामना—वासना भावना है। हे मैया! इस इच्छा को पूरी करने के लिये अपनी विषय वासना को त्याग दे (फीकी कर डाल)। देख! इस समय तेरे हृदय में क्या रमण करता है? कौन रमण करता है? तेरी विषय वासना अभी मंद नहीं पड़ी, इससे मुझे प्रत्यक्ष होता है कि जहां पुराणपुरुष के रहने का स्थान है वहां भी मुझ जैसा अल्प जीव निवास करता है; क्योंकि अभी तुझे मोह है। इस मोह का तू नाश कर। विषय सेवन में अनेक रोग, अनेक पीड़ा, अनेक प्रकार के दुःख जानने पर भी विषयों की ओर घसीटने के लिये तेरा मन तुझे उत्तेजित करता है। सचमुच अब तो मैं तुझे मूर्ख जानता हूं। और तेरे विवेक में बड़ी कमी देखता हूं, क्योंकि तूने अनेक पुरुषों को जीता है, अनेकों को दास बना कर

विहार किया है। पर उन सबसे अधिक बड़े की तू दासी है और उसी ने तुझे जीता है। अरे, पैरों तले तुझे दबा रखा है। वह जीतने वाला तेरा मन है। तू नाचती है, कूदती है, रमण करती है। इस मन को तू जीते तब तो सबला, नहीं तो अबला की अबला ही! यह मन ही तुझे अधम मार्ग की ओर प्रेरणा करता है, जिस पर भी तू चतुराई और निपुणता का गुमान क्यों रखती है? इस संसार में अल्प जीवों की ओर तू दृष्टि डालेगी तो तू जानेगी, कि विषयसेवन से अंधे बने हुए अनेक स्त्री, पुरुष, अपने रूप तथा यौवन का नाश करके वयस्क होने पर शरीर से, मन से, गुण से जर्जरित हुए जाते हैं। अनेक प्रकार के विषयों का सेवन करने वाले स्त्री पुरुष वृद्धावस्था में इतने निर्बल और निस्तेज हो जाते हैं कि वे जीते हुए मरे के समान मालूम होते हैं। उनका यौवन 'वन' (उजाड़, जंगल) बन गया है। प्राणीमात्र उनको धिक्कारते हैं। सौन्दर्य का नाश होने पर उनके प्रति कोई दृष्टि भी नहीं करता। हे निपुणा! तू ही बता कि तेरा पहले ही समान आज सौन्दर्य है? नहीं। पुनः यह भी बता कि जैसा सौन्दर्य आज है वैसा भविष्य में भी बना रहेगा? नहीं। तिसपर भी अभी जिस मन की तुझ पर आज्ञा वर्तती है वह मन तुझे कामवासना में प्रेरणा करता है तथा मुझ जैसे पुरुष का समागम—सुख भोगने के लिये तेरी इच्छा को अभी भी उत्तेजित करता है। ऐसे मन की ओ लौंडी! मेरे रूप का तुझे मोह है तो देख, इस रूप में क्या अच्छापन है?"

इतना कह कर कंदर्पहर पलंग पर से नीचे उतर कर सामने की ओर खड़ा हो गया। चारों ओर जो अंधेरा फैला हुआ था वह क्षण भर में दूर हो गया। सारे मंदिर में क्षण भर में प्रकाश हो गया। उसने अपनी कौपीन उतार कर फेंक दी। वह केवल दिगम्बर बन गया और बोला—"पिंगला! इसमें तुझे किस पर मोह होता है? जिस अंग पर तुझे मोह हो उसे तू ग्रहण कर ले, विलंब मत कर तथा देख, इस शरीर में कौन-सा अंग सुन्दर है?"

तुरंत ही मुनिदेव ने योगबल से सारे शरीर के अंदर के भाग पिंगला को दिखलाये! अति भयंकर! ग्लानि उत्पन्न करने वाले, मुनिदेव का सौन्दर्य तो दूर रहा, बल्कि एक हाड़पिंजर बड़ा भयानक! ग्लानि उत्पन्न करने वाला, रक्त, मांस, मल, मूत्र की खानि था।

मुनिदेव ने कहा—"पिंगला! इसमें कौन सा पदार्थ तुझे सुन्दर दिखाई पड़ता है? सो मुझे बता दे। उसी को तेरे सुपुर्द कर दूं। रे मूढ़! इस देह का यही स्वरूप है। इस पर से मोह हटा कर जिस मन ने तुझे बानर की भांति नचाया तथा भ्रम में डाला है उस मन के बंधन से—कारागृह से मुक्त हो, उस मन को अपना दास बना अपना कल्याण तथा आत्मा का कल्याण कर।

सात्त्विक प्रभु परमात्मा–सत्‌चित्‌ आनंदघन ब्रह्म जो सारे में लीला विस्तार कर रहा है उसके दर्शन कर परम आनंद को भोग, उस परम स्वरूप को भी देख।" कंदर्पहर ने अपना ग्लानि उपजाने वाला स्वरूप बताया। उसे देखते ही पिंगला को बेचैनी बढ़ी। वह बड़ी देर तक इकटक न देख सकी और उसे मुर्छा आ गयी, उसके हाथ पैर निर्जीव हो गये। कंदर्पहर ने उसे सावधान किया, फिर तुरंत ही एक दूसरा अति तेजस्वी स्वरूप पिंगला को निमिष मात्र दिखायी दिया, क्योंकि उसके देखने को अभी अनधिकारी थी। वह उसके सम्मुख देख न सकी। उसकी आंखें बंद हो गयी। वह मूर्छा खाकर एकदम धरती पर गिर पड़ी। ज्यों ही पिंगला सावधान हुई, त्यों ही उसके हृदय प्रदेश में एक नवीन वासना उत्पन्न होती हुई मालूम पड़ी। उसकी विषयवासना बिल्कुल निर्बल हो गयी। कंदर्पहर पर का मोह मिट गया; काम जल कर भस्म हो गया!

कंदर्पहर का जय

इस प्रकार उपदेश करते-करते कंदर्पहर ने चातुर्मास व्यतीत किया। चातुर्मास की पूर्णाहुति के दिन पिंगला से कहा–"मैया! हम जायँगे! जो कुछ ज्ञान हमने दिया है उसको छोड़ना मत!"

यह सुन कर पिंगला स्वामी के चरणों पर गिर पड़ी और अश्रुपात करती हुई बोली–"हे देव! हे महापुरुष! हे तारणकर्ता! हे अद्वितीय पुरुष! यह पापाचरणी अबला जो अनेक पापों में रची पची है, उसका उद्धार करो! मेरा कल्याण आपके ऊपर अवशेष रहा हुआ है। इस पापिनी पर आपने जो महान्‌ कृपा की है उसके बदले में मुझे अपने चरणों की सेवा करने दीजिये।"

मुनि ने कहा–"हे विवेकिनी! जो ज्ञान तुझे मैंने दिया है उसका सदा मनन करेगी तो उसमें ही तेरा कल्याण है। अपने गुरु की आज्ञा अनुसार इस चातुर्मास का व्रत तेरे यहां पूर्ण किया है। अब मैं क्षणभर भी नहीं रह सकूंगा। तेरा कल्याण हो!"

प्रातःकाल का समय था कंदर्पहर ने गुरु की आज्ञानुसार अपने निवास स्थान के प्रति यात्रा की। चैतन्यरूपी भ्रमर जैसे देहरूपी कमल कोष में बंदीमान हो जाता है तथा सूर्य नारायण के उदय से फिर मुक्ति पाता है वैसी ही स्थिति कंदर्पहर की थी। ज्ञाननिष्ठ कंदर्पहर, विवेकरूप किरण की संगति से सूर्यकान्ति के समान प्रदीप्त बन गया था। उसने अपने तेजःपुंज से संसारारण्य को भस्म कर दिया था। वह सचमुच आत्मस्वरूप था। आज का उसका प्रभात निराला ही था। जो अति विकट कसौटी में से उसको उत्तीर्ण होना पड़ा था, इस कारण मार्ग में चलता हुआ,

जगत् के प्रकाशित देव सूर्यनारायण को बार-बार नमस्कार करता था। उसके सब कार्यों में गुरुभक्ति श्रेष्ठ स्थान पर थी।

धीरे-धीरे चलता वह गुरु के आश्रम में पहुंचा। दूसरे तीन शिष्य भी तुरन्त ही वहां पहुँचे थे। चारों शिष्यों का चरित्र गुरुजी योगद्वारा मालूम कर सके थे। इससे गुरुदेव को कुछ नवीन जानना शेष नहीं था। उनको पूर्व से ही देशान्तर वृत्त जानने की सिद्धि प्राप्त थी। शिष्यों ने आकर साष्टांग दंड़वत् प्रणाम किया। गुरु ने सबको आशीर्वाद दिया। सबके कार्यों की प्रशंसा की और विशेष कर यह जनाया कि तुम चारों शिष्यों ने जो आत्मबल प्राप्त किया है, इससे उत्तरोत्तर उत्तमोत्तम गति को प्राप्त करोगे।

मन्युहर का गर्व

गुरुदेव ने चारों शिष्यों की समान प्रशंसा की, यह बात मन्युहर को कुछ बुरी लगी। वह मन में विचार करने लगा, कि 'गुरुदेव को कार्याकार्य की तथा योग्यायोग्य की सच्ची परीक्षा ही नहीं। मैंने जो तप किया है, जिस प्रकार क्रोध का पराजय किया है, ऐसा दूसरे किसी से हो नहीं सकता। सर्प का दंश, मुख में विष का स्पर्श और पूछ का सपाटा सहन करने पर भी क्रोध को उत्पन्न न होने देना तथा उस पर जय पाना, सर्प के फन पर पैर रख कर उसे वश करना, यह तप क्या थोड़ा कठिन है? बहुतों ने ब्रह्मचर्य को खंडित नहीं होने दिया। पनघट पर बैठना इसमें क्या? बाघ की भारी मांद पर रहने में क्या? बाघ को तो बहुतेरे लोग वश में कर लेते हैं और बाजीगर के बंदर की तरह नचाते हैं, कुदाते हैं। इसमें कुछ भारी पराक्रम अथवा बड़ा तपोबल नहीं। स्त्री की शय्या पर शयन करके कामेच्छा न करना यह भी कुछ परम तप नहीं। पर सर्प जैसे विषधर प्राणी को वश करना तथा उसके दंश तथा सपाटा मारने पर भी क्रोधाधीन न बनना इसमें कितने धैर्य की और कितने आत्मसंयम की आवश्यकता है उसको यदि गुरुजी जानते तो कभी भी मुझे इन तीन शिष्यों के समान नहीं गिनते।' इस समय मन्युहर के शरीर में अभिमान ने वास किया। उसका अभिमान जागृत हो गया तथा प्रज्ञा मलिन पड़ गयी। वह गुरु परीक्षा को निर्जीव गिनने लगा। काम कैसा बलवान् है, परमात्मा की माया का केन्द्रस्थान कहां है, इसका अब तक उसको ज्ञान नहीं हुआ था। यदि हुआ भी था तो वह उसका इस समय विस्मृत हो गया था। असार संसार में सबसे विशेष कष्टकारी अपराजित माया कैसी है, उसका स्वरूप वह नहीं जानता था। वह समझता नहीं था कि माया सब जीव को भ्रष्ट करने वाली है और यह माया मूर्तिमान स्त्री में बसती है इस अज्ञानपन से उसने माया का व स्त्री का काम का—उपहास किया।

माया की प्रतिकृति

वह गुरु को संबोधन कर बोला—"हे गुरुदेव! हम चारों शिष्यों में श्रेष्ठ कौन?"

गुरु ने कहा—"जो आत्मा शोक, काम, क्रोध, मोह, क्षुधा तथा तृषारहित है, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, धीर तथा वीर है, वही श्रेष्ठ है। वही परम पदार्थ को प्राप्त कर सकता है। उसी को उत्तम स्थान मिलता है और वही पुरुष आत्मा के शुद्ध सात्त्विक स्वरूप को यथार्थ जान सकता है। यह जीव संसार के वश नहीं होता बल्कि उसका विजय करता है तथा वह तीनों लोकों का भेदन कर ऊपर के लोक में जाकर निवास करता है। तुम चारों शिष्यों में जिसने माया का रूवरूप यथार्थ जाना है तथा जिसने माया का उपवास यथार्थ किया है तथा जो माया की फांसी में फँसा नहीं, वहीं सबसे श्रेष्ठ है"

मन्युहर ने पूछा—"कृपालु भूदेव! आप स्पष्ट समझाओ। आपकी सेवा करने वाले चारों शिष्य एक समान नहीं हो सकते। कुछ न कुछ न्यूनाधिक्य होगा ही। आप कहेंगे कि न्यून कौन और अधिक कौन?"

यह संवाद अन्य तीन शिष्य चुपचाप सुन रहे थे कि देखें गुरुदेव क्या उत्तर देते हैं, इसके सुनने को आतुर हो रहे थे।

गुरु ने कहा कि "तुम चारों शिष्यों में कंदर्पहर श्रेष्ठ है!"

मन्युहर को यह उत्तर सुनते ही अति खद हुआ। उसने प्रश्न किया—"हे कृपालु गुरुदेव! आप कंदर्पहर को श्रेष्ठ गिनते हैं इसका कारण मैंने नहीं समझा। एक स्त्री को जीतने में कुछ भारी पराक्रम नहीं तथा कुछ भारी तप का काम नहीं, कठिन योगसाधन का काम नहीं, बड़ी आत्मनिष्ठा का काम नहीं, परब्रह्म के जानने का भी काम नहीं।"

गुरुदेव मन्युहर की बातें सुनकर समझ गये कि इसको अपने कर्म के लिये भारी अभिमान है। कंदर्पहर ने जो महाकष्ट कर जिस माया को जीता है, उस माया को जीतने का बल मन्युहर में नहीं, तथापि यह अपने कर्म की प्रशंसा कराने की इच्छा करता है। अहो! जो ज्ञान मैंने इसे दिया है उसका यथार्थ मूल्य समझने में यह असमर्थ निकला है। इसलिये, मुझे इसकी बुद्धि ठिकाने लानी चाहिये।

ऐसा विचार कर गुरुदेव ने कहा—"हे वत्स मन्युहर! जिस कसौटी में से बड़े-बड़े ऋषि मुनि तिर कर पार नहीं उतरे तथा परमात्मा की माया की प्रतिकृति (तसबीर) जो जीत नहीं सके, ऐसा महापराक्रम कंदर्पहर ने किया

है। उसका मूल्य तू क्या कम समझता है? स्त्री रूप पिशाचिनी के पाश में बँधा हुआ ऐसा कौन जीव है कि जो उसे जीतने में समर्थ हो! माया का स्वरूप बड़े-बड़े योगी यति भी नहीं समझ सके तो फिर उसे जीत ही कैसे सकते हैं? अनेक जीव अनेक प्रकार से माया पर मोहित हो रहे है, उसी में लिपटे हैं और स्वर्गादि से भी भ्रष्ट हो गये हैं। अनेक मुनियों ने लाखों वर्ष का तप इस माया की प्रतिकृति के लटके ही में क्षय कर दिया है और माया का बलिदान हो पड़े हैं। वे माया का होम करने के बदले माया में अपना हवन कर बैठे हैं। यह माया जिसका प्रत्यक्ष रूप स्त्री है उसका जीतने वाला श्रेष्ठ नहीं ऐसा तू क्यों कहता है? माया दो अक्षर का शब्द है 'मा' तथा 'या'। 'मा' के मानी मिथ्या तथा 'या' अर्थात् 'जो हो सो'–'जो मिथ्या है सो' माया; अर्थात् अज्ञान–भ्रम–नाशवंत में जो प्रेम वही माया है। सामान्य जीव जो मिथ्या है उसी में लिपट कर ऐसा तो जकड़ जाता–बँध जाता है कि उसमें से महा-महा परिश्रम से भी छूट नहीं सकता। ऐसी दुस्तर माया को कंदर्पहर ने अपने तक के प्रभाव से जीता है। यह माया कैसी है? ब्रह्मदेव ने जब माया की रचना की तभी इससे कहा कि तेरे स्वरूप को कोई जान नहीं सकेगा और तू सदा ही अनिर्वचनीय ही रहेगी। इस माया की प्रतीति भ्रमकाल ही में होती है। जो जीव इस भ्रम में से निवृत्ति पाते हैं वे ही इस मिथ्यात्व में से निवृत्त होते हैं। भ्रम अथवा अज्ञान यह माया का अनिर्वचनीय स्वरूप है। पर जो भ्रम को असत्य मानते हैं वे माया से तर जाते हैं। तथा जो नाशवंत है उस पर जो स्नेह छोड़ देते हैं और वे ही अविनाशी के प्रेम को भजते हैं। वस्तु का जहां तक यथार्थ स्वरूप जानने अथवा देखने में नहीं आता तहां तक वह वस्तु भ्रममूलक है कि सत्य है यह समझना अविद्याबाधित जीव को अशक्य हो पड़ता है। यह यथार्थ ज्ञान संपादन करने के लिये वस्तु का यथार्थ रूप खुल्लमखुल्ला जानना आवश्यक है। अब जो जीव ब्रह्म को यथार्थ जानता है, वही ब्रह्म के--अद्वितीय पुरुष के यथार्थ स्वरूप को जान सकता है ओर जानकर माया का पराभव कर सकता है। इस माया का अंत अज्ञान की निवृत्ति से होता है तथा जब ब्रह्म ज्ञान का यथार्थ बोध होता है तब अज्ञान का नाश होता है। अज्ञान के नाश से सत्यासत्य वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है तथा सत्यासत्य का ज्ञान होने से जीव माया के स्वरूप में भूलने, भटकने, लिपटने, छलाने से बच सकता है। इस पर से तूने समझा होगा कि, अज्ञान, भ्रम, प्रकृति यही माया है और

इसी माया का कंदर्पहर ने विजय किया है। वत्स मन्युहर! इस अज्ञान को तर जाना और जो मिथ्या है उसमें लुब्ध न होना, ज्ञान को जानना यह कार्य इस संसार में महाकठिन है। परमात्मा की प्रेरी हुई माया सदसद् (सत् असत्) रूप है वैसे ही व्यक्ताव्यक्त रूप ही है। भ्रमकाल में माया की प्रतीति होना यह माया का व्यक्त स्वरूप है अर्थात् भ्रमकाल में जगत के अविनाशी पदार्थ की प्रतीति होनी कि यही सत्य है, यही माया का व्यक्त स्वरूप है। भ्रमनिवृत्ति यह माया का अव्यक्त स्वरूप है। जो जीव नामरूपात्मक सृष्टि के विकारी पदार्थो में प्रेम करके उनमें लुब्ध होता है वह माया को तर नहीं सकता। पर जो जीव माया की अपेक्षित व्यापकता का और ब्रह्म की निरपेक्षित व्यापकता का भली-भांति पृथक्करण करता है वही माया को तर सकता है तथा जो माया को तरता है वही पुरुष परम श्रेष्ठ, परम तपस्वी तथा परम पुरुप के विशुद्ध स्वरूप का ज्ञाता है।

स्त्री माया की प्रतिकृति है

असत् मे सत् बुद्धि करनी यह जैसे माया का व्यक्त स्वरूप है वैसे ही इस माया की प्रतिकृति (तस्वीर) भी है। इस प्रतिकृति का मुख्य स्थान परमात्मा ने स्त्री में किया हे तथा इमी से उसको मृगनयनी, कमललोचना, गजगामिनी, हसगामिनी, सुन्दरी, सुलोचना, कदलीजंघा, सिंहकटि आदि अनेक नामों से पुकारते हें। माया में लिपटने का प्रारंभ स्थान स्त्री है। जो इसके जाल में बँध गया, वह धर्म, कर्म, योग, ज्ञान, ध्यान, नीति, तत्त्व, इन सबसे भ्रष्ट हुआ। इस संसारी मायारूपी समुद्र का वेग—मोह—सकट अनर्क्य और महान् है। पर आत्मभूगोल पर तो वह एक छोटे सरोवर के समान है। आत्मनिष्ठ जीव उस सरोवर को अति विकट होने पर भी सहज में तर जाता है—माया का व्यक्त स्वरूप इस लोक के जीवों के लिये स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि हैं। इनमें भी अति भयंकर तथा जिसके पाश में बँधा हुआ जीव किसी समय भी नहीं छूट सकता ऐसा स्वरूप तो स्त्री ही है। जन्मरूपी तालाब में पड़े हुए तथा चित्तरूपी कीचड़ में फॅसे हुए मनुष्यरूपी मत्स्यों के पकड़ने के लिये दुर्वासना यही डोरी है तथा स्त्रीरूप उसमें बंधा हुआ मांस पिड वाला कांटा है। स्त्री के संग से पुरुष ऐसी अधोगति को प्राप्त होता है कि काल कालान्तर और जन्म जन्मान्तर यदि प्रायश्चित्त करता रहे तब भी मुक्ति मार्ग का दर्शन उसे नहीं होता। वत्स मन्युहर! तू कहेगा कि शास्त्रकारों का यह सब गपोड़ा है, क्योंकि जितने पुरुष पापी हैं उनसे अधिक पापिनी स्त्री नहीं। पर ऐसा नहीं

है। पुरुष के सब सत्त्वों को हरने वाली यही मायारूप सर्पिणी है। वैसे ही योगभष्ट करने वाली, ज्ञान भुलाने वाली, धर्म छुड़ाने वाली, यही सर्पिणी है और स्वर्गादि लोक में से गिराने वाली—यही माया की प्रतिकृति—साक्षात् माया ही है। मत्स्येन्द्र योगि को किसने भष्ट किया था? शृंगी का ज्ञान किसने भुलाया था? अजामिल का धर्म छुड़ाने वाली भी यही माया थी। नहुष को स्वर्ग से पतित कराने वाली भी यही माया थी। स्त्री के मुख पर सवा मन का ताला (तीर) कहा जाता है और यही तीर उसके नेत्र से जो कमान चढ़ाई जाती है उसके रोदा (तांत) के अग्र भाग पर जब चला कर मारती है, तब पुरुष निःसत्व बन कर विधि निषेध का ज्ञान भूल कर उस माया रूप सर्पिणी के चरणों की धूल चाटता फिरता है। माया की मोहिनी का वाण स्त्री के पास ऐसा सचोट है—अमोघ है कि उसका निशाना किसी समय भी, किसी स्थल पर भी खाली नहीं जाता। ऐसी मायारूप स्त्री के मोह में से अंसग, निर्लेप, निर्विकार रह कर जो पुरुष मुक्ति साधन करता है, वही जीव श्रेष्ठ है, इसमें अशक्य क्या है? यह कंदर्पहर ऐसी स्थिति में से असंग, निर्विकार, निर्लेप, अक्षत रह कर तर आया है, बच आया है; माया को पैरों के नीचे दबाने की इसमें शक्ति है, इसलिये यह श्रेष्ठ है। जिसको स्त्री है उसको भोगने की इच्छा है, पर जिसको स्त्री नहीं उसको भोगने की भूमिका ही कहां? स्त्री का त्याग करते ही जगत् का त्याग है तथा जगत् का त्याग होते सुख मात्र प्राप्त होता है। एक प्राचीन वचन है कि 'माता, बहिन, पुत्री अथवा किसी भी स्त्री के साथ एक शय्या अथवा एक आसन पर न बैठना चाहिये। कारण कि इंद्रिय समूह ऐसा बलवान् है कि वह चाहे जैसे विद्वान को भी मार्ग से भ्रष्ट करने को समर्थ है। इस प्राचीन वचन के विरुद्ध वर्त कर, गुरु—आज्ञा पालने के लिये एक परम लावण्यमयी, पीनस्तनी, कोमल, चंदन चर्चिताङ्गी, मदभरी, गणिका, मानिनी, जब एकांत में संपूर्ण कामोद्दीपक सामग्री के साथ समागमोत्सुक बन कर प्रार्थना करती हुई आयी। तब उसके साथ एक शय्या पर नग्नावस्था में रह कर उसे उत्कृष्ट वैराग्य का बोधन कर संपूर्ण अलिप्तता से कंदर्पहर सुखरूप पार हो आया, इसे क्या तू सहज समझता है? विश्वामित्र के समान महान तपस्वी भी जिस स्त्री के द्वारा तपोभ्रष्ट हो गये, वहां कंदर्पहर स्त्री विषयक सुख के भरे समुद्र में एक चट्टान के समान अचल बना रहा, यह क्या छोटी मोटी बात है? तुझे मिथ्या अभिमान चढ़ा है, उसका तू त्याग कर, योगी, यति, ऋषि, मुनि और तपोधन ऐसे अनेक जीव इस माया के मोह में ऐसे चिपट कर चूर हो गये हैं कि उनका लाखों वर्ष का ज्ञान क्षणभर में रसातल में पहुँच गया है।

मायावश विश्वामित्र की कथा

पूर्वकाल में गंगाजी के तीर पर बसे हुए एक सुन्दर नगर में गाधिराजा के वंशज राजा राज्य करते थे। इस वंश में विश्वामित्र नाम का महान् प्रसिद्ध राजा हुआ था। क्षत्रियों की अपेक्षा ब्राह्मण जाति श्रेष्ठ है, ऐसा वेदशास्त्र में वर्णन किया हुआ होने से उसने ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के लिये हिमालय पर जाकर उग्र तपश्चर्या आरंभ की। सब प्रकार की माया का त्याग करके एक निष्ठा से ही वह तप करता था। पवन आहार, पवन पान, भूमिशयन, आकाश का चंदोवा था। परब्रह्म की प्राप्ति के लिये उसने ऐसा उग्र तप किया था कि जिसके समान किसी दूसरे ने तप किया ही नहीं। राजकुलदीपक विश्वामित्र ने साठ हजार वर्ष पर्यन्त अनेक संकटों में और अनेक प्रकार के कष्टों में अपना तप जारी रखा था।

उसके तप से घबड़ा कर इन्द्र ने अनेक अप्सराओं द्वारा उसका तप भंग करना चाहा। इन अप्सराओं में मेनका नाम की अप्सरा प्रमुख थी। उसका लावण्य अनिर्वचनीय था। चढ़ती जवानी में वह मदमत्त थी। उसके नेत्रों में मनुष्य को लोट-पोट करने वाले अनेक तीक्ष्ण शस्त्र भरे हुए थे। उसका मुखमंडल चन्द्रमा की भी निन्दा करने वाला था। राग गाने वाली अप्सराओं में वह अपने समान एक ही थे। इन्द्र की वह परम प्रिया थी। वही मेनका इन्द्र की आज्ञानुसार विश्वामित्र जी ने तपःस्थान पर आयी। समय के अनुकूल मेनका अपने मधुर स्वर से ऐसा उत्तम आलाप करने लगी कि जिस आलाप की ध्वनि विश्वामित्र के हृदय को वेधकर सातवी समाधि में, पार निकल गयी। धीरे-धीरे राजर्षि के नेत्र विक्षिप्त होने लगे तथा उनकी ज्योंही मेनका पर दृष्टि पड़ी त्योंही वे विह्वल हो गये। मन्युहर! एक ओर साठ हजार वर्ष का तपोधन तथा दूसरी ओर एक क्षुद्र स्त्री के कंठ का सुस्वर और दर्शन, इन दोनों की तुलना कैसे हो सकती है? ब्रह्म की प्राप्ति के लिये जिन विश्वामित्र जी ने अनेक कष्ट सहन किये थे, ठंडी, गर्मी और बरसात की जिन्होंने लेशमात्र भी परवाह नहीं की थी, जिनके आसपास मिट्टी के ढेर तथा दीमक के घर बन गये थे, नाग तथा सर्पों के समूह जिनके आसपास अनेक पड़े रहते थे, बाघ तथा सिंहों से जिनको क्षण भर भी क्षोभ नहीं हुआ था, ऐसे विश्वामित्र राजर्षि, क्षणभर ही स्त्री के स्वर की मधुर ध्वनि अपने कर्णप्रदेश में प्रविष्ट होने देने से एकदम क्षोभ को प्राप्त हो गये। विक्षिप्त होती हुई उनकी दृष्टि धीरे-धीरे मेनका पर पड़ने लगी। सब इंन्द्रियां अपने-अपने कार्य करने के लिये स्वाभाविक धर्म के आश्रित हो गयी! मेनका को तो जो चाहिये था वही मिल गया। वह धीरे-धीरे अपनी कला बिस्तारने लगी। तिरछी दृष्टि से उसने लगातार बाण मारना आरंभ कर दिया। विश्वामित्र उनको सहन नहीं कर सके।

कामदेव आप धनुष की पनच (प्रत्यन्चा) चढ़ाये सम्मुख ही खड़ा था—वह ऋषिराज का मन चलायमान करता था। यह मकरध्वज स्त्रियों की आज्ञा उठाने वाला सेवक है। कारण कि वह स्त्रियों के कटाक्षों की सूचना द्वारा पुरुष पर आज्ञा पहुँचाता है। विश्वामित्र दृष्टि मेनका के ऊपर धीरे-धीरे ठहरने लगी। मन जो सब कष्टों का तथा पतन का कारण है उसमें अनेक संकल्प विकल्प होने लगे। इतने में इन्द्र प्रेरित पवन चला और वह मेनका के पहने हुए सुन्दर वस्त्रों में भर गया तथा मेनका के वस्त्रों को उसने ऐसा उड़ाया कि मेनका की नाभि पर ऋषि की पूर्ण दृष्टि पड़ी तथा उसी क्षण कामदेव ने अपने बाण मारकर विश्वामित्र को माया की मोहिनी में लट्टू ही बना दिया। मुनिराज ने अपना पद्मासन छोड़ दिया, वे तप को भूल गये, उनका मन विह्वल हो गया और एकदम उठ खड़े हुए और जहां मेनका खड़ी थी वहां एकदम जा पहुँचे। हुआ!! इन्द्र जो चाहते थे वह हुआ। काम ने अपना प्रताप बताया और मेनका का कार्य सिद्ध हुआ। मुनिदेव ने एक वर्ष तक मेनका के साथ विलास किया तथा उनका साठ हजार वर्ष का तप क्षण भर में नाश हो प्राप्त हो गया।

इसका नाम माया है! तात मन्युहर! विश्वामित्र जैसे महान् ऋषिराज स्त्री की मोहिनी में मोह पाकर अपने अगाध तपोबल को गवां बैठे थे तथा इस माया में फँस गये थे तो फिर साधारण ऋषिमुनि की तो गिनती ही क्या? देव, दानव और मनुष्य, साधु, संत और तपस्वी, ज्ञानी, अज्ञानी और मूढ़मति, माया की प्रतिकृति स्त्री के दास हैं, पिंगला जैसी रूपयौवन सम्पन्न सुन्दरी, सुन्दर भोजन, विलासभवन, कामोद्दीपक वायु, सर्व कलाओं का निधान एकान्त स्थल, प्रार्थना करने वाली अबला, मृत्यु का भय, ऐसे स्थल पर विशुद्ध आत्मनिष्ठ बिना दूसरा कोई भी जीव किसी काल भी टिक नहीं सकता। जिसने प्राणवायु का निरोध किया है, जो आत्मनिष्ठ है, जिसने परम तत्त्व को जाना है, जिसने परम रस का पान किया है, वही ऐसे संकट से पार हो सकता है। जिसने संकल्पों का संन्यास किया है वही योगी है, वही परम है, उसी का जय है, जो कर्म के फल का त्यागी है वही सच्चा त्यागी है। जिसने माया के मस्तक पर पैर रखा है तथा नृत्य किया है वही समर्थ संन्यासी है। जिसका मन पूर्ण है तथा जगत्मात्र के पदार्थों पर जिसका मन मोहित नहीं होता वही पुरुष ब्रह्म के अमृत रस से, माया की मोहिनी के समीप रहकर माया में लिप्त नहीं होता तथा वही पूर्ण है। जिस जीव का कर्तृव्य तथा भोक्तृत्व शान्त हुआ है, ऐसा ही जीव इस पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। जो संकल्पविकल्परहित है, दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्यादि आसुरी संपत्ति का जिसने त्याग किया है तथा

दैवी संपत्ति का जिसने भली-भांति सेवन किया है वही जीव, इस ब्रह्म की माया तो तिर पूर्णता को पाता है। अयुक्त को बुद्धि नहीं होती, वह सदानन्दरूप ज्योति को नहीं देख सकता, उसको भावना भी नहीं होती और जिसको भावना नहीं होती उसको शान्ति भी नहीं, सुख भी नहीं, किन्तु वह माया का दास है; वह ब्रह्म से विमुख रहता है, तथा वह माया को तर नहीं सकता। जो इस जगत् को केवल माया से उत्पन्न किया हुआ तथा स्वप्नवत् मिथ्या देखता है,वह अविद्या से उत्पन्न हुई माया से सहज में पार हो जाता है। ऐसी माया से कंदर्पहर पार हो गया है इसलिये वह श्रेष्ठ है।"

क्रोध का दृष्टान्त

गुरुदेव के इन वचनों का सच्चा रहस्य मन्युहर के हृदय में नहीं ठहर सका, वह बोला–"गुरुदेव! आपने जो-जो कहा है वह सब सत्य है तथापि क्रोध को जीतना यह कोई हँसी खेल की बात नहीं। राम तथा कृष्ण जैसे महापुरुष भी काम को वश में कर सके हैं, राजा जनक ने भी काम को जीता है, वैसी शक्ति कोई भी जीव बता सकता है, पर क्रोध का जीतना यह दुष्कर कार्य है। दुर्वासा जैसे बड़े मुनीश्वर भी क्रोध को नहीं जीत सके हैं, यद्यपि वे काम को जीत सके थे। लोभ का निवारण कर सके थे, मोह को मार सके थे, मद का चूर्ण किया था, मत्सर का नाश कर डाला था, आशारहित थे, तृष्णा से विमुख थे, संकल्परहित थे, परम तत्त्व को पाये हुये इन सब शत्रुओं का दिग्विजय कर चुके थे तो भी क्रोध को नहीं जीत सके। वे मुनिराज अंबरीष का व्रत भंग कराने के लिये गये तथा द्वादशी के समय राजा अंबरीष ने जल का प्राशन किया, इतने ही में मुनिदेव क्रोध से भर गये और भगवद्भक्त महात्मा अंबरीष को शाप देने को तैयार हो गये थे।

हे देव! राजा युधिष्ठिर जैसे धर्मावतार भी क्रोध को अपने अधीन नहीं कर सके थे। राजा विराट की सभा में युधिष्ठिर तथा राजा विराट का संभाषण होने में विवाद हो गया, तब विराट राजा ने उनकी नाक पर पासा मारा। उस समय उनकी नासिका से जो रक्त बहने लगा वह क्रोध से धक-धकाता था। यदि वह रक्त पृथ्वी पर पड़ता तो बड़ा भारी दुष्काल पड़ जाता। उनका रुधिर ऐसा क्रोध से भरपूर था। परशुराम जैसा देवांशी महात्मा परमात्मा के दश अवतारों में से छठा अवतारी पुरुष क्रोध की मूर्ति था। इनके पिता का एक क्षत्रिय ने घात किया, इस पर क्रोधित होकर इन्होंने इक्कीस बार इस पृथ्वी को क्षत्रियरहित करके घोर संहार किया था। जब रामजी ने महादेवजी का धनुष तोड़ा। तब

उनके साथ युद्ध करने को दौड़ आये, कि क्या अभी क्षत्रिय जीवित हैं! ऋष्यशृंग ऋषि के पिता शमीक मुनि के कंठ में कलि के वश हुए राजा परीक्षित ने मरा हुआ सर्प डाल दिया, इसी से क्रोधाधिष्ट हो उन्होंने परीक्षित जैसे प्रजापालक धर्मात्मा राजा को सात दिन में सर्प द्वारा मृत्यु होने का शाप दिया था।

हे गुरुदेव! सचमुच, क्रोध को वश करना कठिन काम है, इसके समान विषम तथा दुर्घट कार्य एक भी नहीं हैं। इस लोक के जीव की सामान्य वृत्ति ऐसी है कि अपकार करने वाले पर क्षण-क्षण क्रोध होता है। क्रोध से मोह होता है, मोह से स्मृति भ्रंश होता है, स्मृति के भ्रंश से बुद्धि का नाश होता है तथा बुद्धि के नाश से आत्मा का विनाश होता है,* ऐसा क्रोध बलवान है। ऐसे बलवान क्रोध से आप काम से भी नीची कक्षा में रखते हैं यह मुझे बड़ा आश्चर्य होता है।"

द्रौपदी ने क्रोध को जीता

अत्रिमुनि ने कहा—"हे वत्स! मन्युहर! तू कहता है सो सच है। क्रोध भी अजित और बलवान् है, तथापि काम को जीतना, जितना कठिन काम है, उसका शतांश भी क्रोध का जीतना कठिन काम नहीं। द्रौपदी जैसे अबला भी क्रोध को जीत सकी थी। महाभारत के युद्ध प्रसंग में द्रोणाचार्य के चिरंजीवी पुत्र अश्वात्थामा ने रात्रि संहार में द्रौपदी के पाँचों पुत्रों के सिर काट लिये। तब भीम ने प्रतिज्ञा की थी कि तेरे पुत्रों का वध करने वाले के माथे पर तुझे बिठलाकर जब स्नान कराऊं तब तो मेरा नाम भीम सार्थक समझना! पुत्रों के मरण से द्रौपदी अविश्रान्त विलापकल्पांत करती थी। उसने भीम की इस प्रतिज्ञा का कुछ भी उत्तर न दिया। फिर श्रीकृष्ण परमात्मा को साथ लेकर भीम अश्वत्थामा को पकड़ने को गये और इन दोनों के बीच बड़ा युद्ध हुआ और भीम अश्वत्थामा को पकड़कर द्रौपदी के सामने ले आये और अश्वत्थामा का सिर काटने का भीम ने विचार दर्शाया। उस समय शोक में डूबी हुई द्रौपदी ने कहा—"हे महाराज श्रीकृष्ण! हे स्वामी भीम! आप अश्वत्थामा को छोड़ दीजिये। यह तुम्हारा गुरुपुत्र है। मेरे पुत्रों के सिर काटकर ब्राह्मणों को योग्य नहीं ऐसा इसने काम किया है अवश्य, परन्तु पुत्र मरण से जैसा मुझे शोक और खेद होता है तथा मेरे नेत्रों से जैसे आंसुओं की धारा बहती है वैसा ही शोक और खेद गुरुपत्नी कृपी को कराने की मेरी इच्छा नहीं। तुम्हारे गुरुपुत्र के वध

* क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ (गीता 2-63)

से मेरे पुत्र जीवित नहीं हो जायँगे। उनकी आयु पूरी हो गयी थी इससे वे स्वर्गधाम गये। इससे मुझे क्रोध करने और अश्वत्थामा के प्राण हरने की इच्छा करना यह कर्तव्य मैं निर्बल जीवों का समझती हूं।"

क्रोधजित् काशीराज

"वत्स मन्युहर! एक और कथा सुन। क्रोध का विजय करने वाला अति प्राचीन काल में काशीपुरी में एक राजा था। उसने क्रोध को अपने सिंहासन के नीचे ऐसा दृढ़ दाब रखा था कि वह कभी भी अपना प्रभाव उस राजा पर नहीं जमा सका था। यह राजा चाहे जैसे संकट में तथा चाहे जैसे अपमान में भी क्रोध नहीं करता था। क्रोध उत्पन्न होने के अनेक प्रसंग उस पर आये, पर इस राजा ने केवल गाढ़े धैर्य और अद्भुत शान्ति से उस क्रोध का विजय किया था। इसके इस अप्रतिम गुण से देवलोक में भी उसकी बड़ाई होने लगी! एक समय इन्द्र की राजासभा में भगवान् नारदजी ने पधार कर उस राजा के यश का बहुत ही अच्छी रीति से वर्णन किया–गुण कीर्तन किया। उसको सुन कर इन्द्र तथा देवसभा चकित हुई। फिर इस राजा की परीक्षा करने का इन्द्र ने विचार किया। इन्द्र ने नया रूप धारण किया। उसने मार्जार के समान मुख बनाया। उसके शरीर में अनेक प्रकार से रक्त का स्राव होता था तथा दुर्गन्ध ऐसी निकलती थी कि कोई प्राणी उसके पास खड़ा नहीं हो सकता था। ऐसा रूप धारण कर और हाथ में दंड कमंडलु ले 'भिक्षां देहि' कहता हुआ वह (इन्द्र) काशीराज के दरबार में आया। राजा ने उसके कुत्सित रूप से कुछ भी संकोच न पाकर उत्साह भरे हृदय से संन्यासी रूप इन्द्र का प्रेमपूर्वक सत्कार किया एक दिन अपने ही स्थान पर भिक्षा लेने की प्रार्थना की।

संन्यासी ने बड़े कुत्सित–अविवेकी वचन से कहा–अरे बैल! उजबक! जो तेरी भोजन कराने की इच्छा है तो जो मैं मांगू सो भोजन मुझे दे।"

'अस्तु' कह कर राजा ने उसकी आज्ञा स्वीकार की। संन्यासी ने उसके एक मात्र पुत्र के मस्तक के मांस का भोजन मांगा। राजा ने इस बात से कुछ भी संकोच नहीं पाया और संन्यासी की आज्ञा को सिर से वंदन (शिरोधार्य) कर लिया। फिर इन्द्र स्नान करने नदी के तट पर गये तथा राजा अपने पुत्र का मस्तक कटवा कर, उसका भोजन बनवा कर बैठा और संन्यासी की बाट देखने लगा।

इतने में प्रधान ने आकर कहा–"हे महाराज! जिस सन्यांसी ने आपके युवराज कुँवर का मस्तक कटवा कर भोजन बनवाने की आज्ञा की है उसी संन्यासी ने आपकी अश्वशाला में आग लगा दी है। हजारों घोड़े जल कर भस्म

हो गये हैं। साथ ही घुड़साल भी जलकर भस्म हो गयी। केवल इतना ही नहीं बल्कि साईस, घास काटने वाले तथा उनके कुटुंबी भी भस्म हो गये हैं। इस बिडालमुख संन्यासी का आपने इतना भारी सत्कार किया, उसके बदले में उसने यह अपकार किया है कि जो अकथनीय ही है!"

यह बात अभी पूरी नहीं हुई थी, इतने ही में रनवास में से एक दासी दौड़ती-दौड़ती आयी और काशीराज को दंडवत् प्रणाम करके बोली—"महाराज! क—क—क—कहने जो जीभ नहीं चलती, पर वह चाण्डाल संन्यासी आपकी लाडिली राजकन्या को रोती पीटती दशा में हरण कर ले गया है और उस कन्या हरण के समय रोकने को जो दास दासी सामने आये उन्हें अपने दंड से ऐसा बुरी तरह मारा है कि वे उठ भी नहीं सकते।"

पुत्र का मरण, हयशाला का नाश, कुवारी राजपुत्री का हरण, सेवकों का नाश, इस ऊपरा ऊपरी होने वाले बनाव से किसी भी मनुष्य को क्रोध हुए बिना नहीं रह सकता। पर काशीराज का मुख कुछ भी मलिन न हुआ। ज्यों का त्यों पूर्ववत् प्रसन्न था। इतने में संन्यासी रूप इन्द्र भोजन गृह में धीरे-धीरे चलते-चलते तथा मुख से हरिनाम जपते हुए आये! मंत्री तथा सेवक तो यह विचारते थे कि राजा क्रोध करके इस संन्यासी को अभी मरवा डालेगा, परंतु राजा की सौम्य वृत्ति में कुछ भी अतंर नहीं पड़ा। संन्यासी को आता देख कर वह दोनों हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया और उसके दोनों चरण पकड़ कर बोला—महाराज! इस दास से कुछ भी अपराध हुआ हो तो आप क्षमा करेंगे!

राजा का ऐसा धेर्य तथा क्रोधजित्पना देख, इन्द्र चकित हुआ। फिर इन्द्र अपना स्वरूप धारण करके और राजा को प्रेमपूर्वक भेट (मिल) कर बोला—"हे राजन्! तुझे धन्य है! तूने सचमुच क्रोध को जीता है और तेरी राजकन्या राजभवन में आनंद करती है। मैं केवल तेरे क्रोध की परीक्षा करने ही को आया था। तूने क्रोध को सचमुच पैर के नीचे दबाया है। तेरे जीवन में क्रोध को पुनरुज्जीवन कभी भी नहीं होगा ऐसा मेरा निश्चय है!" ऐसा कह आशीर्वाद देकर इन्द्र अपने लोक को चले गये।

गुरु ने कहा—"हे मन्युहर! ऐसा क्रोध जीतने में पुरुषार्थ अवश्य है, पर काम का जीतना यह परम पुरुषार्थ है। बड़े-बड़े ज्ञानी भी काम को जीतने में गोता खा गये हैं तथा बलवत्तर प्रारब्धवश कर्म के भोग भोगकर अज्ञानरूप कामाग्नि में लय हो गये हैं, तो जिनको अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं तथा निर्गुण अविनाशी ब्रह्मरूप को जो नहीं जानते तथा शारीरिक भोग भोगने में दिन रात जागृत रहते हैं और उन भोगों की ही चिन्ता करते रहते हैं ऐसे अज्ञ निर्बल पुरुषों के पुरुषार्थ की तो बात की क्या

करनी? क्रोध के जीतने में जिस पराक्रम, जिस दृढ़ता, जिस शक्ति की आवश्यकता है, उससे विशेष आत्मज्ञान की दृढ़ता तथा आवश्यकता काम को जीतने में है। इंद्रियों द्वारा प्राप्त हुए अनित्य विषयसुख में डुबानेवाला, मोहमाया में प्रबल प्रतापाग्नि की तीक्ष्ण ज्वाला में भस्मीभूत करने वाला, आत्मसुख में से पतन करने वाला यह काम महाबलवान् राजाओं का राजा है। उसकी सेना विशाल है। उसके आयुध अत्यंत तीक्ष्ण हैं। उसके पार्श्ववर्ती सेवक बड़े चपल हैं। जब वह अपने बाण फेंकता है तब सचोट ही घाव करता है। बालक अथवा तरुण, वृद्ध अथवा रोगी, शक्त अथवा अशक्त, स्त्री या पुरुष, नीच या ऊंच, विद्वान् या अविद्वान, ज्ञानीं या अज्ञानी—सब ही इसकी माया में ऐसे लीन हो गये हैं कि वे अत्यंत तेजोमय परमात्मा की विभूति की स्वल्प काल भी झांकी नहीं कर सकते! इतना ही नहीं, बल्कि भेदबुद्धि के कारण, पाप मात्र के ही पुजारी बन कर, सब धर्मों से रहित होकर, वे मनगढ़ंत विविध प्रकार के साधन करने में तत्पर बन जाते हैं। उनका गिरना कहां होता है यह भी वैसे ही नहीं जाना जाता जैसे आकाश में उड़ते प्राणी की गति नहीं जानी जाती। ऐसे मोहमय कामसागर में से कंदर्पहर पार हो आया है, इसलिये वह श्रेष्ठ है तथा फिर भी मैं कहता हूं कि वही श्रेष्ठ है।"

मन्युहर! गुरु के ऐसे सप्रमाण वचन सहन नहीं कर सका। काम का बल कैसा अनिवार्य है, उसको इसका भान ही नहीं था। आज यह मन्युहर का स्वरूप भूल कर मन्युदास बन गया था! उसको ऐसा क्रोध व्याप्त है कि गुरुजी मेरे स्वरूप के बल को न जानने से कंदर्पहर की बड़ाई करते हैं और मेरा मानभंग करते हैं। उसके मन में विचार हुआ कि गुरुजी को मैं निश्चय कराऊं कि मुझ सा पुरुष भी काम को जीत सकता है, पर क्रोध का जीतना यह नितान्त दी दुष्कर है।

अहंभाव से मूढ़ बना हुआ मन्युहर गुरुजी को प्रणाम करके बोला कि—"हे गुरुदेव! आप क्रोध का जीतना चाहे जैसा मानो, पर मैं तो मानता हूं कि क्रोध को जीतना यह इस लोक को ही नहीं बल्कि स्वर्ग लोक के देवताओं को भी दुष्कर काम है। काम के जीतने को मैं इतना कठिन काम नहीं समझता। आपकी इच्छा हो तो आप मेरी परीक्षा ले लीजिये।"

मन्युहर पिंगला के मंदिर में

गुरुजी मौन साध गये। मन्युहर का अहंभाव समझ गये। बात को भुला दिया-टाल दिया। आठ महीने बीत गये। फिर चातुर्मास आया और चारों शिष्यों को पास बुला कर चार स्थानों पर जाकर रहने को मुनि ने आज्ञा की। मन्युहर को पिंगला

के घर जाकर रहने की आज्ञा की। वह अपने मन में अति प्रसन्न हुआ। उसने मन में निश्चय मान लिया कि मैं काम को चुटकी में चपेट लूंगा। वह बड़े अभिमान के साथ पिंगला की ड्योढ़ी पर गया। कंदर्पहर के समान ही इसका रूप भी सुन्दर था। मस्तक पर त्रिपुण्ड्र शोभायमान था, कंठ में रुद्राक्ष की माला धारण किये था, मुख से प्रणव का जप जपता जाता था। धीरे-धीरे पग रखता तथा आड़ी टेढ़ी (बांकी तिरछी) दृष्टि करता वह पिंगला की ड्योढ़ी पर जा पहुँचा और 'नारायण हरे' कहकर खड़ा रहा, गत चातुर्मास में इसी दिन कंदर्पहर ने 'नारायण हरे' की ध्वनि की थी, वैसी ही पुकार आज सुन कर पिंगला की दासी दौड़ती-दौड़ती द्वार के पास आकर खड़ी रही और मन्युहर की कांति को देख कर दंग हो गयी। फिर मंदिर में जाकर अपनी बाई से कहा–'बाई! मैं जानती हूँ कि तुम्हारे पुण्य का ही उदय हुआ है। जो महात्मा पुरुष गतवर्ष आपके मंदिर को पवित्र कर गये थे उन्हीं का गुरुभाई कोई दूसरा संन्यासी आज द्वादशी की पुण्य तिथि में आपके द्वार पर आकर खड़ा है।

पिंगला संस्कारी बनी थी और वह ज्ञान की अपेक्षा वाली हो रही थी, देह और आत्मा को सार्थक करने को जिज्ञासु बनती जाती थी। कंदर्पहर के चले जाने के पीछे, परम तत्त्वरूप आनंदघन आत्मा के स्वरूप का वह नित्य विचार करती थी। आठ मास में परपुरुष का समागम तो क्या किसी के साथ बात करने का भी उसने संकल्प नहीं किया था। वह मन के कल्पित मोह को दाब कर वश करने ही में प्रयत्नशील थी। उसने मानो वैराग्य धारण किया हो ऐसे आचरण कर रखे थे तथा नित्य ही सत्पुरुषों के समागम की आकांक्षा रखती थी। दासी ने पूर्व के महात्मा के गुरुबंधु का नाम लिया कि उसी क्षण वह जागृत हो गयी और बोली–अरी दासी! उस संतपुरुष की चरणरज से इस मंदिर को पवित्र कर, उनको प्रणामपूर्वक ऊपर लिवा ला तथा पूजन की सामग्री तैयार कर।'

तुरन्त दासी उस सतंपुरुष को पिंगला के मंदिर में बुला लायी, पिंगला का स्वरूप देखते ही मन्युहर तो चकित हो गया और उसे आशीर्वाद देकर इकटक उसकी ओर देखता रहा। पिंगला ने प्रणाम कर, उसका पादप्रक्षालन किया और उसके चरणामृत को मस्तक पर धारण किया। उसने समझा कि जैसे कंदर्पहर गुप्त महात्मा था, विषय सुख से रहित था, वैसे ही उसका गुरुभाई भी होना चाहिये। पर यह वैसा है या नहीं, इसके विषय में परीक्षा करनी चाहिए। उसने दासी से कहा–निपुणिका! यह महात्मा पुरुष वन में से मेरे मंदिर पवित्र करने को पधारे हैं सो तू इनकी यथार्थ रीति से शुश्रूषा कर! दिन का निवास अपने वैभव मंदिर में रखिये और रात्रि को विलास भवन में शयन स्थान रखना। इनकी

सेवा में कुछ भी कमी नहीं पड़े, अपने ऐसे भाग्य कहां थे कि इनके समान महात्मा पुरुष अपने घर पधारें। पूर्वजन्म के महापुण्य से यह नाव रूप मनुष्य शरीर तथा ऐसा सुअवसर प्राप्त हुआ है तथ यह भवसागर तो दुखःरूप ही है तो जब तक यह शरीर रूपी नौका टूट न जावे तब तक ऐसे महात्मा रूपी नाविक द्वारा, इस दुःखसागर से तरने को तत्पर हो!'

ऐसे कह दोनों हाथ जोड़ कर मन्युहर से कहा—"हे देव! हे सत्पुरुष! हे सन्त! आप वैभव मंदिर में पधारो, मैं भी आपकी परिचर्या करने में तत्पर हूँ!"

मन्युहर प्रसन्न वदन से वैभव मंदिर में गया और वहां का ठाट-बाट देख कर मन ही मन कहने लगा—'ठीक! कंदर्पहर ने भी फक्कड़ मौज भोगी है तथा गुरुदेव से सम्मुख जाकर उसने खूब शेखी भी मारी है! अब हम भी कैसी लीला बताते हैं। वह गुरुदेव जी बराबर देखेंगे! कंदर्पहर ने चाहे जैसा किया हो, पर मैं तो अपना स्वरूप यथार्थ ही बताऊंगा और क्रोधजित् होने के साथ काम को भी जीतूंगा और उसे जला दूंगा।' ऐसा विचार करता करता अत्रिमुनि का शिष्य सुन्दर मखमल से सुसज्जित पलंग पर जा बैठा। अपना दंड तथा कमंडलु एक ओर रख दिया! मंचलाचरण ही में मन्युहर का यह चरित्र देख दासी को कुछ संदेह अवश्य उत्पन्न हुआ, पर मन में वह यह विचार करने लगी कि कदाचित् यह महात्मा पुरुष किसी दूसरे ही हेतु से आया होगा और यह कोई दूसरा ही उपदेश करेगा।

योगी पुरुष को वहां बैठाकर पुनः दासी अपने मंदिर में आयी तथा योगिराज को पारणा कराने के लिये उत्तमोत्तम भोजन चांदी के थाल में परोस कर ले आयी।

मन्युहर ने कहा—'अरी दासी! तेरी बाई को मेरे लिये बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। मुझे भोजनगृह में आने में भी कुछ बाधा न थी। भोजनशाला में ही भोजन करने से विशेष रस पड़ता है। इसलिये अब तू वहीं भोजन रखा कर, साधुओं को मिष्ठान्न का प्रतिबंध है, इस कारण इस मिष्ठान्न को ले जा। दूध पूरी ही ठीक है।'

दासी तो संत के ये वचन सुनते ही चकित हो गयी और अपनी बाई के पास जाकर बोली—'बाई साहिब! कहो न कहो पर मुझे कुछ कौतुक मालूम पड़ता है! साधु महाराज तो कुछ विलक्षण ही हैं, वे कहते हैं, कि मुझे भोजनशाला में भिक्षा लेने में कुछ भी प्रतिबंध नहीं। इनका चरित्र मुझे तो जुदा ही मालूम होता है।" पिंगला जो कि साधनाधिकार में चढ़ती थी और संतपुरुष के समागम से सत् और असत् के जानने के मार्ग में बढ़ रही थी वह इतना ही बोली कि—'कुछ चिंता नहीं, मैं इसका भी चरित्र देखूंगी।' मन्युहर कुछ बिलकुल ही मूर्ख न था। अभी तक वह कामांध नहीं बना था। पर वह ऐसा

मानता था कि कंदर्पहर अपनी इच्छा से नहीं, बल्कि गणिका की इच्छा से उसके वश हुआ होगा। जैसे उसकी सेवा में गणिका हाजिर रहती थी, वैसे ही मेरे ऊपर भी प्रसन्न होकर हाजिर होगी, तब ही मैं उसका अनादर कर अपना जितेन्द्रियपन बताऊंगा। स्त्री दूर रहे और मिले नहीं तो फिर काम जीतने में पराक्रम क्या?' 'अशक्तिमान् भवेत् साधु।' ऐसे तो बहुत होते हैं। परंतु स्त्री–द्रव्य समीप हो तब उसका तिरस्कार करने में ही महत्त्व है, जो स्त्री से दूर ही दूर रहे वह भले ही पवित्र रहे, पर जो महात्मा स्त्री के साथ रह कर पवित्र रहे वही सच्चा पवित्र है, वही सत्य कामजित्! मैं स्त्री के साथ रहूंगा और कैसा हूं सो अब गुरुदेव अच्छी रीति से देखेंगे। ऐसा विचार कर, जब जब पिंगला अथवा उसकी दासी पास आती तब तब वह घृणा से ही देखता था। नीचे से ऊपर को भी दृष्टि नहीं करता था, पर उसकी बिल्ली की सी दृष्टि पिंगला को छिपी नहीं थी। जैसे जहां तक शरीर में कुछ थोड़ा भी कच्चे पारे का विष होता है वहां तक आरोग्य नहीं होता, वैसे ही मन में थोड़ा भी अहंकार होता है वहां तक चाहे जैसे योगी को भी सत्त्वशुद्ध स्वरूप का ज्ञान नहीं होता।

यहां तो नया ही बनाव बनने लगा। वेश्याएं तो सदा बहुत चतुर होती हैं। वे उड़ते पक्षी को भी परख लेती हैं तो मन्युहर की गति क्यों न जानें? उसको भी मन्युहर की परीक्षा करनी थी। दो चार दिन तो पिंगला मन्युहर की सेवा में घड़ी आधा घड़ी आकर चली जाती थी, पर जब मन्युहर का हृदय देखा तो जान लिया कि इसकी घृणा निरर्थक है, तब उसने अपनी चतुराई बतलाने की तजवीज की।

एक दिन वह सायंकाल को बनठन (शृंगार कर) आयी। उसको देख मन्युहर ने विचारा कि आज तो मुझे फँसाने को आयी है, इस कारण शांति मुद्रा को बदल कर वह बोला–"क्यों गी रंडी! क्या तू हमको फँसाने को आयी है? मेरा व्रत भंग करने की तेरी इच्छा पूर्ण न होगी। चली जा! हम योगी लोगों के सामने देखना भी मतह! हम भस्म कर देंगे!"

पिंगला का मन निर्दोष था। इसके मन में इस समय कुछ भी पाप न था, पर मन्युहर के वचन सुन कर वह चौंकी–मन में सहज हँसी और स्वगत (मन में) ही बोली–"बाबाजी तो उस्ताद हैं! दम तो ठीक रखता है, पर पानी भरा हुआ है, उसका कुछ भी भान नही!"

फिर वह मन्युहर से नम्रतापूर्वक बोली–"महाराज! मेरे मन में तो कुछ नहीं, फिर भी कुछ भूल हुई हो तो कृपा रखिये! मैं तो आपकी चेली हूं, आपके पास नहीं आऊंगी।" ऐसे कहती कहती बिजली की चमक की भान्ति मन्युहर

कुछ कहने न पाया तभी चली गयी।

मन्युहर मन में मग्न हुआ–"रंडी फँसाने आयी थी, उसको तो भगा दिया!" ऐसा मन में बड़बड़ाने लगा। पर पिंगला चलते समय जो नयनबाण मार गयी, कटाक्ष कर गयी थी वह उसके कलेजे के पार हो गया था। दस पंद्रह दिन तक पिंगला उसकी ओर फटकी भी नहीं, मन्युहर भी चकित हुआ कि पिंगला अब आती क्यों नहीं।

एक दिन उसने दासी से पूछा–"क्यों तुम्हारी बाईजी अब दर्शनों को नहीं पधारती? कुछ ज्ञान की बात सुनती है या नहीं?"

चतुर दासी ने कहा–"वे सदा ठाली (बेकार) नहीं कि तुम्हारे दर्शन ही किया करे! राजाजी की प्रेमिका हैं, लाडिली है। उनसे तुमने 'रंडी' कहा, उसी से वह आती नहीं!"

"हं! ह! ऐसा मत करना, बोलना कि साधु का दर्शन तो करना ही चाहिये। साधु का क्रोध क्या और प्रेम क्या?"

इस प्रकार दो चार बार कहने के बाद एक रात्रि को दासी ने विलासभव को भली भांति सजा दिया। दीपक सजा दिये, पुष्पों की माला और चादर सर्वत्र लटका दी। चारों ओर सुगंधि छिड़का दी। बादल घिर रहा था। मेघ की झड़ी लग रही थी। मन्युहर को भी नित्य का नित्य उत्तेजक भोजन कराये थे और कामदेव के स्वागत की सब तैयारी ऐसी उत्तमता से की थी कि बड़े योगिराज का मन भी चलायमान हो, तब मन्युहर की तो बात की क्या? पड़ोस की कोठरी में गाना बजाना आरम्भ हुआ। मन्युहर लीन होता गया। इतने में यह शब्द उसके कान में समा गये :–

"मेरे गले से लग जाओ प्यारे, घिरि आई बदरिया घोर;
बड़ी-बड़ी बूंदे बरसन लागी, बोलत दादुर मोर।"

मजे मजे से हिला झुला कर ऐसे आलाप किये कि, पिंगला के ही विचार में मन्युहर घिर गया। वह मानने लगा कि यह आलाप मेरे ही उद्देश्य से है, पर इससे मेरा मन चलायमान हो ऐसा नहीं हो सकता। फिर पिंगला ने यह राग अलापा :–

"बिजली चमक देख जिय डरपै, पवन चलत झकझोर;
हरि पिंड संत पिय कण्ठ लगाओ, राखो मन की कोर।"

'हं, रंडी कैसी फसी है! कंठ तो बड़ा अच्छा है, दीदार भी अच्छा है और पिय पिय रोती है, कौन पिय! संत पिय? कौन सा संत! मन्युहर! अच्छा, रंडी दिवानी बन गयी है।' ऐसा मन्युहर मन में विचारने ने लगा। इतने में दूसरे राग में पिंगला ने प्रेमपत्रिका भेजी।

"तेरे सूरत मुझे भाई मेरा जी जानता है;
जो झलक तूने दिखाई, मेरा जी जानता है।
अरे जालिम तेरे देस, तीरे निगह से हमने;
अरे जैसी कि है भाई, मेरा जी जानता है।
खायेंगे जहर, नहीं डूब मरेंगे जाकर;
जो है कुछ जी में समाई, मेरा जी जानता है।
कतल करके न खबर ली, मेरे कातिल अफसोस;
जी इसी दुःख में गमाया मेरा जी जानता है।"

इस शब्द के साथ ही खुली खिड़की में से पिंगला के मुख पर मन्युहर की दृष्टि पड़ी। बस, हो चुका! ले लिया गया!! गुरु के आगे जो ज्ञान की शेखी मारी थी। वह अब भूल गया। मुख से वह प्रणव का जप करता है, पर उसके मन में पिंगला नाच रही है, उसको अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प होते हैं और उसका आत्मज्ञान शिथिल पड़ता जाता है। कंदर्पहर को वह झूठा मानता है। लावण्य की साक्षात् मूर्तिरूप पिंगला के समक्ष कंदर्पहर निर्लेप रहा होगा, इसके ऊपर वह अनेक शंकाएं करता है। 'गुरुजी भोले है। वह उसके कपट को समझ नहीं सके, इसी से उसको श्रेष्ठ कहते हैं। क्रोध जीतने में ही सर्व योग का फल है। काम जीतने में क्या! कुछ भी पुरुषार्थ नहीं; और जिसमें पुरुषार्थ नहीं उसका कुछ फल नहीं। जिसमें फल नहीं उसके लिये श्रम करना, मिथ्या कष्ट सहन करना, इसका कोई कारण नहीं ऐसा वह अपने मन में निश्चय करता है। काम जीतना अर्थात् स्त्री का संग न करना, इसमें क्या है। पर जो ऊर्ध्वरेता रहता है वही सचमुच कामजित् कहने योग्य है। काम का परिणाम क्या? रेत का स्खलित होना। जिसका रेत (वीर्य) स्खलित नहीं हुआ वही सचमुच कामजित् है, वही नैष्ठिक ब्रह्मचारी है। श्रीकृष्ण जैसे महात्मा पुरुष ने अनेक गोपियों के साथ विहार किया था, पर ऊर्ध्वरेता और बालब्रह्मचारी कहे गये हैं, इसका कारण क्या? ऊर्ध्वरेता! मैं। जो ऊर्ध्वरेता रहूंगा तो मेरा ब्रह्मचर्य खंडित नहीं होगा और कंदर्पहर की अपेक्षा भी श्रेष्ठ कहाऊंगा' ऐसी उधेड़ बुन उसके मन में चल रही है।

दो तीन दिन तक मन्युहर के मन में ऐसी धमाचौकड़ी मचती रही। नित्य नित्य उत्तम प्रकार का आहार, विलास भवन में सुख शय्या पर वास, कामोद्दीपक पदार्थों का सेवन, स्त्री को निरखने की आतुरता, कसौटी करने की कामना, हृदय में ईर्ष्या, ऐसे संत का संतपन अधिक काल तक ठहरता नहीं।

मन्युहर के चित्त में पिंगला का ही चिंतन होता था। पिंगला को देखते ही उसका आत्मज्ञान पलायमान होता था। वीर्यवर्धक भोजन तथा इत्र फुलेल की सुगंध सुखासन पर शयनादि ने उसके मन में काम को जागृत कर दिया। मन से वह व्यभिचारी बना, मन्युहर के चरित्र की समीक्षा करने के लिये नित्य-नित्य पिंगला महाराज का दूर से ही दर्शन करके पीछे लौट जाती थी।

इस प्रकार होते-होते कितने ही दिन व्यतीत हो गये। मन्युहर मन में विचार करने लगा कि 'रांड़ बड़े भाव दिखाती है और सतीपन दिखाती है।'

एक दिन उसने दासी से कहा–"ओ धर्मशीले! तू धर्म को यथार्थ रीति से जानती है। जो अतिथि अपने घर आवे उसकी सेवा किस प्रकार करनी चाहिये यह क्या तू भूल गयी है? गत वर्ष मेरा गुरुभाई यहां पर चातुर्मास में निवास कर गया था। उसकी तेरी स्वामिनी ने भली भांति शुश्रूषा की थी। वैसी ही सेवा मेरी न करने में तू और तेरी स्वामिनी पापभागिनी बनती हैं।" जिसका आत्मबल मंद पड़ने लगता है उसे योग्यायोग्य का विचार ही नहीं होता, अखंड आनन्दरस में लोटने वाला और ब्रंह्मवेत्ता पद का जिज्ञासु विषयों से विरक्त तथा काम को जीतने का बीड़ा उठा कर आने वाला स्वस्वरूप को भूल कर, जैसे बालक भूख तथा शारीरिक पीड़ा को भूल कर खिलौने के साथ खेल कर अपने को आनन्दित मानता है, वैसे ही क्रीड़ा करने के लिये यह क्रोधजित् मन्युहर, एक स्त्री के हावभाव में, लटा छटा में, भूषणों की झनकार में, नाशवन्त गौरांग में, कीचड़, लारा और मलमूत्र से भरे हुए शरीर में धीरे-धीरे ऐसा लट्टू बनने लगा कि उसका सब आत्मज्ञान नष्ट हो गया। वह दासी से अयोग्य प्रार्थना करने लगा तथा अंत में कहने लाग कि, 'मैं कंदर्पहर की अपेक्षा रूपगुण में कम नहीं और उसका गुरुभाई ही हूं, उसमें और मुझमें भेदभाव गिनना, यह ज्ञानी को योग्य नहीं!'

गणिका की दासियां सदा चतुर होती हैं। गणिका का घर ही चतुराई का स्थान है। उस सन्त पुरुष का हृदयभाव दासी समझ गयी और बोली–"महाराज! आपकी इच्छा पूर्ण होगी, आप घबडाइये नहीं, मैं अपनी बाईजी को समझा कर आपकी सेवा के लिये तैयार करूंगी।"

यह सब वृत्तान्त दासी ने अपनी बाई से निवेदन किया। पिंगला चतुर थी। कंदर्पहर ने जो ज्ञान उसको दिया था, भोग का भय समझाया था, विषयसुख के दुःख दर्शाये थे, उनकी उसको विस्मृति नहीं थी। कंदर्पहर ने उसको उपदेशद्वारा परमात्मा का स्वरूप जानने की प्रेरणा की थी। आज उसने कंदर्पहर के गुरुभाई को उपदेश करने का भी विचार किया, वह क्रम-क्रम से मन्युहर के पास अधिक-अधिक बैठने लगी।

विकारी बना हुआ मन्युहर एक दिन बोला—"हे पिंगला! जो अपने घर आये हुए अतिथि की योग्य प्रकार से सेवा पूजा करता है उसी को अखंड आन्नद—एक रस ब्रह्म की प्राप्ति होती है। संतों को जो अपना तन, मन, धन अर्पण करता है उसी को मुक्ति मिलती है। मेरे गुरुभाई कंदर्पहर ने जो उपदेश दिया है उसका यही हेतु है। व्यक्ति व्यक्ति में भेद गिनना यह छोटे जीवों का धर्म है। संग से कुछ दोष नहीं, इस संग से तो अनेक महात्मा तर गये हैं। तू भी सत्संग कर तथा संत पुरुष की सेवा करके उनको तृप्त कर! इसी में तेरा कल्याण समाया हुआ है।" मन्युहर ने अपना हृदय भाव प्रकाशित किया।

चतुर गणिका बोली—"महाराज! आपकी सेवा में मैं तो सदा ही हाजिर हूं। आप जो आज्ञा करो, वह मुझे माननीय है। कहिये! मैं आपको किस प्रकार प्रसन्न करूं? महाराज! मेरा नियम है कि सत्पुरुषों का समागम छोटे-छोटे आदमियों की भांति न होना चाहिये। आप महात्मा हैं। जैसे मैं आपकी कामना को पूर्ण करूंगी, वैसे ही आप मेरी कामना को भी पूर्ण करो। कंदर्पहर ने मेरी कामना भली भांति पूर्ण की थी, इसी से मैं उसकी चेली बनी हूं।"

मन्युहर ने कहा—"तेरी कामना किस प्रकार तृप्त हो?"

गणिका बोली—"आपके समागम के समय दिव्य वस्त्र धारण करने चाहिये। मुझे बहुत दिन से यह इच्छा है कि कामरू देश की रानी मत्स्येन्द्र शिष्या सवा लाख रुपये का अंबर पहनती है, वह आप ले आओ, उसे पहन कर मैं आपकी इच्छा तृप्त करूंगी तब मुझे संपूर्ण आनंदसुख और तृप्ति होगी तथा आपको भी सुख, आनन्द तथा तृप्ति करा सकूंगी।"

मन्युहर बोला—"बस! यही! इसमें क्या बड़ी बात है!!" तुरंत ही महाराज तैयार हो गया तथा अपना दंडकमंडलु हाथ में ले उसने कामरू देश को प्रयाण किया।

अनेक प्रकार की उपाधि झेलता कितनेक समय में मन्युहर कामरू देश में जा पहुँचा। इस देश में संतपुरुषों के जाने की रोक न थी। प्रणव का जप जपता हुआ ऋषिशिष्य कामरू देश की रानी के दरबार में बड़े परिश्रम से पहुँचा और खड़ा रहा। उसने रानी को आशीर्वाद दिया और कहा—"हे धर्मशील देवी! मेरे गुरुवर्य किसी कष्ट से पीड़ित हैं, उसकी शान्ति की औषध तेरे पास है तो तू मुझे दे!"

रानी बोली—"हे महाराज! आप आज्ञा करो वही मैं आपको देने को तैयार हूं, मेरे इस शरीर के दान से भी जो आपके गुरु अच्छे होते हों उनका कल्याण होता हो तो उसे देकर भी आपके गुरु का श्रेय करूंगी!"

मन्युहर बोला–हे देवि! ऐसा कुछ महत्त्व का कार्य नहीं, हमारे गुरु ने गुरुदक्षिणा में तेरा अनमोल वस्त्र मांगा है। सो मुझे दीजिये। हे विशाल नेत्रवाली! यह वस्त्र अपने गुरु को देकर मैं गुरुऋण से मुक्त होऊंगा और तेरा कल्याण हो!" तुरंत ही रानी ने अपना जो अत्यन्त कीमती वस्त्र था वह मन्युहर के चरणों पर रख कर प्रणाम किया।

मन्युहर उस वस्त्र को लेकर बड़े परिश्रम से चातुर्मास की पूर्णाहुति के लगभग गणिका पिंगला के मंदिर में आ पहुँचा, मन्युहर थोडे दिनों ही में लौट गया था। उसकी कान्ति मलिन पड़ गयी थी। उसका भाषण मंद पड़ गया था। मार्ग में खाने पीने की अव्यवस्था, मार्ग का परिश्रम, दिन की गर्मी तथा रात की सर्दी में निवास, नदी नाले पार करना, झाड़ों के फलादि पर ही निर्वाह करना, इन सब संकटों से उसका शरीर सूख गया था। वह शरीर से शिथिल हो गया था। पर उसकी मनोवृत्ति शिथिल नहीं हुई थी। वह तो अधिक जागृत हो गयी थी।

ऋषिशिष्य को प्रणाम करके पिंगला ने कामरू देश की रानी का दिया हुआ अनमोल वस्त्र अपने हाथ में ले प्रसन्न मुख से कहा–महाराज! आपको बहुत परिश्रम हुआ। इस दासी का अल्प मनोरथ पूर्ण करने के लिये आप जैसे सत्पुरुष, धर्म के ज्ञाता नीति के तत्त्ववेत्ता को जो अति परिश्रम पड़ा है उसका बदला मैं नहीं पूरा कर सकती। हे महात्मा! आज से यह देह, गेह और संपत्ति आप ही की है। आप जैसे आज्ञा करेंगे मैं वैसे ही चलूंगी। मैं तो आपकी चेली हूं! आपकी सेवा में सदा तत्पर हूं।"

मन्युहर ने कहा–"हे सौंदर्यमूर्ति! जिस प्रकार तूने मेरे गुरुबंधु कंदर्पहर को प्रसन्न किया है, उसी प्रकार मुझे प्रसन्न कर, जिससे मैं कृतार्थ होऊं!'

गणिका बोली–"आपकी इच्छा मैं कब तृप्त करूं सो कहो।"

जिसका शरीर शिथिल हो गया है, जिसके अंग में बहुत ही थोड़ा वित्त रहा है, पर जो काम का दास बन गया है ऐसा क्रोध को पैर तले दाबने वाला मन्युहर बोला–"हे देवि! हे सुभगे! आज रात को ही इस संत महात्मा की कामना पूर्ण करके तू कृतार्थ हो।"

'अस्तू' ऐसा कह कर पिंगला वहां से बिदा हो गयी। दासियों ने ऋषिशिष्य को अच्छी तरह उबटन स्नान कराय उत्तम प्रकार के भोजन कराये। हारा थका मन्युहर तो थोड़ी देर में विश्राम करने लगा। जब सांयकाल हुआ तब मन्युहर पिंगला के विलासभवन में पधराये गये। मंदिर में चारों ओर सुगंध फैल रही थी। सुगंधित दीपक प्रकाशित हो रहे थे। सुसज्जित करके सुख सेज

बिछा रखी थी। ऊपर दूध के फेन के समान उज्जवल चद्दर बिछी थी। एक सुखासन पर बैठा मन्युहर पिंगला की बाट देख रहा था, इतने में कामरू देश की रानी का सवा लाख का अम्बर पहन कर छमछमाहट करती पिंगला मन्युहर के समीप आकर खड़ी हो गयी। उसका सौन्दर्य देख महाराज तो लट्टू ही बन गये। दासी के लाये हुए औटे दूध का प्याला गणिका ने मन्युहर के हाथ में दिया। गणिका के रूप से चकित हुआ मन्युहर उस दुध को पीकर फिर सुगंधित पदार्थों से भरा पान का बीड़ा चाबने लगा। पिंगला का सौंदर्य ऐसा उत्तम था कि मन्युहर को उसके समागम सुख बिना दूसरी किसी चीज में आनन्द ही नहीं मालूम हुआ। थोड़ी देर गणिका के साथ बांकी टेढ़ी बातें करके उसने उसका हाथ पकड़ कर उसको पलंग की ओर खींचा। इतने में पिंगला ने उसके हाथ में से अपना हाथ झटका देकर छुड़ा लिया और एकदम शरीर पर का सवा लाख का वस्त्र उतार कर मलमूत्र की नाली (कुंड) में डाल दिया!! यंत्र द्वारा की हुई रोशनी फीकी पड़ गयी–ठंडी पड़ गयी केवल एक मलिन सा दीपक जलता रह गया। पिंगला एक कोने में दिगम्बररूप खड़ी रही।

मन्युहर को यह देख बड़ा विस्मय हुआ और विचारने लगा कि जिस वस्त्र के लिये मैंने बड़ा श्रम किया वह वस्त्र मल मूत्र के स्थान में! वह बोला–"अरे पिंगला! यह तूने क्या किया? अत्यंत परिश्रम करके लाया हुआ अम्बर तूने बदबूदार हौदी में डाल दिया!"

पिंगला धीरज से बोली–"महाराज! अपार श्रम से प्राप्त किया हुआ अपना तपोबल–जिस में मलमूत्र भरा है, नित्य जिसमें से दुर्गंध निकला करती है, हर महिने जिसमें से रुधिर का प्रवाह बहा करता है ऐसे–क्षणिक सुखदायी स्थान में नष्ट करने को आप जैसा महात्मा तत्पर हुआ है, उसकी तुलना में यह सवा लाख का वस्त्र किस गिनती में है? चिरकाल तक गुरुसेवा के प्रयत्न से अनेक प्रकार के कष्ट सहन कर जो आत्मज्ञान आपने प्राप्त किया है उस आत्मज्ञान का फल जो निर्जीव विषयसुख ही हों और इसी में जो आनन्द तथा तृप्ति हो, तो अनेक परिश्रम से प्राप्त किया हुआ यह वस्त्र मुझे आनन्द दे सके! आपके चिरकाल संचित तपोबल के सामने इस वस्त्र के लाने का परिश्रम कुछ भी नहीं, यदि आप हैं तो ऐसे अनेक वस्त्र मिलेंगे। पर हे देव! आप ऐसा विचारते हैं कि आपका गया हुआ तपोबल फिर प्राप्त हो जायगा? बल्कि, आपका योगबल भी बड़ा है, दुर्गंध देने वाली नाली रूप इस देह के साथ से वह योगबल पुनः कभी प्राप्त हो सकता है? इस देह में क्या रखा हुआ है कि जिस पर आप मोहित हुए हैं और परम तप को नष्ट करने को तैयार हुए हैं?

यह अनेक प्रकार की गंदगी से भरी हुई है, अनेक प्रकार के रोगों का स्थान है। जिस शरीर को आपने लावण्य की मूर्ति देखा है, मोह की प्रतिमारूप माना है, सब सुख का स्थान गिना है, उस देह का शुद्ध स्वरूप जिस स्थिति में मैं खड़ी हूं और दीखती हूं, वही है। यह देह एक समय जल कर भस्म होने वाली है। इस देह के साथ संग के क्षणिक सुख में आप अपना बहुत समय का संचित किया हुआ तपोबल तथा कष्ट करके प्राप्त किया हुआ योगबल होमने को तत्पर हुए हो, तो आपके लाये हुए कामरू देश की रानी के वस्त्र को मैं उस पर वारती (निछावर) करती हूं और मैं स्वयं बलिहारी जाती हूं, हे महाराज! आपका यह मोह किसका? किस पर हुआ है? इस मुख पर, आखं पर, नाक पर, नितंब पर कि कुचों पर? किस पर इतना बड़ा मोह हुआ है? यह स्वरूप तुम देखो, मैं एक डाकिनी, पिशाचिनी और नरक की खान रूप वेश्या हूं, कि जो धीर पुरुषों के चित्त को दर्शन मात्र से*, बल को स्पर्श मात्र से तथा अमोघ वीर्य को समागम मात्र से हर लेती हूं, उस पर आपके समान ज्ञानी को मोह! पुरुष की कान्ति को नाश करने वाले, बल को हरने वाले, भ्रान्ति उत्पन्न करने वाले, संग के पीछे पश्चात्ताप करने वाले, मायाविनी स्त्री के नाशवन्त शरीर पर सत्पुरुषों को कभी मोह नहीं होता!''

गणिका के वचन सुनते ही गुरुप्रताप से मन्युहर को स्वस्वरूप का भान हुआ, उस समय उसको ऐसा भारी पश्चात्ताप हुआ कि 'यह अबला' तिस पर भी गणिका कि जिसे किसी प्रकार के ज्ञान का अधिकार नहीं, वह मुझे उपदेश करती है, मेरे स्वरूप का मुझे भान कराती है; वाह सचमुच इसने मुझे तारण दिया है, दुर्गति के मार्ग में गिरते-गिरते बचाया है। हरि! हरि! ऐसा मान वह तुरन्त गणिका के पैरों पर पड़ा और कहा ''हे मैया! मुझे क्षमा कर; कामवासना यह बड़ी ही खराब है, बड़े-बड़े महात्मा और ज्ञानी पुरुषों को वह सताये बिना नहीं रहती। यह बड़ा बलवान् इन्द्रियग्राम ज्ञानी विद्वान् को भी विवश कर देता है, यह गुरुदेव की बात मैं ठीक नहीं मानता था और शास्त्रों को गप्पे समझता था, पर आज मेरा समाधान हुआ है कि यह कथन सत्य है तथा कंदर्पहर की श्रेष्ठता ध्यान में आयी है। तू इस विषयसुख के अभिलाषी तथा पतित होने के मार्ग पर चलते हुए अल्प जीव की गुरु है! सचमुच तूने मुझे जो ज्ञान दिया है वह मेरे गुरुद्वारा दिये हुए ज्ञान से भी बढ़ कर है, काम ही अजित है। जो उसे जीते वही सच्चा साधु है, सच्चा महात्मा है; वही सब माया से पार हुआ है। स्त्री के सौन्दर्य पर मुग्ध न होने वाला ही योगी है, सचमुच आत्मज्ञानी है। हृदय के आश्रित जो जो कामना है उनसे

* दर्शनाद्धरते चित्तं स्पर्शनाद्धरते बलम्। संभोगाद्धरते वीर्यं नारी प्रत्यक्षराक्षसी ॥

जो मुक्त हैं वे ही मुक्त होते हैं तथा वे ही मनुष्य अमरत्त्व को प्राप्त होते हैं। जिस सद्बुद्धि वाले की भोगलालसा मृतप्राय हुई है उसी का जीवन इस असार संसार से तरने को समर्थ है। 'मैं कौन?' 'तेरे गुरु कौन?' 'मेरी स्थिति क्या?' इन सबका भान मात्र एक तेरे सौन्दर्य में भूल गया था, एक क्षण भर के विषय सुख में लुब्ध बना था, मैं मोह के वश हो गया था, माया में ही मर गया था। इस मोहमाया में से जो युक्तिपूर्वक ज्ञान देकर तूने तार दिया है तथा व्रतभंग में से मुझे बचाया है इससे मैं तेरा कृतज्ञ हूं। हे मैया! तेरी गति उत्तम लोक में होगी। उत्तम लोक को तू प्राप्त होगी।"

मन्युहर शान्त हुआ। उसका अहंकार मिट गया। कंर्दपहर की श्रेष्ठता वह देख सका। पिंगला ने वस्त्र पहन कर उत्तर दिया कि—"महाराज! दोष के पात्र तो सब कोई हैं, पर आपके समान थोड़े ही समय में समझ जाने वाले और त्याग कर देने वाले थोड़े ही हैं, इसलिये आपको धन्य है। स्त्री की बाह्य सुन्दरता देखकर मोहित हो जो उसमें फँस जाते हैं, उसको हजार बार धिक्कार है; वे कभी भी ज्ञान अथवा मोक्ष के अधिकारी नहीं होते। महाराज! आपके गुरुबंधु कंर्दपहर की कृपा से ही तुम और मैं आज पाप कर्म से बचे हैं, नहीं विषय लंपट जो मैं हूं, उसकी क्या सामर्थ्य थी कि तुम्हारे समान कामदेव स्वरूपी पुरुष की याचना अस्वीकार करे। इसलिये अपने महान् गुरुदेव का ही उपकार मानो।"

फिर दोनों जने निवृत्त हुए। चातुर्मास के जो दिन बाकी थे उन्हें उसने पूर्ण इन्द्रिय निग्रह से व्यतीत किया, पाप विचार का प्रकट प्रायश्चित्त करने लगा। इस दिन से उसने अपनी चित्तवृत्ति का पूर्ण निरोध करने का आरंभ किया। आहार व्यवहार का त्याग कर दिया। संयम का परम पुरुषार्थ से सेवन करने लगा। दस पांच दिन में चातुर्मास पूर्ण हुआ। सर्प जैसे अपने अंग की कंचुला उतार कर उपाधि—राग और मोह से मुक्त होकर सरलता से विचरता है, वैसे अपने मन में विषय सुख की लालसा और अहंवृत्ति के जो रजःकण भरे थे उनको त्याग कर गुरु के आश्रम में गया।

उसका मुख उदास देख गुरु ने कोई भी प्रश्न नहीं किया, तब मन्युहर बोला—"हे गुरुदेव! बाध की मांद में रहना भी सुगम है, सर्प के फन पर नृत्य करना भी सुलभ है, पनघट पर अनेक विकारी स्त्री पुरुषों के वचन सुनकर उनको मन में न लाना यह भी सुलभ है। परन्तु माया की प्रतिकृति, मायाविनी स्त्री के मोहपाश में से सुरक्षित रहना तथा वह भी बिलकुल एकान्त में जहां इन्द्रियों के चलायमान करने वाली सब सामग्री मौजूद है, वहां नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहना यह अति कठिन काम है, काम सचमुच अजित ही है। वह किसी से भी जीतने योग्य नहीं है। हे गुरुदेव! कंदर्पहर हमारा तीनों का गुरु है तथा प्रणाम करने योग्य है!"

परम संतोष पाकर गुरुदेव चुप ही रह गये। मन्युहर की यथार्थ कसोटी हुई। उसका अभिमान गल गया। वह शुद्ध कांचनरूप हो गया। उसे देख कर गुरु ने आशीर्वाद दिया और अंत में कहा कि "हे परम विवेकी शिष्य! इस संसार के मोहजाल में फँसाने वाला मुख्य स्थान काम ही है तथा काम ही सब माया की कला का निधान है। जो काम को जीतता है वही जितेन्द्रिय है। रण में महान् विजय करने वाला तथा अनेकों का संहार करने वाला विजेता नहीं, बल्कि अकेले, निराकार जिसके पास फूलों का शस्त्र है, ऐसे काम को जो पराजित करता है, वही विजेता है—उसी से तीनों लोकों को जीत कर उनके ऊपर जाने का अधिकार पाया है।"

X X X X

इतनी कथा कह कर, हिमगिरि के महात्मा ने सुविचार से कहा—"हे वत्स सुविचार! तुम भले ही संसार में जाओ! मेरी आज्ञा है कि तुम संसार में जाकर विदेह मुक्त ही भांति विचरो। संसार में उत्तम पुरुषों का नाश करने वाली परमात्मा की रची हुई माया का साक्षात् स्वरूप स्त्री है, उससे तुम्हारी रक्षा करने का सामर्थ्य, जो ज्ञान मैंने तुमको दिया है। उसका नित्य मनन और निदिध्यासन करने से ही प्राप्त होगा। प्रिय वत्सो! तुम संसार में रह कर गृहस्थाश्रम सुखरूप चलाने से डरते हो, ऐसा मालूम होता है। उसमें 'मनुष्य को नीच मार्ग में ले जाने वाले अनेक कारण हैं' ऐसा मानते हो तथा 'न इच्छा करने पर भी कुमार्ग में पड़ कर मनुष्य पाप करता है तो उसमें इसको ऐसे बलात्कार से कौन ले जाता होगा,' ऐसा प्रश्न किया है; तथा जानना चाहा है कि 'क्या एकाद मुख्य ऐसा कारण नहीं है कि जिसका नाश करने पर सबका नाश हो जाय, अर्थात् पाप की जड़ क्या है तथा उसका निवारण करने का उपाय क्या है' सो जानने की तुम्हारी तीव्र इच्छा है। इसके लिये मैंने तुमसे अत्रि मुनि के शिष्यों का दृष्टांत दिया है, उससे तुम सहज में समझ सकोगे कि सब अनर्थों की जड़ रजोगुण का कार्यरूप काम है तथा यह काम ही रूपान्तर में क्रोध है। मनुष्य को उलटी कुप्रवृत्ति कराने वाला वृत्ति मात्र का बीज काम है। इसलिये इस काम को ही मनुष्य का शत्रु जानो, सामान्य प्राकृत अर्थ के अतिरिक्त काम का राग, अभिलाषा, इच्छा वासना इत्यादि अर्थ जानना। यह महाशत्रु है, इसलिये दुर्जय है। स्वार्थ तथा परमार्थ साधने के लिये इसे जीत कर मारे बिना छुटकारा नहीं, क्योंकि यह महा भक्ष्य कराने वाला किसी भी प्रकार के साधन से वश में न होते हुए सबको निगल जाने वाला महापापी है। इसको चाहे जिस प्रकार जीतना चाहिये और मारना चाहिये। प्राणी मात्र काम सहित ही है। विषयों का उपभोग करने के लिये काम भली

भांति जागृत होता है तथा फैलता जाता है और धीरे-धीरे मनुष्यों पर अपना अधिकार करता जाता है तथा कदापि छूट न सके ऐसा जम जाता है। यह काम अज्ञानी का वैरी है इतना ही नहीं बल्कि ज्ञानियों का भी नित्य वैरी है। उनमें भी यह प्रारब्ध वश प्रकट होता और उन्हें विषयों के फंदे में फँसाता है, ज्ञान का स्थान जो अंतःकरण है उसको यह दुष्ट काम ढक लेता है तथा ज्ञान का उदय नहीं होने देता। इन्द्रियां, मन तथा बुद्धि ये इसके अधिष्ठान हैं तथा उनके साधनद्वारा आत्मज्ञान नहीं होने देता बल्कि मोह में डाल कर भर्माता है तथा पाप में दौड़ा जाता है। इसीलिये तुम पहले इन्द्रियों को वश में रखना तथा साथ ही मन बुद्धि आदि को भी नियम में रखना, नहीं तो अकेला इन्द्रियनिग्रह व्यर्थ हो पड़ेगा। इस प्रकार सबको वश में रखकर परोक्ष ज्ञान तथा अपरोक्ष ज्ञान दोनों का नाश करने वाले इस कामरूपी शत्रु को आत्मज्ञान से जीत कर मार डालना। आत्मज्ञान बुद्धि से भी परे है। इसलिये इस सर्वभासक आत्मा का आश्रय कर अर्थात् यह सब आत्ममय है ऐसा अपरोक्ष साक्षात्कार करके काम को जीतना, यह मनुष्य का कर्तव्य है—ऐसे बुद्धि के निर्वाहक—भासक आत्मा द्वारा काम के स्थान अंतःकरण को स्थिर करके चंचलता से मुक्त करोगे तो काम को जीतोगे। इस प्रकार वर्तोगे तो तुम्हारे गृहस्थाश्रम में किसी प्रकार का भी विघ्न नहीं होगा तथा तुमको बलात्कार से कोई भी पाप कराने में प्रवृत्त न होगा। तुम्हारा सदा कल्याण हो।"

इतना उपदेश करके मुनि मौन धर रहे और उन्होंने समाधि में बैठने की इच्छा दर्शायी तब योगिराज को प्रणाम करके सुविचार अपनी पत्नी छद्मलिंग के साथ अपने आश्रम में गया तथा गुरुदेव के निजबोध का दंपती मनन करने लगे।

टिप्पणी—कोटानिवासी साधु रामचरणदास मेरे घर भिक्षा के लिये एक बार पधारे थे। उनको यह पुस्तक भेट देते तथा तृतीयबिन्दु पढ़ते समय उन्होंने प्रश्न किया कि "काम जीता तो जगत् कैसे जीता?" मैने उत्तर दिया कि "काम ही से सब उपाधियों का जन्म होता है, इससे जो काम जो जीता तो षड् अरि भी जीत लिये। बल्कि काम को वश न होने से नयी-नयी वासनाओं का—स्नेह—स्वार्थ—मेरा तेरा—असत्य—अप्रामाणिकपन—

मोह—क्लेश आदि का भी जन्म होता है, इसीलिये जो पुरुष काम का पराजय करता है तथा जीतता है वह सारे जगत् को जीतने और तरने को समर्थ होता हैं। दूसरे, काम का विजय करने वाले को इस संसार की सब वासनायें बाधा नहीं कर सकती।" रामचरणदास ने कहा कि "यह कथन सत्य है। पर काम को जीतने से इसकी अपेक्षा विशेष परमार्थ साधन साधता है, इसीलिये काम जीतने को प्रत्येक शास्त्रकार का उपदेश है। वीर्यनिरोधपूर्वक जो लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उनकी अनेक लोकों में कीर्ति होती है तथा वीर्य के निरोध से ऊर्ध्वरेता या ब्रह्मचर्यनिष्ठ रहने से तथा आठ प्रकार का

मैथुन त्याग करने से वे पूर्ण योगी बनते हैं तथा आकाशगमन का सामर्थ्य प्राप्त कर सकते हैं तथा उनको अणिमादि आठ प्रकार की सिद्धियां (अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्ट सिद्धयः ॥) भी प्राप्त होती हैं तथा उनके योग में कुछ भी कसर नहीं पड़ती। उनकी वासनायें बिल्कुल भस्म हो जाती हैं तथा वे जीव नवीन स्वरूप धारण करते हैं तथा उनके द्वारा वे तीनों लोक ही नहीं बल्कि चौदह ब्रह्माण्डों को भेद कर अर्चि मार्ग से परमात्मा में प्रवेश करने अथवा स्वरूपानुसंधान करने को शक्तिमान् होते हैं। काम को जीते हुए नैष्ठिक ब्रह्मचारी दूसरा भी उपकार करता है। वीर्यरूप गर्भधारी जीव कामासक्त पुरुष के वीर्यरूप से स्त्री के गर्भरूप में प्रवेश करके वह आप ही नया जीवन—जन्म धारण करता है। (कितने ही ऐसा भी कहते हैं, कि वह स्वयं ही नया जन्म धारण करता है।) इस नये जनम से मूल गर्भ धारण कराने वाला पुरुष नये जन्मने वाले पुरुष को (जीव को) इस संसार के अनेक भँवरों में डालता है। उस पुरुष जीव को गर्भस्थिति में, संसार में और मृत्यु के समय तथा फिर भी क्रियमाण फल भोगने के लिये अनेक प्रकार के कष्ट भोगवाता है। वीर्यरूप से स्त्री के गर्भ में प्रवेश हुए पीछे प्रारंभ में ही विष्ठा, मूत्रादि के बीच स्थिति करके इस नये जीव को अत्यन्त दुःख अनुभव करना पड़ता है। मनुष्य को मरण समय तथा नरक में पड़ने से जो दुःख भोगना पड़ता है। उससे अनेक गुणा अधिक दुःख उस जीव को गर्भकाल में होता है। योनियन्त्र द्वारा जीव का प्रवेश तथा छूटना इन दोनों ही समय में भी मरणकाल की पीड़ा से अधिक दुःख जीव को होता है तथा माता के उदर में नरकवास से भी अधिक दुःख होता है। माता का पेट मल मूत्र का स्थान है और पित्त तथा रक्त से वह गर्भ घिर जाता है, अनेक प्रकार के कफादि धातुओं से व्याप्त होता है, कृमिरूप नागपाश के बंधन में पड़ता है। माता के प्राणवायुद्वारा तथा नाड़ी रूप रज्जुओं से चलने वाला तथा वायु और अग्निजनित ताप से उत्पन्न होते हुए कष्टों को यह जीव अनुभव करता है; इस प्रकार अपरिमित दुःख ही गर्भस्थ जीव को होते हैं। केवल जातिस्मरणवाला योगी ही इस कष्ट का स्मरण रखने को समर्थ है। यह दुःख ऐसा है कि जो कहने में नहीं आता, इस कारण जो पुरुष वीर्यरक्षा करते हैं वे अनेक जन्म पाने वाले नूतन जीवों को इस अपरिमित कष्ट तथा संसार के क्लेशों से प्रथम तो बचाते हैं तथा दूसरे ब्रह्मचारी पुरुष अपने शरीर में रहे हुए वीर्य और उसमें रहे हुए अनेक जीवों को अपने में समवा कर उनका भी अपने योगबल से ही अपने साथ कल्याण करते हैं। यह केवल परार्थ है। काम को जीतने वाले पराये के लिये ही संकट सहन करते हैं—इस लिये जो काम जो जीतते हैं, वे सारे विश्व को जीतते हैं तथा इसी लिये परम तत्त्व प्राप्त करने वाले योगी, संत तथा महात्माओं ने कहा है कि काम जो जीतने वाला अपने कल्याण के साथ दूसरे अनेकों का भी कल्याण करने वाला है तथा काम को वश करने वालों की कीर्ति ब्रह्मलोक में भी गायी जाती है तथा जहां कीर्ति गायी जाय वहां उसे प्रथम स्थान मिले। इसीलिये जो काम को जीतता है वह चाहे स्त्री हो या पुरुष वह सर्वत्र प्रबल प्रतापी गिना जाता है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी का परार्थ तथा परमार्थ (दूसरे के लाभ के लिये ही अपने किसी लाभ के बिना स्वयं कष्ट भोगना तथा उपकार करना यह परार्थ है और परम अर्थात्

बड़े लाभ की आशा से कष्ठ सहन कर किसी का हित करना यह परमार्थ है।) कामनारहित है। इतना ही नहीं, परन्तु वह कामेच्छा की तृप्ति के सुख का भोग स्वदेह में उत्पन्न हुए स्वबन्धुरूप जीव के कल्याणार्थ सदा के लिये छोड़, आनन्द से कष्ट को स्वीकार करता है। मतलब कि गर्भकारक पुरुष के वीर्यद्वारा योनियन्त्र में जो नूतन जीव प्रवेश करता है उसको गर्भस्थान के कष्ट और क्लेश से सुरक्षित रखने के लिये व्यावहारिक आनन्द का त्याग कर प्रेम से कष्ट सहन करता है तथा अपने आनन्द के (यह आनन्द है तो स्वल्पकालीन पर आनन्द सच्चा है,) त्याग से वह नये जीवों का कल्याण करने वाला है, वीर्यद्वारा प्रवेश किया हुआ गर्भस्थित जीव प्रथम रात्रि में शुक्रशोणित मिश्र है, सातवी रात्रि को वह बुदबुदे के आकार का होता है, पन्द्रहवीं रात को पित्ताकार तथा एक मासं में गांठ के आकार का होता है, दूसरे महीने में मस्तक बनता है। तीसरे महीने हाथ, पांव, चौथे मास में अंगुलियां, पेट और कटि, पांचवे महीने में रीड की हड्डीयों का मेरुदण्ड बनता है, छठवें महीने मुंह, नाक, कान और आंखे बनती हैं। यहां तक गर्भस्थित जीव सर्व दुःखकर अज्ञानरूप मुर्छा में रहता है। माता की क्षुधा पिपासा जनित तथा शरीर के असामर्थ्यजनित अनेक कष्ट और क्लेश वह आप अनुभव करता है। सातवें महीने में जीव का संयोग प्रत्यक्ष हुआ हो ऐसा मालूम होता है तथा आठवें महीने में सर्वांग पूर्ण बनता है। नवमें महीने में संपूर्ण ज्ञानहेतुक पूर्वजन्म का स्मरण होता है तब जरायुरूप वस्त्र को भेद के मंडूल की तरह पेट के अन्धकार में जहां तहां चलता फिरता है, कुदका मारता है, पीठ और गर्दन को कुण्डलाकार कर, हाथ पैर संकुचित करके कुक्षिस्थान में मस्तक लगाता गर्भस्थान का परित्याग करता-करता, हाथ, पैर और सारे शरीर से माता के पेट को भेदना–फाड़ने का उद्योगी बन गर्भस्थ जीव, कभी माता के कुक्षिभाग में, कभी बन्दर की तरह हृदय में और कभी अपने छूटने के लिये योनियन्त्र के बीच तड़फाड़ता है, मस्तक नीचे लटकाता है और अनेक प्रकार के क्लेश भोगता है, अन्त में सर्प के पकडे हुए मेढ़क की तरह अत्यंत व्याकुल होता है तथा अन्त में जैसे सर्पमुख रूप यन्त्रग्ने से वह मेढ़क छूट कर सुरक्षित होता है, वैसे ही वायु से प्रेरित किया हुआ वह बाहर निकलता है तब ही बड़े कष्ट से एक बार नूतन जीव बचता है! उसको खाने के लिये विष्ठा और पीने के लिये मूत्र है तथा छूटने का मार्ग बड़ा दुःखदायी है। यह जन्मदुःख तथा फिर जन्म लेकर संसार में क्लेश, शोक कष्टरूपी हजारों धारवाले चक्र में से जीव को कभी भी वीर्य को स्खलित न होने देने वाला नैष्ठिक ब्रह्मचारी बचाता है तथा काम को जीतने वाला ब्रह्मचारी गर्भधारी पुरुष की रक्षा करता है इतना ही नहीं बल्कि अपने साथ ही तारता है। इसीलिये ही काम को जीतने वाला परम श्रेष्ठ है तथा जिसने काम जीता उसने जगत् जीता–यह बात सत्य सिद्ध होती है।

ॐ

तृतीय बिन्दु

धर्म ही धर्म का रक्षण करता है

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ मनु, 8। 15

अर्थः—धर्म का त्याग करने से वह अपना नाश करता है। धर्म का संरक्षण करने से वह अपना संग्क्षण करता है; इसलिये धर्म को नहीं त्यागना चाहिये। त्याग न किया हुआ धर्म हमारा वध न करे।

श्री भगवान सूर्य नारायण देव, क्षितिज में प्रकाश करके प्रकट होने की तैयारी में हैं, योगीन्द्र मुनि अपना आह्निक कर्म समाप्त करके बैठे हुए शिष्यों की वाट देखते हैं, आकाश निर्मल है, मंदमंद वायु बह रहा है, निर्दोष पक्षी उड़ाउड़ी कर रहे हैं, वन उपवन में काले मृग निर्भय अविच्छिन्न रीति से विचर रहे हैं, सृष्टि सौंदर्य लीला ऐसी सुन्दर फैल रही है कि चाहे जैसे अहंकारी पुरुष का अहंकार भी गल जाय और वह परमात्मा की तान में एकतार होने का प्रयत्न किये बिना न रहे।

इस समय सुविचार तथा छद्मलिंग, गुरुदेव के आश्रम में आ पहुँचे। मार्ग में आते हुए जो सौगंधिक पुष्प देखने में आये उन्हें बीनकर उनकी सुन्दर माला जो छद्मलिंग ने गुथी थी वह प्रणामपूर्वक गुरु के कंठ में पहना दी। फिर दंपति गुरु की साष्टांग दंडवत् कर उनके पास जा बैठे। थोड़ी देर को गुरु जी मौन धारण किये रहे।

ज्ञानी को भी कर्म करना चाहिए

क्षणभर परमात्मा का ध्यान धर महात्मा बोले—"हे तात सुविचार! हे वत्स छद्मलिंग! इस अपार दुःखमय संसार में रह, ज्ञान संपादन करने के पीछे भी यदि, जो जीव परमात्मा का सेवन करने से क्षणभर के लिये भी विमुख होकर उसके प्रति तिरस्कार प्रदर्शित करता है तो, वह परिणाम में हमेशा के लिये अपने श्रेय में से भ्रष्ट हो उत्तरोत्तर ऐसी अधम गति को पहुँचता है कि

वहां से फिर उसका उद्धार होने में बहुत काल व्यतीत होता है। इसलिये महात्मा पुरुष—ज्ञानी संसार में रहता हो तब तक उसको चाहिये कि ऋषियों के बनाये हुए धर्मों का बहुतेरा कष्ट उठाने पर भी अवश्य सेवन करे। इसमें लेशमात्र भी प्रमाद करने से—तिरस्कार करने से वह अतोभ्रष्ट और ततोभ्रष्ठ होकर 'धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का' ऐसी गति को प्राप्त होता है। श्रीपरमात्मा ने अपने श्रीमुख से कहा है कि—

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ गीता 3।22

(हे पार्थ! यद्यपि मुझे तीनों लोकों में कुछ कर्तव्य नहीं तथा कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त भी नहीं करनी है, तो भी मैं कर्म करता हूं।) ऐसा जो श्रीभगवान का वचन है उसमें बड़ा रहस्य है। जो ज्ञानी भी कर्म का त्यागी बने तो उसको देखकर दूसरे भी वैसा ही सीखें। इससे संसार में रहते हुए जीव सदा ही कर्म करें और वह कर्म निष्कामबुद्धि से करें। निष्काम बुद्धि से किया हुआ कर्म बंधन को नहीं प्राप्त करता। परन्तु जो सकाम कर्म करता है वह चाहे जैसा ज्ञानी हो तो भी उसके कर्म बंधन को प्राप्त करते हैं और निष्काम बुद्धि से किया हुआ कर्म सदा ज्ञानी को निर्लेप ही रखता है। इसी कारण जीव को गिराने वाला सकल कालरूप माया का राजा अहंकार है। जिस जीव के मन में अहंकार ने निवास किया हो, वह जीव अहंकारवशवर्ती स्वयं साधु बन कर कर्मों का त्याग कर देता है तथा जो संसार में अथवा संसार के समीप रहता हो, उस जीव का तो इससे अवश्य ही अशुभ होता है। इसलिये, संसारी जीव को किसी समय भी चाहे जितना ज्ञान मिलने तथा तत्त्वशास्त्र को यथार्थ रीति से जानने पर भी, जहां तक शरीर रहकर इस संसार के व्यवहारादि भोग भोगने को तैयार रहता है वहां तक ज्ञान से प्रमत्त होकर कभी कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये। कर्म का त्यागी धर्म की शर्म को भूलकर परम पद के मिलने के मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। इसलिये शास्त्र, संत, ज्ञानी, योगी, डंके की चोट कहते हैं कि संसारी जीव वर्णाश्रम धर्म की एक भी सीढ़ी को सुख में व संकट में कभी भी न चूके; बल्कि वर्णाश्रमधर्म को निश्चल मन से सेवने में दिन रात जागृत रहे। जैसे ऊंचे पर चढ़ने वाला क्षणभर की भूल से—जागृत रहने की चूक से नीचे गिर जाता है और कभी-कभी खाट पर पड़ कर अधिक दिनों तक कष्ट भोगता है, कभी-कभी मर भी जाता है; वैसे ही धर्म कर्म की एक सीढ़ी चूकने से भी उत्तम स्थान पाने वाला जीव अधोगति का अधिकारी बन जाता है।

त्यागी ब्राह्मण

प्रिय वत्सो! इस अपार संसार के दुःख से दुःखित एक ब्राह्मण था। उसने संसार का त्याग कर तत्त्वज्ञान संपादन करने के लिये किसी मुनीश्वर के पास जाकर निवास किया। कुमार्गगामी और लोकव्यवहार में फसे हुए पुरुषों के कर्त्तव्य से उसका मन अत्यन्त उदास हो रहा था। उसे थोड़े से ज्ञान का भी चसका लगा हुआ था, इससे वह संसार को असार और दुःखरूप मानता था। उसके मन में निश्चय हो गया कि जो इस निःसार संसार में से पार होने का उपाय नहीं करते वे सदा के लिये आवर्जन, विसर्जन—जन्म मरण के रोगी रहते हैं। अनेक सत्पुरुषों के समागम से उसकी भावनाएं सुधरती जाती थी, पर दृढ़ नहीं हुई थीं, वैराग्य की सात भूमिकाओं में से केवल चार भूमिका तक वह सुख रूप चढ़ गया था। उसकी व्यावहारिक वृत्तियां मंद हो गयी थीं और पूजन अर्चन ध्यानादि कर्मों में वह पूर्ण बन गया था। भगवान की सेवा करने में वह सदा तत्पर रहता था। वह अत्यन्त प्रेमासक्ति से भगवत्प्रार्थना करते समय गद्गद हो जाता था। जब वह एकाग्र होकर ध्यान धरता था तब उसकी सब इन्द्रियां संयम में रहती थीं। संसार के सब रंगों का वह त्यागी हो गया था और सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वात्मा, परमात्मा का शुद्ध संस्कारी भावना से सेवन करता था। भक्तिज्ञान में उसे ऐसी सुंदर चोट लगी थी कि वह सदा काल परमात्मा की सेवा में ही अपना कल्याण मानता था।

जगत् की रचना

ऐसी स्थिति को प्राप्त हुआ ब्राह्मण सद्गुरु के शरण जाकर तत्त्वज्ञान प्राप्त करने को रहने लगा। प्रथम वह पूर्ण भक्ति से सद्गुरु के चरणों का सेवन करता तथा प्रसंग पड़ने पर गुरुदेव उसे तत्त्वज्ञान का उपदेश करते थे। गुरु कहते कि इस दुखःरूप संसार से पार करने वाला और कोई नहीं, केवल परमपुरुष, परमानंदरूप, परम प्रतापी, अविनाशी परमात्मा ही है। उसके दर्शन सेवन से ही स्वात्मस्वरूप का ज्ञान होता है। इसलिये जीव उसी पुरुषोत्तम का सुख में, दुःख में, जागृत तथा स्वप्न में ध्यान रखा करे, उसका सेवन निष्काम होकर विषयों को त्याग कर करना चाहिये। हे शिष्य! हे तात! यह जगत् पहले एक आत्मरूप ही था। परमात्मा की इच्छा (माया) से यह संसार रच गया है। जैसे अग्नि एक है, पर उसमें से अनेक चिनगारी उत्पन्न होकर अनेक अग्नि दिखायी पड़ती हैं, वैसे ही परमात्मा के एक अशं में से इस सारे जगत् का विस्तार हुआ है और वह अनेक रूप का मामूल होता है; पर

वास्तव में है तो एक का एक ही। सर्वत्र अद्वितीय ही है। द्वैत का तो भास ही है, भ्रम ही है। परमात्मा की इच्छानुसार विवेकसंपन्न जीव की उत्पत्ति की गयी है। इस जीव के स्थूल स्वरूप में परमात्मा की इच्छा से अग्नि ने वाणी रूप से मुख में, वायु ने नासिका में, सूर्य ने चक्षु में, दिशाएं ने श्रोत्र में तथा औषधि और वनस्पतियों ने रोम में और त्वचा में प्रवेश किया है। मनुष्य का मन चंद्रमा है, मृत्यु गुदा इन्द्रिय तथा नाभि है, प्रजापति उपस्थ इन्द्रिय है, और हृदय में परमेश्वर का वास है। उस परमात्मा ने जीव के भोगने के लिये अनेक पदार्थ निर्माण किये हैं। तथा वे वे पदार्थ परमात्मा के निर्माण किये हुए इन्द्रियों द्वारा जीव भोगता है तथापि यह जीव केवल साक्षीभूत ही है। पर यह भूल कर माया के कल्पित जगत को मनुष्य प्राणी सच मानता है यह उसकी अविद्या का आवरण पटल है। वस्तुतः यह जगत् है ही नहीं, सर्वत्र ब्रह्म ही है। ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं; जो जीव ब्रह्म के इस सत्य रूप को देख नहीं सकता, वह अज्ञानरूपी अंधकार से माया में लुब्ध होकर 'मैंने किया मैंने किया' ऐसा मान कर मोह ममता में पड़ जाता है तथा चौरासी की (रहँट) में चक्कर खाया करता है। जिस परमात्मा ने सब कुछ रचा है, जो सबका स्वामी है उस परमात्मा की आज्ञा है कि मेरे सत्य स्वरूप को जो जानेगा, वह विषय से मुक्त रहेगा तथा वह जीव मेरे प्रेम का पात्र है। मैं और वह एक ही हैं, ऐसा जो मानता है उसका शीघ्र ही मेरे स्थान में विलय होता है। पर माया के पाश में बँधा हुआ यह जीव परमात्मा की आज्ञा भूलकर विषय का दास बन बहिर्मुख हो नीचे ही गिरता जाता है। माता के गर्भ में बीज रूप से स्थित जीव परमात्मा के स्वरूप को जैसे जानता है वैसे माया के वातावरण से वेष्टित जीव गर्भ में से बाहर निकलने के पीछे उसकी अल्प महिमा को भी नहीं जान सकता। कारण कि जिस आत्मज्ञान के सामर्थ्य से माया का बंधन तोड़ने को वह जीव जैसा गर्भ में समर्थ था और वहां रहने से जो आत्मज्ञान धारण कर सकता था, उसी आत्मज्ञान का—जगत के मायारूपी वातावरण का स्पर्श होते ही लोप हो जाता है तथा उस माया के संयोग से वह अपना नित्य शुद्ध अपरिमित ज्ञान भूल जाता है। गर्भस्थ जीव को ज्ञान है, कि वह केवल परमात्मा का अंशी आत्मा है, पर संसार की हवा लगते ही वह आत्मस्वरूप को भूल जाता है तथा जगत् में प्रवेश करते ही 'ऊं हां ऊं हां' 'तू हां तू हां' अर्थात् मैं तो यहां आ गया और तू वहीं रहा, अब मेरा तुझसे क्या संबंध, ऐसी विपरीत बुद्धि होकर विपरीत गति और लौकिक प्रीति में फँस जाता है। धीरे-धीरे वह जीव मैं सुखी मैं दुःखी, यह मेरी स्त्री, यह मेरा पुत्र, यह धन, यह मान, यह मेरा यह तेरा, मैं बड़ा , तू छोटा ऐसा मानता हुआ अंहकार में लिपट जाता है। ऐसे सोपाधिक को सत्य और शुद्ध मान कर निरुपाधिक स्वस्वरूप

का उसको ज्ञान न रहने से माया के जाल में फँस जाता है। प्रिय वत्स! जिस जीव में इस संसार के अहंकार की वासना का वायु संचार कर रहा है, वह जीव अपने निर्मल वासनारहित निरुपाधिक स्वरूप को भूल जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं। फिर शनैः-शनैः उसकी पूर्व की प्रज्ञा, मेधा, दृष्टि, धैर्य, मति, मनीषा, स्मृति, निश्चय इन सबका नाश हो जाता है। तथा जैसे-जैसे उसका नाश होता जाता है वैसे ही वैसे वह माया की फांसी में अधिकाधिक जकड़ता जाता है। इस माया को मार, उसके ऊपर जो लात मारता है वही जीव संसार के बंधन में से मुक्त होकर परम धाम का अधिकारी बनता है। माया का मारने वाला निर्वासनामय स्थिति को प्राप्त होता है। कामना संकल्प—भावनारहित निर्वासनामय स्थिति को प्राप्त करना यही मोक्ष है।'

आत्मा-परमात्मा का स्वरूप

संसार में रहने वाले जीवों को मोक्षमार्ग में अवरोध करने वाली दुष्ट माया है। माया अनेक प्रकार के क्लेश देने वाली है, यह माया आत्मा के तीनों स्वरूपों को भुला देती है। आत्मा तीन प्रकार का है। 1. बाह्यात्मा, 2. अन्तरात्मा, 3. परमात्मा। दश इन्द्रियोंवाला, त्वचा, रक्त, मांस, नाड़ी, अस्थि, मेद, मज्जा और वीर्यादिक से भरा हुआ जो यह स्थूल स्वरूप है, जो जन्मता है, स्थित होकर सांसारिक व्यवहार करता है और मरता है, जो बालक युवा और वृद्ध के समान प्रतीत होता है, जो सुख, दुःख, आंनद, उत्साह, मेरा तेरा ऐसे जुदी-जुदी कलाओं को भोगता है वह बाह्यात्मा है, शुभाशुभ कर्म का कर्त्ता और उसके सुख दुःख का भोक्ता, सत्य तथा असत्य का विचार करने की शक्ति रखने वाला, भला बुरा, पाप पुण्य, कर्तव्य अकर्तव्य, नीति अनीति, जगत् ईश्वर है, मैं कौन हूं, कहां से अया हूं, क्यों आया हूं इन सबका विचार कराने वाला जो आत्मा है वह अन्तरात्मा है। चिदात्मा सजीव है। वह चिदाभास रूपी आत्मा, दश इन्द्रियां, पांच प्राण और चार अन्तःकरणों के धर्मों के साथ एकता को प्राप्त है। यह चिदात्मा शुद्ध, अविनाशी और चैतन्य है। यही परमात्मा है। वह प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा चिंतन करने से अनुभव में आता है। यह परमात्मा अत्यन्त सूक्ष्म है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है और उससे भी सुक्ष्म है। वह दृश्य पदार्थों की भांति प्रत्यक्ष नहीं जान पड़ता। जो परमात्मा किसी वस्तु के साथ उसकी तुलना की जाय ऐसा परोक्ष भी नहीं, वह इस प्रकार का है' ऐसा प्रत्यक्ष भी नहीं और अनुमान का विषय भी नहीं, वैसे ही ' वह इतना उतना' भी नहीं कहा जा सकता, यही परमात्मा का स्वरूप है। उसका जन्म नहीं, जरा नहीं, मृत्यु नहीं। वह सूखता नहीं, भिदता नहीं, छिदता नहीं। वह गुणरहित है और वैसे ही सगुण भी

है। वह आद्य द्रष्टा है, अनादिसिद्ध है, स्वाभाविक मलरहित है, निरवयव है, देश, काल तथा वस्तु के परिच्छेद से रहित है, सजातीय विजातीय तथा स्वगत भेद से रहित है, अहंकार से रहित है तथा इंद्रियरहित होकर भी सब कुछ कर सकता है। यह परमात्मा सर्वव्यापी, अचिन्त्य, अवर्ण्य, निष्क्रिय, सदा पवित्र तथा संस्कार रहित है। यह सर्वव्यापी है और ज्यों का त्यों है। घटता बढ़ता नहीं और सबका प्रियतम है। इसी से सबको प्यारा लगता है। यह कहीं से आता जाता नहीं। यह न खाली है, न भरा है। यह पूर्ण है, यह भी पूर्ण है, पूर्ण में से पूर्ण बाहर निकलता है तब भी यह पूर्ण ही रहता है, कम नहीं होता, पूर्ण में पूर्ण मिला देने से भी पूर्ण ही रहता है, घटता नहीं। और एक ही है, उससे बड़ा कोई नहीं और न कोई उसके बराबर है। न कोई उससे छोटा है क्योंकि वह अद्वितीय है, सत्-चित् आनन्द है। यह पद क्षर-अक्षर के ऊपर है, यह पुरुषोत्तम है, वहां 'मैं' 'तू' नहीं, किसी प्रकार की बाधा नहीं, किसी प्रकार का भय नहीं, जो जीव बाह्यात्मा को तथा अन्तरात्मा को भूल कर, केवल शुद्धात्मा-चिदात्मा-परमात्मा को पहचानने में प्रयत्नशील है तथा उसमें विजय पाता है, वही जीव संसार के निःसार दुःखरूप माया के पार होने में समर्थ है। लेकिन संसारी माया भले भलों को भुला देती है, ऐसी सबल है। उसकी मोहिनी शक्ति ऐसी मोहने वाली है कि देव, मानव तथा मनुष्य सब उसमें भूल कर भ्रष्ट हो गये हैं।

माया की शक्ति

इस माया ने ही जो तीन काल में भी 'है नहीं' उसको 'है' ऐसा मनवाया है। जो असत्य है उसको सत्य मनाया है, जो विनाशी है, जो गंधर्वनगर की तरह है उसको अविनाशी दर्शाया है। इस माया ने अति स्थूल से रजःकण तक सब में अनेक प्रकार की 'सत्य' की भावना उत्पन्न कर दी है। जो जीव उसका पृथक्करण नहीं कर सकता, वह इस माया के पाश में ऐसा जकड़ जाता है कि वह परिणाम में विवेकरहित होकर अपनी सामर्थ्य, पराक्रम, प्रताप और प्रज्ञा से रहित हो जाता है, जैसे अग्नि में स्वाभाविक गुण दाहक शक्ति (जलाने) का है तथा वह जैसे प्रबल है, वैसे ही माया की प्रबल शक्ति मोहपाश में फँसाने में बड़ी शक्तिमान् है। परन्तु अग्नि में जैसे दूसरी शक्ति प्रकाश करने की है वैसे ही माया में भी आत्मज्ञान का मार्ग बताने की अद्भुत शक्ति है। अग्नि में प्रकाश करने की जो शक्ति है, वह उसका शुद्ध स्वरूप है। दाह करने की केवल शक्ति मात्र है, पर जो पुरुष अग्नि की प्रकाशक शक्ति का यथार्थ शुद्ध रूप जान सकता है वह जैसे अग्नि से परम लाभ पाता है और उसके द्वारा अनेक कार्य सिद्ध कर सकता है, वैसे ही जो माया और उसके विशुद्ध रूप को देखकर उसका विजय करता है, वह जगत

के निःसारपने को जान, सबसे दूर हो त्यागी बन जाता है और असार से शीघ्र तर जाता है। जैसे अग्नि की दाहक शक्ति का जो जीव आश्रय लेता है वह जल कर भस्म हो जाता है, वैसे ही ही माया की प्रापंचिक छाया में जो जीव जा पड़ता है उसकी भी वैसी ही गति होती है। वह परमात्मा के स्वरूप को भूल कर बाह्यात्मा का दास बन जाता है। ईश्वर ने जिसे बाधक माना है ऐसे प्रपंच में लिप्त हो जाता है और वह इस सांसारिक प्रपंच को सत्य मानकर, उसमें लवलीन हो, आत्मा के स्वरूप को भूल कर, आत्महत्यारा बन जाता है। इससे इस जीव का तरणोपाय-मोक्ष का मार्ग-परब्रह्मधाम की प्राप्ति अच्युत धाम में प्रवेश की कूंची-स्वरूप को पहचान कर परमात्मा के स्वरूप में विलीनता बिना और कोई नहीं। जब जीव की सब वासना भस्म हो जाती है, अहंभाव का नाश हो जाता है, केवल द्रष्टा बन कर रहता है, साक्षीरूप बन कर संसार को जलकमलवत् भोगता हुआ कृष्णार्पण, शिवार्पण कर्म किया करता है तब वह जीव परमात्मा के शुद्ध, नित्य, अविनाशी, अचिन्त्य स्वरूप को जान कर कालान्तर में अच्युत पद को प्राप्त हो, अच्युत स्वरूप में मिल, अच्युत ही बन जाता है, अर्थात् परमात्मा का अनन्य भक्त हो, वही रूप बन, उसी में रहता है। जीव ही शिव है, जीव और शिव में बाल के सहस्रांश के बराबर भी अन्तर नहीं। बल्कि सर्वत्र अद्वितीय ही है और कुछ भी नहीं। मैं नहीं तू नहीं, संसार नहीं और विश्व भी नहीं। एक अखंड अविनाशी ब्रह्म ही है। जो कुछ दूसरा दिखायी देता है वह अज्ञान का कारण है। सर्व जीव मात्र ईश्वरांश हैं, ईश्वर में से उसकी उत्पत्ति है। ईश्वर ही में विलीनता है। इस विलीनता के प्राप्त करने की स्थिति में जहां तक जीव पूर्णतया आवे नहीं, वहां तक उसको धर्म कर्म का सेवन करना चाहिये। धर्म-कर्म-विमुख जीव अधोगति को ही प्राप्त होता है। उसका ज्ञान, जप, तप, ध्यान, दान कुछ भी काम नहीं आता। संसार में रहता हुआ जीव चाहे जैसे ज्ञान को प्राप्त हो जाय तो भी जहां तक इस अनित्य शरीर को अन्न की जरूरत है वहां तक महात्माओं के नियत किये हुए धर्म कर्म की मर्यादा का कभी लोप न करना चाहिये। धर्म ही परम बल है। इस धर्म का सेवन करने वाला ही परमात्मा के पाने का अधिकारी है, इस लिये धर्म का यत्न से सेवन करना चाहिये। धर्म का एक भी कर्म चूकने से धीरे-धीरे अनेक कर्म चूक कर वह जीव केवल भ्रष्टता को प्राप्त होता है।

मिथ्या अहं ब्रह्मास्मि!

उस महात्मा के मुख से इस प्रकार नित्य का उपदेश सुनते-सुनते गुरु के उपदेश का मर्म न समझते हुए, क्षुद्र ज्ञानी के समान 'मैं ही ब्रह्म हूं,' ऐसा विचार इस जीव के हृदय में भर गया। उसके धीरे-धीरे भगवत्पूजन, अर्चन, सेवन, ध्यान, धारण का

अभाव होता गया। उसके मन में धीरे-धीरे ऐसा अहंकार हुआ कि 'मैं तो अब पूर्ण परब्रह्म को पा गया।' बात-बात में उसको 'शिवोऽहम्, शिवोऽहम्, कृष्णोऽहम्, कृष्णोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म' का ही विचार होने लगा। किसी समय उसको संदेह होता तो उन महात्माजी से पूछ कर समाधान कर लेता। पर 'ओछा घड़ा और आधा पढ़ा' इस कहावत के अनुसार उसको दिन-दिन ज्ञान का गर्व होने लगा। यह जीव पढ़ा गुना तथा विचारवान् होने पर भी अल्प प्राणी था। कर्म करना क्यों इष्ट है, इसका उसे लेश मात्र भी ज्ञान न था। 'धर्म ही धर्म का रक्षण करता है,' इस बात का उसे ज्ञान न था। स्वयं ब्रह्म बन जाने वाला वह जीव बाहर से शुद्ध दीखता था, पर उसकी आंतर् वृत्ति जगत की लीला कला से धीरे-धीरे छनछनाहट कर रही थी। हे वत्स सुविचार! शरीर को निरोगी करने के लिये जैसे उत्तम वैद्य पहले विरेचन देकर शरीर शुद्ध करता है फिर रोग को रुकने का—निकालने का औषध देता है, फिर निर्मल करके अन्त में बलकारक शक्तिवर्धक पौष्टिक औषध देता है, उसी प्रकार जीव को परमात्मपद की प्राप्ति के चार साधन हैं। प्रथम कर्मरूपी विरेचन लेकर शरीर शुद्ध करना चाहिये। कर्म करते-करते जब उससे ऊंची स्थिति को प्राप्त हो तब भगवत्सेवन आदि उपासना करनी और उसके पीछे मानसिक पूजा अर्चा करने में प्रवृत्त होना चाहिये। यह क्रिया मानो रोग विनाश क्रिया है। रोग विनाश हुए पीछे और परमात्मा के ज्ञान के मार्ग पर चढ़े पीछे, मानसिक शक्ति दृढ़ हुए पीछे जीव को रोग से निर्मल होना चाहिये। निर्मल होने का प्रकार ज्ञान है तथा शरीर निर्मल और सुदृढ़ होने का मार्ग ज्ञानपूर्वक परमात्मा की अनन्य भक्ति है। इस स्थिति को प्राप्त हुआ जीव ही 'अहं ब्रह्मास्मि और शिवोऽहम्' बनने का भाग्यशाली गिना जाता है। पर, जो जीव क्षुद्रवासना में बहुत सहज से लिपटने वाला है, जिसका मन नहीं मारा गया, जिसके आसपास माया घूमती रहती है तथा उसकी फांसी से मुक्त होने में असमर्थ है, ऐसा जीव 'शिवोऽहम्' पद के प्राप्त होने का अनधिकारी ही है।

वह ब्राह्मण भाई तो 'शिवोऽहम्' की तान में दिन प्रतिदिन मस्त होता गया। देवपूजन, अर्चन, भगवद्भक्ति आदि उसको वृथा उपाधि लगने लगी। उसने उपासना और मानसिक क्रिया भी त्याग दी। जो स्वयं ब्रह्म उसको कर्म क्या और धर्म क्या? उसने विचार किया कि 'यह आत्मा तो केवल द्रष्टा है, कर्म को करने और कराने वाला तो कोई और ही है, बल्कि **"पुरुष एवेदं सर्वं."** विराट् पुरुषरूप सर्व जगत् है और **"असंगो ह्ययं पुरुषः"** वह पुरुष संगरहित है। जिसको संग ही नहीं उसको भय क्या? भेद क्या? मैं तो केवल बाजीगर के पुतले की तरह उसका प्रेरा हुआ प्रेरित होता हूं, मुझे कर्म के साथ क्या लेना देना है? धर्म क्या करना है?

(इंद्रियाणीद्रिंयार्थेषु इति मत्वा) इन्द्रियां इन्द्रियों के विषय भोगती हैं, इसमें मेरा क्या? मैं तो अवाक् हूं, अश्रोत्र हूं, अपाणिपाद हूं, मेरे नेत्र नहीं, मन नहीं तो फिर मुझे विषयों का मनन ही कहां से हो? ऐसी स्थिति को प्राप्त हुआ जो मैं उस मुझको कर्म की कड़ाकूट किस लिये चाहिये?'

परंतु यह मूर्ख ब्राह्मण भाई समझता नहीं था कि कर्मेन्द्रियों को प्रवृत्ति से विमुख रख कर, मन से कर्मेन्द्रियों के विषयों का स्मरण करना यह मूढ़ात्माका मिथ्याचारीपना है। अहंकार से पिंड को संपूर्ण मान कर्म का अभाव होना, यह भी एक प्रकार का मिथ्याचारीपना है। पर ब्राह्मण भाई के मन में तो यही समा गया था कि मैं ब्रह्म हू, मैं कर्त्ता हूं, विश्वव्यापी हूं, मुझे अब कुछ कर्त्तव्य शेष नहीं,' ऐसा मानकर सब कर्म त्याग कर दिये। तो भी उसका अन्नमय, मनोमय कोषों का त्याग नहीं हुआ-उसके त्याग के बिना वह मन से धीरे-धीरे अकर्मी बनता गया। अकर्मी होने से अधर्म की ओर प्रवृत्ति का विचार धसता गया। सामान्य जीव-तत्त्वप्राप्तिरहित जीव अधिकार प्राप्त होने से पूर्व वेदान्त के उत्तम विचार का रहस्य समझने के पूर्व ब्रह्म ही बन बैठे तो फिर ऐसा ही परिणाम होता है। मनुष्य को कर्म का त्याग करना यह ज्ञान नहीं है किन्तु भ्रष्ट करने वाला नास्तिकपना है। इस ब्रह्मबंधु को वेदान्त के ज्ञानामृत से भरपूर सरोवर का दर्शन भी नहीं हुआ था। उसका संसार से वैराग्य—संसार का मिथ्यापन जानने से नहीं पर-संसार के सुखभोग का अभाव होने के कारण था। क्लेश से, खटराग से था। वह सहज में बाल ब्रह्मचारी बन गया था। अभी उसके हृदय की वासनाएं नष्ट नहीं हुई थीं। इन्द्रियों से इन्द्रियों को जीतने की उसमें सामर्थ्य नहीं थी। मन से मन को वश करने की उसमें सामर्थ्य नहीं थी। मन से मन को वश करने की उसमें सामर्थ्य नहीं थी। अहंकार के द्वारा अहंकार को वश करने की सामर्थ्य का उसके स्वप्न में भी विचार नहीं उदय हुआ था, तो मनोनाश तो कहां से हो? कर्म का अभाव ही उसके भ्रष्ट होने और पतन होने की निशानी थी।

शिष्य महाराज को कर्म की कड़ाकूट पंसद नहीं और स्वयं शिवोऽहम् हो पड़ा था यह विचार गुरुदेव के लक्ष्य में आया। प्रसंगोपात्त कर्म की कितनी आवश्यकता है तथा संसार में रहता हुआ कर्मभ्रष्ट कैसे पतित होता है, श्रेय तथा प्रेय क्या है, इसके विषय में अनेक प्रकार के दृष्टान्त देकर उसका भली भांति भान कराने का गुरु ने फिर प्रयत्न किया और अन्त में कहा कि जैसे औषध के पिये बिना केवल नाममात्र से रोग नहीं जाता वैसे ही अपरोक्ष अनुभव के बिना शब्दमात्र के उच्चारण से वा 'शिवोऽहम्' 'शिवोऽहम्' के बकवाद से ज्ञान होता नहीं और न शिवरूप ही प्राप्त होता है। आत्मतत्त्व का चिंतन किये बिना और दृश्य का विषय साधे बिना

केवल ब्रह्म शब्द मात्र से ही मुक्ति मिलती होती तो हे तात! हजारों जीव मुक्ति पाकर परम धाम को प्राप्त हुए होते श्रीकृष्ण परमात्मा ने कहा है कि 'हजारों जीव मुझे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु मेरे यथार्थ स्वरूप को तो कोई एकाध ही जान सकता है।'* हे वत्स! जो 'शिवोऽहम्' बनना सुगम होता तो श्रीकृष्ण परमात्मा ऐसा वचन कहते ही नहीं। इस विषय में आमों का एक दृष्टान्त देता हूं, तू उसे ध्यानपूर्वक सुन। जैसे आम के बोने वाले, बेचने वाले और खाने वालों को जुदा-जुदा फल प्राप्त होता है तथा श्रेष्ठ फल की प्राप्ति तो खाने वाले ही को प्राप्त होती है, वैसे ही विवेकी, शमदमादिगुणसंपन्न अहंवृत्ति से रहित, मनोनाश वाला, निरिच्छ निर्वासनिक जीव ही 'शिवोऽहम्' पद का अधिकारी है। आम के बोने वाले को केवल धन का ही लाभ होता है। आम के फल का रंग रूप कैसा है यह भी जान सकता है, बेचने वाला केवल रूप रंग देख सकता है और सुगंध भी ले सकता है, पर प्रत्यक्ष स्वाद तो केवल खाने वाला ही ले सकता है; वैसे ही 'अहं ब्रह्मास्मि' 'शिवोऽहम्' का भी वही अधिकारी है, कि जिसके प्रत्येक अंग में परमात्मा का रूप व्याप्त हो रहा है, संसार का रसास्वाद विषतुल्य हो रहा है। सब अहंकार नष्ट हुआ है और विश्व में परमात्मा को ही देख रहा है। ऐसे सत्य शुद्ध स्वरूप जानने के पूर्व, प्रपंच को जीते बिना, माया को अधीन किये बिना, वासना को सत्त्वरहित किये बिना जीव के अंग में धर्म और कर्म लिपटे ही हैं; क्योंकि जहां तक अभ्यास योग से जीव की चंचल वृत्ति विराम को नहीं प्राप्त हुई वहां तक अतद्रूप बुद्धि परमेश्वर का दर्शन नहीं कर सकती, परम पुरुष के दर्शन के लिये संसारी जीव को धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध इन धर्म के अंगों का सेवन करना आवश्यक है। इन कर्मों के द्वारा चित्तशुद्धि करनी, फिर कर्मजीत् बनना तथा अन्त में समता, विचार, साधुसमागम, मनोनाश, निर्वासना का बहुत अच्छी रीति से अभ्यास कर, भोगेच्छा को त्याग कर, हृदयग्रन्थि को भेदना चाहिये। हृदयाश्रित कामना से संपूर्ण मुक्त होने वाले ही परम रूप के दर्शन के अधिकारी हैं। ऐसी स्थिति प्राप्त करने के पूर्व जीव को चाहे जैसी ज्ञानवान् स्थिति में भी कर्म करना ही योग्य है। जनक, याज्ञवल्क्य, श्रीराम, वसिष्ठ, श्रीकृष्ण ज्ञानी थे, शुद्ध थे, भेदरहित थे, फिर भी संसार में रह कर कर्म करते थे। उन्होंने धर्म और कर्म का कभी लोप नहीं किया। श्रीपरमात्मा ने अपने सखा से भी कहा है :—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥

---

* मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

'जनक जैसे विदेह मुक्त ने भी कर्म से ही सिद्धि—मोक्ष को पाया है तो हमारे समान अल्प जीव को तो कर्म की क्षण भर भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।'

इस प्रकार गुरु ने कर्म से भ्रष्ट हुए शिष्य को अनेक प्रकार से उपदेश दिया। पर उसके हृदय में कुछ भी उत्तेजना नहीं हुई। गुरु के सम्यक् बोध का उसने उलटा ही अर्थ किया। उसकी अहंकारवृत्ति विशेष प्रदीप्त होने लगी। वह विचार करने लगा कि 'गुरुजी मरते दम तक कर्मकूट में पड़े रहेंगे और मुझे भी वे वैसा ही बोध करते हैं। क्यों न करें? वे जानते हैं कि मैं कर्म छोड़ दूंगा तो मेरे समान बिना पैसे का चाकर कहां मिलेगा? अहो हो गुरुजी भी पक्के पंडित हैं और इसी से कर्म की झंझट में पड़े रहने का मुझे उपदेश किया करते हैं।' हे सुविचार! उपदेश करने पर भी जिन मनुष्यों पर उपदेश का असर नहीं होता ऐसे नरपशु मिट्टी के मटूले इन बाबाजी की तरह ही हैं। इनको बोध करो या न करो, दोनों समान ही हैं। उस शिष्य को कर्म की कड़ाकूट पर नित्य-नित्य अभाव बढ़ता गया, धर्म की शर्म नष्ट हो गयी। 'गुरु कौन और शिष्य कौन,' पाप क्या और पुण्य क्या, भजन क्या और भक्ति कैसी, जीव भी जुदा नहीं और शिव भी जुदा नहीं,' ऐसा दिन प्रतिदिन निश्चय करता गया। धीरे-धीरे धर्म की मर्यादा चूकता गया और उसका अधःपतन होने लगा। 'सोऽहम्' के मार्ग की अज्ञानता होने पर सोहम्' बन बैठा। नये-नये बीज उसके मन में उत्पन्न होने लगे। 'गुरुजी हैं तो ठीक पर बड़े कड़ाकूटी कर्मकाण्डी हैं। जो कहीं थोड़ा-सा द्रव्य मिल जाय तो गुरुदक्षिणा देकर फिर कह दूं कि अब आप चाहे जैसे कर्म किया करो,' ऐसे वह विचार करने लगा। वह प्रतिदिन अहंकार में डूबता गया। वह मुंह से 'सोऽहम्' कहता था। पर उसका हृदय विशुद्ध न था। उसने मन को वश नहीं किया था, नयी-नयी कामना करता रहता था। जो कामनावाला है वह जीव सदा देही ही है, क्योंकि जो देह को और आत्मा को जुदा-जुदा मानता है उसमें काम के बीज का मूल ही कहां से हो? संसारबंधन के नाश के लिये, परब्रह्म के उपासक जीव को काम को ही नहीं बल्कि सकल कामनाओं को भस्म करना चाहिये। मन को मारना चाहिये, चित्त को चपेट में ले, दबा कर रखना चाहिये।

एक प्रसंग पर गुरु ने उससे कहा—"हे शिष्य! आगामी कल चातुर्मास की पूर्णाहुति है। उस समय महात्मा लोग यहां पधारेंगे। उनका अर्चन पूजन करने के लिये फल फूलादिकों की आवश्यकता है। यहां से थोड़ी दूर पर पर्वत की तलहटी में सुन्दर और मधुर फूल फल विपुल हैं, उनको तू ले आ। हम जहां तक संसार की माया को भली-भांति जीतने में समर्थ हुए नहीं और

निर्वासनिक भाव को भी हमने पाया नहीं तक तक हमको धर्म पर प्रेम करके यह विधि चालू रखना चाहिये। इसमें प्रसाद करने से दोनों लोकों के बिगड़ने का भय रहता है।"

महात्मा के ये वचन सुनने ही शिष्य को अपार कष्ट हुआ और वह मन में बड़बड़ाने लगा कि 'गुरुजी के कर्म में तो अभी संध्या, पूजा और गुरुबन्धु का पूजन और अतिथि का सत्कार और संतों का समागम और उनकी सेवा और पूजा की बड़ी भारी कड़ाकूट लिपटी ही है। गुरुजी ऐसे उत्तम ज्ञानी होकर भी अभी बाह्योपचार में फँसे ही रहते हैं यह आश्चर्य है।' ऐसा विचार होने पर भी उसके मन में कुछ गुरु प्रति भक्तिभाव होने से वह गुरु को प्रणाम कर फल फूलादि लेने चला। पर्वत बहुत दूर था, इससे चलते-चलते शिष्य थक गया।, शरद ऋतु के ताप के कारण पसीने से तरबतर हो गया और थक कर एक वृक्ष के नीचे बैठ के मन में संकल्प विकल्प करने लगा कि मेरे पास थोड़ा बहुत द्रव्य का साधन होता तो गुरुजी जो मांगते उसे घर बैठे ही बैठे मँगवा देता, पर द्रव्य के न होने से आखिर मध्याह्न में मरने के लिये, निकलना पड़ा है। अरे! जगत में द्रव्य ही श्रेष्ठ है। वह मिले तो सभी सेवा पूजा हो।'

ऐसे विचार ही विचार में उस वृक्ष के नीचे से उठ कर आगे चलने लगा। चलते-चलते एक घने वन में जा पहुँचा। उस वन के मध्य में राम बिनाका एक सुन्दर आराम (बाग) उसे दिखायी दिया, आसपास कोई मनुष्य दृष्टि न पड़ने से उसने उस आराम के एक द्वार में प्रवेश किया।

अधर्म की सप्त सीढ़ियां

अधर्म की पहली सीढ़ी–परद्रव्यहरण

चौमासा तुरन्त ही समाप्त हुआ था इस कारण वन वृक्ष और वन लताएं नीली कुंज सी मालूम होती थीं। सुगंध मारते हुए सुन्दर पुष्प प्रत्येक झाड़ पर शोभायमान थे। फल फूलादि से अनेक वृक्ष लच रहे थे। पक्षी चारों ओर कल्लोल कर रहे थे। ऐसे शोभायमान बगीचे में घूमता-घूमता वह ब्राह्मण मध्यस्थल में जा पहुंचा। वहां घुमावदार एक विशाल वेदी के बीच में निकलती हुई ज्वाला उसे दिखलायी दी। उस वेदी के मध्य मण्डप में एक उत्तम कुण्ड बना हुआ था। उस कुण्ड के आसपास सुवर्ण की मुहरों से भरे हुए अनेक चरु (मटके घड़े) उसने रखे देखे। जो अभी आत्मरत हुआ नहीं, माया से मुक्त हुआ नहीं, जिसकी वासनाएं क्षीण नहीं हुई, जिसने कर्म करके उसमें दोष नहीं देखा, जिसको संसार पर तिरस्कार हुआ नहीं और वैराग्य व्यापा नहीं, तो भी जिसने संन्यासी का मार्ग

ग्रहण किया है, ऐसे उस ब्राह्मण भाई की वृत्ति उन मुहरों के देखते ही बदल गयी। वह मन में विचार करने लगा कि 'जो इसमें से थोड़ा-सा धन ले जाया जा सके तो इससे गुरुजी के कर्मकाण्ड का खटराग बहुत अच्छी रीति से पूर्ण करने में आवे। इन मुहरों का कोई स्वामी मालूम नहीं होता और न कोई इसका रक्षक ही है। इससे इनके लेने में दोष क्या है? गुरु ब्रह्म हैं, मैं ब्रह्म हूं, मुहरे भी ब्रह्म हैं, ब्रह्म की सेवा के लिये ब्रह्म ब्रह्म को ग्रहण करे, इसमें न धर्म है, न पाप है, न पुण्य है; तो फिर ये मुहरें लेने में क्या अड़चन है? ब्रह्म ब्रह्म का भले ही स्पर्श करे, मुझे तो कुछ लेना देना नहीं। यदि मैं न लेऊं तो कोई तो लेगा ही, फिर मेरे लेने में क्या बाधा है? यह विचार कर अपने पास के एक वस्त्र में जितनी उठा सका उतनी मुहरें बांध कर चलने को तैयार हुआ।

पर यहाँ एक कौतुक हुआ। पहले जब वह बाग में आया था तब तो मार्ग सीधा और सरल था। परन्तु परद्रव्य का हरण करके जब जाने को तत्पर हुआ तब उसे कोई मार्ग दिखायी नहीं दिया। बहुत कुछ टेढ़ा बांका भटकता फिरा, पर उसे सीधा मार्ग नहीं मिला, इससे निराश हो वह फिर वेदी के पास आया और देखने लगा कि 'यहां से आसपास कहीं कोई सीधा मार्ग दिखायी पड़े' यह विचार दूर दृष्टि करने लगा। इतने में इसी बाग की पूर्व दिशा में उसे एक मंदिर दिखायी दिया। इस मंदिर की ओर से मार्ग देखने के लिये कांख में वह मुहरों की पोटली दाबे हुए कोई देख न ले इस विचार से डरता, कांपता, लुकता, छिपता, दबता चोर की भांति भयभीत उस निवास स्थान (मकान) के पास आ पहुंचा। यह सात मंजिले की गगनस्पर्शी हवेली थी। इसके आसपास फिर कर देखा कि इसमें कोई मनुष्य है कि नहीं, पदरव (पैरों की आहट) भी देखा, द्वार पर कान भी लगाया की किसी की आवाज सुनायी देती है या नहीं, परन्तु एक भी शब्द उसके सुनने में नहीं आया। सर्वत्र सुनसान था। वह धीरे-धीरे पैंड़ियों पर चढ़ा। उन पैंड़ियों से मिला हुआ एक दीवानखाना था। इस दीवानखाने के बीच में एक हिंडोला हिलता था। उसके ऊपर एक लावण्यमयी तरूणी स्त्री सोती सोती झूला झूल रही थी। उसे देखते ही ब्राह्मण भाई चौंककर पीछे सीढ़ी पर से उतरा। पर उसके पैर का शब्द सुन कर, किसी मनुष्य को आया हुआ जान वह स्त्री उठकर सीढ़ी के पास आयी तथा 'नीचे कौन उतरा, ऊपर पधारो। यह मंदिर अतिथियों के सत्कार ही के लिये है' ऐसा आदरपूर्वक कहा; किन्तु परद्रव्य का हरण किया था इससे ब्राह्मण भाई तो उस स्त्री का शब्द सुनते ही हक्का बक्का हो गया और उससे निमंत्रण से बहुत ही घबड़ाया फिर मन में विचारने लगा कि 'यह द्रव्य पराया है इससे कुछ संकट

तो न आवे?' क्षणभर ठहर कर मन में सोचा कि 'हम तो वेदान्ती हैं, हमारे अपना और पराया कुछ नहीं, तो भी इस संसार के जाल में फँसे हुए मनुष्य 'मेरा मेरा' कह कर किसी जाल में फँसा दे तो यहां मेरा सहायक कौन? यदि मैं भागूं और यह स्त्री चोर चोर कह कर चिल्लाने लगे तो मेरी पूरी फजीहत होगी। पर ऊपर जाकर इससे दो शब्द कहकर इसके मन को समझाके मैं चला जाऊंगा तो कुछ हरकत न होगी।'

ऐसा विचार करके द्रव्य की पोटली बगल में दाब ऊपर वस्त्र ओढ़कर ब्राह्मण भाई ऊपर आया। आते ही उस स्त्री ने प्रणाम करके कहा—'हे ब्रह्मदेव! यहां आकर मुझे पवित्र कीजिये! इस मंदिर को पवित्र किजिये, मुझ जैसे क्षुद्र जीवों के आप सर्वस्व हैं! आपके पधारने से यह देह गेह सब पवित्र होगा। क्या यहां निर्जन देखकर आप पीछे लौटते थे? हे ब्रह्मदेव! यह दासी आपकी सेवा में तत्पर है। उसको चाहे जो आज्ञा करो। वह आपकी इच्छा पूर्ण करेगी।'

अधर्म की दूसरी सीढ़ी—परस्त्री के साथ एकान्त

संसार को असार जान मोक्ष का मार्ग प्राप्त करने की इच्छा से उसको त्याग कर वन में बसे हुए ब्रह्मदेव-संन्यासी महाराज ने अधिकार प्राप्त होने के पूर्व मुख से 'शिवोऽहम्' पद धारण करके मंगलाचरण में ही कर्म को कड़ाकूट समझ गुरुवचनों को भी खटराग माना और परधन को हाथ लगाया। ऐसे जो उत्तरोत्तर धर्म कर्म से भ्रष्ट होता गया वह उस स्त्री के नखरे, हाव, भाव, आदर वाले मधुर वचनों से लुभा कर दीवानखाने में दाखिल हुआ और एक सुन्दर आसन पर बैठा।

क्षणभर में उस ब्राह्मण के आने का कारण जान कर उस स्त्री ने कहा—"हे ब्रह्मदेव! आप कुछ भी चिन्ता मत करो। आपकी सेवा से मैं परम भाग्यवती बनूंगी। अभी मेरा आदमी आवेगा उससे मैं उत्तम फल फूल मँगवा दूँगी, उनको लेकर आप बिदा होइयेगा, पर अभी आप यही विराजिये, क्या जल्दी है? आपको तो कल फल फूलों की जरूरत होगी, इससे आज ले जाओगे तो वे कुम्हला जायँगे, बिगड़ जायँगे।"

ब्राह्मण की इच्छा तो जैसे बने वैसे गठड़ी ले चले जाने की थी, परन्तु उस स्त्री का मोहक रूप, चित्तवेधक शब्द, संपूर्ण रीति से विनय देखकर वह मुग्ध ही हो गया तथा विकारी दृष्टि से स्त्री के सामने देखने लगा। इस समय वह स्त्री एक पंखा ले श्रमित हुए ब्राह्मण पर दूर से पवन हांक रही थी। अभी ब्राह्मण ठीक भ्रष्ट नहीं हुआ था, इससे उसके मन में विचार हुआ कि 'एकान्त हो और सुन्दर हो, यदि वह कुरूप हो तो भी अधिक समय तक उसके पास बैठना ठीक नहीं, ऐसा ही गुरुजी की आज्ञा

है। इससे मैं उठ जाउं तो ठीक,' पर उस स्त्री का हाव-भाव देखकर और नुपुर की झनकार सुनकर वह उठ नहीं सका। सद्बुद्धि उठने की आज्ञा करने लगी, उसी समय असद्बुद्धि रोकने लगी कि 'क्या थोड़ी देर बैठने से भ्रष्ट हो जायेगा।' ऐसा मन में संकल्प विकल्प हो रहा था। प्रतिक्षण, असद्बुद्धि का जोर बढ़ने लगा, क्योंकि उसको स्थान मिल गया था। उसने मन में कहा कि 'यह कुछ एकांत नहीं, इसका मनुष्य अभी आ पहुँचेगा—उतनी देर तक बैठने में तो कुछ भी अड़चन नहीं। एकान्त में बैठने से कोई भारी पाप नहीं होता, एक दिन उपवास किया, बस प्रायश्चित्त!'

मन्द-मन्द मधुर-मधुर पवन आता है, खनखनाहट करते हुए कंकणवाले हाथ से स्त्री पंखा हीला रही है, ब्राह्मण भाई उसके मुखचन्द्र को देख रहा है, क्षण-क्षण में उसकी साड़ी का अंचल उठने से नाभि तथा उसके दूसरे शरीर के भागों पर ब्राह्मण भाई की दृष्टि पड़ती है। वह स्त्री ब्राह्मण की दृष्टि पड़ते ही मिथ्या लज्जा दर्शाती है, पर उसकी भृकुटि की कमान में से स र र करते हुए भ्रूकुटिबाण (कामबाण) छूटते हैं। उससे ब्राह्मण मोहवश होकर भान भूलता जाता है और धीरे-धीरे इन्द्रियों के अधीन होता जाता है। गुरु और शास्त्र के वचन भूलता जाता है। ऐसे धर्म अधर्म का ज्ञान नाश होने पर मन में विचार करता है कि परमात्मा के रचे हुए सब पदार्थ भोगने ही के लिये हैं। इनके भोगने से न पाप है न पुण्य है। आत्मा को निर्लेप है। इन्द्रियां अपने-अपने विषयों में प्रवर्तें उसमें आत्मा को क्या लेना देना! जो आत्मनिष्ठ है उसको पाप पुण्य कुछ बाधा नहीं करता और आत्मा का सुख भोगों के साथ कुछ भी लेना देना नहीं। भले ही इन्द्रियां इन्द्रियों का सुख भोग भोगें।'

ऐसा विचार होते ही आसुरी असदबुद्धि का सब जोर रग-रग में व्याप्त हो गया। ब्राह्मण भाई तो एकदम गुरुवचनों को भूल कर खड़ा हो गया और उस स्त्री का हाथ पकड़ कर बोला—

"आप यह श्रम किस लिये उठाती हो? इस हिंडोले पर बैठो।"

उस स्त्री ने हां-हां करते हुए हाथ छुड़ाने का सहज प्रयत्न किया और बोली—"यह क्या? आप तो पूर्ण ज्ञानी हैं, सो पर स्त्री का स्पर्श कैसे किया? आप मेरे अतिथि हैं, मैं आपकी पूजा अर्चना करने को पात्र हूं, मुझे आपका सत्कार करना चाहिये। पर आप अधर्म का मार्ग क्यों ग्रहण करते हैं? आपको तो मुझे धर्म का उपदेश करना चाहिये पर आप अधर्म की सीढ़ी पर चढ़ते हैं, ये आपको योग्य नहीं, पर स्त्री व परधन के लिये आप जैसे तपस्वी मुनि महात्मा को मोह हुआ तब हम जैसे अल्प प्राणी की तो गति ही क्या?

धर्मशास्त्र का वचन है कि स्त्री मात्र ही नरक में डालने वाली है, तिसपर भी मैं सर्व जन की धिक्कारमात्र वेश्या हूं, फिर शुद्र जाति की हूं, फिर राजस्वला हूं, उसका स्पर्श करना यह तो नरक में पड़ने की पहली सीढ़ी है! महाराज! आप मेरा हाथ छोड़ो और स्वधर्म में स्थित हो विवेक से बर्तो! जो मैं रजस्वला न होती तो आपका अभी पूजन करके बिदा कर देती। अब तो आप अपवित्र हुए हो इसलिये स्नान करके शुद्ध होइये! इतने में मेरा मनुष्य आवेगा वह आपका आगत स्वागत करेगा। आपका जो मेरे लिये मोह हुआ है उसके लिये मन में से कुबुद्धि निकाल अपने धर्म का यथार्थ पालन करो।"

उस स्त्री के ऐसे बोधक वचन सुनने पर भी जिसके हृदय में से विषयवासना नष्ट नहीं हुई थी और जो इन्द्रियों का दास था, जिसने पूर्व परका विचार किये बिना कर्म का त्याग किया है, उसके हृदय की विषयवासना जैसी की वैसी ही प्रबल रही। विषयों का बल जिसकी रग-रग में व्याप गया है, जिसकी इन्द्रियां अत्यन्त बलवान हैं, जिनकी कामनारूपी घोड़ी उन्मत्तता से क्षणक्षण दौड़ती रहती हैं, ऐसे ब्राह्मण भाई के हृदय में मोह ने ऐसा दृढ़ निवास किया था कि वह विषयजाल में भली-भांति फँस गया। जिस चित्त को अर्ध विवेक प्राप्त हुआ है और जिसने अमरपद का सरल मार्ग देखा भी नहीं उसको विषयासक्ति का त्याग करते बहुत-बहुत परिताप होता है, थोड़े समय तक तो वह विषय से दूर रहता है और दूर रहने का प्रयत्न करता है सही पर भोग्य वस्तु प्राप्त होते ही, उनका साथ होते ही उसकी मृतवत् मालूम होती हुई वासना इतने जोर से उछल कर बाहर निकल पड़ती है, कि उसका विवेक, विचार, ज्ञान जैसे पवन के सपाटे में आक की रुई उड़ कर देखते-देखते अदृश्य हो जाती है वैसी ही अर्ध ज्ञानी की स्थिति हो जाती है। इस लोक के जीव को दुःखरूप संग है। संग से कामेच्छा होती है और काम जीव की सब सद्बुद्धि का नाश करता है। इस ब्रह्म बंधु की भी इस समय यही दशा हो गयी थी।

उस स्त्री के धर्मवाले वचन सुनने पर जैसे गर्म लोहे पर जल की बूंद क्षणभर भी नहीं ठहर सकती वैसे ही उस ब्राह्मण की दैवी बुद्धि क्षणभर भी नहीं ठहर सकी। मूढ़ हुए मनुष्य की तरह जो स्त्री उसके चरणकमल सेवन में तत्पर थी उसी स्त्री के पैरों पकड़कर अति दीनवाणी से वह ब्राह्मण बोला—"हे देवी, हे सुंदरी! हे मोहिनी! इस जलते बलते जीव को अपने अंगसंग का सुख देकर शान्त करो! मैं तुम्हारा बिना मोल का लिया दास हूं, जो तुम मेरा अनादर करोगी तो तुम जिसको अतिथि मानती हो, फिर ब्राह्मण और तपस्वी, उसके प्राण क्षण में चले जायँगे, तुमको ब्रह्महत्या लगेगी और महापातक लगेगा! तुम मेरे प्राण की रक्षा करो!"

ब्राह्मण की नीतिरहित वाणी सुन कर वह वेश्या को छद्मवेष में ब्राह्मण को छलने के लिये तत्काल कटिबद्ध हो रही थी, उसने भी कामाधीन हो जाना जतलाया। "ब्रह्महत्या, यह महापातक है! पर हे ब्रह्मदेव! परस्त्री गमन उससे भी भारी पाप है ऐसा शास्त्र कहता है।" यह कटाक्ष किया।

तब ब्राह्मण भाई बोला–"ये तो शास्त्र के गपोड़े हैं।"

उस छद्मा (छलिनी) ने कहा–"तब ब्रह्महत्या का पातक भी शास्त्र का गपोड़ा ही है! पर होगा, इस शास्त्र वास्त्र का हमारे क्या काम है? अतिथिका सत्कार करना यह हमारा धर्म है।" ऐसा कह कर हँसते हुए मुख से उस ब्राह्मण का हाथ पकड़ कर अपने साथ हिंड़ोले पर बैठाला, दोनों जने एक दूसरे के गले में बांह डालकर बैठे तथा जिस मुख से श्रीभगवान का चरणामृतपान करता था उस मुख से शूद्र जाति की वेश्या तथा रजस्वला के अधरामृत का पान वह करने लगा।

अन्योन्य एक दूसरे के अंग पर हाथ रखकर बैठे हैं। ब्राह्मण आतुर हो गया है, उसे लेशमात्र भी धर्म अधर्म का विचार नहीं रहा, उस मृगनयनी के केशकलाप को पकड़ कर अपनी ओर लाने का प्रयत्न करता है तथा हक्का-बक्का बन पशुवत् क्रीड़ा कर रहा है। यह देख कर वेश्या बोली "महाराज! आप कुछ तो विवेक रखिये, तपस्वियों का यह धर्म नहीं, यह तो क्षुद्र प्राणियों की रीति है।"

वनवासी ब्राह्मण ने कहा–"हे सुन्दरी! इस जलते हुए को जलाओ मत तथा मरते हुए को मारो मत, मैं तो आपका दास हूं, इस मरते हुए जीव को अपने अधरामृत का पान कराकर अमर करो! आप जो जो आज्ञा करोगी उसके पालने को यह दास तत्पर है।"

वह स्त्री बोली–"महाराज्! धीर धरो! रति विलास रमण करने में उसकी सब सामग्री पास न हो तो आनंद ही नहीं मिलता। इस समय जो एक मद्य का प्याला पी लिया जाय तो फिर पीछे रंग जमे!"

अधर्म की तीसरी सीढ़ी–मद्य मांस का सेवन

तुरन्त ही उस स्त्री ने उस ब्राह्मण को सुवर्ण का प्याला देकर कहा–"हे ब्रह्मदेव! जो आपकी इच्छा हो तो इस पास की दूकान पर पधारो। उस आदमी से मेरा नाम लेना, वह उत्तम मद्य देगा, उसे ले आइये। दूकान कुछ बहुत दूर नहीं! पूर्व दिशा में सीधे चले जाओ, कोने पर ही दूकान है।"

ब्राह्मण प्रथम तो शंका में पड़ा पर फिर विचार किया कि, 'मद्य लाने में क्या हरकत है! चलो ले आओ। हाथ अपवित्र होंगे तो दो बार मिट्टी से धो

डालेंगे,' ऐसा विचार करता वह कलाल की दूकान की ओर चला। लगभग एक कोस चला तब दूकान पर पहुंचा।

वहां एक नयी ही लीला थी। एक स्याह कोयले जैसा भयानक मनुष्य दूकान पर बैठा था। उसके मुख और नाक में से लार और बल्गम गिरता रहता था। उसके पास जो ब्राह्मण भाई पधारे तो वह आखें फाड़-फाड़ कर दस पांच मिनट तो ब्राह्मण देवता की ओर टकर-टकर देखता ही रहा। फिर कहा—"अरे ओ हरामखोर! पूरे लुच्चे! यहां किस लिये आया है? यहां कोई ब्रह्मशाला अथवा वेदशाला नहीं कि जहां तू पढ़ने आया हो! यह तो मद्य की दूकान है। वह पीना चाहे तो इस पात्र में से जितनी चाहे पी ले और ओंकार पढ़!"

ब्राह्मण ने विवेक से उस अनार्य से कहा—"अरे भाई! हमारी स्वामिनी को उत्तम मद्य चाहिये सो दे दो!"

उस अनार्य पुरुष ने कहा—"जितने सुवर्ण से पात्र भर जाय उतना दे दे तब यह पात्र उत्तम मद्य से भर दिया जावेगा।"

ब्राह्मण ने विचार किया कि—"यह तो दुःख आ पड़ा, चोरी करके लाया हुआ यह धन भी नष्ट हो जायगा, ऐसा मालूम होता है, पर चिंता नहीं, वेदी पर पुष्कल धन है, उसमें से फिर ले लूंगा तो कौन पूछने वाला है; वहां धन का क्या टोटा है! वहां तो उसके चरु के चरु (घड़े) भरे पड़े हैं!" फिर अपनी पोटली छोड़ कर उस अनार्य पुरुष को उसकी इच्छानुसार धन दिया और उत्तम मद्य ले उस नवयौवना के समीप थोड़ी ही देर में हाजिर हो गया।

ब्राह्मण को दम भर में आता देख वह बोली—"हे महाराज! आपको बड़ा श्रम हुआ। इस दासी की सेवा के लिये जो आपको श्रम पड़ता है उसे आप क्षमा करेंगे।' ऐसा कह प्रेम से उसका थरथराता हाथ पकड़, पास बैठाल, मद्य का कटोरा पकड़, पास ही चौकी पर रख मानो कोई दूसरी याद आ गयी हो वैसे ओष्ठ पर उंगली रख वह खड़ी रही।

यह देख "अहं ब्रह्मास्मि" भाई ने पूछा—"क्यों क्या विचार करती हो?"

वह स्त्री बोली—"अकेले मद्य से ही पूरी मौंज आने की नहीं साथ ही मांस के लिये क्या करना चाहिये इस विचार में मैं पड़ गयी हूं। क्या आप कृपा करेंगे?

ब्राह्मण भाई फिर विचार में पड़ गया कि 'मद्य लाया तो मांस सिर पड़ा।'

उसे विचार में पड़ा देख वह स्त्री भ्रुकुटिबाण चलाती हुई ऐसे नखरे से बोली कि—ब्राह्मण भाई तो शिथिल ही बन गये। वह बोली—"प्रिय प्राणनाथ! आपको क्या शंका होती है? आप कहो! आप कैसे विचार में पड़ गये हैं! जो

आपको शंका होती हो तो आप न जायँ, इसके बिना मैं चला लूंगी। आप यत्किंचित् भी मेरे लिये चिन्ता या खेद न करें। नहीं नहीं, बैठो, मेरे प्राण के समान हो, आपसे इस कार्य के लिये कहने में मुझे बड़ा खेद होता है।''

ब्राह्मण बोला–''नहीं, यह तो कुछ नहीं, पर मांस बेचने वाले की दूकान कहां है, इसकी मुझे खबर नहीं, इस विचार में पड़ गया हूं, आपका सर्व मनोरथ पूर्ण करने के लिये इस दास को कुछ भी मेहनत मालूम न पड़ेगी। मैं आपकी सेवा में सदा तत्पर हूं,''।

वह चंद्रवदनी बोली–''महाराज! आप जहां से मद्य लाये हैं उसके पास ही मांस वाले की दूकान है। जो मेरा मनुष्य मौजूद होता तो तकलीफ न देती, पर क्या करूं? चाकर तो चाकर, गया है तब से पीछे मुआ ही नहीं। पर मांस की दूकान पर से तैयार किया हुआ मांस ले आने में आपको कुछ भी मेहनत नहीं पड़ेगी, मेरा नाम लोगे तो उत्तम मांस मिलेगा।''

तुरन्त ही ब्राह्मण भाई मांस लेने चला। कामातुर हुए ब्राह्मण को आसपास का कुछ भी भान नहीं रहा। उसको यह विचार नहीं हुआ कि 'जब मैं आया था तब मुझे कोई गांव या मनुष्य नहीं मिला था, पर अब तो यहां जुदी ही लीला दिखायी देती है इसका कारण क्या?' कामान्ध मनुष्य को दो पहर दिन भी अर्द्ध रात्रि मालुम होती है। पहले पाये हुए धन से चाण्डाल की दूकान से वह ब्राह्मण मांस भी ले आया। जिस अधर्म के मार्ग पर पहला पग रखा था, कर्म का त्याग किया था और ब्रह्म बन परद्रव्य ले, पाप बटोरा था, वह द्रव्य अब पूरा हो गया।

अधर्म की चौथी सीढ़ी–पशुहत्या

मांस बेचने वाले की दूकान में दो चार खल पुरुष बैठे थे, उन्होंने इस ब्राह्मण के पास से बँधा हुआ धन ले लिया, इतना ही नहीं, किंतु मांस बेचने वाले ने जतलाया कि यदि उत्तम और ताजा मांस तुझे चाहिये तो पास के बाड़े में जो मृग, खरगोश, बकरे बँधे हैं उनमें से एक को मार कर मांस ले आ, तो मैं तुझे स्वादिष्ट पका दूंगा। जिस बाई के वास्ते तू लेने आया है वह तो बहुत ही उत्तम और स्वादिष्ठ मांस खाने वाली है। वहां साधारण मांस काम नहीं देगा। मेरे पास जो मांस है वह बासी है। उसे ले जायगा तो तेरी बाई अप्रसन्न होगी। ले यह खड्ग और जा बाड़े में।' ऐसे कह कर एक धारदार खड्ग हाथ में देकर ब्रह्मदेव को पशुओं के बाड़े की ओर भेजा। कामांध हुआ वह ब्राह्मण इस महापाप के करने में पहले तो थरथराया, उसे यह भी लगा कि यहां से भाग कर छूटूं, पर उसी समय उसके सामने उस मोहिनी

अबला की मूर्ति, सबला अथवा खरी बला खड़ी हो गयी। उसके नेत्रकटाक्ष और उसके लावण्य का स्मरण हुआ कि वह अपने सद्विचार को भूल गया, भान को भूल गया, धर्म को चूक गया। सुन्दर स्त्री, पुष्कल धन उसकी दृष्टि के समीप नाचने लगा। आंखे मूद कर उसने चाण्डाल कर्म शुरू किया और एक उत्तम पशु को मार कर उसका चमड़ा उतार लिया तथा जिस हाथ में भगवत्पूजन की सामग्री रखता था उस हाथ में मरे पशु को ले-कराल काल के समान विकराल बन कर मांस बेचने वाले की दूकान पर खड़ा हो गया। उत्तम युक्ति से मांस बेचने वाले ने उसको मांस पका कर उसका पात्र भर दिया उसे लेकर ब्रह्मरूप ब्राह्मण मानो उसके मुख पर कालिख लगा दी हो ऐसा भेष धर पसीने से तर उस वेश्या के समीप आ खड़ा हुआ।

महाघोर पातक करने पर उसके मन में आमोद-प्रमोद होता था। उस स्त्री को देखते ही वेद-गुरु-वचन तो पलायन कर गये थे। धर्म का भय जाता रहा था। वह मानता था कि 'मेरे इस कृत्य से वह स्त्री बहुत ही प्रसन्न होगी तथा उसके ऊपर मेरा अविच्छिन्न प्रेम है ऐसा वह मानेगी।' ब्राह्मण भाई के आने की वाट देखती वह शूद्रा स्त्री पालने पर झूलती थी, कि सीढ़ी पर चढ़ते ब्राह्मण के पैरों की आहट सुन कर उस कुटिल कामिनी ने ढोंग रचा। वह स्वयं बोलती हो वैसे बोलने लगी—"अरेरे! मुझ पापिनी ने इस महात्मा पुरुष के लिये ऐसा अधम काम क्यों सौंपा? मुझ सा निर्दयी कौन होगा? वह कहीं चला तो न गया हो? मेरा तिरस्कार तो न किया हो?' ऐसे ढोंग में उसकी छाती पर का हार खिसक गया, वेणी की लट छूट कर उसके कपोल पर लटक पड़ी, नाजुक गोरे गाल पर आंसु के बिन्दु बहने के चिन्ह हो गये और वह कठपुतली की तरह बैठ रही।

ऐसी उसकी माधुरी मुर्ति देख, ब्राह्मण भाई उसके मोहजाल में बिलकुल फँस गया। अन्त में वह स्त्री बोली—"हे प्राणनाथ! आप कहां गये थे?"

तब वह ब्राह्मण घबड़ाता हुआ उस सुन्दरी के पास जाकर बोला—"हे सुन्दरी! घबड़ाओ मत, यह तेरा दास तेरी सेवा में तैयार खड़ा है!" उसे अचानक देखते ही वह स्त्री एकदम मुग्ध भाव से शरमा ली गयी हो ऐसा ढोंग किया।

ब्राह्मण ने मांस का पात्र उसे सौंपा। उसे एक ऊंची चौकी पर रख कर वह नवयौवना ब्राह्मण के चरण दाबने बैठ गयी और बोली कि—"आपको बहुत परिश्रम हुआ! आप पूज्यवाद को बड़ा कष्ट हुआ!"

ब्राह्मण ने पैर पर से हाथ अलग कर कहा—"प्रिये! तुम अपने कोमल हाथों को कष्ट मत दो! आपके सेवा करने से मुझे बड़ा कष्ट होता है!" ऐसे कह कर पास बैठे हुए उसके अधरों का पान करने का प्रयत्न किया।

तब तो नवयौवना मद्य का प्याला लाकर ब्रह्मदेव का उद्देश करके बोली–"आप थोड़ा प्राशन करके अपनी प्रसादी मुझे दीजिये। ऋषि मुनि भी तो सोमवल्ली का रस पान करते थे। इसमें क्या दोष?"

ब्राह्मण ने कहा–"पर शास्त्र में मधुपान करने का बड़ा दोष कहा है, मुझ जैसे महात्मा पुरुषों को तो यह सदा ही वर्जित है!"

"अहो ब्रह्मदेव!" वह स्त्री बोली–"गुरु के कार्य को न करना, पराया द्रव्य उसके स्वामी की आज्ञा बिना लेना, परायी स्त्री के साथ एकान्त में बैठना, उस पर कुदृष्टि करना, उसके मुंह में मुंह लगाना, मधु बिना शर्म के ले आना, पशुवध करके मांस लाना, ये सब तो शास्त्रवचन होंगे! अरेरे! शास्त्र तो ब्राह्मणों के बनाये हुए हैं और गप्पों से भरे हैं, उन्हें चूल्हे में डालो और इस मद्य का मजा देखो!"

ब्राह्मण लज्जित हो गया और नीचा मुख करके बोला–"तो पहले तुम पीयो, मैं तुम्हारी प्रसादी लूंगा।"

वह स्त्री बोली–"यह तो महापातक हो! आप ब्रह्मदेव हमारे अतिथि हैं, इसलिये आपका उच्छिष्ट हमको पान करना चाहिये। इसी में मुझे इन्द्रलोक की प्राप्ति होगी।"

ऐसा कितनी ही देर तक बातचीत में समय गया फिर जिस मुख से भगवान के गुणानुवाद गाता था। भगवान का चरणामृत पान करता था, उस मुख से शुद्र जाति की वेश्या के मुख से उच्छिष्ट हुए मद्य का प्राशन किया और फिर भूने हुए मांस का भोजन किया।

ब्रह्मदेव ने ज्यों की वेश्या स्त्री के उच्छिष्ट मद्य के दो घूँट पिये और मांस का एक कौर खाया कि वह स्त्री बोली–"अरेरे! इसमें तो कुछ मजा नहीं। रस के साथ जैसे ढोकलां (गुजराती स्वादिष्ट भोजन) बिना लहजत नहीं आती वैसे ही इस मधु के साथ भजिया (पकौड़ी) बिना मजा नहीं आता।"

ब्राह्मण बोला–"आपकी आज्ञा हो तो वह भी हाजिर करूं। पहले से कहा होता तो मार्ग में बहुत पकौड़िया मिलती थी, उन्हें लेते आता!"

वह कुटिल स्त्री बोली–"उन पकौड़ियों को क्या करें? जो सच्चा मजा लेना हो तो थोड़ी सी ताजी मछली पकड़ लावो। यह पास ही छोटा सा गड्ढा है, उसमें से लाने में कुछ देर न लगेगी।"

मद्य पीने से भ्रष्टबुद्धि हुआ वह ब्राह्मण उस स्त्री के दिये हुए एक जाल को लेकर धीवर (मच्छीमार) का आचरण करने को तत्पर हुआ और निर्विलम्ब गड्ढे में से ताजी मछलियों का बर्तन भर लाया।

जो जीव धर्म की एक सीढ़ी भी चुकता है उसे उत्तरोत्तर और सीढ़ियां चूकने में भी संकोच नहीं होता।* सब कुकर्मों की जड़ स्त्री का संग है। धर्म से भ्रष्ट करने वाला स्त्री का संग है। ज्ञान का नाश करने वाला स्त्री संग है। ऐसी वह सबला है, तो भी उसे मूर्ख मनुष्य अबला की गिनते हैं। स्त्री का संगप्रसंग-समागम आनन्दरूपी मृग को जलाने वाला दावानल है, ब्रह्मचर्यरूपी वृक्ष का उन्मूलन करने में मदमस्त हाथी है। ज्ञानरूपी दीपक को बुझाने में प्रलय काल का महावायु है। स्त्री के संग से अजामिल जैसा ब्राह्मण घोर पातक में पड़ा था, स्त्री के संग से ही ऋष्यशृंग भ्रष्ट हुआ था, स्त्री के संग से स्वर्ग के अधिपति इन्द्र के शरीर में सहस्र छिद्र हुए थे, स्त्री के संग से हजारों ऋषि मुनि भ्रष्ट हुए हैं। ऐसा स्त्री का संग रखने वाला नरक का ही अधिकारी होता है।†

अधर्म की पांचवीं सीढ़ी—परस्त्रीगमन

फिर एक पंलग पर वह स्त्री तथा ब्राह्मण भाई बैठे आपस में मुंह मिलाते जाते हैं और मधुपान करते जाते हैं। बीच-बीच छौंकीं बघारी हुई मछली का स्वाद लेते जाते हैं तथा साथ ही मांस का भी भोजन करते जाते है। इस पाप को देखते-देखते सूर्य देवता भी अस्ताचल की आड़ में हो गये। थोड़ी देर में दोनों खान पान से निवृत्त हुए। संध्यासमय हुआ और यहां भी धर्म कर्म का सूर्य अस्त हो गया। ब्राह्मण तथा वह स्त्री एक शय्यापर पौढ़ गये। जैसे ब्रह्मदेव के हृदय में अंधकार व्याप गया था वैसे ही चौतरफ भी अहंकार व्याप गया। गुरु गुरु के स्थान पर रहे, ज्ञान ज्ञान के स्थान पर रहा और धर्माधर्म के विवेक से रहित हुआ ब्राह्मण मदमत्त होकर विषयरूपी नरक में गोते खाने लगा। 'आकाश में उड़ते हुए पक्षी की चाल तथा जल में रहते हुए जलचर की चाल तथा मनुष्य के भाग्य की गति जानी नहीं जाती।' वैसे ही मंदमति की गति भी नहीं जानी जा सकती। जैसे आंख शब्द को नहीं सुन सकती क्योंकि उसका समान स्वभाव नहीं, वैसे ही विषयी मन धर्माधर्म को कार्याकार्य को तथा पाप

---

* विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः। भर्तृहरि

† स्वधर्म में वर्तनेवाला जो पुरुष शास्त्रोक्त विधिपूर्वक विवाह कर अपना गृहस्थाश्रमी संसार भोगता है उसके लिये यह वचन नहीं, बल्कि परस्त्रीगामी पुरुष के लिये है। स्वस्त्रीसंग से धर्मविधियुक्त संसार भोगने वाला पापी नहीं होता बल्कि ब्रह्मचारी गिना जाता है। धर्म का त्याग न कर भोगा हुआ संसार भी आत्मोन्नति में साधक ही है—'बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्। धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ!' ॥ 7।11

पुण्य को नहीं देख सकता, क्योंकि दोनों का समान स्वभाव नहीं, विषय में लुब्ध हुए मन की स्थिति विषय का त्याग करने में हमेशा निर्बल रहती है।

निर्बल मन का वह ब्राह्मण धर्म की प्रथम सीढ़ी चूकने से उत्तरोत्तर पतितपने को पाता गया। उसको कार्याकार्य का कुछ भी भान नहीं रहा, संध्याकाल का संध्यावंदनादिक तथा होमादिक धर्म कर्म छोड़ कर वह पैशाचिक कर्म करने लगा। रतिक्रिड़ा के अन्त में वह ब्राह्मण उस कामिनी के हृदय से लिपट कर लेट गया था और मद्य के नशे में आयं बायं सांय बकता था! आसपास खिले हुए बगीचे की मंद-मंद शीतल लहर में दोनों ऐसी गाढ़ निद्रा में सोते थे कि आधी रात तक दो में से एक भी नहीं जागा तथा जागृत हुए पीछे भी आत्मज्ञान के मार्ग के द्वार पर चढे हुए तपस्वी ब्राह्मण को अपने कुकर्म का क्षणभर भी पश्चात्ताप नहीं हुआ, न लज्जा से मस्तक नीचा हुआ। मूढ़ मदोन्मत्त हाथी की भांति उसकी कामेच्छा शान्त होने के बदले विशेष प्रदीप्त हुई। इसने कामवश हो जो पशुक्रीड़ा की थी उसके लिये इतना ही कहना काफी है, कि वह नरपशु बन गया था। जो धर्म को तथा परमेश्वर की महिमा को नहीं जानते, अविद्या, विषय और माया की फॉसी से बॅधे हुए हैं, उनके हृदय की आसुरी संपत्ति की दृढ़ गांठ जैसे तैसे ज्ञानशास्त्र से नहीं कट सकती। जो अपने मन में अहंकार से ऐसा मानता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं ब्रह्म हूं,' 'मुझे कुछ कर्तव्य नहीं,' 'कुछ भोक्तव्य नहीं,' 'मैं तो परम गति को प्राप्त हूं, ऐसे जीव की वासना का बल शिथिल नहीं हुआ हो तब तक उसका श्रवण, तपश्चरण और साधन निरर्थक ही है। भोगेच्छा के तृष्णावान् जीव को मलिन जलपान करने की कामना से रोकने के लिये ब्रह्मा भी समर्थ नहीं तो फिर दूसरा कौन समर्थ हो? जीव आप ही जो भाग्शाली और कृतार्थ होता है तो ही जीव, नित्य अनित्य, सत् असत् धर्म अधर्म, पापपुण्य का स्वरूप समझ कर, अपने बल से मलिन, पापमय, दुःखमय, क्लेशमय जिसमें साररूप कुछ भी नहीं ऐसे संसार से तर सकता है। जैसे अनेक शत्रुओं से घिरा राजा अपने ही बल से शत्रुओं का संहार कर सब पृथ्वी जीत कर भाग्यशाली होता है। वैसे ही काम, क्रोध, मोह, मदादि शत्रुओं से घिरे जीवराज का अज्ञानांधकार नाश होने में उसका अपनाही पुरुषार्थ सहायता करे तो वह ज्ञानप्रदेश और परमेशप्रदेश के राजा होने का भाग्यशाली बनता है। ऐसे पुरुषार्थ बिना कोई भी जीव विषयवासना रूप कैदखाने में से मुक्त हो नहीं सकता। किसी के ऊपर कर्ज हो तो उसमें से पुत्रादिक छुड़ा देते

हैं, मजदूर के सिर पर बोझा रखा हो तो उसका बोझा उतरवाने से आराम मिल सकता है, परन्तु भूख अथवा रोग का दुःख कोई भी नहीं टाल सकता। भूख लगे तो आप ही भोजन करने से भूख टलती है। रोगी आप ही औषध खाय तथा पथ्य से रहे तो रोग से मुक्त होता है। वैसे ही विषयवासना में से मुक्ति मिलने का साधन, अपने सत्कर्म, धर्म में अविचल श्रद्धा, अच्युत प्रभु पर परम आसक्तिरूप पुरुषार्थ ही है, वह पदार्थमात्र पर से प्रीति हटा कर वैराग्य उत्पन्न करता है।

प्रभात हुआ। पशुपक्षी भी कलरव करने लगे जो ब्राह्मण प्रातःकाल में सूर्योदय से पूर्व उठकर नित्य के आह्निक करने में प्रवृत्त होकर गुरु के चरणों की सेवा में तत्पर रहता था। गुरु के आश्रम को झाड़झूड़ कर साफ करता था, वह आज सूर्यनारायण के आकाश में पूर्ण प्रकाशमान होने पर भी जागृत नहीं हुआ। पाप के पुतले वे दोनों (ब्राह्मण और वेश्या) हृदय से हृदय भिड़ाकर पड़े हुए थे। जैसे अंधकार में ठोकर खाता हुआ पुरुष असावधानी से गिर कर मूर्छित हो जाता है वैसे ही ये जीव भी पड़े हुए थे।

थोड़ी देर में जागृत हो वेश्या ने कहा—"हे ब्रह्मदेव! आप शुद्ध पवित्र ब्रह्मदेव हो, आपका प्रभात का संध्यासमय बीत गया है इसका आपको ध्यान भी नहीं रहा; उठो!"

ब्राह्मण आंख मीजता-मीजता उठा तथा उस वेश्या के हाथ से जल ले, मुखमार्जन किया। थोड़ी देर में उस वेश्या का एक दास भोजन के लिये कहने आया तब ब्रह्मदेव ने मुशलस्नान (हाथ पैर धोना) कर लिया। किसी प्रकार की पवित्रता का विचार किये बिना उस स्त्री के साथ एक ही पात्र में भोजन करने बैठा।

अहो! जो धर्म की गति को नहीं जानता, मोह, माया और ममता कहां बसती है इसकी जिसे खबर नहीं, भोगेच्छा मात्र का जो अनुचर है, उसकी कैसी गति होती है इसे हे वत्सो! तुम देखो! इस नाशवंत संसार में सर्प से भी अधिक डसने वाली विषधर स्त्री है, सर्प कचित् डसता है, स्त्री सदा ही। सर्प के मुख में विष है, स्त्री के सर्वांग में। सर्प क्रोधी होने से डसता है, जिसके जानने से मनुष्य सावधान रहता है। स्त्री मधुर हास्य में डसती है और भूल में ही मनुष्य मारा जाता है। इस निःसार संसार में मोह के अनेक स्थान हैं उनमें जो सावधान रह कर विजय पाता है वही जीव परमात्मा के अविचल साम्राज्य का सुख-आनंद भोगने को भाग्यशाली होता है।

भोजन करके अन्योन्य मुखवास (पान) लिया। ब्राह्मण अनेक प्रकार की कुचेष्ठा करता था और वह भी क्षण-क्षण उसका तिरस्कार कर पीछे को धक्का दे

कर ढकेलती थी। ऐसी क्रीड़ा करते वह विलास मंदिर के कमरे में घूमने लगा। बगीचे के सौंदर्य को वह धीरे-धीरे देखता है कि इतने में गुरुजी के लिये फूल फलादि लेने की याद आ गयी। वह आप बोलाः–"अरेरे! गुरुजी के फूल तो फूल की ही जगह रहे और फल तो झाड़ में ही लटकते हैं, अनेक वर्ष का संपादन किया हुआ अपना तपरूपी धन मैंने क्षण में ही गमा दिया। गुरुजी क्या कहेंगे?" ऐसा विचार उसके मन में से अभी बाहर नहीं हुआ, इतने में वेश्या ने आकर उसके कंधे पर हाथ रख कर कहा–"हे प्राणेश! आप किस विचार में लीन हो गये हैं?"

ब्राह्मण बोला–"हे रमणी! निर्भय होकर मैं तुझे सेवन करता हूं, और तेरे सौंदर्य पर मोहित हुआ हूं, पर इस मोह में अपना तपरूपी धन मैं गवा बैठा हूं, इसके लिये मेरे गुरुदेव मुझे क्या कहेंगे? इसका मैं विचार करता हूं।"

वह स्त्री बोली–"ब्राह्मणों की पीछली बुद्धि कही जाती है सो ठीक है। गठड़ी नष्ट हुए पीछे तुमको ज्ञान आया तथा चौपट होने के पीछे यह चातुरी आयी कि वह बहुत बुरा हुआ! पाप हुआ! तपरूपी धन गया! क्यों यही बात है कि दूसरी? मेरे जीवन को खराब करते समय तुमको विचार नहीं आया और अब गुरु-गुरु याद कर रहे हो! गुरुदेव को डालो खंदक में और इस कामलीला में कृतार्थ होकर जीवन को सार्थक करो! जंगल में रहना, पशु की माफिक भटकना, ढोर की माफिक चाहे जो चारा चरना, दिन में दस बार पानी के घड़े भँभकाना-लुढ़काना अथवा नदी में मछली की तरह गोते मारना, इसमें क्या सार्थकता है! इस विलासमंदिर में जो चाहे वह है! बिना मेहनत उत्तम से उत्तम पक्कवान भोजन मिलते हैं, मन को मस्त करने वाला मद्य मिलता है, धनधान्य की किसी तरह की कमी नहीं, अब तो यही रहकर मजा करो!" ऐसा कहते-कहते ब्राह्मण का हाथ पकड़कर दीवानखाने में घसीट लायी तथा दोनों जनें हिंडोला खाट पर हाथ से हाथ और स्कंधे से स्कंधा मिलाकर बैठे, नीति का वचन है कि–

उपनिषदः परिपीता गीतापि च हंत! मतिपंथ नीता।
तदपि न हा! विधुवदना मानससदनाद्बहिर्याति ॥

अर्थ–उपनिषदों का पान किया तथा भगवद्गीता का भी मन में विचार किया तो भी चन्द्रमुखी (स्त्री) हृदय में से बाहर नहीं होती–**अर्थात् जहांतक हृदय में से स्त्री नहीं निकली, वहां तक उसका ज्ञान, तप, कर्म, उपासना सब मिथ्या है।**

'स्त्री' इसको अबला करते हैं, परन्तु जिसने इन्द्रादिक देवताओं को भी अपने पैरों के नीचे दबाया है वह अबला नहीं बल्कि सबला है। ऐसी स्त्री को अबला कौन कहेगा? स्त्री जैसे संसारतारण है, वैसे ही मारण भी है। पर सबका कल्याणकारक वही है कि जिसके हृदय में सत्संग की धारणा है।

महात्मा पुरुष कह गये हैं कि 'सत्संग सबन को सार है।' सत्संग से मूर्ख पुरुष भी पंडित हो जाता है, सत्संग से दुर्जन सज्जनता को पाता है, सत्संग बुद्धि की जड़ता को दूर करता है, वाणी में सत्यता का सिंचन करता है, उन्नति देता है, पाप को दूर करता है, चित्त को प्रसन्न करता है, कीर्ति देता है, कुमति का नाश करता है और सब प्राणियों का प्रेमपात्र बनाता है। अहो! सत्संग क्या-क्या नहीं करता? तथा कुसंग! सर्व सज्जनता का नाश करता है, पापकर्म में प्रेरता है, जन्म जन्मान्तर के लिये अधोगति के मार्गपर चढ़ाता है, दुर्जन के संग से जैसे गाने में प्रीति करने वाला मृग अकस्मात् नाश पाता है वैसे ही गुणग्राही पुरुष भी विषय में लुब्ध हो जाता है। कुसंग सब धर्म का नाश करने वाला, सर्व आपत्तियों का भंडार तथा सब मनोरथों का भंग करने वाला है। जिसको सत्संग में विक्षेपबुद्धि सूझती है, जो सत्संग की महत्ता को गौण मानता है वह धर्म से भ्रष्ट होकर पद पद पर अधर्म के द्वार की ओर प्रयाण करता है तथा वहां से जाकर नरक के ऐसे गहरे कुंड में गिरता है कि जिसमें से फिर निकलना असंभव ही है। इस मूढ़ ब्राह्मण को अभी ज्ञानी की स्थिति में आने के लिये भी विलंब था, इतने में तो उसने गुरु के वचनों का अनादर कर, सत्संग दूर कर, कर्मकाण्ड का त्याग कर, महादुष्ट कुसंग का सेवन किया, उसी के फलस्वरूप वह अधोगति को प्राप्त हुआ है।

अधर्म की छठी सीढ़ी–द्यूत

दो चार दिन इस प्रकार बीत गये। एक समय दोनों आनन्दपूर्वक हिंडोले पर बैठे मौज कर रहे थे इतने में पलंग से ऊपर रखी हुई चौपड़ पर ब्राह्मण भाई की दृष्टि पड़ी और वह बोला–"प्रिये! चलो, हम तुम चौपड़ खेलें।"

वह स्त्री बोली–"महाराज! तुम जानते हो कि मैं प्रतिज्ञा के बिना चौपड़ नहीं खेलती! जो आप प्रतिज्ञा करने को तैयार हो तो मैं चौपड़ खेलने को भी तैयार हूं।"

ब्राह्मण ने कहा–"आपकी क्या प्रतिज्ञा है सो कहा! मैं उसे पूर्ण करने को तैयार हूं।"

वह स्त्री बोली–"प्रिय! मैं आपकी ही हूं, पर जो मेरे साथ चौपड़ खेलने में आपको आनन्द हो तथा आप जो मेरे हो तो मेरी प्रतिज्ञा सुनो। जो द्यूत में मैं हारूं तो हमेशा दासी होकर रहूं, तुम हारो तो मेरे दास होकर रहो और फिर जो काम मैं बतलाऊं उसे करो, उस काम के पूरे होने पर मुक्त होगे।"

यह प्रतिज्ञा सुनकर ब्राह्मण को कुछ घबड़ाहट हुई। वह मन में विचार करने लगा कि 'प्रतिज्ञा तो कठिन है। मुझे द्यूत खेलना तो अच्छा आता है, पर वर्षों से अभ्यास छूट गया है इससे मुझको तो दास बनना ही दीखायी पड़ता है।'

ऐसे विचारसागर में गोते खाते हुए ब्राह्मण को देखकर गले पर हाथ रखकर वह स्त्री बोली—"क्यों, उदास हो गये? यह प्रतिज्ञा क्या तुमको कुछ भारी लगती हैं? नहीं मेरे गले की कसम, तुम्हें इसमें क्या कठिन दिखायी पड़ता है।'

ब्राह्मण ने कहा—"हे मनोरमा! शास्त्र में द्यूत निषिद्ध कहा है तथा उसे महापाप माना है। द्यूत खेलने से किसी का भी कल्याण नहीं हुआ। नल जैसे सत्यवादी राजा को द्यूत खेलने से तीन वर्ष तक कुबड़ा रूप धारण करना पड़ा था। युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी राजा को बारह वर्ष तक वनवास भोगना पड़ा है। अरे कामिनी! शास्त्र कहता है कि द्यूत खेलने वाले का कभी उदय नहीं होता। यह महान् अधर्माचरण है और उसका त्याग करना यही शिष्ट पुरुषों को इष्ट है!"

वह स्त्री बोली—"हे ब्रह्मदेव! शास्त्र को तो आपने गढ़े में डाल दिया है और उसके उपदेशों को ऐसा चूर कर दिया है कि उसका अंश मात्र भी तुममें नहीं मालूम पड़ता। ब्राह्मण को मद्य पीना, मासं खाना, परस्त्रीगमन करना, धीवर का आचरण करना, रजस्वला तथा शूद्रा का साथ करना, संध्यासमय सूर्य की साक्षी में विषय करना तथा उसमें लुब्ध होकर धर्माधर्म का क्षणभर भी विचार न करना, ये सब बातें शास्त्र में कही होंगी!! हे शास्त्रज्ञ! शास्त्र वास्त्र सबको तो तुम कब की तिलांजली दे बैठे हो। अब शास्त्रों की बात क्या करनी? पर मैं जानती हूं कि तुमको मेरे प्रेम में ही संशय है इसी से शास्त्र का गड़बड़ाध्याय चलाते हो।"

ऐसा कहते-कहते उस स्त्री ने ऐसी सुन्दर छटा से लटका दिया कि ब्राह्मणभाई को कलेजा फड़फड़ाने लगा। पशु के वश करने के लिये-बांधने के लिये रस्सी की जरूरत पड़ती है पर नरपशु को बांधने को तो स्त्री का कटाक्ष-लटका ही ऐसा दृढ़ है कि उसमें से बड़े-बड़े शूरवीर भी नहीं छूट सकते, तब इस कामान्ध ब्रह्मबन्धु की बात क्या? वह गवांरमुख नरपशु बोला—"जो तुम्हारी आज्ञा द्यूत खेलने की हो तो इस दास को खास प्रयास करने में कुछ बाध नहीं। आपही के लिये यह जीवन है, चैतन्य है, सर्वस्व है। चलो खेलो।"

हे वत्स! जो धर्म की एक सीढ़ी भी चूक जाता है उसे सब चूकने में क्या विलंब?

चौपड़ चालू हुई, ऊपरा ऊपरी पाशा पड़ने लगा तथा चौपड़ के अंत में ब्राह्मण भाई उस शूद्र वेश्या का दास बन गया। फिर जिसके मन में कुछ भी स्नेह नहीं ऐसी वेश्या जलते हुए अंगार के समान तेजस्वी बन कर बोली—"अरे ब्राह्मण! मेरी एक कथा सुन तथा उसमें तुझे जो आज्ञा दूं उस कार्य को तू सिद्ध कर, फिर तू मेरा दास नहीं। पर तेरी इच्छा हो तो मित्र होकर रहना। इस बगीचा की पूर्व दिशा में आये हुए जीवितपुर के राजा मायाराज की एक समय मैं प्रेमपात्र पटरानी थी। राजा को मुझ पर ऐसा अगाध प्रेम था कि वह हर समय मेरी सेवा में हाजिर रहता था। राज्य में

सब नौकर, चाकर, सेठ साहूकार, दीवान, चपरासी, सब मेरी आज्ञा पालने में तत्पर थे। इस राजा से मुझे अपूर्व सुन्दर एक पुत्र जन्मा। प्रेमोन्मत्त राजा ने मेरे प्रसन्न करने के हेतु उस पुत्र को युवराज पद दिया। इस राजा के सद्‌गुणवती नाम की विवाहिता पटरानी थी, पर मेरे प्रेम में लुब्ध मायाराज उस पटरानी की ओर दृष्टि भी नहीं करता था। उस रानी के भी एक पुत्र था, जो राज्य का सच्चा वारिस था। पर मेरे प्रेम के अधीन राजा मेरे सिवाय किसी को भी अपना नहीं मानता था। इसी कारण मेरे पुत्र को युवराज पद पर स्थापित किया था। यह वृत्तान्त जब उसकी पटरानी ने जाना, तब तो बहुत घबड़ायी और अपने पुत्र को राजपाट से भष्ट हुआ देख उसने मेरे पुत्र के मारने का उद्योग आरम्भ किया। अपने पुत्र के बचाव के लिये मैंने तथा मायाराज ने बहुत कुछ प्रबंध किया था, इस कारण सद्‌गुणवती बहुत दिनों तक अपना कार्य सफल न कर सकी। अन्त में मेरी दासी को पैसे के लालच में फँसाकर एक समय में वसंत क्रीड़ा करने के लिये वन उपवनों की सैर को गयी थी, उस अवसर को पाकर सद्‌गुणवती का भाई नीतिनिपुणसेन मेरे पुत्र का हरण कर ले गया। जब मुझे पुत्रहरण की खबर पड़ी तब तो मैंने बड़ा रुदन किया तथा मैंने प्रतिज्ञा की कि 'जब तक सद्‌गुणवती के पुत्र का मैं रक्तपान न करूं तब तक राजा का मुख न देखूंगी।' अरे ब्राह्मण! आज तू मेरा दास हुआ है तो मेरी आज्ञा से सद्‌गुणवती पुत्र को यहां ले आ और उसे मार कर उसका रक्त मुझे पान करा! उसके पीछे तू स्वतंत्र हो जायगा। तू मेरा परम प्रिय है, प्राण है। अब राजा मायाराज मृत्यु को प्राप्त हो गया है और उसके स्थान पर उसका यही पुत्र सद्‌गुणसेन राज करता है। इस राजकुमार की अभी अवस्था तो कम है तो भी वह सकल सद्‌गुण का भंडार है। मेरा नाम मोहजाली है। मैं जाति की चाण्डाल हूं। पर मेरा परम सौंदर्य होने से मैं एक बार राज्य में सर्व ऐश्वर्य की स्वामिनी थी। आज मैं राजपाट से भ्रष्ट हुई हूं, पर अपना वैर नहीं भूली हूं। मैं जबतक अपने पुत्र का वैर न ले लूं, तब तक मुझे कभी शान्ति नहीं। यह कार्य तुझे बड़ी सावधानी से करना है। पूर्व दिशा में सीधी सड़क है वहां आकर और कार्य सिद्ध करके शीघ्र आ।''

स्त्री का हृदय कितना क्रूर तथा अधम है सो हे बालकों! तुम देखो! एक शब्द से ब्राह्मण का तिरस्कार करती है और दूसरे से शुश्रूषा करती है। जैसे मन के संकल्प का दूसरे को पता नहीं लगता वैसे ही स्त्री के चरित्र का भी पता नहीं लगता। इसके हृदय में तो हालाहल है और मुख पर मधु लिपटा हुआ है। ऐसी स्त्री के बचने वाले पुरुष विरले ही हैं।

मोहजाली के ये वचन सुनते ही ब्राह्मण तो बुत (मूर्ति) की तरह चकित

रह गया, उसको कोई दिशा नहीं सूझी, पर जिसने अपने हाथ से पशुहिंसा की है उसे मनुष्य की हिंसा करते क्या भय? क्या खटका? एक खोटा कार्य करने वाला दूसरा भी खोटा काम करता है।

"नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥" गीता,

चित्त को स्थिर नहीं करने वाले की बुद्धि स्थिर नहीं रहती अर्थात् मनोनिग्रह नहीं करने वाले को शुद्ध बुद्धि प्राप्त नहीं होती और धर्माधर्म का विचार नहीं रहता। शुद्धबुद्धि नहीं होने से चित्त की स्थिरता नहीं होती और शुद्ध भावना प्राप्त नहीं होती। विशुद्ध भावना जिसको नहीं हुई, उसे शान्ति भी नहीं मिलती तथा जिसको शान्ति नहीं मिलती उसको सुख भी कहां से हो? जैसे कच्छप जब चाहे तब अपने अंगों को संकोच करके निर्भय बैठा रहता है वैसे ही जो इन्द्रियों को विषयों से रोककर आत्मा का शुद्ध स्वरूप जानता है तथा परब्रह्मरूप निर्भय कुटीर में बैठता है उसी जीव को अभय की-अनंत सुख की प्राप्ति होती है। इस संसार के सुख क्षणिक बिजली के चमत्कार की तरह, आवर्जन विसर्जन वाले हैं। वे क्षणभर में प्रकाशित दिखाते हैं तथा क्षण में घोर अंधकार में ढकेल देते हैं; इसलिये अनेक कालपर्यन्त गुरुमुख से आत्मा परमात्मा के स्वरूप का विचार करके, नित्य कर्म के उपासक ऐसे जीव को अहंकारवृत्ति के उद्‌भव से और धर्म की प्रथम सीढ़ी का उल्लंघन करने से ऐसी नीच स्थिति मिलती है कि वह उत्तरोत्तर नीचे ही गिरता जाता है तथा उसका साक्षात् मूर्तिमंत स्वरूप यह तपस्वी अंधकारागार में पड़ा हुआ ब्राह्मण भाई है! चाहे जैसा ज्ञान प्राप्त हुआ हो तो भी 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः' जीव अपने-अपने कर्म में परायण रहता है तो वह परिणाम में मुक्ति को पाता है। वैसे ही ज्ञाता जीव को परम कल्याणकारी यही है कि 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्' स्वभाव से प्राप्त कर्म में प्रवृत्त रहना चाहिये। कर्म दोष वाला हो, फल प्राप्ति न देने वाला हो, तो भी उसे करना ही है। जब तक मनुष्य में सर्व कर्म के त्याग की शक्ति न प्राप्त हो तब तक स्वभाव से निर्माण हुए कर्म मुमुक्षु को छोड़ने नहीं चाहिये तो फिर जिनके मन में अहंकार का वास है वे कैसे छोड़ सकते हैं? 'कर्म' का त्याग और 'अहम्' का जन्म यही इस ब्रह्मबन्धु के पतन का कारण है। जो उसे अपने नित्य कर्म में अरुचि न हुई होती, सत्य शुद्ध ज्ञान का सेवन करने में निर्मत्सरी और निर्मानीपन दिखाया होता, 'अहम्' को मारा होता तो आज की पतित स्थिति को वह प्राप्त नहीं होता-वह सदा ही ब्रह्मभाव को भूल, उस पद के संपूर्ण प्राप्त करने तक शास्त्र के अनुसार चलता तो वह भ्रष्टता से सुरक्षित रहता।

ब्राह्मण को जड़ भरत की तरह निर्बल, निस्तेज, चित्तभ्रमवान् पाषाण की प्रतिमा के समान विचार ग्रस्त खड़ा देख वह क्रूर कपटी कामिनी अग्नि वत् नेत्र कर, भौंहे चढ़ा करके बोली—"क्यों रे! मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण करने को तैयार है या नहीं?"

उसका विकराल रूप देख ब्राह्मण थरथर कांपने लगा और हाथ जोड़कर बोला—"मोहान्ध बने हुए इस दास के ऊपर कृपा करो! तथा धर्म से बहिष्कृत करने वाले अधर्म में पग रखने के लिये बलात्कार न करो, तुम दूसरा जो काम कहो उसको करने को मैं तैयार हूं, इस अल्प मति ने तुम्हारा माहात्म्य नहीं जाना और तुम्हारे मोहजाल में फँसकर न करने वाला काम किया, अभक्ष्य भक्ष किया, अपेय पीया, इसमें तुम संतुष्ट होओ!"

उस स्त्री ने देखा कि ब्राह्मण अभी उसके जाल में से छूटा नहीं। इसके हृदय को मदनानल से जलाऊंगी तथा प्रेम फॉस में फँसाऊंगी तब अपने आप मृतकवत् हो जायगा। फिर विचारागार में लीन हुए और निराधार वृक्ष की तरह थरथर कांपते हुए ब्राह्मण के कंठ के आसपास कराल काल के पाश की तरह दोनों हाथ डालकर और मुख से मुख मिलाकर वह बोली—"हे प्रिय! आपको खेद होता हो तो इस कार्य को भले ही न करो! पर मेरे हृदय को जीतने के लिये तो मेरी यह प्रतिज्ञा ही प्रधान है।"

ऐसा कह कर हिंडोला खाट पर बैठाल, उसकी शुश्रुषा करने लगी तथा अनेक प्रकार के नखरों से उसे ऐसा वश कर लिया कि वह बाजीगर के पुतले की तरह उसके हाथ का खिलौना बन गया। धर्मत्यागी विषयांध की यही गति है। थोड़ी देर पीछे ब्राह्मण अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने को तैयार हुआ-खड़ा हुआ और बोला—"तुम्हारे हृदय को जिससे शान्ति हो उस काम में चाहे जैसी जोखम हो तो भी मैं उसे पूर्ण करूंगा।"

फिर वह स्त्री बहुतेरी कपट कला की बातें करने लगी—ना, ना, आप इस जोखम में न जाओ, यदि आपके जीव को कुछ अपाय हो गया तो मैं तो सदा कष्ट में ही रहूंगी। नहीं, तुम्हें मेरी कसम, तुम बैठो, अपना काम जो चाहे जिससे करा लूंगी, पर तुमको यदि कुछ अपाय हो गया तो मुझे ब्रह्महत्या लगेगी, न जाने वह कितने जन्म में छूटेगी। आप जैसे ब्रह्मदेव अतिथि मेरे घर पधारे हैं सो मैं जानती हूं कि मेरा तारण करने के लिये पधारे हैं, इसलिये मैं तुम्हें जाने न दूंगी।"

अधर्म की सातवीं सीढ़ी—राजपुत्र वध

इस प्रकार खूब खींचातानी होने लगी। एक की ना और दूसरे की हां, ऐसी खींचा खांची करते-करते वह ब्राह्मण स्त्री का मृदु हाथ छुड़ाकर चलने लगा, वह

सीधा ही राजधानी को गया और दरबार में प्रवेश करने की युक्ति सोची, दो तीन दिन तो उसका दाव नहीं लगा, एक दिन रात्रि को चोर की भांति सेंध लगा कर (छिप कर) वह सद्गुणसेन के कमरे में दाखिल हुआ और उसको निद्रावस्था में उठा कर बहुत जल्द उस स्त्री के महल पर ले आया उस राजकुमार को देख वेश्या का कलेजा ठंडा हुआ तथा उस बालक के जागने से पूर्व उसके हाथ पैर बांध लिये। फिर उस स्त्री की आज्ञानुसार चाण्डाल की भांति हाथ में शस्त्र लेकर वह ब्राह्मण राजहत्या तथा बालहत्या करने को तैयार होकर खड़ा हुआ।

पर 'जिसे राम राखे उसे कौन चाखे!' वह स्त्री अति दुष्टा थी। उसका नाम ही मोहजाली था। पर इस समय वह स्वयं ही मोहजाल में बँध गयी! 'जिसके मस्तक पर हाथ रखेगा वही भस्म हो जायगा' ऐसे शंकर के दिये वरदान से, विष्णु की माया से मोह पाकर जैसे भस्मासुर ने अपने ही माथे पर हाथ रखा था और तत्काल भस्म का ढ़ेर बन गया था, वैसे ही बहुतों को मोहजाल में फंसाने को बलवती मोहजाली इस समय मोहजाल में पड़ी, उसके हृदय में कुछ ऐसा, भाव उदय हुआ कि 'यह बालक कैद है। मेरे हाथ में है, उसे इस समय नहीं यदि पीछे मारूं तो भी कुछ हरकत न होगी,' यह धारणा कर उस ब्राह्मण से कहा—"अभी रहने दो-इसको कल प्रभात में मारना।" ब्राह्मण की भी ऐसी ही इच्छा थी, सो पूर्ण हुई। बाल कुँवर बचा। उस बालकुमार को एक कोठरी में बन्द करके दोनों गाढ़ निद्रा के वश हो गये।

दूसरे दिन सबेरे दरबार में कुमार के हरण की बात चली। चौकीदार पैरों के चिन्ह जांचते हुए मोहजाली के स्थान पर पहुँचे और दोनों पापात्मा जहां घोर निद्रा में सोते थे वहीं उन दोनों को चतुर्भुज बना दिया (बांध दिया), फिर सद्गुणसेन का पता लगाया। उसके कहने से चौकीदारों ने जाना कि अपराधी ब्राह्मण है, किन्तु राजा की पूर्वपटरानी अपराधिनी नहीं, इससे उस अकेले ही को पकड़ कर राजधानी में ले गये। ब्राह्मण का न्याय होने के लिये दरबार हुआ। सारा नगर इस न्याय के देखने को इकट्ठा हुआ। इस अवसर पर उसके गुरुदेव भी दरबार में विराजमान थे। दश ही पांच दिन में उस ब्राह्मण का रंग स्याह हो गया था, इससे वह पहचाना नहीं जाता था। गुरुजी भी उसको पहचान न सके। लोगों के तिरस्कार के बीच, गुरुदेव एक आसन पर जाकर बैठे और इस नवीन संन्यासी बाबाजी का न्याय देखने लगे।

ब्राह्मण नीची नजर से अपने स्वरूप का-अपने ज्ञान का-साथ-साथ पाप कर्म का विचार करता हुआ खड़ा-खड़ा आंखों से आंसू गिराता है। महाराज सद्गुणसेन सिंहासन पर विराजमान हैं। उनकी एक ओर मुख्यमंत्री और दूसरी ओर मुख्य न्यायाधीश बैठा है। न्यायाधीश के पूछने से ब्राह्मणभाई ने अपना इतिहास इत्थंभूत

बतलाया। वह सुन कर सब प्रजा उसे धिक्कारने लगी। 'ब्राह्मण का शिरच्छेद करना शास्त्र में निषिद्ध है इससे इस अपराधी को क्या दंड दिया जाय,' इसे न्यायाधीश विचारता था, इतने में गुरुदेव खड़े होकर बोले—"हे राजन्! हे प्रजाजनो! हे न्यायाधीश! तुम सुनो।" इस प्रसंग पर गुरुदेव अपने शिष्य का ही यह दुश्चरित निश्चय जान कर बड़े खेद को प्राप्त हुए। गुरुदेव क्या कहते हैं यह सुनने को सब प्रजा तत्पर हुई। गुरुदेव बोले—"यह मेरा शिष्य है। इस कुमार्गगामी ने जो महाभयंकर अपराध किया है, इसलिये यह कर्मत्यागी जितना दोषपात्र है उसकी अपेक्षा विशेष अपराधिनी इसकी कर्मत्यागवृत्ति और अहंकारमति है। इसकी अहंकारमति का नाश करने के लिये मैंने इसे अनेक प्रकार के उपदेश किये थे परंतु इसने अपना शुद्ध स्वरूप जाने बिना 'मैं ही परब्रह्म हूं,' तथा मेरा किसी प्रकार के कर्म से कुछ संबंध नहीं—मैं तो केवल साक्षीभूत हूं, देह अपना कर्म भले ही किया करे, उसके साथ आत्मा का लेश भी लेपन नहीं,' ऐसी अहंकारवृत्ति जागृत होने से नित्यकर्म में यह प्रमादी हो गया और सर्व नित्य नैमित्तिक कर्मों को त्याग कर यथेच्छ विचरने से वह वर्तमान फल को भोगता है। धीरे-धीरे यह परमात्मा और जीव के स्वरूप को नये प्रकार से ही देखने लगा तथा 'अल्पज्ञान अतिहानि' ऐसी इसकी स्थिति हो पड़ी है, उसे तुम देखो। जो स्थिति वास्तविक रीति से इस लोक के अनेक 'अहं ब्रह्मास्मि' हो बैठे अल्पजीवों की है, वही आज इसकी हुई है। ब्रह्मवेत्ता को सब उपाधियाँ त्याग करने की आवश्यकता है अवश्य, पर किसको? जिसको धर्म से, तप से और वैराग्य से साधनचतुष्टय सिद्ध है, आचरण से चित्तशुद्धि हुई है, उपासना से वृत्तिनिरोध सिद्ध हुआ है, वृत्तिनिरोध से योग सिद्ध हुआ है और परम साक्षात्कार का अनुभव हुआ करता है, उसको सर्व कर्म त्याग संभवता है। ऐसी निरोधवृत्ति के लिये एकान्त में रह कर इंद्रियों का उपराम करना जरूरी है। इसका स्मरण इस मूढ़ को जाता रहा था। यह आत्मस्वरूप को भूल कर अनात्म पदार्थ का सदा ही चिंतवन करता तथा यही इसके धर्मभ्रष्ट होने में कारण हो पड़ा है और आज चांडालकर्मी बन सबके समक्ष दण्ड के लिये खड़ा है। कर्मयोग यह ज्ञानयोग का प्रथम प्रवेशक है, इस लिये सर्वमान्य ग्राह्य विषय है; कारण कि जहां तक संसारी जीव संपूर्ण कर्म के भोग-भोग कर उनके प्रति तिरस्कार बुद्धि धारण नहीं करता, वहां तक उसको कर्म का भोग, भोग चुकना नही गिना जाता। जब भोगेच्छा को तृप्ति हो जाती है तब ही उसमें दोष दिखाई पड़ते हैं और जिसमें दोष जान पड़ता है उसका प्रतीकार स्वीकार ही नहीं होता, बल्कि उससे जैसे भूत के भय से कोई भागे वैसे ही ज्ञानयोग भाग कर दूर-दूर रहता है पर जिस जीव का चित्त धन में, कामेच्छा में, कीर्ति में, कलत्र में, वैभव के भोग में, जगत के व्यवहार के अनेक भोगों में लीन रहता है उसमें दोष नहीं, किंतु संतोष का साधन दीखता

है पर वह उसकी प्राप्ति में असमर्थ है। मुंह से धन, मान, स्त्री, वैभव का तिरस्कार करता है, पर चित्त से उसी का जप जपता है, तिसपर भी संन्यास का ढोंग करता है, जंगल में जाकर रहता है तथा अनेक लोगों को ही नहीं बल्कि अपनी आत्मा को भी ठगता है कि 'मैंने सबका त्याग किया है और अब मैं 'शिवोऽहम्' को प्राप्त हुआ हूं!' ऐसे जीव की परम हेतु की सिद्धि तीन काल में भी नहीं हो सकती, इतना ही नहीं बल्कि वह अपने आश्रम से भ्रष्ट होकर उसके अधिक निकृष्ट आश्रम का भोगी बनता है पर जो जीव विश्वरूप सागर में डूबकी मार, विश्व के सब पदार्थों की निःसारता देख फिर तिर आता है, वही जीव सबको निःसार जानने के पीछे उस पर फिर कभी दृष्टि नहीं करता। उसके मन में प्रथम त्याग की और फिर पीछे सत् की भावना जन्मती है और उसी में लीन रहता है, इससे धीरे-धीरे उसके व्यावहारिक कर्म छूट जाते हैं और नयी-नयी भावना के उद्भव के पीछे उसे प्राप्त कर शांति और संतोष पाकर, जैसे त्याग की हुई विष्ठा पर फिर कोई दृष्टि नहीं करता, वैसे ही अलक्षी बन कर अलक्ष्य में लीन होता है। पर जहां तक सर्व इच्छाकामना की तृप्ति नहीं हुई हो, सर्व कर्मों से विराम पाने की स्थिति में न पहुँचा हो वहां तक कर्म का त्याग बहुत ही अकल्याणकर्ता होता है और परम पद की प्राप्ति के मार्ग से उलटा पीछे पड़ता है। 'सोऽहम्' की बात तो बहुत सरल है, पर वैसा बनना बहुत मुश्किल है। जब तक मनुष्य की सद्भावना ने वैराग्य धारण नहीं किया तब तक त्याग का वेष यह अधोगति का ही स्थान है। इस लिये जीव को जब तक व्यावहारिक और परमार्थिक कर्मो की भावना का वैराग्य हुआ नहीं, तब तक व्यवहार का त्याग न करना चाहिये। इस लोक का जीव जब तक परम तत्त्व के शुद्ध स्वरूप का ज्ञाता नहीं बना, तब तक कर्मोपासना उसके कपाल से लगी ही हुई है तथा उसी में उसका कल्याण है। किन्तु इस विचार के त्याग से और व्यावहारिक तथा पारमार्थिक नित्य के कर्म में पीछे रहने से पतित होता है। पतित होने से धर्माचरण उत्तरोत्तर चूकता जाता है। उसका संपूर्ण वृत्तांत अभी आप सज्जनों के समक्ष इसने अपने मुहं से वर्णन कर सुनाया है, धर्म की पहली सीढ़ी चुकने से यह कैसी अधोगति को प्राप्त होता गया है, सो देख लो! हेतु की सिद्धि कहां है, इसके संपूर्ण ज्ञान से पूर्व ही व्यवहार तथा उसके कर्म का त्याग किया, अधिकारी न होने पर ज्ञान संपादन करने गया-नित्य कर्म का त्याग किया तथा अहंकार के सेवन से इसकी बुद्धि भ्रष्ट हुई, बुद्धि भ्रष्ट होते ही धर्मसेवा तथा गुरुसेवा पूर्ण करने के लिये परद्रव्य की लालसा हुई, परद्रव्य के हरण से स्त्री का प्रसंग प्राप्त हुआ, उस प्रसंग से भोगेच्छा जागृत हुई, कामवश हो ब्राह्मण के लिये अयोग्य मधु पिया, पशुहत्या की, मांस खाया, पर स्त्री-रजस्वला-चाण्डालिनी-शूद्री का सेवन किया, उसे प्रसन्न करने के लिये धीवर का आचरण किया, मत्स्याहार किया, द्यूत में हार प्रतिज्ञा पूर्ण करने के

लिये तस्कर के समान राजभवन में प्रवेश करके राजा—जो ईश्वरांश है उसका हरण कर, उसका घात करने को भी तत्पर हुआ। अहो! धर्म की एक सीढ़ी उल्लंघन करनेवाले की क्या गति! इस संसार का कोई भी जीव जो धर्म की एक भी सीढ़ी को चूकता है तो उसकी यही गति होती है, महात्मा पुरुषों का वचन है कि—**'नास्ति भ्रष्टे विचारः'** जो भ्रष्ट हुआ बैठा है उसे विचार नहीं है। **'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः'** देखो! अब इसको संपूर्ण परिताप होता है। अहंकार से होने वाले पाप का प्रायश्चित्त करने के लिये इस समय तैयार है। पतितपने के तापरूपी दावानल की ज्वालाओं से यह इस समय तप गया है। इस समय इसको मृत्यु से भी अधिक दुःख होता है, पर इन ज्वालाओं में भस्म होने को यह परम सुख मानता है। सत्य त्यागी संन्यासी के जीवन की अपेक्षा सत्य कर्ममय गृहस्थ का जीवन श्रेष्ठ है! इसको जो अधिकार न था उसका अधिकारी बन बैठा, इसके लिये दुःखित है! हे राजन्! इसका बड़ा भारी अपराध है, परन्तु जो प्रायश्चित्त यह इस समय करता है सो मैं प्रत्यक्ष देखता हूं। यह ब्राह्मण है। ब्राह्मण घोर अपराधी हो तो भी उसको प्राणांत दंड देने की शास्त्र में आज्ञा नहीं, इससे इसे महापाप का प्रायश्चित्त भोगने के लिये बारह वर्ष पर्यंत वनचर की मार्फिक वन में विचरने की आज्ञा कीजिये, यह योग्य दंड है।"

गुरुदेव के प्रति सारे नगर का और राजसभा का पूर्ण भाव होने से उनकी आज्ञानुसार उस ब्राह्मण को उसके पापकर्म का प्रायश्चित्त भोगने के लिये वन में भेज दिया। सब प्रजा ने गुरु महाराज की तथा उनके ज्ञान की अत्यन्त प्रशंसा की तथा सबको आशीर्वाद देते हुए गुरुजी अपने घर को पधारे।

हे वत्सो! शंकरस्वरूप कैलास के समीप विराजमान महात्मा ने सुविचार से कहा—"फिर वह शिष्य वन में गया और अपने महापाप का बारह वर्ष पर्यंत प्रायश्चित्त करके घोर तप के द्वारा निष्काम, अकाम, निष्क्रिय, जीवशिव की एकता का ज्ञान प्राप्त कर, गुरुदेव के शरण आया। अब वह अकाम था, पूर्ण तृप्त था, असंग था, देहाभिमानरहित था, शांत, निर्विकार, क्रियारहित था। उसका ऐसा स्वरूप देख कर गुरु परम प्रसन्न हुए तथा शिष्य को आशीर्वाद दे अपने पास रख कर, उसमें जो कुछ त्रुटि थी उसे पूर्ण कर शुद्ध कांचन जैसा बनाया। अंत में दोनों गुरु और शिष्य अपनी-अपनी गति को प्राप्त हुए।"*

X X X X

हिमगिरि के महात्मा ने सुविचार तथा छद्मलिंग का संबोधन करके कहा "हे वत्सो! संसार में रह कर मनुष्यों को धर्माचरण करते कितनी सावधानी से रहने की

* स्मरण रहे कि यह स्थिति जन्मान्तर में अनेक प्रकार से ज्ञानयज्ञ पूर्ण होने पर होती है।

जरूरत है, सो संन्यासी ब्राह्मण की उक्त कथा से तुम भली भांति समझे होगे, धर्मशास्त्र की-महापुरुषों के वचनों की कभी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। मृत्युपर्यन्त कभी धर्म के वचन तथा क्रिया न चूके इस बात से सावधान रह कर धर्म से धर्म का संरक्षण करना। जिसने संपूर्ण व्यवहार भोगा है और उसमें दोष देखा है तथा संसार को असार जाना है वही संपूर्ण व्यवहार का त्यागी बन सकता है। बिना भोग-भोगे त्यागी-त्यागी नहीं पर वैरागी है! वह कभी भी जितात्मा बन नही सकता। कामना-वासना-भावना-रहित बनता नहीं, ब्रह्मसाक्षात्कार योग्य अन्तःकरण की शुद्धि कर नहीं सकता और अनन्यता को पाता नहीं। जो वैरागी है वह धर्म की एक भी सीढ़ी चूकने से अवधिरहित पतन को पाता है। संसार में रहने वाले जीव को काम, क्रोध, लोभ, मोह, माद, मत्सर, आशा, तृष्णा को संपूर्ण रूप से विजय करना चाहिये और धर्म में क्षणभर भी प्रमाद नहीं करना चाहिये तथा जो होनहार नहीं होगी वह होगी नहीं और जो होनहार है वह मिटने की नहीं, ऐसे विचार का अनुसरण न करते हुए भावी को मिटाने का पुरुषार्थ करके उत्तमता पाने का प्रयत्न करना आवश्यक है। धर्म के स्वरूप को जाननेवाले जीव को विवेक, विरक्तता, शमादिक गुण प्राप्त करना, अद्वैत का विचार करना, चित्तवृत्ति का निरोध करना, वाणी का निरोध करना, निराशा में नहीं रहते हुए निरिच्छ रहना, नित्य एकान्त में रहकर, क्षण-क्षण स्वस्वरूप का विचार किया करना, वासना का क्षय करना, मन का नाश करना और तत्त्वज्ञान के लिये निरंतर प्रयत्न किया करना-फिर गृहस्थाश्रम को छोड़ना चाहिये। जो विवेकी है, मन, वाणी और शरीर को नियम से रखता है, कर्मयोग को सिद्ध करके ध्यानयोग में परायण है, कामनावासना का नाश करने वाला है, वैराग्य का आश्रयी है, अहंकार का चूर्ण कर डालने वाला है वही शान्त तथा नित्यमुक्त है, वही त्याग का अधिकारी है तथा वही परम पुरुष को देखता है कि जो :—

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषुयः पश्यति स पश्यति ॥*

ॐ

* जिसकी वृत्ति परस्त्री में माता के समान है और जो पराये द्रव्य को मिट्टी के ढेले के समान मानता है तथा प्राणी मात्र को अपने समान देखता है, वही सचमुच देखने वाला है।

चतुर्थ बिन्दु

मायापति की माया

सम्भाव्येतरघटनापटीयसी सा सम्मोहं जनयति विभ्रमेण माया।

अर्थ :—जो असंभवित पदार्थ के उत्पन्न करने में बड़ी कुशल है वह माया विभ्रम उपजाकर जीव को मोहित करती है।

प्रभात होते ही मुनिचक्रचूड़ामणि योगीन्द्रदेव इस देह के कर्तव्यकर्म से निवृत्त हो आसन पर विराजमान हुए हैं। दोनों हाथ जोड़े सुविचार तथा छद्मलिंग, महात्मा के मुखचन्द्र में से झरते हुए अमृत का पान करने के लिये अत्यन्त जिज्ञासुपन से सम्मुख बैठे हैं। उनकी जिज्ञासा तृप्त करके के लिये इन मुमुक्षु जीवों को परम पद प्राप्त करने के लिये महात्मा ने उपदेश आरंभ किया।

महात्मा ने कहा—"प्रिय वत्सो! इस जगत के जीवों का परम पद चैतन्यस्वरूप, आनंदस्वरूप-अविनाशीस्वरूप प्राप्त करने में अवरोध करने वाली परमात्मा की प्रेरित माया है। माया का मोह ऐसा दृढ़ है कि उसमें से महान् प्रयत्न से भी इस लोक का लालची जीव छूट नहीं सकता। यह महामाया ऐसी समर्थ है कि 'ज्ञानी के* चित्त को भी बलात्कारपूर्वक आकर्षण कर महामोह में ढ़केल देती है।' वह ऐसी अपार है कि उसका शुद्ध स्वरूप देवताओं के देवता भी नहीं जान सकते! वह अव्याकृत परम प्रकृतिरूप है। अविद्यारूपी जो अधंकार अंत में व्याप्त है, उसकी वह क्षण-क्षण वृद्धि करती है। इस माया की सामर्थ्य का वर्णन करने में शेषजी भी असमर्थ हैं। उसका अनेक रूप से जगत में विस्तार है। जब तक जीव अविद्या के वश रहता है, अज्ञानकाल के अंधकार में गोते खाता है, असत् में सत् को देखता है तथा इसी से वह असत् के सेवन के लिये उत्सुक रहता है, तब तक यह मोहिनी माया संसार के भँवरमय सागर से छूट कर सुखभुमि में जाय बैठने को समर्थ नहीं होने देती-मुक्ति के द्वार पर दृष्टि भी नहीं होने देती। स्वस्वरूप का अज्ञान यही माया का स्वरूप है, जिसको परमेश्वर का, ब्रह्म का, जीव तथा शिव के अभेदत्व का, संसार की अनित्यता का स्वयं बोध होता है वही इस माया के पार पहुँचने का प्रयत्नशील बन

---

* ज्ञानिनामपि चेतांसि, देवी भगवती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय, महामाया प्रयच्छति ॥

सकता है। यद्यपि आत्मारूपी अतर्क्य बड़े महासागर में मायारूपी एक छोटा सरोवर है, तथापि उसकी बलसत्ता प्रगाढ़-अगाध है। इस माया की फांस में बँधा हुआ जीव इस प्रगाढ़-अगाध सरोवर में सूक्ष्म मच्छरूप है। पर सरोवर प्रगाढ़ है, इससे उससे पार होकर परमात्मरूप पृथ्वी पर आकर शांति नहीं पा सकता। क्योंकि :–

अग्रे वह्निः पृष्ठे भानू रात्रौ चिबुकसमर्पितजानुः।
करतलभिक्षा तरुतलवासस्तदपि न मुञ्चत्याशापाशः॥

'आगे अग्नि जलती है, पीछे सूर्य तपता है, रात को ठोढ़ी घोंटू में दबा कर, घोंटू पेट से लगा कर सो रहना पड़ता है, भिक्षा मांगने के लिये हाथ के सिवाय दूसरा पात्र भी नहीं तथा वृक्ष की छाया तले सोना है तो भी जीव आशा के पाश को छोड़ता नहीं। ऐसी इस प्रपंचकुशल माया की प्रबल शक्ति के कारण पुरुष अविद्या के पाश में से छूट नहीं सकता। उलटा यह पुरुषरूपी मत्स्य धीरे-धीरे अज्ञात रीति से मायारूपी इस महासरोवर के कीच में ऐसा घुस बैठता है कि गुरुरूपी समर्थ तैराक उसे निकालने का प्रयत्न करता है तो भी वह निकल नहीं सकता-प्रसंग पड़ने पर तो अनेक माया की मोहिनी में लीन हुआ वह पुरुष संसाररूपी कीचड़ में घुस बैठने में ही आनन्दित रहता है! मायारूपी महासरोवर में से बाहर निकल कर रत्नाकररूपी व्यापक परमात्मभूप्रदेश में क्या आनन्द है, इसका तो उसे ज्ञान होता ही नहीं; अरे! ज्ञान करने वाले के वचन को वह मिथ्या मानता है तथा सच्चिदानन्दात्मक भूमिवासी पुरुष की भेदभावना नष्ट होने से कैसी स्थिति बन जाती है इसका उसको स्वप्न में भी ख्याल न होने से 'माया की कल्पित सृष्टि में सर्व आनन्द है, सर्व सुख है,' ऐसा वह समझता है। स्वप्न के समान अज्ञानावृत कल्पित अहंता ममता, अपना पुत्र, घर, स्त्री, धन, कीर्ति तथा सगे सहोदरों में उसकी बुद्धि उनको सत्य मानकर मूढ़ की भांति जहां तहां भ्रमती है। तमोगुण से घिरा रहकर अनित्य को नित्य और अनात्मा को तारक आत्मा मान विपरीत भ्रमित बुद्धि से घिरकर द्वैत में ही आनन्द मान लेता है। वह ऐसा भटकता है कि प्रिय आत्मा-परमात्मा कैसे अखण्डानन्दवाला है उसका भान भी यह माया होने नहीं देती। अज्ञानावृत माया के महासमुद्र में रचेपचे रहे ऐसे पुरुष को आत्म भूमि पर परमात्मा के साक्षात्कार की भूमि पर जो अद्वितीय आनन्द व्याप रहा है, जो सकल सुख का धाम है, जिस सुख का कभी अन्त नहीं, ऐसे अविनाशी नित्यानन्द सुख का भोक्ता होने के लिये तथा देह और प्रारब्ध के योग से नवीन निज भूमि पर यह माया शक्ति आने ही नहीं देती। पर जो पुरुष इस

माया के महासमुद्र को तर निजभूमि पर आता है, उसको सब अद्वितीय, अनिर्वचनीय, परम प्रकाशक ऐसे परमात्मा-परम पुरुष पुरुषोत्तम का दर्शन होता है तथा फिर वह उसी में विलीन होता है। इस परमात्मा का जो दर्शन वही माया का अव्यक्त स्वरूप है और विलय अर्थात् उसी रूप हो जाना इस स्थिति को प्राप्त होने के लिये द्वैत का विनाश होना चाहिये—जिस विनाश को मायापति की प्रेरित अविद्यावेष्टित माया होने नहीं देती। वह जहां द्वैत का नाश होता है, वहां माया की प्रेरित माया की शक्ति आवरण नहीं कर सकती। माया यह मिथ्या है, ऐसा जब पुरुष को साक्षात्कार होता है, तभी वह अपने अज्ञानकाल में व्यक्तरूपी माया को प्रत्यक्ष रूप से देखता है। इस माया का ही अव्यक्त स्वरूप देखकर जिस आनन्द को प्राप्त होता है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, जगत् का आनन्द मात्र उस आनन्द के छीटें के बराबर भी नहीं। इस आनन्द की महापवित्र सरिता छलाछल भरी हुई होते हुए शान्त, निर्मल, मधुर और आल्हादजनक है। इस आनन्द को जो भोगता है वही भोगना जानता है। पर जानने वाला दूसरे को नहीं जना सकता, भोगने वाला उसको नहीं भुगा सकता, लेने वाला दे नहीं सकता, न दिला सकता है, इस आनन्द—प्रेम में जो मस्त होकर रमता है उसे तो

'नियम सर्व नाशै रे, जब प्रेम तो व्यापै।
निद्रा जिसको आवै रे, वह उत्तर कैसे आपै (दे) ॥

ऐसी गति बन रहती है। इस आनन्दरस के झेलने वाले जीव बहुत थोड़े होते हैं, क्योंकि परमात्मा की प्रेरित माया दुर्लव्य है। पर जो परमात्मा के शुद्ध स्वरूप को भक्ति से-योग से-ज्ञान से जानता है वही माया का उल्लंघन कर इस आनन्दरस को पीता है।

विद्वान्, गुणवान्, नीतिमान् जीव को भी विषयाभिमुख देखते ही निजानंद की विस्मृति कराने वाली यह माया है। बुद्धि का स्वल्प दोष हुआ कि उसके द्वारा यह माया संसार के अधम आगार में घसीट कर विक्षेप करा देती है। जैसे व्यभिचारिणी स्त्री जब ईश्वरभजन करती है, उसका सेवन करती है, अर्चन, वंदन, दर्शन करती है उस समय वह क्रीड़ा में कैसी ही लुब्ध हो तो भी अपने प्रियतंम का स्मरण होते ही उसकी वृत्ति वही जुड़ जाती है, यही गति माया से लुब्ध पुरुष की है। अज्ञानी जीव प्रभु के प्रेम में दिन भर लिपटा रहता है पर एकान्त मिलते ही, प्रभुस्मरण क्षण भर दूर होते ही-विसर कर क्षण भर विषय की वासना प्रकट हई कि तत्काल उसके ऊपर आवरणशक्ति ऐसा सघन

अंधकार कर देती है कि जो आनन्दस्वरूप का अल्प स्वल्प दर्शन हुआ हो उसकी विस्मृति करा कर उसे माया में दबा देती है। जैसे तालाब की काई (सिवार) दूर करो तो क्षण भर भी दूर रहती नहीं, फिर अपना जल पर आवरण डाल देती है, वैसे जो प्राज्ञजीव सांसारिक विषय से पराङ्मुख हुए हैं वे माया की धुंध (धूल) में भूल कर लकड़ी के धोखे बड़े मगर के ऊपर बैठ कर नदी के परले पार जाने की इच्छा करने वाले जीव की तरह विषयाभिमुख होते ही डूब जाते हैं। जगत् के जीवों को इस माया ने बहुत-बहुत भुलाया है–अनेक प्रकार के क्लेश पाने पर भी इस माया से वे मुक्त हो नही सके। इस माया के अनेक रूप हैं–स्त्री, पुत्र, धन, देह, कीर्ति, विषयसुख इत्यादि अनेक हैं। पर जिस जीव की वृत्ति वासना, पुत्रप्रेम, स्त्रीप्रेम, धन प्रेम, कीर्तिप्रेम–ऐसे-ऐसे कर्म के विलास-भोगैश्वर्य से पराङ्मुख होती है वही वैराग्य को प्राप्त करके इस माया का नाश करने में समर्थ बनता है। क्योंकि वैराग्यसम्पन्न पुरुष प्रपंच का त्याग करने में सदा ही उत्साही रहता है। वह अपनी सहायता में शम, दम, क्षमा, आदि सद्गुणों को सशस्त्र और सुसज्जित रखता है तथा उन्हीं के द्वारा माया के सैन्य का पराजय करता है। पर अज्ञानी जीव काई के ढके हुए उत्तम जल को छोड़ कर जैसे मृगतृष्णा के जल को पीने की इच्छा करता है, वैसे ही परमात्मा के सत्य स्वरूप से पराङ्मुख हुआ जीव न ज्ञान, न वैराग्य, न भक्ति, किसी का भी सेवन न करके माया में लुब्ध हो उसकी प्रेरणा से प्रेरित होकर बाजीगर के पूतले की तरह नृत्य करता है।

माया कैसी बलवान् है इस पर परमात्मा तथा श्रीनारदजी की कथा बहुत ही विचारने योग्य है। एक समय देवर्षि नारदजी परमात्मा के गुणगान के आनन्द में मस्त हुए भगवान के मंदिर में पधारे। बातों के प्रसंग में नारदजी ने कहा–'हे भगवान्! हे अनिवाशी! हे जगन्मात्र की लीला विस्तारने वाले! आप कहते हैं कि 'मेरी माया अजित है' 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।' 'यह मेरी गुणमयी दैवी माया दुरत्यय है' और यह सारा जगत् इस त्रिगुणात्मक माया की लटा छटा से मोहित है, इससे परमात्मा के जानने में समर्थ नहीं होता, तो कहिये! यह आपकी माया कैसी है? मैं उसे नहीं जान सका। हे कृपासिंधु! अपनी माया के स्वरूप का मुझे दर्शन कराइये।

परमात्मा ने कहा–हे नारद! मेरी माया का विस्तार बहुत बड़ा है। दुष्कृति, मूढ़, नराधम, जीव मेरी माया से आवृत होकर ऐसी आसुरी वृत्ति में पड़े हैं कि वे इस माया के पाश में से छूटने का संकल्प भी नहीं करते। यह माया दो प्रकार की है-शुद्धसत्त्वा और मलिनसत्त्वाः शुद्धसत्त्वा=माया, मलिनसत्त्वा=अविद्या। शुद्धसत्त्वा मायावेष्टित के चित्त में इसका प्रतिबिम्ब

पड़ने से जो दर्शन होता है वह परम तोष—परम—आनंद—परमसुख—परमपद की प्राप्ति कराता है तथा वह मलिनसत्त्वा परब्रह्म के ज्ञान से रहित कराकर जीव को संसारी जाल में लपेट जैसे गर्भ लिपटा रहता है वैसे रखती है। यह माया महादुरत्यय—दुस्तर है। इसमें से तारने का प्रयत्न करता है—छुड़ाने वाला छुड़ाने का प्रयत्न करता है तो भी माया की लटा छटा से मोहित हुए पुरुष से उसका त्याग हो नहीं सकता और न वह मुझे प्रसन्न कर सकता है। पर जिसने अविद्या का तिरस्कार कर मेरे स्वरूप का शोधन किया है, जाना है, देखा है, ऐसा ज्ञानी ही मुझे प्रसन्न कर सकता है। नित्य दुष्ट कर्म करने वाला, पापचरण में लीन, साधुजनों की उपेक्षा करने वाला, धर्मसाधन से पराङ्मुख, प्रेमभक्ति से रहित, मेरे गुणगान करने से भ्रष्ट, मोह में भटकने वाला जीव मेरी प्रेरी हुई इस माया का स्वरूप न जानने से जगत के जाल में लट्टु-पट्टु-लोट-पोट बन के अनेक जन्मों में भी नहीं छूट सकते, तो वे क्षणिक संसारसुख में, धन, पुत्र, दारा, प्रपंच, असत्य और कीर्ति में ही आनंद का प्रभाव समझ जगत को-संसार को ही सत्य मानते हैं तथा उसी में सर्व आनंद का—श्रेष्ठ आनंद का रहस्य समझते हैं और इसी से ही निजानंद का आनंद भोगने की क्षणमात्र भी इच्छा नहीं कर सकते, बल्कि उसी में फँसे रहने के लिये प्रसन्न चित्त से उत्सुक रहते हैं, यही हमारी माया का प्रगाढ़—अगाध स्वरूप है।

'इस माया का स्पष्ट स्वरूप कामना है—वासना है—अशुद्ध संकल्प है। इस कामना में लुब्ध हुआ जीव शम, दम, उपराम, तितिक्षा, श्रद्धा आदि साधनों की क्षणभर भी जिज्ञासा करता नहीं। उसी प्रकार उसको अकाम, निर्वासनामय बनने की भावना भी नहीं होती। उसे श्रेय और प्रेय का विचार ही नहीं रहता। पर जिसके श्रेय और प्रेय भिन्न हैं वही संसार की वासना से मुक्त हो, परम आनंद का भोगी होता है। हे वत्स नारद! माया का स्वरूप कैसा है, माया की मोहिनी में लोट-पोट हुआ पुरुष माया की कैसे उपासना करता है, इसका यथार्थ दर्शन करना हो तो, जंबूद्वीप के भारत खंड में जाओ। उसकी दक्षिण दिशा में प्रतिष्ठान नामक एक सुन्दर नगर है। उस नगर में मायाशंकर नामका गुणवान्, विद्वान् और नीतिमान् तथा सर्व शास्त्र का ज्ञाता होने पर भी मायालुब्ध एक ब्राह्मण बसता है। वहां जाकर तुम मेरी माया का स्वरूप देखो! उस मायालुब्ध जीव को उसकी इच्छानुसार माया से मुक्त कराकर यहां ले आओ तो तुम्हारा पराक्रम समझूंगा तथा तब ही लक्ष में आवेगा कि मेरी माया कैसे दुरत्यय है।'

परमात्मा की आज्ञा होते ही नारदजी प्रतिष्ठानपुर की तरफ चले। मार्ग में चलते-चलते उन्होने अपना स्वरूप बदल कर संत का स्वरूप धारण किया। फिर मायाशंकर के घर जाकर 'भवति भिक्षां देहि' 'नारायण हरे' का आशीर्वाद देकर खड़े रहे। मायाशंकर के हृदय के किसी अशं कोने खांचे में कुछ-कुछ श्रद्धा थी। 'अतिथिसत्कार यह गृहस्थ का कर्तव्य है' इस बात का उसे ज्ञान था। 'प्रभु ही सबका जीवन है, वह एक, अद्वितीय और नित्य मुक्त है। उसी का सेवन, भजन, पूजन भवसागर से पार करता है।' ऐसा विचार उसे नित्य होता था, पर मायापति की माया से वह पराङ्मुख नहीं होता था तथा वहीं उसे मुक्ति के मार्ग की ओर प्रयाण करने में अटकाती थी। 'नारायण हरे' ऐसा शब्द सुनते ही मायाशंकर ने द्वार पर आकर नारद जी को प्रणाम कर भिक्षा के लिये निमंत्रित किया।

नारदजी घर में पधारे, इतने में मायाशंकर की दुर्मुखी नामक स्त्री वहां आकर क्रोध करके बोली–"अरे ओ बूढ़े! तूने इस साधुड़े बाधुड़े को कहां अपने दादे के घर में ला बिठाया। इस जोगिया का पेट भरने के लिये डेढ़ सेर पक्का भोजन कौन बनावेगा? मैं तो इस समय महादेवजी के दर्शन करने जाती हूं और कथा सुने बिना वहां से आऊंगी भी नहीं। तुझे खिलाना हो तो खिलाना!'

ऐसा कहती हुई दुर्मुखी सड़सड़ाहट के साथ घर में से बाहर चली गयी और नारदजी तो मंगलाचरण में ही जो गणेशपूजा हुई, उससे चकित हो अवाक् हो गये। वे मन में विचार करने लगे कि–'परमात्मा ने मुझे माया का स्वरूप देखने तो ठीक भेजा। अहो हो! इस जगत की माया कैसी दुस्तर है! उसका स्वरूप मैं आज ही देखता हूं। 'स्त्रियों को यज्ञ, देवदर्शन, व्रत, उपवास अथवा परमुख से कथाश्रवण करना, सांसारिक अथवा त्यागी गुरु की सेवा करना, ये कोई भी फलदायक नहीं और न उसका कल्याण करते हैं। स्त्री तो पतिसेवा से ही सत्यलोक को प्राप्त कर सकती है। स्त्रियों का सत्य धर्म तो पतिसेवा ही है। स्त्री को सब देवतओं में परम दैवतरूप अकेला पति ही है।' ऐसे धर्म को भूल कर जो स्त्री देवदर्शन, ईश्वरपूजन, कथाश्रवण वगैरः में द्वार-द्वार पर भटकती रहती है उसका किसी काल में भी कल्याण नहीं होता, ऐसा देव का वचन है; तो भी यह स्त्री अपने पति को न योग्य वचन कह, न करने योग्य तिरस्कार कर, किस महत्फल के लिये भगवान् शंकर के दर्शन और कथा सुनने को जाती है? परमात्मा ने मुझसे कहा है कि यह ब्राह्मण विद्वान् और गुणसंपन्न है तो इसके पास से कथा श्रवण कर आत्मा का कल्याण करने के लिये इस स्त्री को इच्छा करनी चाहिये थी, उसके बदले भवभटकन के हवाई चक्कर काटने के लिये यह कहां दौड़ी जाती है?

सचमुच समीप का तीर्थ, घर का कर्मान्तर कराने वाला गुरु, गांव का आचार्य, घर का मनुष्य, इनको कोई गिनता ही नहीं। हरिद्वार में बसने वाला निर्मल गंगाजी के स्नान को तुच्छ गिर कर मणिकर्णिका के घाट को कल्याणकारी मानता है। गांव का आचार्य तत्त्वज्ञान की परम कथा कहता है तो भी कोई सुनने नहीं जाता तथा विदेश से आये हुए स्वामी रामानन्द, भीमानन्द, कि जो गांव के आचार्य के समान नहीं, अल्प हैं, लोभी हैं, उनका उपदेश श्रवण करने के लिये लोग भाग-भाग कर जाते हैं और कहते हैं कि 'वाह! क्या मधुरी कथा कहते हैं कि जानो सुना ही करें।' जो मनुष्य अनेक जनों को सलाह देता है, अनेकों को उत्तम मार्ग दर्शाता है, अनेकों का विरोध दूर करा कर मैत्री करता है, उस पुरुष को उसके स्त्री पुत्रादि कहते हैं 'जाओ जाओ, तुममें कुछ भी अक्ल ही रही नहीं, तुम्हारी बुद्धि अब बूढ़ी हुई। तुम अब बैठे-बैठे माला जपते रहा करो!' विद्या पढ़ कर प्रभु को जाना नहीं, शिष्य होकर गुरु को संतुष्ट नहीं किया और पत्नी होकर पति की आज्ञा का पालन नहीं किया, उसकी विद्या, शिय्यपन और पत्नीपना वृथा ही है।'

ऐसा विचार करते हुए नारदजी को मायाशंकर ने आसन दिया। नारदजी विराजमान हुए। मायाशंकर अपने नित्यकर्म में प्रवृत्त हुआ। नित्यकर्म से निवृत्त होकर प्रभु की प्रार्थना करने लगा कि 'हे दीनदयालु! हे भक्तप्रति पालक! इस दास के ऊपर दया करके इस स्त्री से अब मुझे छुड़ाओ। अपने किसी जन्मजन्मांतर का पापकर्म भोगते हुए अब मैं त्रस्त हो गया हूं, मुझसे अब यह दुःख सहा नहीं जाता। हे प्रभु! मैं अब तुम्हारे शरण हूं, हे कृपासिंधु! मुझे अब इस भवसंकट में से उबारो!' ऐसी उसकी शुद्ध हृदय की प्रार्थना सुन, नारदजी समझे कि 'यह ब्राह्मण तो संसार से दुःखित हो गया मालूम होता है, यह कुछ मायालुब्ध मालूम नहीं होता, अरे! इसमें उस माया का स्वरूप क्या देखना था?' तत्क्षण नारदजी के कान में आवाज हुई कि 'हे नारद! धीरज धर तथा जो लीला हो उन्हें देख, अधीर न बन।' फिर नारदजी नारायण का नाम रटते हुए स्वस्थता से आसन पर विराजमान रहे।

मध्याह्न होते दुर्मुखी घूमघामकर घर आयी। मायाशंकर की पुत्रवधु ने रसोई तैयार की थी, उसमें से एक थाल परोस पति के सामने रख दूसरा थाल नारदजी के मुख के सामने पटक दिया और इतने जोर से पटका कि नारदजी की कटोरी में दाल उछल कर मायाशंकर के ऊपर छींटे गिरे और वह झुलस गया।

वह नम्रतापूर्वक बोला—'कुछ हरज नहीं? दूसरी दाल परोस दो, तुमको तो कुछ पीड़ा नहीं हुई न?'

पर कर्म धर्म के योग से फिर दाल लाते समय वह दाल की गरम-गरम कटोरी दुर्मुखी के पांव पर गिरी और हाय-हाय करती हुई, दुर्मुखी बाई बैठ गयी। तुरंत

ही मायाशंकर ने उठकर उसके पैर धोने को पानी दिया। पर ज्यों ही पैर पर पानी डाला कि वह चिल्लाई कि 'मुए, मुझे मार कर जला देगा क्या? ऐसा कहती हुई उस स्त्री ने मायाशंकर को ऐसी लात मारी कि वह बिचारा बुड्ढा दीवार पर जा गिरा और सिर फूट कर माथे में से लोहू बहने लगा। दुर्मुखी ने उसकी कुछ भी परवाह नहीं की। वह तो बुड्ढे को दुर्वचन कहती गई। मायाशंकर ने कुछ भी क्रोध या खेद न किया। अपने हाथ अपना माथा धो, घाव पर पट्टी बांध, दुर्मुखी के पैर पर तेल चुपड, उसके लिये बिस्तर बिछा, उसे उस पर लिटाकर पीछे पैर पर दूसरी औषधियें करने लगा। मायाशंकर क्षण-क्षण दुर्मुखी से छूटने की ईश्वर से प्रार्थना किया करता था और इसी समय ईश्वर ने उसकी प्रार्थना सुनी थी। उसकी स्त्री दुर्मुखी इस जलने के कारण बहुत बीमार पड़ी, तब तो मायाशंकर नारदजी की सेवा पूजा भूल कर स्त्री की सेवा पूजा अर्चा में सारे दिन रुका रहने लगा। दुर्मुखी गाली दे, मारने उठे, मुह पर थूके, मायाशंकर इन बातों पर कुछ भी ध्यान न दे। मायाशंकर तो मायाशंकर ही था। बाहर का दिखाव माया के त्यागी का सा था, परन्तु अन्दर से तो वह माया का रागी था। दिन-दिन स्त्री का रोग बढ़ता गया तथा मायाशंकर माया के वश हो रोने लगा :—'अरे! मेरा घर नष्ट होने को तैयार हुआ है। हाय! हाय! मेरा संसार टूटा जाता है। रे रे! मैं बुढ़ापे में रोते-रोते मरा। अरे बाप रे! अब मैं भटक-भटक कर मरा। मेरी अब क्या दशा होगी? ऐसे कहते-कहते आंखों से अश्रुधारा बहाने लगा और चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा।

नारदजी ने कहा 'ब्रह्मदेव' तुम तो नित्य-नित्य परमात्मा से प्रार्थना करते थे, कि इस स्त्री से मेरा छुटकारा करो। वह तुम्हारी प्रार्थना परमात्मा ने सुनी है। आज वह तुम्हारा कल्याण करता है। तुम उससे शोक किस बात का करते हो? जो जन्मा है, वह तो जायेगा ही। जन्म का पर्याय ही मृत्यु है। हे ब्रह्मदेव! 'प्रकृति* यह तो मरण है तथा विकृति जो है उसे ही अच्छे पुरुष जीवन गिनते हैं।' महात्मा वसिष्ट मुनि ने श्रीरामजी को उपदेश करते कहा था कि 'दोषरूपी मुक्ताफल की माया का जिसने त्याग किया है, बड़वानलरूप कोप का त्याग करके जिसने विवेकरूपी शस्त्र धारण किया है, अनंग की पीड़ा से जो जीवन्मुक्त हुआ है ऐसे ही जीव को मृत्यु नहीं मारता, शेष तो सब मृत्यु के खाये हुए ही हैं, ऐसे मृत्यु का तुम किस लिये शोक करते हो? तुम और तुम्हारी स्त्री एक समय, एक स्थल, एक घर नहीं जन्मे तथा तुम्हारी मृत्यु भी अलग-अलग ही होगी, इसमें शोक क्या? संसार में ऐसी भी कहावत है कि

* मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥ (रघुवंश 8-87)

दोनों का साथ नहीं होता। या तो तुम्हीं पहले मृत्यु के शरण होगे या वह पहले मृत्यु की शरण होगी। ऐसा आदि अनादि का नियम है। उसे कौन मिथ्या कर सकता है। हे भूदेव! तुम्हारे जैसे विद्वान् पुरुषों को तो संकट में कभी शोक न करना चाहिये। तुमको तो संसार से उदासीन रहना चाहिये। क्योंकि संसार में प्रीति करने योग्य कोई सुख तुमको है ऐसा मुझे मालूम नहीं होता। जो संकट तुमको यह स्त्री देती है, कुटुंब के सामने अयोग्य वचन कह कर तुम्हारी मानहारि करती है, इस पुत्रवधू के समान तुमको बुरा भला कहती है, पति तो परमेश्वर के तुल्य है उसका यह स्त्री अनेक दुर्वचनों से तिरस्कार करती है, ऐसी स्त्री से और ऐसे संसार में से मुक्त होने के लिये परमात्मा ने तुमको जो यह शुभ योग दिया है, ऐसे समय के लिये अपने शोक को छोड़ हर्षित हो, अपने आत्मा का कल्याण कर लेने का यह शुभ योग ग्रहण करो।'

मायाशंकर ने रोते-रोते कहा :—'हे महाराज! अपना ब्रह्मज्ञान इस समय रहने दो और मेरा घर बिगड़ा जाता है उसके लिये कुछ करो। जो मेरी स्त्री इस बीमारी में से उठेगी तो मैं सौ ब्राह्मणों को भोजन कराऊंगा, सहस्र गोदान दूंगा, लक्ष गायत्री जपूंगा! हे महात्मा! आपके पास जो कोई जड़ी बूटी हो तो उसे देकर मेरी स्त्री को मृत्यु के मुख में से बचाओ।'

नारद जी ने कहा—'अरे ओ मूढ़! जब मृत्यु निश्चित है तब उसके वारण करने को कौन समर्थ है? मूढ़ मनुष्य ही जप-तप को मृत्यु के रोकने का उपाय मानते हैं। जो इस प्रकार मृत्यु का वारण होता तो कोई जीव कालपाश में पड़ता ही नहीं।'

इस प्रकार नारदजी ने बहुत-बहुत उपदेश किया, पर माया में लुब्ध मायाशंकर के हृदय में उसका कुछ भी असर नहीं हुआ। जब उसकी स्त्री मर गयी तब वह पागल आदमियों की तरह यद्वा तद्वा (आंय बांय सांय) बकने लगा :—'हाय-हाय मेरा घर बिगड़ गया, मेरा बुढ़ापा बरबाद हो गया, अरे! मेरी बीमारी में कौन सहायता करेगा'—ऐसे अज्ञानी की तरह आक्रंद करने लगा (रोने लगा)। स्त्री की अर्थी को लिपट-लिपट कर उठाने से रोकने लगा उसके पीछे दौड़ने लगा और चिता में कूदने को भी तैयार हुआ, अहा हा! माया का कैसा कार्य है! सारे जीवन में एक दिन भी उसके हृदय को आनंद देने वाला कोई एक शब्द भी कभी जिस स्त्री के मुख से नहीं निकला था उस स्त्री के गुण याद कर करके मूर्ख अपना सिर पीटने लगा! दो चार दिन तो भोजन भी नहीं किया। नारदजी नारदजी के ठिकाने रहे और मायाशंकर प्रभुभजन तथा नित्यकर्म का त्याग कर, दुर्मुखी के गुणगान करके रोने और माथा पीटने में निमग्न हो गया।

स्त्री मरने के एक आध महीने पीछे नारदजी ने उससे कहा—'हे ब्राह्मण! इस असार संसार में से मुक्ति पाने की परमात्मा ने तुम्हारे ऊपर कृपा की है।

उसका तू लाभ ले। यह अलभ्य लाभ मांगने से नहीं मिलता। तू संन्यास धारण कर, घर-बार का त्याग करके, आत्मसेवन कर। अब तुझे कुछ सुख नहीं, तेरी अवस्था भी संन्यास के योग्य हुई है। इस लिये संसार को तज, प्रभु को भज और आत्मा का कल्याण कर।'

मायाशंकर ने कहा—'महाराज आपने बहुत ठीक कहा। मेरे कल्याण के लिये आप जैसे महात्मा का संग हुआ, यह अहोभाग्य है, पर महाराज! देखिये, यह बड़ा पुत्र तो अपना कार्य संभालने योग्य है किन्तु ये दोनों छोटे-छोटे बच्चे किसके आश्रय रहेंगे? इनकी कौन संभाल करेगा? पुत्रवधु भी अभी थोड़े ही दिनों की आयी है। उसे घर के कार्यभार की कुछ भी खबर नहीं, पैसा कैसे खर्च करना, इसकी कुछ भी खबर नहीं, घर में बिगाड़ तो इतना होता है कि बात न पूछो! मेरा जीव जला जाता है, पर क्या करूं महाराज! जब तक मैं हूं तब तक कुछ संभालता हूं पर न होऊं तो पैसे को कंकड़ की भांति फेंक देंगे। ऐसी स्थिति में महाराज कहीं संन्यास लिया जाता है। संन्यास के लिये तो अभी बड़ी देर है। पुत्र का पुत्र भी अभी बालक है। उसकी संभाल कैसे रखनी इस बात की इसकी मां को अभी कुछ खबर नहीं, मैं जाऊं तो यह सब कौन करे?'

नारदजी ने कहा कि 'अरे मूर्खानन्द! जो जीव कर्मेन्द्रियों के वश रह कर मन से भी इन्द्रियों के विषय भोग करता है वह मूढ़ात्मा कभी अपने आत्मा का कल्याण नहीं कर सकता। तू इन बालकों की और दूसरों की क्या संभाल करता था! तू अपनी ही संभाल करने में अशक्त है और दूसरों की संभाल की बातें करता है, यह तेरी अज्ञानता है। तेरी संभाल कौन करता है सो तू जानता है? जो अनंत का अनंत है, समर्थ का समर्थ है, वही सबकी संभाल करने में समर्थ है और वहीं सबको संभाल लेगा। यह चिंता तू मत कर, कौन किसकी संभाल करता है और तू क्या संभाल रखेगा? इसलिये मूर्खता छोड़ और परमात्मा की शरण चल। अरे अनात्मा! कौन किसको संभालता है? तुझे भी कोई संभालता है क्यों? ये सुत, दारा, वित्त, तेरा कल्याण करनेवाले नहीं, बल्कि तुझे अधोगति में पहुँचाने वाले हैं। तू उनका मोह छोड़ दे। अनेक शास्त्र पढ़े सुने हों, यह देह नाशवंत है, ऐसा जानने वाला हो, आत्मा अनात्मा के भेद को समझने वाला हो, पर ऐसे जीव के हृदय में जो हेय और उपादेय ने स्थान जमा लिया हो तो उसका कभी कल्याण नहीं होता, तुझे परमात्मा ने उसमें से निकाल दिया है। अब तू उससे बच इस निस्सार की चिंता छोड़ दे। जब तू सबका संबंध छोड़ेगा तब तू अपना कल्याण करेगा। इस लोक का कोई भी साथ आने जाने वाला नहीं। यहां का यही रह जाने वाला है। इसलिये चल, मैं तुझे वैकुंठ में ले चलूं तथा अभी तेरा कल्याण करूं!'

ब्राह्मण ने कहा—'महाराज! यह तो सब ठीक है, पर कहो, वैकुंठ में क्या सुख है? जो सुख इस लोक में है वह सुख वैकुंठ में है क्या? वैकुंठ में तो एक दिन जाना ही है तो यह बतलाइये कि वैकुंठ में यहां की भांति पुत्रों से लाड़-प्यार करना, उनका लाड़ देखना, पौत्रों की किलकिलाहट सुनना, लोगों के मुख से 'मैं अहोभाग्य हूं,' यह कीर्ति सुननी, क्या ये बातें वैकुंठ में हैं! महाराज! स्वर्ग में तो मटामट है! जो कुछ है सो यहां ही है, फिर भी आप जैसे संत कहते हैं तो समय आने पर वैकुंठ में भी जाऊंगा!'

इतने में पुत्र के पुत्र (पौत्र) ने आकर दूर से ही बुड्ढे पर लाड़ करते करते छोटी प्याली फेंकी। उससे बुड्ढे की नाक में चोट लगी और नकसीर फूट जाने से लोहू की धार बँध गयी!

नारदजी ने कहा—''ओ ब्राह्मण! यही तेरे पुत्रों का लाड़ है क्या? सचमुच ऐसा सुख तो वैकुंठ में नहीं, यह बात तो ठीक है।'

ब्राह्मण बोला—'महाराज! आपको संसार का अनुभव नहीं इससे ऐसा कहते हैं! दादा, दादा, कह कर ये बुलाते हैं। यह शब्द कैसा आनंद देने वाला है। अभी बालक है, इससे इसको समझ नहीं, पर समझेगा तब बड़ा चतुर होगा। इसकी माता इसको बड़ी अच्छी-अच्छी बातें कह कर समझाती है, उनको जब सुनो तो चकित हो जाओ!'

यह वाक्य अभी पूरा नहीं हुआ इतने में छोकरे की बहू ने आकर कहा—'ओ बुड्ढे! भोजन ठंडा पड़ गया, अब तो मरो। मैं कहां तक रोज-रोज तुम्हारी पीड़ा झेलती रहूंगी। मैं तो तुमसे थक गयी। अब तो तुम मर जाओ तो अच्छा! तुम्हारी खुशामद मैं कहा तक करूं? दो बार थाल भर कर देती हूं तो उसे खींचने का भी तुम्हें आलस आता है। अब तो मरो, तो मैं परोस कर निश्चिंत होऊँ और घड़ी पल विश्राम लूं। ऐस जोगियों से रोज-रोज क्या बात करनी है कि समय कुसमय कुछ नहीं देखते?' ऐसा कहती हुई और अघटित गालियां देती हुई छोकरे की बहू चली गयी।

ब्राह्मण की नाक में से लोहू बहता है, चक्कर-तिमिर आता है, लोहू से मुख भीग रहा है, उसकी तो बहूजी ने बात भी नहीं पूछी और नारदजी के साथ बातें करते-करते बच्चे ने लाड़ में कटोरी मारी, नकसीन फूटी, इससे देर होने से भोजन का थाल ठंड़ा हो गया और बहूजी को विलंब हुआ उसके लिये यह पुष्पांजली अर्पण की। यह सब नारदजी तो देखते ही रह गये।

उन्होंने कहा—'हे ब्रह्मदेव! ऐसा ही लाड़ प्यार देखने को तुम यहां जीना चाहते हो और यही सुख तुमको उत्तम लगता है तथा यही सुख भोगने, इस बहू और पुत्र का सुख देखने के कारण वैकुंठ नहीं जाना चाहते? हे महाराज! तुम्हारा अज्ञान और क्या कहूं! वृद्धि के अंत में क्षय, उन्नति के अन्त में पतन,

संयोग के अंत में वियोग, प्रेम के अंत में तिरस्कार तथा जन्म के अंत में मरण, यही इस संसार की व्यवस्था है; वैसे ही राग के अंत में विराग है! और विराग अभी तुमको कुछ व्यापा नहीं, यह सब उसी कर्कशा मैया का ही प्रताप है! ऐसी डाटडपट सहने पर भी तुमको यहां रहने की इच्छा क्यों है? सो मुझसे कहो। वही पुरुष भाग्यवान् है कि जिसकी भोगलालसा पूरी हुई है, इस लिये अब मेरी बात मान इस दुःखात्मक संसार को छोड़ मेरे साथ चलो।'

ब्राह्मण ने कहा—'ओ संतमहात्मा! संसार के रगड़े तो ऐसे ही होते हैं, बहू है तो बड़ी अच्छी, पर इस लड़के ने कुछ उपद्रव किया होगा इससे क्रोध में आके कुछ बोल गयी, पर इसमें क्या, कुपुत्र तो कभी होता भी है पर कुमाता कभी नहीं होती, यदि उसके अनुसार मैं भी ऐसा ही विचार करूं, बर्ताव करूं, तो इसमें और मुझमें अन्तर ही क्या? मेरी अधिकता और ज्ञानकामना क्या? मेरा अनुभव और वृद्धत्व किस काम का? साधु महाराज! मेरा बुढ़ापा और इसकी जवानी के बीच तो अन्तर होगा ही! जवानी दीवानी है और जवानी का जोश ऐसा ही होता है। पागल आदमी चाहे जैसा बके, उसकी बात को जैसे ध्यान में नहीं लाते, न उससे क्रोध बढ़ता है, ऐसे ही जवान की बात के सामने भी देखना नहीं चाहिये। इस बहू के समान भली मानस हमारे कुल में कोई नहीं आयी। अड़ोसी पड़ोसी इसकी बड़ाई करते हैं उसको आपने सुना नहीं। इससे आपको यह दुष्टा मालूम होती है। बाकी आपको जो इसका अनुभव हो तो इसकी बड़ाई किये बिना न रहो।' फिर नारदजी ने उसे अनेक प्रकार से समझाया, पर पत्थर पर पानी! माया के पाश में बँधे हुए पर कुछ असर होता नहीं।

कर्मसंयोग से नाक पर जो घाव हुआ था उसकी ठीक सम्हाल न करने से वह पका और उसमें कीड़े पड़े। तब नारदजी ने कहा—अरे भाई! अब कुछ विचार होता है? चल, मैं तुझे वैकुंठ में ले जाऊं।'

ब्राह्मण बोला—'पर महाराज! इस घर, बार, बगीचा, खेत आदि की संभाल कौन करेगा? आप देखते नहीं हैं कि ये सब अभी बालक हैं। यह नाक तो दो दिन में अच्छी हो जायगी, तब फिर विचार करूंगा कि कब वैकुंठ को जाऊं।'

इस जगत के जीव की अज्ञानरूप हृदयग्रन्थि का विनाश नहीं हुआ हो, तब तक तत्त्वेक्ता का उपदेश फलदायी नहीं होता। ज्ञानी मनुष्य ही मृगजल की भांति क्षण में असत्य जानते हुए संसार में प्रवृत्ति नहीं करते। अज्ञानी तो स्वप्नवत् जगत्-संसार को सत्य मान, उसी में लीन रहता है। असत्य पदार्थ में से निवृत्ति होना यह शुद्ध सात्त्विक विद्या का फल है। असत्य पदार्थ में प्रवृत्ति होना यह अविद्यारूप माया का फल है। मायाशंकर असत्य पदार्थ ही में प्रवृत्ति करता था। असत्य पदार्थ के ऊपर ही उसकी प्रवृत्ति थी। असत्य पदार्थ को ही वह सत्य मान बैठा था। पर भ्रांति पाये हुए

मनुष्य को भ्रम से जो कुछ प्रतीत होता है, वह अधिष्ठान से जुदा नहीं। जैसे 'सीप में प्रतीत होता हुआ रजत सीप से भिन्न नहीं, सच कहिये तो यह सब भ्रांति से ही मालूम होता है। और आरोपित हुआ रूप नाम मात्र ही है। सत्यरूप नहीं' इस सत्यासत्य के विचार करने की शक्ति जिस जीव की सब वासनाएं नष्ट हो चुकी हैं, जिसने माया का पराजय किया है, उसी में होती है। मायाशंकर ने माया का विजय नहीं किया, उसका कर्मभोग अभी पूरा नहीं हुआ, सात्त्विक वासना का जन्म हुआ नहीं, शुद्ध सात्त्विक भावना बँधी नहीं, तो वह नाशवन्त जगत् के सुख तथा अविनाशी धाम के सुख की तुलना कैसे कर सके? अभी वह माया में लुब्ध है। पुत्र, स्नुषा, पौत्र, रुपये और कीर्ति में मोहित है। उनकी मोहिनी में से छूटने को वह आतुर ही न था। परम तत्त्व का जिज्ञासु भी न था। ऐसे अज्ञानी को नारदजी भी क्या बोध कर सके? इस मिट्टी के बाबाजी को तो शेष भी उपदेश करने को समर्थ नहीं तथा ब्रह्मा, विष्णु, सनकादिक ऋषि भी समर्थ नहीं, तब नारदजी क्या चीज? माया में लुब्ध रहने वाले जीव की गति माया में ही लुब्ध रहने वाली है। विष का कीड़ा विष में ही रहना चाहता है।

मायाशंकर के घाव का दुःख बहुत बढ़ चला। खाना पीना बंद हुआ। उसका काल आ पहुँचा, पर उसकी माया का काल नहीं आया। इस देह से उसने मृत्यु पायी, पर उसकी माया ने मृत्यु नहीं पायी। वह माया को साथ ही लेकर गया। सचमुच यह संसार बड़ा विचित्र है।

कुरुते गंगासागरगमनं व्रतपरिपालनमथवा दानम्।
ज्ञानविहीने सर्वमतेन मुक्तिर्न भवति जन्मशतेन ॥*

ईश्वरी लीला अगाध है। पुत्र, वित्त, दारा के ऊपर माया के जीव की लालसा होने से अपने पुत्र के यहां ही उसका महिष रूप में जन्म हुआ। उसे देखकर नारदजी को खेद हुआ और बोले—'अहो! दुर्मुति की क्या अपगति है? कहां इसकी विद्वत्ता, कहां इसका मान और कहां इसका धनलोभ और पुत्र परिवार पर मलिन प्रीति! इन सबका फल आज यह महिषरूप होकर भोगता है। इस महिष पर भार लाद कर भाड़े पर भी चलाते हैं। जब वह घर पर रहता है तब अपने पुत्र पौत्रों को अपने ऊपर बिठाता है। मुहं के पास चला आने देता है, बालक उसे पीटते हैं, उसे वह सहन करता है छांडा-छूंड़ा भूसा चोकर आदि जो कुछ उसके सामने डाल दिया जाता है उसे वह खाता है और

---

* "गंगासागर में गमन करने, व्रत का परिपालन करने अथवा दान देने पर भी ज्ञान बिना सौ जन्मों में भी मुक्ति नहीं होती, यह सर्वसम्मत सिद्धांत है।" यह श्रीशंकर भगवान का वचन है।

किसी दिन चारा न मिले तो भूखा ही रहता है।'

उसकी ऐसी करुणाजनक स्थिति देख कर नारदजी उसके कल्याण हेतु पुनः उसके पास पधारे। उसकी पीठ पर हाथ फेर कर बोले—'हे महिषराज! कुछ पहचान है क्या? अब भी अपने कल्याण के लिये वैकुंठ जाने की इच्छा होती है क्या? होती हो तो मेरे मेरे साथ चलो। अभी तुमको साथ ले जाकर वैकुंठ का सुख बताऊं!'

नारदजी के हस्तस्पर्श से उस महिष को बोलने की शक्ति हुई। वह बोला—'हे भगवन्! आप कौन हैं? सो मुझे प्रथम कहो।' नारदजी ने अपना नाम बतलाया।

महिषरूप में रहता हुआ ब्राह्मण बोला—'अहो नारदमुनि! बहुत अच्छा हुआ कि आपके दर्शन हुए, पर एक बात की मुझे क्षमा कीजियेगा। आप तो सदा ही कुँवारे हैं, इससे स्त्री, बाल-बच्चों का और परिवार का सुख कैसा होता है उसका आपको ज्ञान नहीं। मैं और यह मेरी घर वाली (दुर्मुखी भी पति को अनेक न कहने योग्य वचन कहने से महिषी के अवतार में जन्मी थी और महिष के साथ ही रहती थी।) महिषी के साथ मेरे पुत्र पौत्र जो खेल करते हैं उसमें मुझको जो आनंद होता है उसको आप क्या समझे? यह सुख मुझे थोड़े दिन भोगने दो। पीछे मैं वैकुंठ में आने का विचार करूंगा।'

इतने में दौड़ती हुई वह महिषी आयी और महिष के ऐसे जोर से सींग मारा, जो उसको पेट में सीधा घुस गया और उसमें से लोहू बहने लगा। 'अधूरे में पूरा' इतने में उसके पुत्र पौत्र आ पहुंचे। उन्होंने खेल खेलते-खेलते उस घाव में लकड़ी डाल कर उसे खूब कुदाया और उसे देखकर बालक खूब हँसने लगे। करूणासिंधु नारद ने महिष का यह दुःख देख कर कहा—"अरे ओ मूढ़! अब इस सुख में तुझे कैसे आनंद होता है? और इसको तू सुख मानता है क्या? इस सुख को भोगने के लिये अभी तू जीना चाहता है? अभी तू माया के पाश में से छूटना नहीं चाहता? ओ अनात्मवित्! तुझे कब आत्मज्ञान होगा?"

ब्राह्मण ने कहा—"महाराज! ये तो सब शरीर के दुःख हैं। आत्मा का क्या है? इन बालकों को देख कर व इस महिषी के साथ विहार करके मेरी आत्मा को परम आनंद होता है, यह आप देखते हैं। पर इस आत्मा को इसमें का दुःख या सुख कुछ भी नहीं मालूम होता।"

मायाशंकर महिष का ऐसा शुष्कज्ञान देख कर नारदजी मंद-मंद मुस्कराये (हँसे), इतने में महिषरूप मायाशंकर बोला—"मैं तो ब्रह्म हूं। मुझे इस दुःख के साथ कुछ भी लेना देना नहीं। जीव आप ही ब्रह्मरूप है। ब्रह्म क्रियारहित है, सुख दुःख से रहित है, इसको दुःख किसका और सुख किसका?"

यह वचन सुनकर तथा उसका 'अहं ब्रह्मास्मि' पन देख कर नारदजी खिल

खिला कर हँस पड़े और बोले—"यह तेरा आत्मज्ञान का उपदेश तो बहुत अच्छा है! ऐसे आत्मज्ञान को जला दे, भस्म कर। इस नरक की यातना को तू भले ही सुख मान, पर हे मूढ़मति! यह सुख नहीं, यह तेरी मूर्खता है।" फिर क्रोध करके कहा—"हे मायाशंकर! इस अपने आत्मज्ञान को तथा इस अपने सुख को पाताल में दबा दे और मेरे साथ वैकुंठ में चल और वहां का सुख देख।"

मायाशंकर ने कहा—"महाराज! यह सुख तो भोगने दीजिये फिर आप जैसा कहेंगे वैसा करूंगा।"

माया में डूबे हुए मायाशंकर की माया इतना ूटी नहीं थी और छूटने की भावना भी नहीं थी। जिसको सात्त्वि ुआ, उसकी यही व्यवस्था होती है। आत्मा का नाश करने वाली तथा लोभ है, इस काम और लोभ का जब तक त्याग नहीं हुअ ना दृढ़ नहीं हुई, तब तक आत्मा निर्विकारी नहीं होता। मायिव ं होती और सात्त्विक भावना भी नहीं* होती। जिसको सात्त्विक शांति नहीं, जिसको शांति नहीं, उसे परम सुख नहीं; पर परम हिष को जो घाव हुआ था, उसकी पीड़ा से वह थोड़े काल में म।

मायाशंकर महिष का तीसरा जन्म श्वान योि न अपने पुत्र के घर की चौकसी करने लगा। दरवाजे पर बैठे र हू जो टुकड़े डाल देती थी उन्हें खाकर निर्वाह करता था। दो एक बार वह घर में जाता था, तब पुत्र पौत्रों की स्त्रियाँ उसका लकड़ी से ऐसा आदरातिथ्य करती थीं कि वह भों-भों करता हुआ भाग जाता था। पर फिर थोड़ी देर पीछे आकर वहीं बैठता था। छोटे बालक उसको मारते थे तो भी वह उनके साथ खेलता था। वे उसकी पूंछ मरोड़ते थे, तो भी वह क्रोध नहीं करता था। वे उसके ऊपर बैठते थे तो भी वह खुशी होता था और ऐसी स्थिति में वह आनंद मानता था। तब फिर नारद मुनि ने उसके पास आकर उससे कहा कि "अरे ओ मायाशंकर श्वान! तुझे अब भी वैकुंठ में जाने की इच्छा होती है कि नहीं?"

श्वान ने क्रोध करके कहा—"हे नारदजी महाराज! अब आप पधारिये। रोज-रोज वैकुंठ की क्या बात करते हो? वैकुंठ में ऐसा क्या खजाना रखा है जो बार-बार आप वैकुंठ जाने को कहते हैं। इन दस पांच कुतियों के साथ रमण करना, उनमें प्रमुख होकर चलना, उनके ऊपर हुकूमत करना, यदि सीधी चाल न चलें तो उन्हें काट लेना, इन सुखों का मजा आप क्या जानें? इसको तो इसके अनुभवी ही जानें। अनजान को इसका ज्ञान त्रिकाल से भी नहीं हो सकता। मैं आपके साथ चलूं तो इस मेरे पुत्र के घर की रखवाली कौन करे? महाराज! आपको खबर नहीं पर गई कल तो गजब

* न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।

हुआ था। चार चोर मेरे पुत्र का धन हरण करने आये थे। यदि मैं न होता तो वे चोर मेरे पुत्र को भिखारी बना जाते। मैंने जो चोरों को देखा तो अपनी कुतियों को जगा दिया। एक-एक चोर के पीछे एक-एक ने दौड़ कर प्रत्येक के पैर में ऐसे जोर से काटा कि चारों चोर चिल्लाते भाग गये। महाराज! यदि मैं आपके साथ गया होता तो मेरे पुत्र की क्या दशा हुई होती? उसके धन को कौन संम्भाल लेता। आठ दिन पहले वह छोटी लड़की जो मुझे प्राणों के समान बहुत प्यारी है, वह पास के तालाब में गिर गयी थी। मैंने उसे तालाब में डूबने से बचाया। जो मैं न होता तो वह बिचारी डूब कर मर जाती। ज्यों ही वह पानी में गिरी, त्यों की मैंने पानी में गोता मारा और बिना तकलीफ के उसकी कमर—कर्धनी पकड़ तैर कर उसे निकाल लिया और उसके प्राणों की रक्षा की।"

नारद ने कहा—"अरे! किसका पुत्र और किसकी पुत्री, तू श्वान और ये मनुष्य! तेरा और इनका क्या संबंध? तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं और इनके भी अनेक जन्म हो चुके हैं। ऋणानुबंध से गत जन्म में तेरा और इनका साथ हुआ। तेरा और इनका ऋण पूरा हुआ। अब तेरा और इनका क्या संबंध ! 'कि मेरा पुत्र, मेरी बहू, मेरा पौत्र, मेरा धन,' ऐसा बकता रहता है? जो तेरा और इनका संबंध है तो यह तेरा पुत्र तुझे पिता मानता है क्या? तथा तेरे पौत्र तुझे दादा मानते हैं क्या? तथा स्नुषा आदर सत्कार करती है क्या? देख! वे तो बैठे-बैठे घर में उत्तम मधुर भोजन करते हैं और उसमें से छांडा छूंडा जूठा जाठा तुझे डाल देते हैं। देख! तेरा श्राद्ध वे करते हैं पर तुझे खाने को नहीं देते। 'मेरे पिताजी बहुत अच्छे थे,' ऐसा कह कर जो तेरा पुत्र तेरी प्रशंसा करता है वही थोड़ी देर में तेरे लकड़ी का सपाटा भी मारता है! बोल, तेरा और इनका संबंध क्या? तू जिस धन की रक्षा करता है उसमें से एक दमड़ी भी तुझे कोई देता नहीं तो तेरा धन कैसे हुआ? जिस घर की चौकी पहरा देता है उसमें तुझे प्रवेश करने का भी अधिकार नहीं है, तो फिर तेरा घर कैसे? ओ अनात्मवित्! तेरी विद्या कहां चली गयी! तू लोगों को उपदेश करता था। वह तेरा उपदेश तुझको तो कुछ भी फलदायी नहीं हुआ। तूने बहुतेरों को उपदेश दिया था कि 'परमात्मा को जानो, भजो, उसे वंदन करो, वहीं सर्व सुख का दाता है, वहीं इस सब लोक के तारने को समर्थ है। यह संसार दुःखरूप है। इसकी ममता छोड़ो। इस पर मोह न रखो। इस मोह से नरक में जाना पड़ता है। तुम एक अद्वितीय को भजो, सर्व धर्म का परित्याग करके एक उसी की शरण जाओ। वही सब पापों से निवृत्त करने वाला है।' यह तेरा उपदेश तुझे कुछ भी फलदायी नहीं हुआ, यह क्या? तू ही श्रुतिवचन बोलता था कि 'जो जैसा आचरण करता है वह वैसा ही होता है।' इस वचन को तूने कभी सार्थक नहीं किया। तेरी दुर्गति होने पर भी अभी तू माया से छूट नहीं सकता। सचमुच चक्षु जैसे शब्द को नहीं देख सकता, कान जैसे नासिका के विषय को ग्रहण नहीं कर सकता, ऐसे ही

भौतिक दृष्टि परमात्मा को नहीं देख सकती। सचमुच अज्ञानी, अश्रद्धावान् और माया में लुब्ध जीव विनाश को ही प्राप्त होता है। इस लोक में वह सुख नहीं पाता तथा परलोक तो उसके लिये है ही नहीं। वैसे ही उसका प्रारब्ध नहीं, पुरुषार्थ नहीं, क्रियमाण भी नहीं! हे अधम! हे माया के पाश में बँधे हुए! इस दुःखसमुद्र से तारने के लिये मैं यहां आया हूं। मैं जब तक न लौटूं तब तक तू मेरे साथ आने को तैयार हो और मेरे समागम का फल प्राप्त कर ले।;;

मायाशंकर श्वान बोला—"महाराज! आप ठीक कहते हैं, पर मेरे कहने का आपने कुछ भी विचार नहीं किया! मैं जाऊं तो मेरे पुत्र के घर की रक्षा कौन करे? कोई लूट के जाय तो फिर मैं क्या करूं?"

नारदजी ने कहा—"अरे! तेरा पुत्र कहा और तेरा कुटुंब कहा? तेरा पुत्र तथा तेरा कुटुंब तो यह श्वान और शुनी है।"

मायाशंकर बोला—"पर पूर्वजन्म के तो ये मेरे पुत्र और सगे सहोदर हैं कि नहीं?"

नारदजी ने कहा—"पर इस जन्म में तेरा और उनका क्या संबंध है? ऐसे तो अनेक जन्मों में तेरे पुत्र परिवार थे, जिनका तुझे आज स्मरण नहीं, फिर इस पुत्र परिवार को क्यों संभालता है? 'पुन्नामक नरक में से तारे वह पुत्र।' तेरे पुत्र ने तो तुझे पुन्नामक नरक में से तारने का प्रयत्न किया नहीं, बल्कि तू स्वयं भी आज अपनी मलिन वासना के योग से नरक ही में पड़ा है और इस नरक का सुख तुझे आनंद देता है।"

मायाशंकर बोला—"महाराज! अभी आपको इस जगत की लीला की खबर नहीं। स्नेह तथा सगापन तो थूहर की तरह है। निर्जल स्थान में भी वह पड़ा हो तब भी पड़े-पड़े उसमें पत्ते आ जाते हैं। स्नेह की शृंखला जंजीर कहीं तोड़ने से नहीं टूटती और छोड़ने से नहीं छूटती। मैं इस पौत्र का पितामह नहीं, परंतु वह तो मेरे पुत्र का पुत्र है ही। उसका स्नेह मैं त्याग नहीं कर सकता। अभी तो महाराज माफ करो। मेरी वैकुंठ आने की इच्छा नहीं, फिर देखा जायगा।"

माया की ऐसी प्रबलता देखकर नारदजी चकित हो गये। फिर वह श्वान तथा उसके कुटुंब को छोड़कर आकाश में गमन करते-करते विचार करने लगे कि 'ओ हो हो! परमात्मा की माया का बल कितना प्रबल है! माया के पाश में बँधा हुआ जीव मेरे जैसे का समागम होने पर भी, सत्संग को प्राप्त नहीं कर सकता, माया में से छूटने का संकल्प भी नहीं करता। 'जो शास्त्र विधि को छोड़, स्वच्छन्दपने से वर्तता है वह सिद्धि को नहीं पाता, सुख को नहीं पाता तथा परम गति को भी नहीं पाता।'* ऐसा माया का आवरण गाढ़ प्रगाढ़ है।

---

* यः शास्त्रविधिमुत्सज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ श्री गीता 16।23

अहो परम परमात्मा! तेरी माया को साष्टांग दंडवत् प्रणाम!'

कुछ समय के अनंतर मायाशंकर नामक जीव, श्वानदेह से मुक्त हुआ। उसने जरायुज योनि त्याग करके अंडज योनि में नरक के कीड़े का जन्म लिया। इस योनि में वह जीव अनेक कीड़ों के साथ रह कर आनन्द भोगता था। फिर नारदजी उसके पास पधारे तथा उसके ऊपर निर्मल जल छिड़क, करुणादृष्टि से बोले—"हे दुरात्मा! हे अज्ञानांधकार में पड़े हुए मायाशंकर! क्या अब भी कुछ तेरे सुख की सीमा है? इस सुख में से मुक्त होने के लिये अब भी तेरी आत्मदृष्टि खुलेगी कि नहीं? तेरे मन की स्थिति सुधरेगी कि नहीं? इस नरक में पड़े रहने में तुझे अब भी आनन्द आता है? अब तू चाहे जैसा कह, पर मैंने निश्चय किया है कि अबकी बार तो मैं तुझे बलात्कार से भी वैकुंठ में घसीट ले जाऊंगा और तेरी अनात्म-बुद्धि का विनाश करूंगा तथा अपने दर्शन का यथार्थ फल दूंगा। इस स्थिति में तुझे बहुत काल तक नहीं रहने दूंगा।"

कीड़ा के रूप में रहते हुए मायाशंकर ने कहा—"हं! हं! देखो-देखो, कोई ऐसा उपद्रव नहीं करना। यहां मुझे ऐसा क्या दुःख है कि तुम मुझे वैकुंठ में ले जाने को कहते हो? इस विष्ठा के कीड़े के रूप में रहता हूं, अपने पुत्र के खेत में खाद भर कर उसे फल देना चाहता हूं। यह काम मुझे पूर्ण करने दो!"

नरक के दुःख से भी विशेष कष्टादायी कीड़े के देह में भी उसकी मायिक वासना देखकर नारद को बड़ा खेद हुआ। पर उन्होंने उसके करुण क्रन्दन तथा विलाप कलाप का कुछ भी विचार किये बिना अपनी योगसिद्धि से उठा कर गंगाजल में उस कीड़े को पथरा दिया और गंगाजल का स्पर्श होते ही मायालुब्ध जीव मायाशंकर की माया का विनाश हो गया। फिर उसे अपने साथ लेकर वैकुंठ में परमात्मा के दर्शन को पधारे। नारदजी ने परमात्मा को प्रणाम करके कहा—"हे जगदीश्वर! हे महाप्रभु! हे चक्र के चलाने वाले! आप सचमुच मायापति हो। मैंने आपकी माया का यथार्थ दर्शन किया! यह माया दुस्तर ही है! जो आपको प्राप्त होता है वही इस माया को तर जाता है! आपकी निर्मित इस माया की शक्ति इतनी अगाध है कि उसके पाश में जो बँधा, वह छूटने को अशक्त की बन जाता है। चित्त जैसे अपने भान के निर्वाह के लिये समर्थ है, भेद जैसे भेद के निर्वाह के लिये समर्थ है वैसे ही अपने तथा अन्य के निर्वाह के लिये समर्थ तथा संभावना से भी पल्ले पार की घटना उपजाने में कुशल ऐसी माया, विभ्रम करके मोह उपजाती है। अपने स्वरूप के सहजानन्द में सदा विहार करते हुए निस्संग योगीजन ही इस माया के पार पहुँच सकते है। जगत् के जीव की माया तरने की गति, स्वस्वरूप के ज्ञान के बिना अशक्य ही है।" तिस पीछे नारदजी परमात्मा का भजन करते-करते तथा वीणा बजाते-बजाते, संसार में विचरने के लिये वहां से चले गये।

योगीन्द्र मुनि ने माया का प्राबल्य तथा उसकी शक्ति की यह सुन्दर कथा कही। फिर सुविचार ने पूछा—"महाराज! यह जीव (मायाशंकर) तो माया में अन्त तक लुब्ध ही रहा था, पर उसने परम गति कैसे पायी?"

योगीन्द्र मुनि बोले—"हे वत्स सुविचार! यह देवर्षि नारद के सत्संग का फल है। कुटुंब परिवार की माया के सिवाय उसके अन्य कर्म शुद्ध थे, इससे उसको वैकुंठ ले जाने को श्रीनारदजी की इच्छा हुई थी और ले भी गये थे। यह मुक्ति न थी, पर वहाँ रह, काल पाकर वह जीव मुक्त हो गया। जैसे अजामिल, नारायण के नाम मात्र का स्मरण करते ही तर गया था, वैसे ही मायाशंकर भी महर्षि नारद के दर्शन तथा उपदेशश्रवण के प्रताप से तर गया है। जो मोक्ष का जिज्ञासु है ऐसा इस लोक का जीव, माया की सप्त भूमिकाओं को विजय करने के लिये नित्य विचार रूपी मंथन किया करे। प्रथम भूमिका कीर्ति, दूसरी भूमिका श्री, तीसरी भूमिका वाणीविलास, चौथी भूमिका स्मृति, पांचवी भूमिका मेधा, छठी भूमिका धृति तथा सातवी भूमिका क्षमा है। जिसको मुक्ति की कामना है उसे कीर्ति तथा धन का त्याग करना, वाणी विलास में निःस्पृह रहना, भोगे हुए विषय की स्मृति न करनी, बुद्धि से परमात्मा को जानने का प्रयत्न करना, परमात्मा के स्वरूप को आत्मा में आरूढ़ करके आत्मा व परमात्मा का परिशोधन करना तथा क्षमावृत्ति से जगत् को देखना, बल्कि इस द्वैत को त्यागकर अद्वैतरूप रहने का प्रयत्न करना, यही माया का विजय है। जो जीव इस माया का विजय करता है उस जीव को इस लोक की माया तथा अविद्या पराजित नहीं कर सकती, बल्कि शुद्ध सात्त्विक माया परमात्मा के चरणकमल का सतत सेवन करने को समर्थ बनाती है। माया के अनेक स्वरूप हैं, उन सबसे सुरक्षित बनने में परम पुरुषार्थ है। माया की ऐसी तो प्रगाढ़ शक्ति है कि चाहे जैसे ज्ञानी को भी वह मोह में डाल देती है। महान् विजयी भले ही हो, पर जिसने माया को जीता, वही जीया, वही तरा और उसी ने परम पद प्राप्त किया। अन्य तो जीते ही मृतक के समान हैं, जीते हुए हारे के समान हैं। उनके ज्ञान का लोप हुआ समझना तथा अज्ञान में ही वे गोते खाने वाले हैं। उनका दर्शन, पूजन, साधुसंत का सेवन, दान निष्फल हो जाता है। जिनको आत्मज्ञान नहीं होता, जो वासनात्यागी नहीं, जो परम प्रेम में लट्टु नहीं, उनको मोक्ष ही नहीं। परम प्रेम की सर्व सिद्धि-कामना का दाता है, मुक्ति का मंदिर है।

ॐ

पंचम बिन्दु

जनक विदेही का आत्मशोधन

संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादि संकुलः।
स्वकाले सत्यवद्भाति प्रबोधेऽसत्यवद्भवेत् ॥

अर्थ :—राग द्वेषादि से भरपूर संसार स्वप्नतुल्य है। निद्रा में जैसे स्वप्न सत्य के समान मालूम होता है, पर जाग्रत में मिथ्या हो जाता है, वैसे ही अज्ञानावस्था में संसार सत्य भासता है तथा प्रबोध होते ही असत्य तथा मिथ्या हो जाता है। आत्मबोध।

योगभ्रष्ट जनक

गुरुमुख से नित्य-नित्य उपदेशामृत का पान करते-करते हिमगिरि के शीतल सुवासित प्रदेश में फिरते-फिरते, गुरु के दिये हुए उपदेश का मनन करते-करते समय-समय पर छद्मलिंग को ऐसा प्रश्न उद्भवता था कि 'पूर्व जन्म में मैं कौन होऊंगा? मेरा ऐसा वह पुण्य कौन सा होगा कि जिसके कारण इस पति के साथ पाणिग्रहण कर मैं भाग्यशाली हुई हूं।' किसी-किसी समय वह पति से कुछ-कुछ प्रश्न भी कर बैंठती थी तथा उनका योग्य रीति से सुविचार समाधान करता था। पर 'पूर्व जन्म में हम कौन होंगे, इस जन्म में किस पुण्य के उदय से सद्गुरु का समागम हुआ है और परब्रह्म का ज्ञान संपादन करने की संधि मिली है,' इस विचार में दोनों का मन गोता खाया करता था।

नित्य नियम की भांति नित्यकर्म से निवृत्त होकर दंपती गुरु के आश्रम में गये। योगीन्द्र मुनि उन्हीं की मार्ग प्रतीक्षा करते थे। साष्टांग प्रणाम कर दोनों शिष्य कुशासन पर बैठे। उनके हृदय का अभिप्राय जान कर मुनि ने वैसा ही उपदेश आरंभ किया। वह बोले कि "हे पुत्रो! मनुष्य को किसी जन्म का कर्मविपाक शेष रहा होता है, उसको भोगने के लिये ही परमात्मा उस जीव को इस लोक में उत्तम स्थान में जन्म देता है। श्रद्धावान् तथा परब्रह्मप्राप्ति के लिये मथन करने पर भी जो जीव, आत्मा तथा ब्रह्म की एकता की प्राप्ति के कार्य में अपूर्ण रहता है, जिसकी वैराग्यवासना तीव्र नहीं हुई और जिसकी भोगवासना कर सर्वांश में लय नहीं हुआ, ऐसा जीव योग से भ्रष्ट हुआ भी

दुर्गति को तो प्राप्त होता ही नहीं, बल्कि अपने पुण्य के अनुसार प्राप्त किये हुए लोकों में जाकर जिन भोगवासनाओं का बीज उसके शरीर में रहा हुआ है, उन भोगवासनाओं के भोगने के लिये इस लोक में जन्म धारण करता है। पर अपनी भोगवासना-भावनाओं का फल भोगते-भोगते अचानक वैराग्य उत्पन्न होता है, सत् असत् की भिन्नता जान पड़ती है, तब वह संसार को तुच्छ जान कर छोड़ देता है अथवा उसमें निर्लेप रह कर विचरता है और अंत में अपने जन्म को सार्थक करता है। 'भ्रष्ट* योगी किसी धर्मशील विद्वान् के यहां अथवा पवित्र श्रीमान के यहां या योगसंपन्न पुरुष के यहां जन्म धारण करता है' प्रथम तो वह भोग भोगने ही में लीन रहता है, पर आकस्मिक उसकी भोगेच्छा की तृप्ति हो जाती है तथा ज्ञान प्राप्त कर, वह ज्ञानयोग साध कर जीवनमुक्त बन, देहमुक्त हो जाता है।

विख्यात हुआ राजा जनक भी विदेही दशा प्राप्त हुए पूर्व ऐसा ही योगभ्रष्ट जीव था। उसके राज्य में सब प्रजा सुखी तथा संतोषी थी, ब्रह्मनिष्ठ पंड़ितों का वह नित्य समागम करता था। अपने नित्य कर्म में वह अबाधित तत्पर रहता था। उसका मन जो बंध का कारण है वह सदा ब्रह्म की जिज्ञासा किया करता था और उसका आहार, विहार और चेष्टा निष्काम वृत्ति वाली थीं। जो कर्म वह करता वह ब्रह्मार्पण ही करता। पर उसके पुण्य का विपाक पूर्ण न हुआ था इससे उसको जब तक सत्यसमागम नहीं हुआ तब तक वह परम तत्त्व के जानने में समर्थ नहीं हुआ।

जनक की नगरचर्चा

एक दिन प्रातःकाल यह राजा वेष बदल कर नगर चर्चा देखने चला। नगर की गली कूचे, मुहल्ले, बाजार, किला तथा छावनी देखता-देखता वह राजा राजमार्ग पर आ पहुँचा। इस प्रसंग पर राजा की नजर एक श्रीमान् गृहस्थ के झरोखा पर पड़ी। वहां एक दंपती-स्त्री तथा पुरुष बैठे-बैठे आनंद में कल्लोल करते थे। राजा उस श्रीमान् का अपनी स्त्री के साथ विनोदप्रसंग देखता था; उसी समय इस नगर के महाजन सेठ की स्त्री नदी के किनारे पानी भरने जाती थी। उसकी दृष्टि भी उस झरोखा की क्रीड़ा पर पड़ी। प्रथम गृहस्थ की विनोदलीला देखकर वह स्त्री मुसकराई। राजा ने उसे देखा। उसके विचार किया कि 'इस गृहस्थ की स्त्री किस कारण से हँसी? हँसने का प्रसंग तो ठीक ही है, पर ऐसे प्रसंग तो बहुत आते है।

* शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ॥ गीता 6।41

पर मुझे इस स्त्री के हँसने का कारण जानना चाहिये।' फिर शंकाशील राजा धीरे-धीरे उस स्त्री के पीछे गया। वह स्त्री नदी के घाट पर जाकर बर्तन मांजने बैठी। वहां समीप में जाकर राजा ने पूछा-हे अंबे! कृपा करके मेरी शंका का समाधान करो! तुम किस हेतु से हँसी?"

राजा को पहचानकर वह स्त्री बोली—"हे राजन्! आप नगरचर्चा देखने निकले हैं सो नगर चर्चा ही देखिये। इस प्रापंचिक जगत में ऐसे तो अनेक प्रसंग हमारे देखने में आते हैं। ऐसा एक प्रसंग देखकर मैं हँसी इसमें आपको आश्चर्य किस बात का हुआ? इसका कारण जानकर आपको क्या आनंद होता है? संसार है। अनेक प्रकार के कौतुक होते हैं और होंगे, उनमें मेरा और आपका क्या स्वार्थ है? महाराज आप राजघाट सम्हालो और प्रजा के सुख में वृद्धि हो वैसा करो। इसी से कृतकार्य होंगे। छोटे प्राणियों की अमानुषिक चेष्टाओं के गर्भ का हेतु जानने में आपको कुछ भी आनंद न हो।"

उस स्त्री को ऐस गूढ़ वचन सुन कर, उसकी गंभीर मुद्रा देख राजा को विशेष संशय उत्पन्न हुआ। जनक राजा बोला—"सच्चरितशाली साध्वी! तुम मेरी शंका का जब तक समाधान नहीं करोगी, तब तक मुझे दूसरे किसी से आनंद होगा नहीं।"

उस सच्चरितशाली स्त्री ने कहा—"महाराज! हे देव! आप बहुत ही जल्द हो और पक्का विचार किये बिना ही बोलते हो! निस्सन्देह होकर मान लो कि यह भेद मैं आपसे कहूंगी, उसी दिन से आपका इस लोक का आनंद सदा के लिये नष्ट हो जायगा, इस लिये हे राजा! इसके जानने में कुछ भी सार नहीं। जो जानना है उसी को जानो। न जानने योग्य के जानने वालों का पता ही नहीं! परन्तु मैं जानती हूं कि आप राजा हो, गुणवान् हो, विद्वान् हो, ब्रह्म के जिज्ञासु हो आप अपने हठ को छोड़ोगे नहीं। स्त्रीहठ, बालहठ, और राजहठ को कभी कोई पूरा नहीं पड़ सकता। सुनो, आपको मेरे हँसने का कारण जानने की अपेक्षा ही हो तो सुनो! आज से छठे महीने अपने बगीचे के फुहारे के समीप में आप एक मैना हो बुलाकर पूछोगे तो वह आपको इस भेद का रहस्य कहेगी। इस समय तो आपको प्रणाम! और यह भी सुन लो हे राजन्! आज ही मेरी मृत्यु है। इस पानी के वर्तन को लेकर ज्योंहि मैं अपने घर के झरोखे के नीचे जाऊंगी, कि तत्क्षण वह झरोखा टूट पड़ेगा और मैं मर जाऊंगी!"

उस स्त्री के मुख से ऐसे चकित करने वाले वचन सुन कर राजा उसकी ओर एकटक देखने लगा-दंग और चित्तभ्रमाकुल हो गया। फिर गंभीरता पूर्वक बोला—"हे बहिन! इस मृत्यु का वारण नहीं हो सकता?"

"महाराज! आप तो भोले हैं। नियति (प्रारब्ध) के निर्माण को फेरने में कौन समर्थ है! तीन लोक में ऐसा कोई समर्थ नहीं जो प्रारब्ध के निर्माण का फेर बदल कर सके। इस पर पुराण प्रसिद्ध एक कथा में आपसे कहती हूं। सो तुम ध्यान में लो।"

निर्माण तो निर्माण ही है

फिर उस सच्चरित्रशाली साध्वी सती ने राजा से कहा—"हे महाराज! लंका का राजा रावण अति महान् प्रतापी था। उसकी राजसभा में ब्रह्मा वेद पढ़ते, वायु पवन चलाते, अग्नि पाकक्रिया करते, मेघ जल भरते, लक्ष्मी धन देती, कुबेर धन की रक्षा करते और इन्द्रादिक उसके दरबार में सामंतों की तरह सदा पहरा देते; ऐसा समर्थ राजा भी प्रारब्ध के निर्माण को विधाता के लेख को—नियति के नियम को झूठा नहीं कर सका तो मनुष्य की क्या सामर्थ्य? ऐसा समर्थ राजा रावण अपने प्रताप से तीनों लोकों को भी तुच्छ गिनता था। एक समय वह दरबार लगा के बैठा है। वहां ब्रह्माजी बने वार्ताप्रसंग में कहा—'हे महाराज दशानन! विधाता के लेख को मिथ्या करने को कोई समर्थ नहीं। ललाट में लिखे हुए छठी के लेख को कोई भी नहीं टाल सकता।'

ब्रह्मा के ऐसे वचन सुन, मूंछों पर हाथ फेर, रावण ने कहा—'अरे ब्रह्मा! विधाता वह ऐसा कौन है कि जिसके लिखे लेख को फेरने में रावण भी समर्थ न हो?'

ब्रह्मा ने कहा—"जीव मात्र के कर्तव्य का निर्माण करने वाली यही अधिष्ठात्री महादेवी है। इसके लिखे हुए लेख को कोई भी नहीं बदल सकता। अजी! एक बार लिखे हुए लेख को फिर वह स्वयं भी नहीं बदल सकती। वह ऐसी तो शक्तिशाली है कि निर्माण उसके हाथ से स्वयं लिख जाता है!'

रावण ने मूंछों पर हाथ फेर कर पुनः कहा। 'ठीक ठीक! इस रांड नियति (विधाता) के लेख को मैं जो मिथ्या न करूं तो मेरा नाम रावण ही नहीं। अरे ब्रह्मा! अभी तेरे मन में विधाता का अभिमान है कि वह मुझसे भी प्रबल है, तो मैं तुझे थोड़े ही दिनों में बताऊंगा कि वह विधाता भी मेरे सामने कैसे पानी भरती है! कहो, वह विधाता किस दिन मनुष्य के कर्म का उल्लेख करती है?'

रावण का उग्र कोप देख कर ब्रह्मा तो थरथर कांपने लगे, पर फिर शान्त हो बोले—'हे महाराज रावण! वह विधाता जीव के जन्म की छठी रात्रि को, मध्यरात्रि में जीव के सुकृत दुष्कृत का लेख लिखती है।'

तुरन्त ही सभा विसर्जित हुई। रावण के मन में ऐसा जोश समाया कि 'इस विधाता के लेख को मिथ्या करूं तो हीं मेरा नाम दशानन!' इस समय

रावण की रानी मंदोदरी को गर्भ था। थोड़े समय पीछे रानी को प्रसव हुआ और रावण ने विधाता के लेख को मिथ्या करने का प्रयत्न किया। रानी मंदोदरी के पुत्री अवतरी थी। छठी रात को मंदोदरी के प्रसूतिगृह के द्वार पर जाकर रावण बैठा और विधाता-नियति के निर्माण को मिथ्या करने के लिये उसकी बाट देखने लगा। मध्यरात्रि हुई कि, छुम-छुम करती देवी मायारूप विधाता नियति देवी वहां आगे आकर खड़ी रही। उसका सौन्दर्य देखते ही प्रथम तो रावण कुछ मलिन सा पड़ गया, पर उस वीर पुरुष ने गाढ़े धैर्य से एकदम खड़े होकर विधाता (नियति) का हाथ पकड़ कर पूछा–'इस काल मध्यरात्रि में तीनों लोकों को कंपायमान करने वाले, देव और असुर सबके स्वामी रावण की आज्ञा के बिना यहां तू कैसे आयी? तू कौन है? कहां जाती है?'

विधाता (नियति) ने कहा–'हे राजा रावण! मैं परमात्मा की मायावी शक्ति हूं! रावण की रानी मंदोदरी के कन्या ने जन्म लिया है उसके जीवन का लेख लिखने जाती हूं।'

रावण ने पूछा–'तुझे क्या लेख लिखना है?'

देवी विधाता बोली–'हे दशानन! क्या लेख लिखना है सो मैं स्वयं नहीं जानती। लेख लिखते समय मैं उलटे मुंह खड़ी रहती हूं और पीछे को हाथ करके लिखती हूं, इससे मुझे खबर नहीं पड़ती कि मैं क्या लिखती हूं। उस लेख का निर्माणकर्ता तो विश्व का रचने वाला नियामक ही है, कि जिसको तू पहचानता नहीं!'

रावण ने कहा–'ठीक, ठीक, तू अपनी ये लबारी बातें एक तरफ रख! पर लेख लिखकर पीछे जाय तब मुझे मिले बिना जो जायगी तो तुझको कठिन से कठिन दण्ड दूंगा। जा! अपना काम पूर्ण करके यही लौट आ, मैं बैठा हूं।'

विधाता प्रसूतिगृह में गयी तथा ईश्वर की इच्छा से उसके दिव्य स्वरूप को रावण के बिना कोई न देख सका।

विधाता, कन्या का निर्माण उलटे मुख लिख कर पीछे लौटी तब रावण ने पूछा–'तूने क्या लिखा?'

विधाता बोली–'वह मैंने देखा नहीं और देखने की मुझे आज्ञा भी नहीं है। जिस चित् शक्ति ने इसका जन्म निर्माण किया है, उसी चित् शक्ति की प्रेरणा ने मुझसे जो लिखाया वहीं मैंने लिखा है।

रावण ने आज्ञा दी 'जा, पढ़के फिर लौट आ और मुझे वह निर्माण जना।'

विधाता फिर सूतिकागृह में गयी और राजकन्या का निर्माण पढ़ कर रावण के पास आ, उस कन्या का संपूर्ण जीवनचरित्र कहा तथा अन्त में कहा–' हे राजा! इस तेरी कन्या का नाम 'पदार्थ' है। इसका विवाह तेरे द्वार

पर 'होनारत' नाम का जो चाण्डाल झाडू देता है उसके साथ होगा।'

ये शब्द सुनते ही रावण के पैर की ज्वाला शिर पर जा बैठी। वह लाल पीला हो गया और विधाता को मारने के लिये तलवार खीचने का आरंभ किया। पर इतने में विधात्री अदृश्य हो गयी तथा विचारग्रस्त रावण ने राजभवन में जाकर दरबार किया। उसने ब्रह्मा से कहा—'अरे मुंड़े मूडके ब्रह्मा! आज तेरी विधात्री का लेख मैं मिथ्या करूं तो तू जानेगा कि रावण कैसा समर्थ है।'

ब्रह्माजी ने नम्रपन से कहा—'महाराज! आप तो सर्व समर्थ हैं, जो चाहे सो कर सकते हैं, पर महाराज! विधाता के लेख को तो कोई बदल नहीं सकता।'

फिर रावण ने अपने दुष्ट मन्त्रियों के साथ मंत्रणा करके उस निर्दोष चाण्डाल के वध करने का विचार किया। ईश्वर की लीला अकलित है। उसका कोई पार नहीं पा सकता। रावण महा अहंकारी और मदोन्मत्त था। उसके अहंकार का नाश करने की गर्वगंजनहार की ही इच्छा थी। इससे अन्य मंत्रीयों की भी मति फिर गयी। रावण तो अविद्या का उपासक था तथा परमेश्वर की शक्ति की उपेक्षा करता था, इससे गर्वगंजनहार ने उसके गर्व का नाश करने के लिये ही उसके मंत्री की बुद्धि फेरी। 'अन्य के सुख और दुःख का कोई दाता है' ऐसा रावण नहीं मानता था। सत् असत् कर्म के फल भोगने ही पड़ते हैं, यह उसको नहीं मालूम था। 'मैं सब कुछ करने को समर्थ हूं,' ऐसा उसे मिथ्या अभिमान था। पर हे महाराज जनक! जो जीव कर्म विषे अकर्म तथा अकर्म विषे कर्म को देखता है वही विशेष बुद्धिमान् है। शेष तो मूर्ख ही है। तीन लोक को जीतने वाला तथा समर्थ राज्य का स्वामी बुद्धिमान् नहीं। यह रावण भोगेच्छा मात्र का उपासक था और वह उसी में बँधा हुआ था। वह परमात्मा को भूल गया था। लोकवासना और देहवासना में जकड़बंद बँधा था। पुरुषार्थ को ही परम श्रेष्ठ मानता था। पर वह जानता न था कि प्रारब्ध पौरुषरूप से ही नियामक है। ऐसे मदोन्मत्त राजा के मद का नाश करने के लिये एक सर्वेश्वर महेश्वर ही समर्थ हैं। विधाता का लेख यही सर्वेश्वर महेश्वर का लेख है। उसे निष्फल करने के लिये क्षुद्र जीवों की सामर्थ्य ही नहीं।

रावण ने चाण्डाल के नाश करने का संकल्प किया, तब सभा में बैठे हुए एक मंत्री ने कहा कि—'महाराज! मेरा तो दृढ़ निश्चय है कि विधाता झूठा ही है। आपके द्वार पर झाडू लगाने वाला चाण्डाल कहा? और आपकी समर्थ राजपुत्री कहां? जो इस मूर्ख विधात्री को कुछ भी अक्ल होती तो यह लेख लिखती ही नहीं, जरा विचार तो करती! पर महाराज! इस चाण्डाल को मार डालने के पीछे विधाता का लेख सच्चा हुआ कि झूठा यह आप कैसे जान सकोगे तथा यह कुबुद्धि ब्रह्मा फिर अनेक तर्क वितर्क लड़ावेगा और अपना ही मत पकड़े रहेगा। मेरी तो

यह राय है कि इस चाण्डाल को यहां से दूर किसी ऐसी एकान्त जगह में बसा दीजिये कि जहां मनुष्य का बीज ही न हो। वहां पड़ा-पड़ा यह मर जायगा और विधाता का लेख अपने आप ही झूठा होगा।'

विधाता का लेख सत्य है या असत्य, इसका निश्चय करने के लिये रावण ने यह सलाह मान ली। फिर उस निर्दोष चाण्डाल को पकड़ मँगाया और उसके पैर का एक अंगूठा कटवा कर उसे समुद्र के बीच एक टापू में भेज दिया तथा फिर ब्रह्मा से कहा—'अरे ब्रह्मा! अब तेरे विधाता का लेख कैसे सच्चा होगा सो बताना!'

ब्रह्मा ने इतना ही कहा—"महाराज! विधाता का लेख त्रिकाल में भि मिथ्या नहीं हो सकता, स्वयं चिद्धन भी उसे मिथ्या करने को समर्थ नहीं।"

क्रोधांध होकर रावण ने कहा—"अभी भी तू अपनी जिद नहीं छोड़ता? ठीक है, परन्तु जब मेरी पुत्री का दूसरे राजपुत्र के साथ विवाह होगा तब तेरे चार शिरों में से एक शिरा मैं बिना काटे न रहूंगा।"

अब एकान्त द्वीप में छोड़े हुए चाण्डाल का क्या हुआ, सो सुनो। 'हे राजाधिराज जनक! जिस चाण्डाल को द्वीपान्तरवास कर दिया गया था, वह चाण्डाल अपने हतभाग्य के लिये उस समय बहुत-बहुत रुदन करने लगा। उसने विधाता को अनेक प्रकार की गालियां दीं और ब्रह्मा को भी पांच पंद्रह भली बुरी कही। जब उस एकान्त द्वीप में से छूटने का उसे कोई भी मार्ग नहीं मिला, तब उसने समुद्र में कूद कर मरने का निश्चय किया, पर उससे वह मर न सका, क्योंकि वह उसके भाग्य में न था।

दैवेच्छा से इस द्वीप में निर्मल पानी के झरने कई थे और अनेक प्रकार की वनस्पतियां उग रही थीं। इन वनस्पतियों के फल फूलादि का आहार करके वह अपना जीवन व्यतीत करने लगा। थोड़े दिनों में धूप तथा वर्षा सें बचने के लिये पड़ी हुई लकड़ियों के स्तंभ बना कर पेड़ो की छाल की रस्सी बना कर एक झोपड़ी बांधी और वह अपनी आयु ईश्वरप्रार्थना कर व्यतीत करने लगा। पूर्व जनम के किसी कुसंस्कार के कारण उसे चाण्डालपना प्राप्त हुआ था। पर जीव उत्तम था, उससे वह ईश्वर को भूला नहीं, जिसका कोई रक्षक नहीं उसका ईश्वर रक्षक है। रावण के तजने पर भी ईश्वर ने उसे तजा नहीं। बारह बरस तक उस एकान्त द्वीप में रह कर और वनफलों का आहार करके उसने मानसिक तप करना आरंभ किया और पूर्व जन्म के अपने पापकर्मो का संपूर्ण प्रायश्चित्त किया। वह निर्मल हुआ। उसकी कान्ति भी फिर गयी। ईश्वर कृपा से उसके ज्ञान और बुद्धि में भी फेर पड़ गया। वह एक महान् भाग्यशाली पुरुष बन गया। परमात्मा का परम उपासक बना और उसका नित्य भजन कीर्तन करने

लगा। बारह वर्ष इस प्रकार बीते, फिर उस चाण्डाल को उस द्वीप को छोड़ने की इच्छा हुई। जंगल में पड़े हुए वृक्षों की लकड़ी ला-ला कर और वृक्षों की छाल की रस्सी बना-बना कर उनको एक दूसरे के साथ बांधा। उनके ऊपर अनेक प्रकार के वृक्षों की डाली और पत्ते बिछा कर एक सुन्दर बेड़ा बनाया और उस पर बैठकर ईश्वर के भरोसे उस बेड़े को जल में तैराता छोड़ दिया।

दैव की कृपा के आगे मनुष्य की दुर्बुद्धि के अनेक उपाय भी कभी सफल नहीं होते। वह बेड़ा तैरता-तैरता भरतखंड के पश्चिम किनारे पर आ पहुँचा। दुष्ट बुद्धि रावण ने जिस चाण्डाल की अन्न जल के बिना मर जाने की कल्पना की थी, वहीं पुरुष कर्म के भोग-भोग कर, शुद्ध कांचनरूप बन कर, फिर कर्म भूमि पर आ पहुँचा।

जिस दिन उस चाण्डाल ने भरत भूमि पर पैर रखा उसी दिन ऋष्यमूकपूरी के राजा का पुत्ररहित निर्वंश अवस्था में मरण हुआ था। इससे प्रभात में जो पुरुष नगर द्वार में प्रथम प्रवेश करे उनको प्रजा और मंत्रिमंडल ने राजा बनाने का निश्चय किया था। दैवेच्छा से वह चाण्डाल ऋष्यमूकपुरी के राज्यपद को प्राप्त हुआ तथा लोगों ने दैवगतिराज के नाम का जयजयकार किया।

थोड़े दिनों में रावण की राजपुत्री विवाह योग्य हुई। उसका स्वयंवर रावण ने रचा। उसमें अनेक राजा उपराजा रावण की कुंकुमपत्रिका से इकट्टे हुए। दैवगति राजा भी इस स्वयंवर में रावण के निमंत्रण से पंधारा था। स्वयं वर मंडप में फिरती रावण की राजकन्या पदार्थ ने दैवगतिराज की तेजस्वी मनमोहनी मूर्ति देखकर, उसको वरमाला पहना दी तथा त्रिलोक विजेता रावण ने अपने मन में निश्चय किया कि विधाता के लेख को निष्फल करने में मैं समर्थ हुआ हूं।

रीति के अनुसार वर कन्या का विवाह हुआ तथा जमाई राजा को दश दिन तक कुलरीत्यनुसार मन्दिर में रखा। एक दिन रावण ने राजसभा में मूंछ पर ताव देते हुए ब्रह्माजी से कहा—"अरे ब्रह्मा! तेरे विधाता का लेख मिथ्या करने में मैं सफल हुआ कि नहीं, सो अब कह।"

ब्रह्माजी ने निधड़कपने से और निश्चिंत होकर उत्तर दिया—"महाराज! विधाता के लेख को निष्फल करने के लिये किसी समर्थ ने अवतार ही नहीं लिया और इस सृष्टि में प्रलय पर्यंत अवतरेगा भी नहीं! होनारत के आगे पदार्थ मिथ्या ही है।"

ब्रह्माजी का यह वचन सुन राजसभा रावणसमेत खिलखिलाहट के साथ हँस पड़ी। रावण ने कहा कि, 'कहां तो वह झाडू देने वाला चाण्डाल और यह राजेन्द्र के समान ऋष्यमूकपूरी का दैवगतिराज कहां? अरे ब्रह्मा! अभी तू अपना हठ छोड़ता नहीं?'

ब्रह्मा ने उत्तर दिया—'महाराज! मैं असत्य बोला नहीं और बोलूंगा भी नहीं, आप चाहे जो कहो, पर मेरा तो निश्चय ही है कि विधाता का लेख

मिथ्या करने को काई भी समर्थ नहीं।'

इस तरह दो चार बार ब्रह्मा का वचन सुन कर रावण को बहुत बड़ी शंका हुई। उसने अपने मंत्रिमंडल के साथ फिर विचार किया तथा कदाचित् यह दैवगतिराज ही कहीं चंडालपुत्र होनारत हो ऐसी शंका बतायी। फिर रावण ने उस चाण्डाल का जो अंगूठा काट डाला था, उसकी निशानी का विचार किया। देखने पर वह भी पहचान सहज में न हो सकी। दैवगतिराज सदा ही हाथ पैरों में मोजे पहने रहता था, इससे रावण उसके पैर नहीं देख सकता था। कर्मसंयोग से एक दिन दैवगतिराज एकान्त में स्नान करता था, तब गुप्तद्वार में से रावण ने देखा, तो दैवगतिराज का दायें पैर का अँगूठा न था। उसे देख कर वह चिल्ला उठा कि 'निःसंशय विधाता का लेख मिथ्या करने को कोई भी समर्थ नहीं। मैं ऐसा प्रबल प्रतापी राजा हूं, पर विधाता के लेख को न फेर सका, तो इस जगत में ऐसा कोई भी प्राणी समर्थ नहीं कि जो विधाता के लेख को फेर सके? निःशंक होनारत के पास पदार्थ मिथ्या ही है।'

जनक की मिथिला नगरी की नदी के तटपर खडी हुई सती स्त्री ने राजा जनक को संबोधन करके कहा—"हे महाराज! आज ही मेरी मृत्यु निश्चित है! उसे रोकने को कोई समर्थ नहीं और तुम जो कुछ प्रयास करोगे वह मिथ्या ही है। इस जगत में आवर्जन तथा विसर्जन हुआ ही करता है। नियमित समय पर मृत्यु होती है और फिर जन्म होता है। मृत्यु यह तो प्रकृति ही है। अब सुनो। छः महीने पीछे आपके बाग के फुआरे के पास आकर आपने अभी जो हठ किया है वह पूर्ण करने की इच्छा हुई हो तो मुझे पूछना तब मैं अपने मन का भेद कहूंगी।"

यह वचन कहकर वह स्त्री जल के बर्तन को लेकर धमधमाहट करती हुई चलने लगी। राजा आगे-आगे चला। उसके मंदिर के पास जाकर खड़ा रहा। तलाश किया। देखा तो घर का झरोखा बहुत दृढ़ जान पड़ा। इतने में वह स्त्री पानी भर कर उस झरोखे के नीचे आयी। एक दो पग आगे रख कर ठीक झरोखे के नीचे ज्यों ही वह पतिव्रता स्त्री पग रखने लगी, इतने में अचानक भूकंप हुआ और दृढ़ झरोखा टूट पड़ा और पतिव्रता दब कर मर गयी।

उस सती का वचन सत्य हुआ तथा राजा अति उदासीन बन, राजभवन की ओर पीछे लौटा। प्रथम के स्त्री पुरुष विनोद करते थे, उनको देख कर यह स्त्री हँसी थी, इससे राजा जनक को बड़ी शंका उठ खड़ी हुई थी, उसमें फिर इस सती का भविष्यज्ञान देखकर वह बहुत व्याकुल हुआ। यह भेद कौन जाने और कहे? इसी विचार में दिन पर दिन बीतने लगे। छः मास कब पूरे हों इसकी राजा बड़ी आतुरता से बाट देखने लगा। छः मास पूरे हुए। दक्षिणायन के सूर्य उत्तरायण में आये। प्रभात

होते ही राजा जनक अपने बगीचे में गया तथा फब्बारे के समीप में जाकर बोले—"हे मधुरी मैना! तूं कहां है? यहां आकर तू मेरा संदेह निवारण कर।"

तत्क्षण एक वृक्ष पर से मैना ने मनुष्य की आवाज से कहा—"हे जनकराज! अभी तक तुम्हारी यही लालसा है? उस स्त्री पुरुष के विषय में मेरे हँसने का कारण जानना है? जरा विचार करो इसके जानने के पीछे तुमको इस लोक में सुख या आनंद मालूम नहीं होगा, अब भी तुमको फिर दूसरी अवधी बतलाती हूं कि तब तक ठहरो, धैर्य धरो। आज से तीसरे वर्ष आज ही के दिन तुम्हारी प्रजा में से तुमको जो बुलाने आवे उसके यहां जाइये। वहां तुम्हारे मन का समाधान एक बालिका करेगी, ऐसे कहती वह मैना आकाश को उड़ गयी और राजा की शंका ज्यों कि त्यों बनी रही। राजा ने जैसे तैसे छः महिने व्यतीत किये, पर अब तो तीन वर्ष व्यतीत करने हैं। बड़ी संदेहजनक कथा है। बड़ी कठिनता से तीन वर्ष पूरे हुए और राजा उस नियमित तिथि की बाट बैठा-बैठा देखता था।

माता—पुत्र और वे ही पति-पत्नी

उस नियम तिथि को प्रभात में नगर सेठ के यहां से राजा को निमन्त्रण आया। नगरसेठ ने कहलाया था कि 'आज हमारी पुत्री का विवाह संबंध है। इस समय आप पधार कर हमारी शोभा को बढ़ाइये।'

वह मैनारूपी स्त्री नगरसेठ के पुत्र के यहां कन्यारूप अवतरी थी। यह कन्या चतुर तथा बुद्धिमान् थी। जब जब उसे पूछा जाता कि बहिन! तेरा विवाह किया जाय? तब-तब वह भूत भविष्य की ज्ञाता बालिका इतना ही कहती थी कि 'मेरे विवाह के समय राजा को बुलाइयो!' तथा उसके अनुसार आज राजा को निमन्त्रण दिया गया था। जनक राज नगर सेठ के यहां गये। तुरन्त ही जाति की रीति के अनुसार नारियल, गुड़धानी आदि बांटी गयी तथा कन्या का विवाह हुआ। कन्या के मां बाप और वर के मां बाप अच्छा संबंध मिलने से राजी हो गये। दोनों के कुटुम्ब में आनंद उत्सव छा गया।

इतने में वह कन्या दौड़ती-दौड़ती आयी और राजा की गोदी में बैठ गयी तथा राजा के सामने इकटक देखती रही। राजा भी उसका मुख देखता रहा। क्षणभर पीछे खिलखिलाहट से हँस कर वह बालिका बोली—"क्यों राजाधिराज जनकराय! कुछ याद है कि मैं कौन हूं? और मेरा विवाह किसके साथ किया गया है वह कौन?"

राजा की दृष्टि के पास सब दिखाव प्रत्यक्ष हुआ। पूर्व जन्म में जो माता पुत्र थे, वे ही इस जन्म में स्त्री-पुरुष के संबंध में जु ड़े हैं। उस बालिका के ऐसे वचन सुन कर राजा तो ऐसे आश्चर्य में पड़ गया, कि क्या कहूं। इसकी तो उसे खबर ही

न रही; फिर वह कन्या बोली–"महाराजधिराज! क्या विचार में पड़े हो? इसी प्रकार संसार की रहँट माला चली जाती है। एक जन्म में जो माता पुत्र होते हैं वहीं दूसरे किसी जन्म में स्त्री-पुरुष भी होते रहते हैं और तीसरे जन्म में भाई बहिन या और किसी संबंध से जगत में विचरते हैं। एक जन्म में मनुष्य या पशु होता है तो दूसरे जन्म में पक्षी होता है, तीसरे जन्म में उद्भिज्ज भी बनता है और किसी जन्म में स्वेदज भी होता है। जैसे-जैसे जिसकी वासना होती है वैसा ही वैसा वह जन्म धारण करता है। जिन स्त्री पुरुषों को तुमने झरोखे में देखा था, उसको देख कर मेरे हँसने का यही कारण था। पूर्व जन्म में ये माता पुत्र थे। जिसके पयोधरपान से तृप्ति होती थी। उसी के पयोधरमर्दन से आज तृप्ति होती है। पूर्व जन्म के माता और पुत्र इस जन्म में स्त्री और पुरुष होकर विलास भोगते थे। उसे देख मुझे हँसी आयी कि अहो! नियंता की कैसी अटपटी लीला है। तुमको जो शंका हुई थी, उसका आज मैंने समाधान किया। हे राजन्! इस संसार के जीव अपने-अपने कर्मानुसार अनेक प्रकार के जन्म धारण करते हैं, पर जो जीव बुद्धिमान् पंडित, चतुर तथा अत्यंत सूक्ष्म विषय का जानने वाला होता है, वही जीव रज़ोगुण तमोगुण में से मुक्त हो, प्रबल आवरणशक्ति का नाश करके जन्म मरण के फेरे में से छूट सकता है, अन्य सबकी तो यही गति है कि आता है और जाता है और फिर पीछे आता है और मरता है, जन्मता है और फिर मरता है। नये-नये कर्मों की गठड़ी बांधता है। पीठ पर नया भार लादता है और उस भार के तले नये-नये जन्म में नये-नये कर्म के बोझों के नीचे दबता ही जाता है। जो आवरण शक्ति के उपासक हैं वे ही जीव अनास्था वाले, प्रतिकूल निश्चय वाले तथा भ्रमित मन वाले हैं। वे संसार में ऐसे लीन हो जाते हैं कि इस विक्षिप्त शक्ति की मोह शक्ति में पड़कर अत्यन्त दुःख का ही भोग करते हैं। इस जगत् में वही जीव जन्म मरण से रहित हो जाता है, जो विशुद्ध श्रद्धा से भक्ति का सेवन कर निर्मान हो संसार में विचरते हुए दैवी संपत्ति प्राप्त करने को मथते हैं–सर्व वासनाओं का विनाश करते हैं, स्वरूप का अनुभव लेते हैं, परमात्मा में एकनिष्ट बनते हैं, उनको ही परम शान्ति तथा आनंदरस की प्राप्ति होती है। महाराज! यह गहन विषय इस बालिका के मुख से शोभा नहीं देता, किसी महात्मा के पास यह तत्त्वसार ग्रहण कर विचरो!!"

राजा जनक इस बालिका के मुख से यह अद्भुत वृत्तान्त सुन कर प्रेम से उसका चुम्बन कर उसके सगे स्नेहियों का उसका कुछ भी हाल न बतला कर वहां से बिदा हो गये। बालिका ने राजा के साथ क्या बातचीत की, इसका किसी को कुछ भी संशय नहीं हुआ। बालिका भी स्वाभाविक रीति से अपनी सखियों के साथ खेलने लगी। नगरसेठ के पुत्र की पुत्री का उसी के समान धनाढय्य पुरुष के पुत्र के साथ विवाहसंबंध हुआ था, इससे सारा नगर व्यावहारिक आनंद में मग्न था।

जनक की उदासीनता

इस प्रकार सर्वत्र आनंद फैल गया था, पर एक ही पुरुष उदासीन था। उसका चित्त हावला बावला हो रहा था। वही अकेला अपने मंदिर में शोकातुर मुद्रा से चक्कर लगाया करता था। उसे खाने पीने में, राजकाज में, संसारसुख में, धन कीर्ति में, पुत्र कलत्र में, किसी में प्रीति नहीं होती थी। एकान्तमात्र प्रिय था। वह राजा जनक था। 'पूर्व जन्म में मैं कौन था और उत्तर जन्म में मैं कौन होऊंगा,' इस विचार ने उसके मन को घेर लिया था। मन की गति ही विलक्षण है। वह बैठा-बैठा भूत की तरह अनेक चालें करता रहता है। उसे काम में लगाये रहो तो ठीक रहता है, चंचलता करते डरता है। किसी महात्मा ने कहा है :–

यह मन भूत समान है, दौरे दांत पसारी।
बांस गांठि उतरै चढ़ै, सब बल जावै हारी ॥

जो बिजली एक स्थल पर रुक रहे, दीपक की ज्योति स्थिर रहे, तो ही मन स्थिर रह सकता है। ऐसा राजा का मन खूब चकडोरे–चक्कर पर चढ़ा हुआ था। उसकी उदासीनता अपार थी। उसके संशय अनेक थे। वह जागते हुवे भी औंघाते हुए की तरह बैठा रहता था। किसी कार्य में भी उसका चित्त लगता न था। उसके मन में अनेक प्रकार की पीड़ा होती थी, पूर्व जन्म का वृत्तान्त जानने को वह उत्सुक बन गया था। कोई भी योगी महात्मा उसके मन का समाधान करे, इसकी शोध में वह लगा था। फिर राजभवन के पंड़ितों से भी वह नये-नये प्रश्न करने लगा। इस लोक के पंडित, लोगों के मन का रंजन करने को जन्मे हुए हैं, वादविवाद की मधुरता जानने में समर्थ हैं, शास्त्र का व्याख्यान करने में कुशल हैं, शब्दचातुर्य दर्शाने में निपुण हैं, राज्य साम्राज्य का विचार करने में निपुण हैं, किन्तु परम तत्त्व के जानने में वे बालक से भी बालक हैं। श्रेय निराला है तथा प्रेय निराला है। प्रेय पुरुषमात्र का बंधान करता है। जो प्रेय को ग्रहण करते हैं वे जीव दैवी संपत्ति से हीन होते हैं तथा जो श्रेय का ग्रहण करते हैं वे ही श्रेय के मार्गगामी होते हैं। श्रेय यह ब्रह्मविद्या है तथा प्रेय अविद्या है। जो विद्या की इच्छा करता है वही परम तत्त्व को जान सकता है। जो अविद्या की सेवा करना चाहता है वह लोक में धीर तथा पंडित माना जाने वाला होने पर भी मूढ़ तथा अंधे का हाथ पकड़कर चलाने वाले अंधे के समान है। वह स्वयं ही इस जगत में आप ही अंधे की भांति ठोकरे खाया करता है, तो दूसरों को क्या मार्ग बतलायेगा? विचक्षण, बुद्धिमान्, शमदमादि लक्षणयुक्त संस्कारी, विचारी, विवेकी, विरक्त पुरुष ही आत्मविद्या का अधिकारी है। वही गत जन्म को जान सकता है और पूर्वजन्म से बच सकता है–वहीं मुमुक्षु है, उसी को 'मैं कौन हूं, कहां से आया हूं, कहां जाऊंगा,' इस बात की जिज्ञासा होती है। जैसे निर्मल आरसी में स्पष्ट मुख

दिखाई पड़ता है, वैसे ही संकल्परहित, वासनारहित कर्म और अकर्म का भेद जानने वाले आत्मापरमात्मा के जिज्ञासु के ही हृदयाकाश में जीव तथा शिव के स्वरूप का दर्शन होता है। जनक राजा की राजसभा में अनेक विद्वान् और गुणवान्, शास्त्र के वादविवाद में निपुण और लोक को समझाने वाले पंडित थे, पर ब्रह्म की जिज्ञासा वाला एक भी जीव नहीं था, तब योगीराज बिना जनक राजा के पूर्व जन्म का हाल कौन कह सके? उत्तर जन्म में क्या होगा, यह कौन समझा सके?

राजा दिन प्रतिदिन अपनी जिज्ञासा में अधिकाधिक आगे बढ़ने लगा। पूर्व जन्म का वृत्तान्त जानने की उसकी वासना दिन प्रतिदिन विशेष प्रबल होने लगी।

राजा की उदासीनता की वार्ता प्रजा में ठांव ठांव विशेष प्रबल होने लगी। कितने ही यह भी कहने लगे कि राजा को कोई रोग हो गया है। इससे अनेक वैद्य उसका उपचार करने के लिये आने लगे। पर राजा ने सबके मन का समाधान किया कि जैसे तुम निरोगी हो, उसकी अपेक्षा मैं अधिक निरोगी हूं। हां—मुझे रोग है, पर मेरे रोग की औषधि तुम्हारे पास नहीं और उसकी चिकित्सा करने के तुम अधिकारी भी नहीं, तो दवा क्या देने वाले थे? इस तरह राजा की उदासीनता का भाव कोई नहीं समझ सका। प्रतिदिन संसार की ओर की उसकी वासना कमती होने लगी। उसकी भोगवासना शिथिल हो गयी। दिन-दिन वैराग्यवासना बढ़ती हुई दीखने लगी, संसार के तापरूपी दावानल की ज्वालाओं से तप गया, पूर्व जन्म और उत्तरजन्म का चरित्र जानने को उत्सुक बन गया तथा परमात्मा की अनन्य भाव से भक्ति करने लगा। नम्रता तथा विनय से साधुसंतों का सेवन करने लगा, संसार को वह विष्ठातुल्य देखने लगा।

योगीन्द्र मुनि

उसकी ऐसी स्थिति बन जाने पर एक दिन योगीन्द्र याज्ञवल्क्य नामक मुनि उसकी राजसभा में पधारे। इस मुनि की प्रभावश्री देखते ही राजा के मन में सहज विचार स्फुरित हो उठा कि मेरे किसी भाग्य के योग से ही ये मुनिश्वर पधारे हैं, ये मेरी शंका का यथार्थ समाधान करेंगे, मुझे तारेंगे, अभय करेंगे।

तब राजा ने परम भक्ति से मुनि का अर्घ्य, पाद्य से पूजा करके और उत्तम सिहांसन पर बैठा कर प्रार्थना की कि "हे महात्मन्! आप इस जीव में व्याप्त उदासीनता का समाधान करने को समर्थ हो। हे मुनिश्वर! कृपा करके मेरे शंका का समाधान करो। देव! 'मैं पूर्व जन्म में कौन था,' उसके जानने की मुझे बड़ी इच्छा हुई है, इससे, हे कृपासिंधु! मुझे बताइये कि मैं पूर्वजन्म में कौन था और अब पीछे मेरा क्या होगा?

योगीन्द्र मुनि ने कहा—"हे जिज्ञासु जनक! तुझे जो जिज्ञासा हुई है वह परम कल्याणरूप है। मनुष्य जीवन की इसी में सफलता है। 'मैं कौन हूं, कहाँ से आया,

कहाँ जाऊंगा, यह सब किस रीति से हुआ, कर्ता कौन, उपादन कारण कौन,' यह विचार होना और इसे विचारना किसी जन्म के सुकृत का परिणाम ही समझना। जैसे प्रकाश बिना अन्य से पदार्थ का ज्ञान होता नहीं, वैसे ही विचार बिना अन्य साधन से ज्ञान नहीं उत्पन्न होता। पूर्व जन्म का ज्ञान सिद्धयोगीमात्र को ही होता है और कोई उसे नहीं जान सकता। तुमको उसे जानने की इच्छा है और तुम्हारे कर्म का विपाक हो गया होने से तुम उसके जानने के अधिकारी हो। पर पूर्व जन्म का चरित्र और चारित्र्य जान लेने के पीछे तुझे कुछ नया ही चसका लगेगा—चटपटी लगेगी, शंका होगी और भय होगा, इसलिये इस विचार को तू मन में से निकाल दे और प्रफुल्लित मन से तथा नीति धर्म में रह कर राजकाज सम्हाल, जो क्षात्रकुलोत्पन्न का परम धर्म है। प्रत्येक जीव को अपने ही धर्म का सेवन करना चाहिये। जो जीव परधर्म का सेवन करता है वह अनर्थ को ही प्राप्त करता है!! तू क्षत्रिय है, तेरा धर्म प्रजा पालन का है, वही कर्तव्य तू पूर्ण कर और उसी से तेरी सद्गति होगी। पूर्व जन्म में तू कौन था इसे जानने से तुझे क्या विशेष अर्थसिद्धि होगी?"

राजा जनक ने कहा—"महाराज! इस राजपाट तथा संसार पर मुझे जरा भी प्रीति नहीं। जब तक मैं पूर्व जन्म में कौन था और उत्तर जन्म में क्या गति होगी तथा उत्तम गति प्राप्त करने के लिये मुझे क्या करना श्रेयस्कर है, यह नहीं जानूंगा, तब तक यह सब पदार्थ, प्राणी, राजपाट और वैभव मुझे तुच्छ ही हैं। इस लोक का वैभवविलास तथा ऋद्धि-सिद्धि, सुख संपत्ति भले ही छोटे प्राणियों के मन को शान्ति देती हो, पर मुझे तो यह दावानल की भांति ज्वाला बरसाने वाले जान पड़ती है। राजपाट पर मुझे प्रीति नहीं, रानी और राजपुत्र पर भी प्रीति नहीं, देह, गेह तथा ऐश्वर्य पर भी मुझे प्रीति नहीं, ये सब पदार्थ मुझे दिन प्रतिदिन बड़े से बड़े दुःख-शोक-क्लेश उत्पन्न करते हैं। हे देव! सुकृत या दुष्कृत करने में मेरी प्रीति होती नहीं, कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि पर मेरी उदासीनता व्याप गयी है। मुझे यह सर्व जगत् माया से मोहित हुआ ही जान पड़ता है। हे महाराज! मुझे प्रगट हुई शंका में से तारने वाले एक आप ही हो, इस लिये आप इस जिज्ञासु जीव की प्रार्थना को पूर्ण करो!"

क्षण भर विचार कर योगीन्द्र मुनि ने कहा—"हे राजन्! अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त तुझे जानता हो तो विदर्भा नगरी के सुविचारशील ब्राह्मण की कन्या के पास जाकर पूछ, वह तेरे मन का समाधान करेगी। जब तक तू लौट कर न आवेगा तब तक मैं इस पास के तपोवन में रहूंगा।"

शोधन-पर्यटन

योगीन्द्र मुनि की आज्ञानुसार अपना राज्य का कार्यभार मंत्री को सौंप राजा जनक अकेला विदर्भा नगरी जाने को निकला। थोड़े समय पीछे राजा

जनक सुविचारशील ब्राह्मण के मन्दिर पर जा पहुँचा। यह ब्रह्मदेव गुणवान्, सकल शास्त्र का परम जानकार, धर्म पर परम प्रीति वाला अतिथि का सत्कार करने में सदा जागृत, नित्य कर्म में सदा परायण, ॐकार का तीन काल में जप करने वाला और परम ज्ञाता था। कोई महान् पुरुष जानकर सुविचारशील ने राजा को अपने यहां ठहरने का स्थान दिया। अल्प पुण्य के प्रभाव से तथा प्रारब्ध के योग से उसकी पुत्री विधवा हो गयी थी, इससे उसके साथ बात करने का प्रसंग सहज में राजा को प्राप्त नहीं हुआ।"

दो तीन दिन पंडितजी के यहां विश्राम करने के बाद, एक दिन सुविचारशील की कन्या शर्माती-शर्माती राजा के पास आकर बोली—"हे पिताजी! हे राजा जनक! आप योगीन्द्र ऋषि की प्रेरणा से अपने पूर्व जन्म का वृत्तांत जानने को पधारे हैं, परन्तु आपकी उस इच्छा को मैं पूर्ण कर सकूं ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि मैं विधवा धर्म में रहती हूं। अन्य पुरुष के साथ एकांत में बात करनी, यह विधवा को दूषण है। महाराज! आप जानते हो कि विधवा का धर्म अति कठिन है। पर आप मेरे पितातुल्य हो, बल्कि धर्मशील हो, प्रजा के भी पिता हो, इसी से थोड़ी देर आपसे बात करती हूं। आपको मैं इतना ही कहती हूं कि आपको जो पूर्व जन्म का वृत्तांत जानना ही हो तो काशीपुरी के नगरसेठ की स्त्री से जाकर मिलो। वह आपकी शंका का समाधान करेगी।"

राजा को तो अपने पूर्व जन्म का वृत्तांत जानने की ऐसी बड़ी उत्कंठा हुई थी कि जनकनगरी से विदर्भा नगरी तक का अपार परिश्रम भूल कर, उस पंडिता बाला को प्रणाम कर, दूसरे दिन वहां से काशी को बिदा हुआ। चलते-चलते थोड़े ही समय में एक दिन राजा प्रभात समय काशीपुरी में पहुँचा। इस नगर में उसका कोई परिचित नहीं था। कहां मुकाम करे, ऐसा विचार करता-करता वह धीरे-धीरे चला जाता था, इतने में राजमार्ग के ऊपर एक विशाल भवन के चौबारे पर खड़ी हुई एक नवयौवना ने कहा—"महाराज जनक! पधारो! मैं आपही के दर्शनों की अभिलाषा में खड़ी थी। आप सुविचारशील की विधवा कन्या को मिल कर आये हैं। उसने मेरे यहां ही पधारने की विनती कि है सो पूर्ण करो। यह भवन आपका ही है, मैं भी आपकी ही हूं, आप यहां पधारिये।'

राजा जनक-एक अनजानी- अपरिचिता तरुणा स्त्री के मुख से यह वचन सुन कर चकित हो गया। वह इस नगर से अज्ञात था तथा नगर की प्रजा में से एक भी मनुष्य उसे पहचानता न था और राजा उस समय छद्मवेश में भी था, तो भी नगर सेठ की स्त्री ने उसका इस प्रकार आदर सत्कार किया जिससे उसे बड़ा आश्चर्य हुआ, इतना ही नहीं, बल्कि पंडितराज सुविचारशील की विधवा कन्या ने जो उसको भेजा है, यह वृत्तांत नगरसेठ की स्त्री ने कैसे जाना,

किसके द्वारा जाना, यह भी उसको अति आश्चर्यमय हो पड़ा। विचार में निमग्न हुआ राजा नगरसेठ के मंदिर में गया। नगरसेठ की स्त्री सारे घर की मालकीन थी। सर्व ऐश्वर्यसंपन्न थी। उसकी आज्ञा पालन करने वाले अनेक दास दासी प्रति समय हाजिर थे। वह परम साध्वी थी। अनेक लोगों को अनेक कारणों से स्त्री के चरित्र पर शंका उत्पन्न होती है, ऐसी शंका का एक भी कारण उसके संबंध में नहीं उत्पन्न हुआ था। ऐसी वह सुशीला, दक्षा, संस्कारी और ज्ञान की अधिकारी, अतिथि का सत्कार करने वाली, धर्मपरायणा, सती, साध्वी तथा सर्व प्रति समान भाव से वर्तने हारी थी।

उसकी आज्ञा होते ही नौकर चाकर राजा की सेवा में हाजिर हो गये। सुंदर मंदिर में सुंदर पलंग पर राजा को आसन दिया। वहां वह आनंद से बैठा। राजा श्रमित हो गया था, इस कारण गर्म जल हाथ पैर धोने को लाया गया। फिर स्नान कर नित्य के षट्कर्म से निवृत्त हो, वह भोजन करने बैठा। भोजन करते समय जो उत्तम भोजन तैयार होकर आया था, उसका प्रसाद पाकर थोड़ी देर राजा ने एकान्त में विश्राम किया। भोजन के समय उसने जो भोजन लिया, उसका स्वाद लेते उसे ऐसी शंका उत्पन्न हुई कि ऐसे ही मिष्ट भोजन का आहार किसी काल में मैंने किया है। पर कब और किसके हाथ से किया है, इसकी उसे याद न आयी। तथापि उस राजा को इसी विचार में ऐसी शांत निद्रा आ गयी कि, 'यह जगत् क्या है? मैं क्या हूं?' इसका उसे भान भी नहीं रहा। जैसे अच्छी तरह प्रज्जवलित किया हुआ अग्नि इंधन मात्र का नाश करता है, वैसे ही गाढ़ निद्रा भी जगत् के व्यवहार मात्र को भुला देती है। उसमें 'अहम्' ऐसी आत्मबुद्धि का नाश हो जाता है। स्वानुभव जाता रहता है। केवल एक जाति की निर्विकल्प समाधि ही प्राप्त होती है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में जो नया-नया आनंद होता है, उसके बिना अन्य ज्ञान जनकराय को इस गाढ़ निद्रा में नहीं रहा था। थोड़ी देर में इसका शुद्धात्मा किसी दिव्य स्थान में जाकर खड़ा रहा। उसमें उसने ऐसा देखा कि वह आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये मूंड मुंडाय, अपनी स्त्री के पास भिक्षा मांगने जाकर खड़ा रहा है तथा उसकी रानी क्रोधायमान दृष्टि करके उसे उपदेश करती है। उस उपदेश का आप अनादर करता है, पर पीछे से रानी के वज्र के समान तीक्ष्ण उपदेश से अपने सत्य ज्ञान को प्राप्त होकर 'अहं ब्रह्मास्मि' की स्थिति को पाता है। उसका कर्ता भोक्तापना मिट जाता है, वह सब उपाधि को भस्म करता है, सर्वत्र समभावना की दृष्टि करता है, इष्ट अथवा अनिष्ट पदार्थ की प्रप्ति होने पर समदृष्टिपने के योग में निर्विकारी ही हो रहता है, ब्रह्मानंद का अमृत जैसा रस पीने में उसका चित्त आसक्त हो जाता है, अन्दर तथा बाहर के विषयों का

अनुसंधान चूक जाता है, वह देह तथा इन्द्रिय आदि की अहंता ममता रहित बन, मुक्त दशा भोगता हुआ जगत में विचरता है। उसका इदंभाव नाश को प्राप्त हो जाता है। वह जीव तथा ब्रह्म के भेद को तथा ब्रह्म और जगत् के भेद को तुच्छ गिनता है। प्रजानन और मंत्री, पुत्र और रानी उसकी पूजा करते हैं इसका उसे सुख नहीं, वैसे ही कोई अपमान करे तो उसे कुछ दुःख भी नहीं होता, ऐसी स्थिति को देखता विदेह नगर का सदेही राजा जनक बड़ी देर तक गाढ़ निद्रा में चिदानंद के स्वरूप में लीन हो गया था। राजा जनक जब निद्रा में था तब निद्रावस्था का यह आनंद अति आश्चर्यसहित भोगता था।

इस आनंद का सुख अधिक काल भोग न सका। नगरसेठ के सेवक राजा को उठा हुआ जानते ही मुखप्रक्षालन के लिये जल ले आकर खड़े रहे। हाथ पग धो, शरीर की तंद्रा का त्याग करके, राजा अपने आसन पर बैठा।

इतने में नगरसेठ की पत्नी उसकी सेवा में हाजिर हुई और क्षणभर बड़े गाढ़ से उसका मुख देखती रही। फिर दोनों हाथ जोड़ कर बोली—"महाराज! सुविचारशील की विधवा कन्या के भेजे हुए आप यहां भले पधारे! 'आप पूर्व जन्म में कौन थे तथा उत्तर जन्म में आपका क्या होगा,' यह जानने की महाराज को जो इच्छा हुई है, यह आपका एक पागलपन ही है। यह विचार आप अपने हृदय में से निकाल डालो। पूर्व जन्म का चरित्र जानने से आपको विशेष सुख क्या मिलना है? क्या आनंद होना है? जिस सत्कर्म के योग से आपको चक्रवर्ती की पदवी प्राप्त हुई है वह भोग कर, उसी में आनंद करो। पूर्वजन्म का इतिवृत्त जानने से आपको विशेष फल प्राप्त होने का नहीं, उलटा आप जो इस समय आनंद भोगते हैं, वह नष्ट हो जायगा, यही फल प्राप्त होगा!"

राजा जनक ने कहा—"हे देवि! हे कल्याणि! मेरे पूर्व जन्म का वृत्तान्त जानने से मुझे आनंद हो अथवा उदासीनता व्यापे, सुख हो या दुःख हों, इसकी मुझे कुछ परवाह नहीं। जो जीव भूत से अज्ञात है, वर्तमान को सम्हालता नहीं, भविष्य का अनुसंधान करता नहीं, पूर्वजन्म का फल जान पापमय कृत्य का त्याग करने का श्रम नहीं करता, वह जीव विश्रान्ति का स्थान प्राप्त करने के लिये अपात्र ही है। जैसे पहचान लिया गया चोर चोरी नहीं करता, बल्कि मैत्री करता है, और सर्व काल भयभीत और कंपित रहता है वैसे ही परिज्ञान प्राप्त करने के पीछे इस जगत् का भोग (कष्ट) आनंद ही देता है किन्तु दुःख नहीं देता। जो मैं पूर्व जन्म का अपना वृत्तान्त जानूं, तो मैं शुद्ध अन्तःकरणवाला, बन, मन के ऊपर कैसे संयम करना, किस सुकृत्य का फल राजभोग है तथा कौन से सुकृत परम स्थान की प्राप्ति भावी में कराने वाले हैं उनका बहुत ही अच्छी तरह से उपयोग करने वाला होऊंगा। जैसे अव्यभिचारिणी पतिव्रता स्त्री घर के काम काज में प्रवृत्त होने पर भी अन्तःकरण में पतिसंग की रसायन चखती

रहती है, वैसे ही सब ज्ञान प्राप्त होते ही मेरी वृत्ति उस दशा को प्राप्त होगी, यह मेरा दृढ़ संकल्प है। हे कल्याणि! जब तक मेरा दृढ़ संकल्प सिद्ध न हो, तब तक मैं सुख अथवा आनंद से रहित ही हूं। जिस समय से मेरे मन में पूर्वजन्म का वृत्तान्त जानने की इच्छा हुई है, उसी समय से विश्रांति, धैर्य और आनंद चला गया है, एक क्षण भी मेरा अन्तःकरण उसका आस्वाद चखने में लक्ष्यवान् नहीं है। हे देवि! अपनी यह जिज्ञासा पूर्ण करने के लिये मैं आपके पास आया हूं। यह जिज्ञासा पूर्ण करने को तुम समर्थ हो, ऐसा मैं मानता हूं। जहां तक मेरी यह जिज्ञासा पूर्ण न होगी वहां तक मेरे चित्त की शान्ति न होगी।"

नगरसेठ की सेठानी ने कहा—"हे महाराज जनक! बुद्धिमान पुरुष भूत का विचार नहीं करते, भावी का ही विचार किया करते हैं और भावी के सुख के लिये प्रयत्न करते हैं। गया सो तो गया। गये को विसार दो। आते हुए को संभालो।"

जनकराय ने कहा—"हे अंबे! भूत का ज्ञान भावी के कार्य में सहायता देने वाला है, भूत यह मार्गदर्शक है। भूत काल में किये हुए कर्म में जीव ने जहां-जहां खता खाया है तथा उसका फल भोगा है, उसका ज्ञान जो जीव रखता हो तो भविष्य में वह अपना मार्ग बहुत ही सरलता से व्यतीत कर सकता है। परमात्मा की सृष्टि के जीवों में भूत काल के ज्ञान का अभाव ही होने से भविष्य में उन्हें अनेक प्रकार ही ठोकरें खानी पड़ती हैं। जो पुरुष को भूतकाल का ज्ञान हो तो जिस मार्ग से उसने अधोगति पायी है, उस मार्ग का स्वल्प भी संग बुद्धिमान पुरुष नहीं करता बल्कि त्याग करता है। जीव की अधोगति का मूल कारण भूतकाल के ज्ञान का अभाव ही है, इस अधोगति में से तिरने के लिये मुझे भुतकाल का अपना चरित्र जानने की इच्छा हुई है।"

नगर सेठ की स्त्री ने कहा—"हे राजन्! जो ऐश्वर्य आपको इस जन्म में प्राप्त हुआ है उसके ऊपर से ही आप मानो कि आपके भूतकाल का चरित्र अति उत्तम होना चाहिये। भूतकाल में किये हुए कर्म से इस जन्म में तुमको उत्तम फल मिला है और मिलेगा। जैसे रस्सी विषे अंधेरे में देखा हुआ सर्प उजियाले में रस्सी मालूम होता है, पर सर्प के भय से उत्पन्न हुआ कम्पादिक तो धीरे-धीरे ही शान्त होता है, वैसे ही तुम्हारे प्रारब्ध का भोग भी भोगे पीछे धीरे-धीरे शान्त होगा। हठ करने से वह शान्त होने वाला नहीं। जो प्राप्ति तुमको इस जन्म में हुई है, उसी में तुम अपने आत्मज्ञान को सतेज रख कर विचरोगे, तो उससे ही तुमको उत्तम स्थान की प्राप्ति होगी। पर पूर्व जन्म के ज्ञान से ही तुमको उत्तम स्थान की प्राप्ति होगी। ऐसा न मानो, प्रारब्ध तो भोगना ही पड़ेगा, पर क्रियमाण विशुद्ध होगा तो भविष्य के क्लेश में से सुरक्षित रहोगे।"

"अस्तु! हे राजेन्द्र! आपकी इच्छा पूर्व जन्म का जीवन वृत्त जानने की है तो वह पूर्ण करो। आप श्री यहां से चंपावती नगरी में पधारो। जब आप

उस नगरी में प्रवेश करोगे कि तत्काल उस नगरी के वृद्ध राजा विवेकसिंह को पुत्र की प्राप्ति होगी। यह राजा जन्म-जन्म का बांझ है। इसके कर्म में पुत्र का सुख नहीं पर आपकी ही जिज्ञासा पूर्ण करने के लिये उसके यहां पुत्र का जन्म होगा। 'राजा के यहां पुत्र हुआ,' यह वर्तमान सुनते ही राजमहल तथा नगर में आनंद आनंद व्याप जायेगा। जैसे यह देह, गेह तथा जगत् भी क्षणभंगुर है, वैसे उसका आनंद भी क्षणभंगुर है। क्योंकि तीन घड़ी का आयुष्य भोग कर वह राजकुमार मृत्यु की शरण को प्राप्त होगा। नगरजन उदासीन होकर उसे श्मशान को ले जाँयेगे। हे राजन्! श्मशान में जिस स्थल पर उस बालक को गाड़े, वह जगह तुम ध्यान में रखना, मध्य रात्रि को उस स्थल पर जाकर पवित्रता से उस शव (मुर्दे) को गढ़े में से बाहर निकाल, स्नान कराकर, त्रिपुण्ड्, धारण कराके, गोदी में सुला देना, कंठ में फूलों की माला पहिनाना। फिर वह शवरूपी बालक आपकी इच्छा पूरी करेगा। पर हे राजन्! मैं निश्चयपूर्वक आप से निवेदन करती हूं कि आपका इस लोक का आनंद हमेशा के लिये नष्ट होगा। पर आपकी भावी प्रबल है, उसके दूसरे कारण अनेक सुखों की प्राप्ति भी होगी।" इतना कर कर वह स्त्री चुप हो गयी।

उस स्त्री के ऐसे गूढ़ वचन सुन कर राजा विस्मित हुआ। नगरसेठ की सेठानी की प्रार्थना से वह वहां दो दिन रहा, पर उसके हृदय में तो उथल पुथल हो रही थी। फिर उस स्त्री को प्रणाम् कर उसके भविष्य ज्ञान की प्रशंसा करता-करता कुछ दिन में चंपावती नगरी में दाखिल हुआ। नगर में प्रवेश करते ही नगरसेठ की स्त्री के कथनानुसार राजा के यहां पुत्र जन्म हुआ। द्वार पर तोरण बांधे गये। राजमहल, किला तथा कोट पर ध्वजाएं उड़ने लगी। प्रजाजन आपस में मिठाई बांटने लगे। बहुत से कैदी छोड़े गये। भाट, चारण और मंगनों को राजा ने बहुत सा द्रव्य दिया। वे जयजयकार करने लगे। ब्राह्मणों को बहुत सा दान दिया गया, इस प्रकार प्रजा में आनंद छा गया। इस महोत्सव को देखता-देखता राजा नगर की सड़क पर फिरता है। इतने में एकदम यह आनंद बंद हो गया। राजपुत्र की मृत्यु हो गयी। जहां एक क्षण पूर्व आनंदध्वनि भर रही थी, वहां सर्वत्र शोक व्याप्त हो गया। ढ़ोल दमामे बंद पड़ गये। हाथ में ली हुई मिठाई हाथ ही में रह गयी। ध्वजा, पताका, तोरण उतार लिये गये तथा राजा के अहोभाग्य की प्रंशसा करने वालों की आंखों से आंसुओं की धारा बहने लगी। थोड़ी देर पीछे राजपुत्र को एक सुदंर जरी के वस्त्र में लपेट कर श्मशान में ले गये। सबसे साथ राजा जनक भी श्मशान तक साथ चला गया। विवेकसिंह राजा के सेवकों ने राजकुमार को एक गढ़े में पधरा दिया। मिट्टी में मिट्टी मिल गयी। उदास मुख स्नान कर सब लोग अपने-अपने घर को चले गये। राजा जनक भी एक धर्मशाला में जा उतरा।

जो कल था नहीं, आज है नहीं, जो बिजली के समान क्षणभर ही दर्शन देकर था, न था-हुआ, न हुआ हो गया है। उस राजपुत्र के लिये राजा और रानी, नौकर चाकर, दासी दास अत्यंत रुदन करते हैं तथा संबंधी जन उनको समझाते हैं। जगत की लीला ऐसी ही विचित्र है। पर उसे कौन समझता है? समझन वालों ने समझा नहीं, जानने वाले जान न सके; तो औरों की क्या सामर्थ्य? यह संसार ही ऐसा है। वृद्धि के अन्त में क्षय, उन्नति के अन्त में पतन, संयोग के अन्म में वियोग, ऐसी संसार की रहँट माला है। इस पर भी जीव की ऐसी क्षुल्लकता है कि, जो भूत में नहीं था, भावी में नहीं तथा वर्तमान में बिजली की तरह अल्प झलक दिखला कर न जाने कहां गया, यह मालूम नहीं पड़ता, जान सकते नहीं, उसे सत्य जान कर मोहांध बन जाता है। सृष्टि का नियम है कि, जो जन्मा है, वह मरेगा! तथापि 'मैं' और 'मेरा' इन दो अक्षरों के संबंध से बँधा हुआ पुरुष व्यर्थ संताप करता रहता है। विषय, सगे या स्नेही, धन या कीर्ति चिरकाल रहने वाले नहीं, किसी समय जाने वाले ही हैं। पर मनुष्य इतना निर्बल है कि उनके त्याग करने में असमर्थ है। इतना ही नहीं, बल्कि इन विषयों में से जब आप ही आप बंधनमुक्त होता है तब वह अतुलित परिताप को पाता है। जीव की प्रकृति ही है कि वह अशोच्य का शोक करता है, तथापि ब्रह्मवेत्ता की तरह समय-समय पर वाद करता है। पर शुद्ध सत्त्वगुणी पंडित जीवितों का या मृतकों का, किसी का भी शोक नहीं करते।

"अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना ॥"

अर्थ :—भूत मात्र का आदि अव्यक्त है, अंत भी अव्यक्त है, मध्य मात्र ही व्यक्त है, तो फिर उसका खेद क्या?

परन्तु इस जगत् के जीव मोहपाश में बँधे होने से, सत्यासत्य का भेदाभेद न समझने के कारण ही खेद पाते हैं, दुःखी होते हैं तथा क्षणभर का वैराग्य धारण करके त्यागी बन जाते हैं।

शव का सजीव होना

आधी रात के समय राजा जनक श्मशान में गया। भागीरथी के निर्मल जल में स्नान किया तथा भीगे वस्त्रोंसहित जहां राजकुमार गाड़ा (दबाया) गया था वहां आया। कुदारी से ऊपरी की मिट्टी निकाल डाली। फिर राजकुमार को गड्ढे में से बाहर निकाला। उसके शरीर पर की धूल तथा जन्तु अलग कर डाले। बालकुमार का सर्वाङ्ग, कुछ भी कुम्हलाया न था। पूर्व की भांति उसका तेजस्वी शरीर था। राजा ने उस बालक को पवित्र जल से स्नान कराया, मस्तक

पर त्रिपुण्ड्र लगाया और गोदी में सुला कर ज्यों ही गले में पुष्पों की माला पहनायी, त्योंही उस बालक के नेत्र खुल गये और खिल खिलाकर हँस के बोला–"अहो पिताजी! आप यहां कहां से पधारे हैं? बहुत जन्म में आज मुझे आपके दर्शन का लाभ हुआ, इसे मैं अपना अहोभाग्य समझता हूं। आप मेरी माता के भेजे हुए यहां पधारे हैं क्या? आप तो मिथिला नगरी के स्वामी हैं, सकल सुखैश्वर्य को भोगते हैं। प्रजा आपके ऊपर प्रसन्न है। आप धर्म को जानते हैं तथा धर्मानुसार राज्य कार्यभार चलाते हैं, तब आपको यह क्या संदेह सवार हुआ की मैं 'पूर्व जन्म में कौन था? यह जानूं।'

सचकित चित्त से दृढ़प्रतिज्ञ राजा जनक ने कहा–"हे बालकुमार! तू कौन? तेरी माता कौन? तेरा पिता कौन? जो चमत्कार से भरे हुए वचन तेरे मुख से निकले हैं वे वचन एक प्रकार से मेरे आनन्द की वृद्धि करते हैं और दूसरी तरह से मुझे आश्चर्य में लीन करते हैं! मुझे तू पिता के नाम से पुकारता है? नगरसेठ की स्त्री को तू माता कहता है? इसका खुलासा कर तथा मैं पूर्व जन्म में कौन था? यह कह।"

जनक की पूर्व जन्म की कथा

बालकुमार बोला–"हे महाराज! आप मेरे पूर्व जन्म के पिता हो। आपका नाम प्रज्ञानदेव था तथा आप विश्वपुरी के महासमर्थ राजा थे। आपकी स्त्री मेरी मातुश्री का नाम सुमतिदेवी था। मेरा नाम मोहांधसेन था तथा सुविचारशर्मा की विधवा पुत्री मेरी स्त्री थी। उसका नाम शीलवती था। जन्म जन्मान्तर के कर्मो की श्रेष्ठता के योग से आपको विज्ञान प्राप्त हुआ था, इससे आप साधु संतों का सदा सेवन करते थे तथा हर समय विक्षेप और आवरण शक्ति का पराजय करने में लगे रहते थे। राज्यकार्य यथावत् चला जाता था। आपके प्रताप से आपके मंत्री न्यापूर्वक कार्य करते थे। प्रजा सुखशांति से वर्तती थी। पूर्ण ज्ञानी होने पर भी देवसेवा का आपने त्याग नहीं किया था। समदृष्टिपन से आप प्रजा के ऊपर राज्य करते थे तथा आपको निश्चय था कि नित्य हजार अतिथियों को भोजन कराने के पीछे, और उन अतिथियों में से ब्रह्मेच्छु महात्माओं के मुख से जीव तथा ब्रह्म की एकता की कथा सुनने के पूर्व कभी भी भोजन नहीं करते थे। संत महात्मा के मुख से आप जो ज्ञान प्राप्त करते थे वह ज्ञान मेरी माता सुमति को नित्य रात्रि को सुनाते थे तथा वह साध्वी एक चित्त से हृदय में धारण करती थी। आपके सत्संग से वह भी इस जगत् को मिथ्या जानती थी, संसार के मोह से विरक्त थी तथा आपकी तरह साधुओं की सेवा पूजा करने में सदा ही तत्पर रहती थी। आपके संतसेवन और ज्ञानसंपादन के कार्य में, मेरी स्त्री शीलवती हमेशा आपको

सहायता देती थी। धीरे-धीरे शीलवती भी पुण्यवती बनती गयी। महात्माओं के मुख से अनेक बातें सुन कर उसके मन में शुभ भावना उत्पन्न होने लगी। परन्तु आपकी तथा मातुश्री की इस रीति प्रीति में मेरी कुछ भी प्रीति नहीं थी। साधु संतो के सेवन, पूजन तथा अर्चन को मैं एक ढोंग मानता था। अनेक अतिथि अभ्यागतों का आप सत्कार करते थे, उसे मैं संसारमस्त जीवों का पेट भरना, व्यर्थ खर्च करना ही गिनता तथा परलोक और आत्मज्ञान को मैं मूर्खपन गिनता था। कभी-कभी यह मेरा मनोभाव शीलवती भी सुनती थी। परन्तु आप तथा अपनी मातुश्री के प्रति मेरी पूर्ण भक्ति होने से आपके इस सत्कर्म के संबंध में मैंने आपको एक शब्द भी कभी कहा नहीं था। हे राजा जनक! आप तो सदा ही संतों की सेवा में ऐसे निमग्न हो गये थे कि उन महात्माओं के प्रताप से इस मिथ्या संसार पर का सब मोह नष्ट हो गया था। जगत् के आधाररूप, सब वस्तुओं के प्रकाशक, सर्वव्यापक, सर्वाकार, नित्यशुद्ध, निर्विकल्प, चैतन्य ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान होने के आप पात्र होते जाते थे तथा उससे क्रियारहित बन कर जैसे बने वैसे अहंकार रूपी बाघ के नाश करने का प्रयत्न करते थे। धीरे-धीरे आपका अन्तरात्मा यद्यपि ब्रह्म के ज्ञान में निमग्न होने लगा, तथापि मुक्ति के ऊंचे शिखरपर पहुँचने के लिये जो दो पंख—'वैराग्य' तथा 'बोध' है, उनमें का शुद्ध संकल्प से होने वाली दृढ़तापूर्वक निष्काम कर्मरूपी वैराग्य का पंख आपको अभी प्राप्त नहीं हुआ था। दो पंख वाला पक्षी ही आकाश के पार पहुँच सकता है। शुद्ध संकल्प से हुई दृढ़तापूर्वक निष्काम कर्मरूपी वैराग्य और बोध के पंखों वाला पुरुष ही ब्रह्म की निर्विकल्प समाधि को पा सकता है। वैराग्यवान् जीव से ही भीतर तथा बाहर के विषयों का त्याग हो सकता है। आपको मोक्ष की इच्छा थी, इससे अंदर के सब विषयों को आपने त्याग किया था, पर बाह्याचार का आपने त्याग नहीं किया था। जिसकी तीव्र वैराग्यवृत्ति जागृत हुई हो वही जीव समाधि को प्राप्त होता है। समाधिनिष्ट जीव का बोध दृढ़ होता है, दृढ बोध वाला जीव बंधन से मुक्त होता है, बंधनमुक्त जीव नित्य सुख का आनंद प्राप्त करता है, मुमुक्षु को वैराग्य से विशेष आनंद देने वाला दूसरा कुछ भी नहीं, प्रेमपुरस्सर परमेश्वर की सेवा करता तथा उसी में सर्वस्व अर्पण करता जो पुरुष संसार को विषसम गिन उसके रसास्वाद की जागृत या स्वप्न में भी इच्छा नहीं करता, वही पुरुष आत्मनिष्ठ होता है, वही अहंता ममतारूपी जगत के जंजाल को त्याग कर आशा के बंधन को काट कर, कुल का तथा मान अपमान का अभिमान छोड़, क्रिया को दूर से ही नमस्कार कर, शुद्ध सत् के दर्शन का भागी बनता है, ऐसा पुरुष अनात्म पदार्थ का चिंतन नहीं करता और दुःख के कारणरूप मोह के वश नहीं होता। इस स्थिति के आप अपेक्षित थे, परंतु ब्रह्म व्यवहार का त्याग करने के लिये आप समर्थ नहीं हुए थे, इससे आपको पुनर्जन्म धारण करना पड़ा है।

पूर्ण ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिये, हे पिता जनक! आपका उद्योग सदा रहता था, परंतु आपका प्रारब्ध आपके सत की कसौटी करने के लिये दूसरी दिशा की ओर फिरता मालूम होता था। अतिथि अभ्यागतों की सेवा करने में आप एकनिष्ठ थे, उसकी कसौटी करने के लिये मानो परम परमात्मा ने निश्चय किया हो वैसे, आपके राज्य में महाभयंकर दुष्काल पड़ा, बारह वर्ष तक वृष्टि का बिन्दु भी न पड़ा। आप अटल टेकी होने से सर्व ऋद्धि सिद्धि दे दे कर भी अतिथि अभ्यागतों को विमुख नहीं जाने देते थे। पर नगर की सब प्रजा दुष्काल के भय से राज्य छोड़ कर भाग गयी। आप अतिथि अभ्यागतों की सेवा भली भांति करते तथा उसी में मग्न रहते। पर प्रजा को जो कष्ट पड़ता था उसे जानकर भी आपने उसकी रक्षा नहीं की। क्षत्रिय का धर्म है कि 'प्रजापालन में सदा तत्पर रहे,' इसको आप भूल ही गये तथा वही तुमको पुनः जन्ममरण के कारण का बीजभूत हुआ। हे पिता! प्रत्येक आत्मनिष्ठ पुरुष को यह सत्य जानना चाहिये कि उसे स्वधर्म बलात्कार से भी छोड़ना उचित नहीं; कष्ट या क्लेश में भी छोड़ना योग्य नहीं। जो स्वधर्म को छोड़ देता है तथा उत्तम भी परधर्म का सेवन करता है तो वह उसे भयकारी ही हो पड़ता है। क्षत्रिय का धर्म प्रजासंरक्षण है। उसके त्याग से ही आज तुम इस लोक में विचरते हो, नहीं तो आपके लिये श्रेष्ठ स्थान तैयार ही था।

पीछे से हम सबको भी राज्य छोड़ने का प्रसंग आ पहुँचा। आप, मेरी माता, मैं तथा मेरी स्त्री ये चारों जने अरण्य में चले गयें। बारह दिन का उपवास हुआ। इन दिनों में अन्न का एक दाना भी नहीं मिला। गिरते पड़ते लड़खड़ाते हुए, ऊपर आकाश और नीचे धरती के आसरे बरसती लू के बीच हम सब लोग विन्ध्याचल के अरण्य के बीच जा पहुँचे। वहां एक योगी का आश्रम दीख पड़ा। सर्व स्थल में सूखा पड़ रहा था, पर वहां नव पल्लवित देख पड़ा। उस आश्रम में कोई महान् संत पुरुष रहते थे। वह योगी कोई देवांशी महात्मा थे। उनके आश्रम पर हम लोगों ने जाकर थोड़ी देर विश्राम किया। उन योगी के प्रताप से अथवा किसी अदृश्य कारण से मध्यान्ह में उसी पर्णकुटी के पास एक वृक्ष पर भोजन से भरे हुए चार पात्र देखने में आये। वे पात्र अन्य के होने के विचार से आपने तो ग्रहण करने का संकल्प भी नहीं किया और मेरा मन उस पात्र के भोजन के लिये व्याकुल हो रहा था। परन्तु परायी वस्तु उसके स्वामी की आज्ञा के बिना नहीं ग्रहण कर सकते, बिना आज्ञा के ग्रहण करना यह एक प्रकार की चोरी है। ऐसी आपकी आज्ञा से मैंने अपने मन को बड़े कष्ट से रोका पर उस अगाध शक्तिमान की अलक गति के अनुसार वे चारों पात्र आपसे आप जिस वृक्ष के नीचे हम लोग बैठे थे वहां उतर आये और अपने आप परोस गये। तुरंत ही आकाशवाणी हुई कि 'हे प्रज्ञानदेव! यह

भोजन तेरे लिये है, तू इसे स्वीकार कर।' बारह दिन का उपवास हुआ था, हम सबका शरीर शिथिल हो रहा था, पर केवल आपके सत् के आधार पर ही हम तीनों का प्राण भी शरीर में था। फिर भी वहां से दो कोस पर नदी में आप स्नान करने गये। जाते समय आप आज्ञा करते गये कि मैं जब तक न आऊं तब तक तुम इस भोजन को छूना भी नहीं। आपकी आज्ञानुसार हम तीनों जन बैठे ही रहे। परन्तु जिस नियमानुसार आपने स्नान संध्यादि के करने का विचार किया, वह विचार हमको नहीं आया। हम तो उस भोजन के लिये तत्पर और आप कब आते हो, इसके लिये आतुर हो रहे थे। थोड़ी देर में स्नान संध्या से निवृत्त होकर आप आये। भोजन के चारों पात्रों को चारों के सामने परोस, ब्रह्मार्पण करके ग्रास लेने के पूर्व ही आप विचार करने लगे कि, 'मुझसे भी विशेष दुःखी अतिथि अभ्यागत कोई हो तो उसे जिमाकर पीछे मैं जीमूं' ऐसे विचार करते-करते आप दूर के मार्ग में आते हुए किसी मनुष्य को देखने लगे, थोड़ी देर तो कोई भी दिखायी न दिया, पर ज्यों ही हम चारों जनों ने प्रथम ग्रास हाथ में लिया कि तुरंत ही दूर से शब्द सुनायी पड़ा—'अरे रे! मैं एक महीने से भूखा हूं, मेरे प्राण जाते हैं, मुझे भोजन दो!' ऐसे कहता-कहता एक अद्भुत संत श्वास भरे दौड़ता-दौड़ता वहां आ पहुँचा! आपने प्रेमपूर्वक ईश्वरप्रीत्यर्थ अपना थाल उस संत के आगे रख दिया और बड़े प्रसन्न हुए। आपके सत् की यह परिसीमा थी।

सुख में तो सब कोई भजे, दुःख में भजे न कोइ।
जो दुःख में हरि को भजे, तो दुःख काहे को होइ ॥

पर यहां तो एक कौतुक बना। उस सतं ने तो सपाटा भर-भर खाके तुम्हारे थाल को खाली कर दिया और फिर आपके सामने देख कर कहा कि 'हे प्रभु पुरुष! मैं अब भी भूखा हूं, मुझे बहुत भोजन दे।' तुरंत ही यत्किंचित् भी शंका के बिना मेरी मातुश्री से आपने कहा—'हे सौभाग्यवती! अतिथिसत्कार के बराबर दूसरा कोई भी पुण्य नहीं, अपना थाल ब्रह्मार्पण कर दे!' मेरी मातुश्री को यह वचन बहुत अच्छा न लगा, पर वह सदा ही आपकी आज्ञा के अनुसार चलने वाली थी। इससे प्रसन्नमुख हो, मन में संकोच करते-करते उसने वह थाल उस अद्भुत संत को अर्पण किया! यह अद्भुत योगीराज उस थाल को भी स्वाहा कर गया। तब आपने मेरी स्त्री से थाल मांगा। मेरी स्त्री ने उस थाल में से गुप्त रीति से दो ग्रास खाकर अपना थाल उस योगी को मन में अनेक शाप देते-देते अर्पण किया। योगी तो वह थाल भी स्वाहा कर गया। तब मुझे बड़ी चिंता होने लगी। मैं ब्रह्मार्पण-कृष्णार्पण की बात तो समझता न था। मैंने सोचा कि 'यह अद्भुत योगी यदि मेरा थाल भी स्वाहा कर गया तो मैं भूखा रह जाऊंगा,' यह विचार कर आपके कहने को न गिनते हुए मैं लुटेरे के समान उस थाल में से भोजन करने लगा। वह अद्भुत योगी यह

देख कर मेरे पात्र ही में भोजन करने बैठ गया और बड़े-बड़े ग्रास भरने लगा, तब मैंने उसके हाथ में से भोजन छुड़ाने के साथ-साथ उस योगी का अत्यन्त अघटित रीति से अपमान किया। मैं जीम चुका था, उसके जोश में मैंने उसको लातें मारी। आपने बहुत रोका, पर 'मोहांध' जिसका नाम वह किसको सुने!

पर तुरंत ही वह अद्‌भुत योगी अदृश्य हो गया। भोजन के पात्र भी अदृश्य हो गये। महात्मा की पर्णकुटी भी अदृश्य हो गयी। आपने अपने मन में माना कि यह कोई दैवी लीला हुई है। इस लीला पर विचार करते हुए ब्रह्मार्पण करके आपने प्रेम से उत्साहपूर्वक थाल उस संत के समक्ष धरा था, इससे आपको अति आनंद होता दिखाया। ईश्वर की इच्छा से इस थाल के अर्पण से आपको, मेरी मातुश्री के और मेरी पत्नी के शरीर में अपेक्षा से अधिक विशेष शक्ति आयी तथा सबका पेट भर गया हो, ऐसा मालूम हुआ। अरे! बिना भोजन के डकारें आने लगीं। पर मुझमें तो थोड़ा बहुत खा लेने पर भी चलने की शक्ति नहीं रही परंतु पूर्व जन्म के किसी सुकृत के कारण उस स्थान पर पड़े हुए अन्न के कुछ कणों के भक्षण से मैं आपके साथ चलने को शक्तिमान् हुआ।

हे पिता प्रज्ञानदेव! थोड़े दिन पीछे दुष्काल मिट गया। हम सब लोग फिर अपने विश्वपुर को लौट आये। धीरे-धीरे प्रजा भी आकर बसने लगी। राज्य फिर समृद्धि वाला हो गया। पूर्ववत् कार्य चलने लगा। पर इस प्रसंग से आपकी ब्रह्मजिज्ञासा बढ़ती गयी, लेकिन जीव शिव की एकता का संपूर्ण ज्ञानपूर्वक समाधान होने के पूर्व आपका अवसान (अन्त) हो गया। आपके पीछे क्रम से मेरी माता सुमति, मेरी स्त्री शीलवती तथा पीछे से मैं, ऐसे उत्तरोत्तर सब मृत्यु को प्राप्त हुए, आप ब्रह्म के जिज्ञासु थे तथा प्रत्येक पदार्थ का सेवन ब्रह्मार्पण किये बिना नहीं करते थे, इसका फल अब आप भोगते हैं सो प्रत्यक्ष ही है। परमात्मा के वचनानुसार आपका योग अधूरा था, इस कारण आप एक महाराज के यहां जन्म लेकर महाराज हुए हो। इस विश्व में ऐसा जन्म होना दुर्लभ है। पूर्व जन्म का वृत्तान्त जानने की आपको जो अभिलाषा हुई है, सो पूर्व जन्म के सुकृत से ही हुई है। आप पूर्व जन्म को नहीं जान सकते, इसका कारण केवल आपके योगसाधन की न्यूनता थी। इस जन्म में फिर भी सिद्धि की प्राप्ति के लिये आप समर्थ हैं। पूर्व का जो योगाभ्यास अपूर्ण है, वह आप इस जन्म में पूर्ण करते हैं। वह पूर्ण होते ही आप सदा विदेह मुक्त ही होंगे।"

सन्त प्रसाद सब देता है

"हे बालकुवंर! हे परमज्ञानी!" राजा जनक ने अपने बालकुमार को उद्देश करके कहा—"तेरे कहने के अनुसार अपने पूर्व जन्म के ऊंचे धर्म का, ऊंचे

आचार का और सत्कर्म का मुझे स्मरण होता है। पर मुझे पूर्व की देहस्थिति का अब तक ज्ञान नहीं होता तथा तू आज इस स्थिति में पड़ा होने पर भी तुझे पूर्व जन्म का ज्ञान है, इसका कारण क्या?"

बाल कुँवर ने कहा—"हे पिताजी! अरण्य में जिस योगी का हम सबको दर्शन हुआ था, वह योगी साक्षात् परमात्मा का अंशावतारी था अपनी क्षुधा को तृप्त करने के लिये उसके मुख में से भूमि पर पड़े हुए कणों का मैंने प्राशन किया था। ये कण उस महात्मा के मुख की महाप्रसादी थी। वह मेरे कल्याण के लिये ही पृथ्वी पर गिरी थी। परमात्मा श्रीकृष्णजी के साथ रंग और उमंग में खेलते गोपबालक जैसे उनके मुख की प्रसादी को पाकर परम गति को प्राप्त हुए थे, वैसे ही मेरे साथ भी उन प्रभु ने वैसी ही क्रीड़ा की थी। मैंने उनके मुख में से भी प्रसाद खींच लिया था और उस प्रभु ने मेरे हाथ में से भी छीन लिया था। आप पूछेंगे कि तब तेरा मोक्ष क्यों नहीं हुआ? इसका कारण यह कि मैंने क्रोध में आकर प्रसाद उनके मुख में से छीन लिया था—प्रेम से नहीं वैसे ही ज्ञानपूर्वक भी नहीं। यह मेरा अपराध तो भारी था-पर वे कृपालु प्रभु सदा भक्तवत्सल है। मैंने जो अज्ञानता में कर्म किया, वह प्रभु ने मनुष्य का क्षुधा पीड़ित धर्म मान लिया और मुझे गोपालबाल की पदवी दी। पर अज्ञानता में हुए क्रियमाण का फल तो भोगना ही चाहिये, उसे भोगता हूं। आपकी तरह यदि प्रेमपुरस्सर थाल अर्पण किया होता और प्रसाद प्राशन किया होता तो अहोभाग्य गिनता तथा आपसे पूर्व उस धाम का निवासी बन जाता। उस प्रसाद के प्रशान से आज मेरा आत्मा कृतार्थ है, मैं त्रिकालज्ञ होने को समर्थ हूं। इस प्रसादी के योग से मेरे कृत कर्म का विपाक होने के पीछे जिस गति को आप प्राप्त होने वाले हैं उसी गति को मैं भी प्राप्त होऊंगा। महात्मा की-अरे! पूर्ण परमेश्वर की कृपा प्रसादी का फल बिना मिले नहीं रहता।

अज्ञानता में हुए अपराध के योग से आजकल तो मेरा आवर्जन और विसर्जन ही हुआ करेगा। एक गढ़े में से निकल कर दूसरे गढ़े में पड़ना, यह नियम तो मेरे लिये नियामक द्वारा निर्माण किया गया है। आपका ऐश्वर्य तो परम है, क्योंकि निष्कामपने से ईश्वरप्रीत्यर्थ आपने सब कर्म किये हैं। कोई भी कर्म आपने ब्रह्मार्पण किये बिना नहीं किया, इसलिये आप कर्म से निर्लेप हैं, निर्बाधित हैं, आपके योग और वैराग्य में जो थोड़ी-सी कमी है, वही आपको अब सिद्ध करनी है, जो जीव संसार में लीन रह कर ब्रह्मार्पण कर्म करता है, उसे किसी कर्म का प्रत्यवाय नहीं लगता। ब्रह्मार्पण कर्म का माहात्म्य कितना है और क्या फल देता है, इस पर एक कथा मैं तुमसे कहता हूं सो तुम सुनो।

दुर्वासा का ब्रह्मार्पण

गोपियों के मनोरथ को पूर्ण करने वाले, आधि-व्याधि-उपाधिरूप भुजंगों से डसे हुए जीवों का उद्धार करने वाले, संसार सागर में डूबे हुओं को तारने वाले, बंसी के नाद में वेद गाकर गोपीजनों के मन को हरण करने वाले, अकुंठित, बुद्धि वाले, लक्ष्मी के मन रूपी सरोवर में हंस रूप से रमण करने वाले पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण परमात्मा एक समय श्रीयमुनाजी के तट पर विराजमान थे। बंसी की ध्वनि बज रही थी। पशु पक्षी भी उस धुन में लवलीन थे। वृक्ष भी उसके श्रवण में मस्त जड़तव् हो रहे थे।

ऐसे प्रभु की सेवा करने के लिये वृन्दावन की गोपियां नित्य उत्सुक रहती थीं। जो गोपियां श्रीकृष्ण को क्षण भर नहीं देखतीं, तो उनका कलेजा घबड़ा जाता था, उनकी बंसी का नाद सुन कर गोकुल की गोपियां विह्वल हो गयी थीं। क्योंकि गोपियां श्रीकृष्ण की अनन्य भक्त थीं। अपने पति पुत्रादि सगे संबंधियों की स्नेहशृंखला को तोड़ कर वे एक श्रीकृष्ण ही में लीन थीं। गोकुल वृन्दावन की गोपियां अपने प्राण से भी अधिक माने हुए श्रीकृष्ण को अपने घर में जो उत्तम से उत्तम पदार्थ हों, उसका भोजन कराने में, अनेक प्रकार के लाड़ करने में, उनके दर्शन को चातक की तरह पान करने में अपना तन, मन अर्पण करने में केवल प्रेम से बावली बन गयी थीं। प्रेम ही सर्वोत्तम स्थान का देने वाला है, कल्याण का दाता है। ऐसे प्रेम में गोपियां बावली बनी हुई थीं।

एक समय गोकुल वृन्दावन की गोपियों ने आपस में यह ठहराया कि आज श्रीकृष्ण के लिये उत्तम से उत्तम भोजन बना कर अपने हाथ से भोजन करावें। इस संकेत के अनुसार सब गोपियों ने अनेक प्रकार के भोजन सिद्ध किये तथा यमुना के तट पर जहां श्रीकृष्ण बैठे थे वहां आयीं और श्रीकृष्ण से कहने लगीं—"हे नंदलाल! हे कन्हैया! आप हमारे हाथ के बने हुए उत्तमोत्तम भोजनों का आस्वाद लेकर हमारे मन को संतोष दीजिये।"

श्रीकृष्ण ने कहा—"हे गोपियों! आज तो मैं पिता नंद के साथ भोजन करके आया हूं, इसलिये मुझे इच्छा नहीं। मेरे पेट में तिल के समान भी जगह नहीं, इससे यह भोजन मैं नहीं जीमूंगा, पर जो तुम्हारी इच्छा मेरा सन्तोष करने की है तो किसी उत्तम ब्राह्मण को यह भोजन कराओ तो मैं प्रसन्न होऊंगा।"

गोपियां श्रीकृष्ण के प्रेम में ऐसी लुब्ध बन गयी थीं कि श्रीकृष्ण का एक भी शब्द उल्लंघन नहीं करती थीं। उनका प्राण, उनका मन, उनका जीवन, उनका पति, उनका सखा, उनका स्नेही, उनके प्रेम का परम स्थान केवल श्रीकृष्ण ही थे। वे उन्हीं की आज्ञा का पालन करने वाली थीं। यद्यपि श्रीकृष्ण के वचन से, उस परम पुरुष के पुरुषार्थ से अज्ञात क्षुद्र गोपबालाओं के मन

में क्षण भर परिताप हुआ, पर उनकी आज्ञा का उल्लंघन करने में कोई स्त्री समर्थ न हुई। वे ब्रज बालाएं प्रसन्नता से बोलीं—"हे कृष्ण! हम किस ब्राह्मण को यह भोजन करावें? हम सब आपकी दासी हैं। आप जिसको कहेंगे उसी को हम यह उत्तम भोजन जिमा देंगी।"

अपनी आज्ञा का ऐसी अच्छी रीति से पालन करने वाली गोपियों के प्रेम से संतोषित बन, श्रीकृष्ण ने कहा—"हे गोपियों! यमुनाजी के दूसरे तट पर भगवान् दुर्वासा मुनि विराजे हुए हैं, उन्हें यह भोजन कराओ।"

व्रज सुन्दरियों ने पूछा—"हे नन्दनंदन! यमुनाजी छलाछल भरी हैं, यहां कोई नौका भी नहीं, जिस पर बैठ, पार जाकर मुनि को हम भोजन करावें, यमुना जल का स्पर्श किये बिना हम किस तरह पार जा सकती हैं?"

श्रीकृष्ण ने कहा—"अरी गोपियों! तुमको इतना भी ज्ञान नहीं कि जल का स्पर्श किये बिना उस पार सहज जाया जा सकता है! यमुना से जाकर कहो कि 'श्रीकृष्ण जो सदा का बालब्रह्मचारी हों तो तू हमको पार जाने का मार्ग दे।' इतनी प्रार्थना करते ही तुम्हारा मार्ग सहज हो जायगा। इसमें कठिनाई क्या है?"

जिन श्रीकृष्ण ने अनेक गोपीयों के साथ क्रीड़ा की है, रास रचा है, अनेकों के आत्मा को संतुष्ट किया है, जिन श्रीकृष्ण ने अनेक गोपीयों की छाती पर रमण किया है, ऐसी गोपांगनाओं की धारणा है, वे 'श्रीकृष्ण सदा ही बालब्रह्मचारी हैं,' यह वचन सुन कर गोपियों ने उनकी आज्ञानुसार यमुना तट पर खड़े होकर प्रार्थना की कि तुरंत यमुना जल दोनों ओर स्थिर हो गया और मध्य में खाली स्वच्छ मार्ग दिखायी पड़ा। सड़सड़ाहट करती हुई गोपीयां सामने पार चली गयी तथा पीछे लौट कर सब गोपियों ने देखा, तो यमुनाजल पूर्ववत् बहता था।

सर्व गोपांगना दुर्वासा मुनि के आश्रम में गयीं और श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार प्रत्येक ने अपने-अपने थाल मुनि को सप्रेम प्राशन कराये। हजारों नहीं, बल्कि लाखों गोपियों के थालों को दुर्वासा मुनि ने क्षण भर में खाली कर दिया। यह देख कर सर्व गोपियां चकित हो गयीं। फिर दुर्वासा मुनि ने सब गोपियों को आशीर्वाद देकर जाने की आज्ञा दी। यमुना जल तो पहले ही तरह अथाह बह रहा था। इससे जल का स्पर्श किये बिना पार कैसे जायँगी, इस लिये गोपांगना चिंता करने लगीं। तब दुर्वासा मुनि ने पूछा—"हे गोपांगनाओ! तुम क्यों खड़ी हो? तुम किसकी चिन्ता करती हो?"

गोपीयां बोली—"हे भगवन्! इस यमुना जल का स्पर्श किये बिना हम पार उतर जावें, ऐसा कोई मार्ग बताओ।"

क्षणभर मौन धरके दुर्वासा मुनि ने कहा—"हे देवियों! जिस रीति से तुम आयीं, उसी रीति से जाओ! यमुना से जाकर कहो कि दुर्वासा मुनि जो सदा का निराहारी (उपवासी) हो तो तू हमको मार्ग दे।"

अनेक प्रकार की क्रीड़ा करने वाले श्रीकृष्ण 'सदा ही बालब्रह्मचारी और घड़ी भर पहले लाखों गोपियों के थालों का भोजन खा जाने वाला दुर्वासा 'सदा ही निराहारी' यह आश्चर्य देख कर सब गोपियां बोलीं–''हमारे साथ रमण करने वाले श्रीकृष्ण बालब्रह्मचारी कैसे? वैसे ही घड़ी भर पहले भोजन करने वाले आप उपवासी कैसे हुए?''

दुर्वासा मुनि ने कहा–''हे गोपियों! मैं शब्दादिक गुणों से तथा आकाशादिक पंच महाभूतों से भिन्न भी हूं तथा उनके अंदर भी हूं, वे मुझे जानते नहीं। वे मेरे अंतर में भी नहीं। मैं सर्वसंगरहित आत्मा हूं, तो किस प्रकार भोक्ता हो संकू? व्यवहार दशा ही में मन विषयों को ग्रहण करता है, किन्तु परमार्थ दशा में जब सर्वत्र आत्मा है तब किस विषय का मन मनन करे, किस विषय में मन लिप्त हो? श्रीकृष्ण भी दोनों शरीर के कारण रहित हैं, जो इच्छा से विषय को सेवे वह कामी है, जो निरिच्छा से अथवा इच्छा के पूर्ण अभाव से विषयों का सेवन करता है वह सदा ही अकामी है, सदा ही निष्काम है, सदा ही ब्रह्मचारी है सदा निराहारी है, जो परमात्मा को अर्पण करके विषयों को क्षुद्रवत जान अभाव से भोगता है, अभाव से ही भोजन करता है, वह सदा ब्रह्मचारी और निराहारी है।''

दुर्वासा मुनि के इस वचन से गोपियों के मन का समाधान हुआ। जिस प्रकार श्रीकृष्णजी के पास से जल का स्पर्श किये बिना दुर्वासा मुनि के पास गोपियां आयीं थीं, उसी प्रकार जल का स्पर्श किये बिना श्रीकृष्णजी के पास पहुँच गयीं तथा श्रीकृष्णजी का बालब्रह्मचर्य व्रत जान, पूर्व की अपेक्षा और भी अधिक प्रेम करने लगीं।''

बालशव (मृतक बालक) ने कहा–''हे पिताजी! हे जनक! इसी प्रकार आप सदा ही ब्रह्मार्पण करके व्यवहार के विषय में कुशल रहते थे तथा उसी से आप संसार के सब पदार्थों से निर्लेप थे। स्त्री पुत्रादिक, धन यौवनादिक का आपको साथ न था। केवल अभाव से ही संसार में प्रवृत्त होते थे। कर्ता भोक्तापन आपके हृदय प्रदेश में से पलायन कर गया था। इस सुसंस्कार के योग से आप उत्तम एद के भोक्ता हुए हो तथा आत्मज्ञान में जो कमी है, उसके जिज्ञासु बने हो। अपना अपूर्ण योग पूर्ण करो। फिर विदेहमुक्त बन कर संसार से विचरो।''

सुख तथा दुःख का प्रेरक कोई नहीं

राजा जनक ने उस बाल कुवंर से पूछा–हे वत्स! तुम्हारी माता भी सदा मेरे अनुसार चलने वाली थी, पर वह मेरी तरह उच्च पद को प्राप्त न होकर इस स्थिति को कैसे प्राप्त हुई? वैसे ही तुम्हारी स्त्री शीलवती की जो अधम अवस्था मैंने देखी है उस अवस्था के योग्य वह नहीं थी। इस जगत् में मनुष्यावतार दुर्लभ है। मनुष्यावतार में स्त्री की स्थिति पुरुष की अपेक्षा नीची गिनी जाती है। उसमें

भी स्त्री को विधवापन प्राप्त होना, यह महान् कष्ट का कारण है, विधवापन में स्त्री को जो कष्ट भोगने पड़ते हैं वह अवर्णनीय है। प्रथम तो स्त्री को स्वतंत्रपन ही नहीं तथा विधवा तो माता, पिता, पुत्र, सास, ससुर, भाई भौजाई की आश्रित रहती है। कुबुद्धि वाले दुर्जन सौभाग्यवत्ती स्त्री के ऊपर आरोप करने में तो संकोच ही नहीं करते, फिर विधवाओं का दुर्जनमुख से रक्षण कठिन ही है। असहनीय दोषारोपण दुर्मार्गगामी दुर्जन विधवा पर करते हैं। पवित्र मनवाली सुशील विधवा का इन सब बातों से रक्षा करने वाला केवल परमात्मा ही है। फिर साम्प्रत स्थिति का प्राप्त होना तेरी भार्या को किस कारण मिला है? सो कह।"

"इस जगत् के जीव अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःख को प्राप्त होते हैं।" योगी महात्मा की प्रसादी से ज्ञानी बने हुए उस बाल कुँवर ने कहा—कोई दुःख देता है या सुख देता है यह निर्बलों का वचन है। सुख तथा दुःख का प्रेरक कोई नहीं। जीव अपने कर्मानुसार सुख या दुःख पाता है। केवल बलहीन-अज्ञानी-अपुरुषार्थी जीव ही सुख-दुःख भोगने में परमात्मा को दोषभागी करते हैं। जब तक इस लिंग शरीर में से प्रियाप्रिय का नाश नहीं होता, देह के ऊपर अभिमान रहता है, परमात्मा की श्रद्धा में संशय रहता है तथा कामना से कर्म का सेवन करता है, तब तक कर्मबल छूटता नहीं। यही कर्म जीव को बलात्कार से आकर्षण कर महामोह में घसीट ले जाता है तथा पुरुष मोह के कारण धर्म को अकर्म और अकर्म को कर्म देखता है वही पुरुष को बंधन में डालता है। वास्तव में कर्म चित्त की शुद्धि के अर्थ है, वस्तु की प्राप्ति के अर्थ नहीं; वस्तुसिद्धि तो निष्कामपने से तत्त्व के विचार से और स्वधर्म के सेवन से ही होती है। व्यवहार में रहता हुआ पुरुष बाहर के कर्म की जो उपासना करता है, वह तो केवल बंधन में डालकर अधोगति ही को पहुँचाने वाला है। जैसा जिसका कर्म उसके अनुसार वह इस लोक के भोग भोगता है। मेरी माता संपूर्ण स्त्री धर्म की उपासक थी, दिन रात पति की ही सेवा में परायण रहती थी। आपकी आज्ञा उसको वेद की आज्ञा के समान थी, उसकी अपेक्षा परम प्रभु की आज्ञा भी उसके मन से तुच्छ थी। आपकी इच्छा पूर्ण करने को वह सदा ही तत्पर रहती थी, पति ही उसका सर्वस्व था। किसी भी कार्य से आपका मन दुःखी हो ऐसे काम से वह सदा दुःखी होती थी। मनसा वाचा कर्मणा वह पतिपरायण थी। तथापि जिस ज्ञान से, प्रेम से, श्री हरि प्रति की श्रद्धा से आप अभेद रूप से संत पुरुषों का सेवन करते थे, जिस शुद्ध श्रद्धा से अतिथि अभ्यागतों को दान देने में तत्पर रहते थे, वह प्रेम, वह श्रद्धा तथा वह ज्ञान मेरी मातुश्री में न होने के कारण वह आज काशीपुरी के नगरशेठ की स्त्री होकर भी राजरानी से उतरती पदवी को प्राप्त हुई है। स्त्री तथा पुरुषों का जो जोड़ा है वह इस लोक तथा पर लोक में जोड़ा ही विचरता है। महात्मा

पुरुषों का कथन है कि अनेक जन्म तक स्त्री तथा पुरुष पतिपत्नी के संबंध के साथ-साथ ही सब स्थानों में विचारते हैं। पर जिसका सत्कर्म थोड़ा है उसको कुछ काल एक दूसरे का वियोग भी सहन करना पड़ता है तथा अपने पूर्व जन्म का कर्म अति महा कष्ट से भोगना पड़ता है; जुदे-जुदे कर्म का फल भोगने के पीछे फिर वह युग्म रूप से जोड़े के साथ रहते हैं तथा युग्म-द्वैत में से अद्वैत भाव को पाकर फिर निर्वाण को पाते हैं। स्त्री को अपने पति की इच्छा से विरुद्ध अन्य प्राणी तथा पदार्थ की इच्छा करनी ही न चाहिये। जो स्त्री पति की इच्छानुसार चलने वाली है, दिन रात जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में भी पति के बिना अन्य का दर्शन स्मरण नहीं करती, वही सदा सती है-अग्नि में जलने वाली अथवा पति विरह से एकाएक मरण पाने वाली सती नहीं।*

जो पति की आज्ञा से परम पुरुष के सेवन में अनुरक्त है,वही सर्व काल पति के साथ रहकर परमात्मा की परम लीला का रसास्वाद लेने के लिये भाग्यशाली बनती है। इस पर यह पुराणप्रसिद्ध कथा है, सो सुनो।

स्त्री का परम देवता पति ही है †

पूर्व समय में कौशिक नाम का एक ब्राह्मण था। वह अनेक तपरुवी धन एकत्र करके एक दिन 'भवति भिक्षां देहि' करता-करता किसी एक पतिव्रता के द्वार पर जा खड़ा हुआ। इस कौशिक ब्राह्मण के तप का बल ऐसा उग्र था कि एक समय वह वृक्ष के नीचे बैठा था, इतने में ऊपर से एक बगली ने उसके ऊपर बीट कर दी, इससे उसने उस बगली के सामने क्रोध दृष्टि की। तुरंत ही वह जल कर भस्म हो गयी। कौशिक ब्राह्मण जिसके घर 'भिक्षां देहि' करके खड़ा रहा था उस गृहस्थ की स्त्री ने कहा—'महाराज! जरा खड़े रहो, मैं भिक्षा देती हूं।' पर दैवेच्छा से उसी क्षण उस तपोधन को बोध होने के लिये उस स्त्री का पति आकर खड़ा हुआ और उसने अपनी स्त्री से कहा—'हे साध्वी! जल्दी रसोई पर, मुझे क्षुधा लगी है।' यह आज्ञा होते ही वह स्त्री अपने पति की सेवा में लग गयी और ब्राह्मण को भिक्षा देना भूल गयी। जब स्मरण हुआ तब उस विप्रर्षि को भिक्षा देने आयी। पर विप्रर्षि तो क्रोधित होकर बोला—'हे स्त्री! तू ब्राह्मण को आशा देकर खड़ा करके अपने पति की सेवा में लग गयी, यह तूने महापाप का कर्म किया है।' ऐसा कह कर लाल पीली आंख करके उस स्त्री के सामने देखने लगा।

* यह सत्य है कि अहल्या, तारा, द्रौपदी, सीता, मंदोदरी, ये पांच परम सती गिनी जाती हैं। इनके सिवाय और भी हैं। इन सबने पति के पीछे अग्नि में कूद, अपना देहोत्सर्ग किया हो, ऐसा लेख किसी धर्मग्रन्थ में नहीं मिलता।

† श्रीमहाभारत के वनपर्व में यह कथा विस्तार से वर्णित है।

तपोधन की यह चेष्टा देख, स्त्री ने निडर हो कर कहा—'हे महाराज! मैं तुम्हारे क्रोध की कुछ भी परवाह नहीं करती, मेरे लिये दान, धर्म, कर्म अतिथिसत्कार, ब्रह्मपूजन, देवसेवा, भक्ति, ज्ञान, यह सब मेरा पति ही है। जो स्त्री पतिसेवा परायण न रहने में लीन है, पति की आज्ञानुसार वर्तती नहीं, पति को कटु वचन कहने वाली है, पति के प्रेम तथा क्रोध को एकसा गिनने वाली है, पति के सुख-दुःख में भाग लेने से विदूर है, वह स्त्री त्रिकाल में भी परम पद की प्राप्ति नहीं कर सकती। अतिथि का सत्कार करना, यह गृहस्थ का धर्म है, आशाबद्ध को आतुर रखना यह महाकष्ट है, एवम् आप मुझे इष्ट हो, पूज्य हो, पर आपसे विशेष इष्ट, पूज्य, सर्वोपरि, जीवित, प्राण, यह सब मनसा वाचा कर्मणा मुझे मेरा पति ही है। मैं कोई अरण्य की बगली नहीं कि आपके क्रोधित नेत्रों के देखते ही जल कर भस्म हो जाऊंगी। जिसने अटल तपरूपी धन प्राप्त किया है ऐसा कौशिक ब्राह्मण अरण्य के निर्जन प्रदेश में बने हुए प्रसंग का वर्णन उस स्त्री के मुख से सुन कर अपने तप के गर्व को भूल गया।'

बाल कुवंर ने कहा—"हे महाराज! पतिसेवा का यह माहात्म्य जो सच्चरित्रशाली स्त्री जानती है, पति के ही अनुसार चलती है तथा पति में ही अनुरक्त है, वहीं स्त्री पति के समान बल्कि उससे श्रेष्ठ सुख को प्राप्त होती है। मेरी माता सदा ही आपके वचन के अनुसार चलने वाली होने पर भी बारह वर्ष के दुष्काल में जब आपने कहा कि 'तू चमत्कारी योगी को अपने थाल दे,' तब शुद्ध सात्विक भाव से आपकी आज्ञा को ईश्वरतुल्य आज्ञा नहीं मानकर कसमकम के साथ मुंह बना कर, मन में संताप करते हुए अपना थाल चमत्कारी योगी को अर्पण किया था, इसी से उसका भाग्य उतरता रहा। उस कर्म के योग से आज वह फल भोगती है, सो योग्य ही है, आपके प्रति अगाध प्रीति तथा सच्चरित्र के योग से वह आज सर्व संपत्ति भोगती अवश्य है, पर यह संपत्ति राजरानी का उच्छिष्ट है। आपके प्रति निर्मल भक्ति के प्रताप से ही वह अपने पूर्व जन्म के इतिवृत्त की ज्ञाता है, तथापि उसकी स्थिति राजरानी से उतरती तथा किसी अंश में पराधीन भी है।

बिना ब्रह्मार्पण किया हुआ कर्म बंधनरूप है

अब मेरी भार्या के कर्म की कथा सुनो। वह सदा मेरी आज्ञानुसार चलती थी, परंतु जिस मोहांधपन से मैं वर्तता था, उस मोहांधपन को निकालने को उसने कभी सद्‌वोध करने का मेरे लिये विचार भी न किया था। आपकी सुशिक्षा के वचन को वह पूर्ण प्रेम से सुनती थी, पर उसके अनुसार चलने की बातचीत उसने मुझसे कभी न कही तथा उस प्रकार वर्तने की कामना भी उसने नहीं की

उसके कर्ण मात्र ही सुनकर पवित्र हुए थे, उसका आत्मा पवित्र न हुआ था, उसी प्रकार चमत्कारी योगी को आपकी आज्ञा से भोजन का पात्र अर्पण करने के पूर्व उसने वह पात्र उच्छिष्ट किया था, बल्कि वह ब्रह्मार्पण करने के पूर्व ही उन सब पदार्थों का सेवन करती थी। शीलवती सदा ही मम परायण अवश्य थी, पर मनुष्यदेह के सद्धर्म से तथा इस लोक की अपेक्षा कोई परम श्रेष्ठ स्थान है उसको पाने के लिये पुरुषार्थ करने को यह मनुष्यदेह मिला है, इस ज्ञान से वह बहिर्मुख थी। उसके कान में ब्रह्मानंद के शब्दों का ही प्रवेश हुआ था, इससे वह ब्राह्मण के उत्तम कुल में अवतरी है, भूत भविष्य के ज्ञान से संपन्न है, पर ब्रह्मार्पण किये बिना प्रत्येक पदार्थ के सेवन के कारण और पति की उन्नति का साधन साधने में भूल करने से तथा काम के सवन में अनुरक्त रहने से व धर्म का उल्लंघन होने से युवावस्था ही में वैधव्य अवस्था के महान् दुःख को भोगनेवाली बनी है। जो स्त्री-सती साध्वी पतिव्रता सच्चरित्रशाली स्त्री आप जानकर भी पति की प्रसन्नतार्थ केवल अनुरक्त रहकर उसको धर्म के मार्ग में चलाने का उद्योग नहीं करती, वह स्त्री गुप्त रूप से पति का द्रोह ही करती है तथा स्वधर्म में मन्द ही है, इस कारण से वह भी पति की अर्धांगिनी रूप से पापकर्म की फलभागिनी गिनी गयी है तथा पुनर्जन्म में उसे पराधीनपने का संकट भोगना पड़ता है, वह संतानरहित रहती है, युवावस्था में ही वैधव्य को प्राप्त होती है और पराधीन बनती है। ऐसी स्त्री को पतिपरायण रहने का पुण्य प्राप्त होता है, यह सत्य है; पर अपना जो धर्म कि पति को उन्नत स्थान में रखना, उसमें भूल करने का फल भी भोगना पड़ता है।

हे पिताजी! मेरी स्थिति तो तुम देखते ही हो! किसी जन्म के ऋणानुबंध के योग से मैं बड़े-बड़े घरों में जन्म लेता हूं तथा लेना देना चुका कर एक गढ़े से निकलकर दूसरे गढ़े में पड़ता हूं। इस प्रकार मेरा कर्म पूरा होता है और नये कर्म के बंध से मुक्त रहता हूं। आजतक मेरे ऐसे अनेक जन्म हो गये हैं। ऋणानुबंध से कोई भी मुक्त नहीं। जिस पर अपना ऋण जिस प्रकार लेना या देना है उसी प्रकार देना लेना पड़ेगा अवश्य, निस्सन्देह।

ऋणानुबंध ही सबका कारण है

किसी एक नगर में शशिशेखर नामक एक सच्चरित्रशाली ब्राह्मण रहता था। उसने अयाचक वृत्ति से रहने का निश्चय किया। परमात्मा के वचन पर उसकी पूर्ण श्रद्धा थी कि, जिस परमात्मा ने इस जगत को उत्पन्न किया है, वही उसके योगक्षेम का निर्वाह करेगा।

हे तात सुविचारशर्मा! जो जीव परमात्मा के ऊपर पूर्ण श्रद्धा रखता है उस

भक्त को परमात्मा कभी भी कमी नहीं पड़ने देता। पर जीव का लोभी, लोलुप, संसारी स्वभाव उसको क्षणक्षण में भुलाता रहता है। क्षण में वह ईश्वर पर पूर्ण श्रद्धा करता है, मन, वचन, काया से परमात्मा को प्रेम से पूजता है, क्षण में अपनी प्रारब्ध की निंदा करता है और तीसरे क्षण संसार के पुरुषार्थ को सबल मानता है। पर जो जीव ईश्वर का है-ईश्वर का बन रहा है, ईश्वर को क्षण भर भी दूर नहीं करता, संसार में रहते हुए उस जीव की सब इच्छाएं ईश्वर पूर्ण करता है, वह उसके लिये कभी कमी नहीं पड़ने देता, बल्कि निर्वाह ही करता है।

शशिशेखर भी वैसे ही निश्चय वाला होने से बिना उद्योग के बैठा रहता था। वह परम श्रद्धालु, आत्मनिष्ठ तथा परमात्मा की उपासना में सदा परायण था। अपने भक्त के योगक्षेम का वह ईश्वर निर्वाह करता ही है, इस परमात्मा के वचन के ऊपर उसकी दृढ़ श्रद्धा थी, पर उसके मन में कुछ संशय भी था कि 'परमात्मा अपने भक्त का योगक्षेम कैसे करता होगा?' जो पूर्ण श्रद्धालु है उसके अधीन भगवान् है, पर जो संशयात्मा है उसका तो नित्य विनाश ही है। यह ब्राह्मण भी सहज संशयात्मा था इससे परिणाम में वह पग-पग पर दुःखी हुआ था। कभी-कभी तो घर में भोजन का भी संशय पड़ता था, बालक क्षुधा से व्याकुल होकर चिल्लाते, उनका रोना सुनकर उसकी स्त्री संसार से दुःखित हो चाहे जैसे लेकिन मधुर और नम्र वचन कहती। जैसा शशिशेखर सुशील था, वैसी उसकी वह स्त्री भी पतिधर्मपरायण थी, परन्तु पुरुष जितना सहनशील और गंभीर है, उतनी स्त्री नहीं।

दुःख से जली, बालकों के रोने से दुःखी उस स्त्री ने एक समय स्वामी से कहा—'हे स्वामिन्!

'उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिहस्य प्रविशंति मुखे मृगाः ॥

उद्योग करने से सब काम सिद्ध होते हैं, केवल मनोरथ से काम सिद्ध नहीं होते, जैसे सोते हुए सिंह के मुख में मृग प्रवेश नहीं करते। तुम तो ईश्वर के ऊपर ही आधार रख कर बैठ रहे हो, पर इन बालकों की क्या दशा हो रही है, जरा इनकी ओर तो देखिये! घर में अन्न का एक दाना नहीं। आपका हाल तो सुदामा से भी गया बीता है। मैं लोगों की सेवा करके ज्यों त्यों घर का निर्वाह कर रही हूं, पर स्त्री क्या कमा सकती है? अधिक क्या कहूं, दो चार पैसे! उससे इस कुटुंब का निर्वाह कैसे हो? मेरा और तुम्हारा चाहे जो कुछ हो, हम तुम तो अन्न के बिना दो चार दिन उपवासी भी रह सकते हैं, पर इन

बालकों की दशा क्या हो रही है, इसका आप कुछ विचार करो तो बहुत अच्छा हो। इनका आक्रोश मुझसे तो अब सहा जाता नहीं। संसार के निर्वाह के लिये पुरुष को धन का उपार्जन करना चाहिये तथा स्त्री को उसका नीति से व्यय करना चाहिये। तुम कमाओ और मैं उड़ाऊं तो मेरा अपराध है। पर आप तो बैठे रहते हैं, तो मैं क्या करूं? हे नाथ! जो प्रयत्न करता है, ईश्वर उसी के सब मनोरथ पूर्ण करता है। परन्तु जो पशु की तरह बैठा रहे, उसको ईश्वर थैली भर-भर कर नहीं देता। हे स्वामीनाथ! यह मेरा वचन आपको बहुत कठिन लगता होगा। साध्वी स्त्री पर चाहे जैसा संकट हो परन्तु पति को कभी भी अयुक्त वचन न बोलना-पति को ही परमेश्वरतुल्य गिनना और सुख दुःख सह लेना उसका धर्म है, पर मैं दुःख की जली हुई जो वचन बोली हूं उसको आप क्षमा करेंगे। आप विद्वान् हो, गुणवान् हो, किसी गृहस्थ से थोड़ी याचना करोगे तो आपका निर्वाह सहज होता रहेगा। पर घर में बैठे रहने से हमारे दिन कभी नहीं सुधरेंगे। हाथ हिलाये बिना थाली का भोजन भी मुख में नहीं जाता तो पैसा तो कहां से मिले? जैसे स्त्री तथा पुरुष बिना प्रजा नहीं बढ़ सकती, वैसे ही प्रारब्ध तथा पुरुषार्थ के सब धर्म जुड़े हुए ही हैं। पुरुषार्थ बिना प्रारब्ध नहीं फलता, प्रारब्ध बिना पुरुषार्थ अफल है। एक के सहारे दूसरा फलता है। दूसरे के सहारे पहला फलता है। इस संसार में सब धर्म कर्म पदार्थ योग्य रीति से जुड़े हुए हैं और वह पुरुषार्थ से प्राप्त होते हैं। जिसका पुरुषार्थ सतेज है, उसी को परमेश्वर की प्राप्ति होती है ऐसा आपका ही वचन है। क्योंकि पुरुषार्थ बिना परमेश्वर की प्राप्ति बैठे-बैठे होती तो इन ऊंटों (पशुओं) का भी उद्धार हो जाता। आप विचार करें। आप गृहस्थाश्रमी हैं और यह गृह संसार निबाहना है। संसारनिर्वाह के लिये द्रव्य की आवश्कता है। वह द्रव्य किसी सज्जन से प्रार्थना कर आप लावें तो बहुत अच्छी बात हो!"

वह सुशील ब्राह्मण बोला–"हे उद्योगवादिनी! तुझे परमात्मा के वचन पर श्रद्धा नहीं, इसी कारण तू उद्योग को प्राधान्य देकर किसी अयोग्य पुरुष से याचना करने का मुझे बोध करती है तथा मेरे अयाचक व्रत को छुड़ाने का प्रयत्न करती है। पर हे सन्नारि! तूने निश्चयपूर्वक जाना कि वह हजारों हाथ वाला अपने भक्त को कभी दुःख देता नहीं, आशा का भंग करता नहीं, तो मुझे कैसे दुःख देगा? परमात्मा का वचन ही है कि 'मैं अपने भक्त को कभी कमी नहीं पड़ने देता।' यह परमात्मा का वचन क्या झूठ होगा! इतना होने पर भी इस परमात्मा के वचन पर पूर्ण श्रद्धा से एक वर्ष तक मुझे बैठे रहने दे। जो परमात्मा अपने वचन का पालन न करेगा तो फिर मैं तेरी इच्छा के अनुकूल होऊंगा।"

ईश्वर ही योगक्षेम का वहन करता है

"पूर्वकाल में मेरी स्थिति में इस असार संसार को निभाता ब्रह्मनिष्ठ निरंजन नाम का ब्रह्मदेव काशीपुरी में रहता था। उसकी स्त्री ने भी तेरी ही तरह अपने स्वामी को उद्योग करने की प्रेरणा की थी। तब निरंजन ने अपनी स्त्री से कहा था कि 'हे स्त्री! भगवान ने गीता में श्रीमुख से कहा है कि

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥9॥ 22

जो पुरुष अनन्य भाव से मेरा चिंतन करते हुए मेरी उपासना करते हैं उन नित्य आदरपूर्वक मेरे चिन्तन करने वाले पुरुषों के योगक्षेम का मैं वहन करता हूं।'

ऐसा श्रीमुख का वचन है। वह कभी भी असत्य होगा नहीं इसलिये मुझे एक वर्ष पूर्ण श्रद्धा से परमात्मा का सेवन करने दे। वह सब भला करेगा।"

ऐसे अनेक प्रकार से उस धर्मज्ञ ब्राह्मण ने अपनी स्त्री को संतुष्ट किया। देखते-देखते बारह महीने पूरे होने आये और परमात्मा ने कुछ लक्ष दिया नहीं। वह तो मनुष्य की पूरी परीक्षा करता है, संशयात्मा का वह साथी नहीं। बारह मास पूर्ण होने पर उसकी स्त्री निराश हो गयी। अब बारह मास के एक ही दिन शेष था। घर में अन्न का कण नहीं, चार-चार उपवास दंपती को हुए हैं, बालक चिल्ला रहे हैं। अब क्या करना चाहिये, परमात्मा ने उत्तम कसौटी करनी चाही थी। तीन सौ उनसठ दिन पूरे हो गये। आज तीन सौ साठवा दिन है। पर परमात्मा ने बहाली की नहीं। वह सुशील ब्राह्मण स्नानसंध्यादिक नित्य कर्म से निवृत्त होकर विचार करने लगा कि 'वर्ष हुआ, मैं परमात्मा का एक निष्ठा से भजन करता हूं, परन्तु उस परमात्मा ने मेरे ऊपर दया नहीं की। परमात्मा का वचन मिथ्या तो होता नहीं, पर जिन वचनों का उसके नाम से बोध किया जाता है, वह वचन कदाचित् उनका न हो, किसी दंभी का होगा, यह कदाचित् क्षेपक तो न हो!' यह विचार, इस वचन पर हरताल फेर कर, चाकू से घिस वह, धर्मनिष्ठ सुशील ब्राह्मण पुरुषार्थ करने अथवा किसी धनाढ्य के पास याचना करने के लिये घर छोड़ निकल पड़ा।

पर थोड़ी दूर जाने के बाद उसका श्रद्धालु हृदय कांपने लगा। वह मन में बोला कि, मेरी प्रतिज्ञा तीन सौ साठ दिन पूरे करने की थी। अभी तीन सौ साठ दिन पूरे हुए कहां? मुझ मूर्ख ने तीन सौ उनसठ दिन तक परमात्मा का सेवन किया और एक दिन के लिये धीरज नहीं धरा! मैं क्या करूं? सचमुच परमात्मा का वचन सत्य ही है, वह किसी काल में असत्य होता ही नहीं!' इस

प्रकार विचार करता वह ब्राह्मण चित्तभ्रम की तरह, मूढ़ के समान विकल जैसा बन कर समीप ही एक कंदरा में जाकर कपड़ा तान कर सो रहा!

परमात्मा ने उसके धीरज तथा श्रद्धा की परम कसौटी की थी। एक समान श्रद्धा रखकर परमात्मा का सेवन करना, उसे जानना तथा देखना यह कोई साधारण संयम नहीं, पर जैसे सुवर्ण शुद्ध हुए बिना उसकी पूरी पूरी कीमत नहीं होती, वैसे ही भक्त जहां तक एकनिष्ठ, ज्ञानवान् अनन्य भक्त नहीं बनता तब तक परमात्मा उसको सफल नहीं करता। शुद्ध हृदय से परमात्मा का सतत सुख में या दुःख में जो ध्यान करता है, क्षणभर भी उससे विमुख नहीं होता उसी पुरुष को परमात्मा अपना नित्यमुक्त भक्त गिन कर उसका कल्याण करता है। फिर भले ही वह जीव संसार की खटपट में पड़ा हुआ हो, पर जो नीतिमान् हो, निष्कामपन से परमात्मा की सेवा करता हो, शुद्ध हृदय से अपने सर्व कार्य से निश्चित होकर मनसा वाचा कर्मणा इसके स्वरूप ही में लीन है, सायुज्य का अधिकारी बनने को प्रयत्नशील है, वही परमात्मा का परम भक्त है। हे पिताजी! इस संबंध में एक पुराणोक्त कथा है सो सुनो!

परमात्मा का परम भक्त

एक समय परमात्मा के परम भक्त देवर्षि नारदजी वीणा में परमात्मा का गुणगान करते-करते वैकुंठ में पहुँचे। श्रीविष्णु भगवान् अनेक मुक्त जीवों के बीच दिव्यासनपर विराजमान थे। सनकादिक ऋषि उनके वचनामृत का पान करने में तल्लीन हो गये थे। जय विजय पार्षद उनकी आज्ञा के पालन में तत्पर खड़े थे। परमात्मा अनेक ऋषि मुनियों से आवृत थे। नारदजी के पधारने के साथ ही सब मुनिगण तथा भक्तगण ने उनका आदरातिथ्य किया। विष्णु भगवान् भी उनसे प्रेम से मिले और कहा–"हे नारद! आप सकुशल हैं?" कितनी ही बातचीत होने पर विष्णु भगवान ने कहा, "मैं जो परमात्मा-उसका, जो इस जगत् का जीव एक क्षण भी निर्मल अन्तःकरण से ध्यान धरता है वह मेरा परम अनन्य भक्त है। ऐसे अनन्य भक्त इस लोक में विरले हैं। उनके दर्शन से मुझे जो आनंद होता है उसका वर्णन करने को मैं अशक्त हूं। इन भक्तजनों के ऐश्वर्यबल से ही इस जगत् की सब विभूतियों को पोषण मिलता है। ऐसे भक्त-तत्त्वों का तत्त्व, सारका सार, वेद के वेद हैं! मेरे अन्य स्वरूप ही हैं!"

श्रीभगवान् से नारदमुनि ने कहा–"हे निरंजन निराकार! परम पुरुषोत्तम परमात्मा!! आपके ऐसे भक्त का दर्शन करने को मैं उत्सुक हूं। आप मेरी इच्छा को पूर्ण करने में समर्थ हैं!"

विष्णुभगवान ने कहा–"हे नारद! अचलापुरी में बसते हुए परमतत्त्व

नामक ब्राह्मण के घर तुम जाओ। वहां तुम्हें मेरे परम भक्त का दर्शन होगा।"

परमात्मा को प्रणाम कर मनोवेगी नारदजी क्षणमात्र में परमतत्त्व ब्राह्मण के घर जा खड़े हुए। यह ब्राह्मण प्रभात में उठते ही एकनिष्ठा से, शुद्ध मन से, अकामना से परमात्मा का ध्यान धरता तथा फिंर अपने संसार के खटले को संभालता था तथा रात्रि को सोते समय ऐसे ही पवित्र मन से एकनिष्ठा से परमात्मा की प्रार्थना करके सो जाता था। सारे दिन में वह तीसरे समय कभी परमात्मा को संभालता भी नहीं। उसे देख कर नारदजी ने विचारा 'अहो! परमात्मा का परम भक्त वह यही है क्या? भगवान् भी भला क्या इसे परम भक्त करते हैं। मैं जानता हूं कि विष्णु भगवान ने मुझसे हँसी की है।'

ऐसा विचारते हुए नारदजी फिर विष्णुलोक में पधारे तथा अपने मन का उद्गार परमेश्वर के सामने निकाल कर बोले 'हे महाराज! ऐसे परम भगवद्भक्तों से तो सारा संसार ही भरा है! मुझे कोई स्थल खाली ही नहीं दीखता सचमुच महाराज! आपकी ठट्ठा करने की आदत है, इससे आपने मुझसे ठट्ठा ही की है तथा इन गोपीजनों के आगे मुझे हास्य का पात्र किया है।'

"हे पिताजी! विष्णुधाम में जो गोप तथा गोपी रहते हैं, उनका स्वरूप निराला ही है। तीनों लोकों के प्राणीमात्र को नरक तथा मृत्यु के भय से भली भांति रक्षा करने वाली जो श्रुतियां वे गोपी तथा इन्द्रियों को व्यवहार मार्ग में से पीछे करके अन्तर्मुखी करने वाले जो शुद्धात्मा वे ग्वाल, ऐसे गोपी ग्वालों से वेष्टित परमात्मा नारजी के हृदय का भाव समझ गये तथा स्वतः विचारा कि, 'नारद जी कभी अनन्य भक्त के पहचानने में असमर्थ हैं।' फिर नारदजी से कहा—"हे नारदजी! अपनी वीणा से अग्र भाग पर यह एक ही राई का दाना रखकर इस वैकुंठ लोक की प्रदक्षिणा करके लौट आओ। पर देखना, यह दाना गिरे नहीं,"

नारदजी ने मन में विचार किया कि, 'फिर भगवान ने ठठ्ठा आरंभ की! खैर, देखें इसमें कौतुक क्या है।' फिर नारदजी वीणा के अग्र भाग पर राई का दाना रख कर वैकुंठपुरी की प्रदक्षिणा करने को निकले। राई का दाना नारदजी के चलने से हिलने लगा, खूब-खूब हिलने लगा, 'अभी गिरेगा और गुम हो जायगा,' इसकी नारदजी को बड़ी चिन्ता होने लगी, इसलिये राई के दाने पर ही दृष्टि रख कर ऐसे संभाल कर चलते थे, कि रात हो गयी और वैकुंठ की प्रदक्षिणा पूरी न हुई। अधिक रात बीतने पर नारदजी वैकुंठ की प्रदक्षिणा करके विष्णु भगवान के पास आये और बोले कि, 'लीजिये महाराज! अपना यह राई का दाना! इसने कष्ट देने में कुछ भी कमी नहीं रखी। है तो छोटा-सा पर बड़ी से बड़ी उपाधि से भी कष्टदायी है।'

श्रीविष्णु भगवान ने कहा–"नारदजी! बैठिये और कहिये, आपने सारे वैकुंठ की प्रदक्षिणा की, उसमें मेरा कितनी बार स्मरण किया था?'

नारदजी ने कहा–"महाराज! स्मरण किसका करें? मेरा चित्त आत्मा सब ही इस दाने में लगा हुआ था, उस समय यदि आपका स्मरण करने बैठूं, तो यह दाना सटक जाय और सटक जाता तब फिर मैं क्या करता? 'दाना गिरने से आपनी आज्ञा का भंग होता,' इसकी भी मुझको बड़ी चिन्ता थी! ऐसी दशा में आपका स्मरण ध्यान करने कैसे बैठता?"

श्रीविष्णु भगवान ने कहा–"हे नारदजी! जिस परमतत्त्व ब्राह्मण को आपने देखा, वह आपकी अपेक्षा परम श्रेष्ठ भक्त है, यह आपको अब निश्चय हुआ कि नहीं? एक गोल छोटे से दाने की संभाल रखने के लिये सारे दिन में आप मेरा क्षणभर भी ध्यान न धर सके और स्मरण भी न हुआ, तो यह संसारी जीव जो अनेक खटरागों में रुका हुआ है, बड़े कुटुंब के पालन की द्विधा में डूब गया है, संसार की अनेक उपाधियां उसको नित्य पीड़ा देती हैं। इतने पर भी वह दो बार निर्मल हृदय से, एक निष्ठा से अकामना से मेरा ध्यान करता है, कभी भी अपने नित्य नियम में चूकता नहीं, वह आपकी अपेक्षा विशेष श्रेष्ठ नहीं? तुम तो निरंजन निर्विकारी हो, संसार तथा माया से मुक्त हो, इससे दिन रात मेरे ध्यान में निमग्न रहो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं, पर जो जीव संसार की उपाधि को पूरी कर, नीति से वर्ताव कर पवित्र और निर्मल चित्त से, एकनिष्ठा से मुझे दो बार भजता है उसके ऊपर मैं सदा ही प्रसन्न रहता हूं, वही मेरा अनन्य भक्त है।"

श्रीविष्णु भगवान के ये वचन सुनकर नारदजी को निश्चय हुआ कि 'जो संसार के खटरागों में रूका होने पर भी, अविकारीपने से, निष्कामपने से परमात्मा का ध्यान धरता है वह भगवान के परम पद का अधिकारी है।'

बालकुंवर ने अपने पिता जनक को यह कथा सुनाकर कहा–"हे महाराज! परमात्मा तो क्षणभर के भी भक्त के अटल निश्चय कर प्रसन्न रहने वाला है तथा उनका निर्वाह तो आप ही करता है। ज्यों ही धर्मात्मा निरंजन ब्राह्मण गुफा में जाकर सो रहा, त्यों ही परमेश्वर भक्तजनों को साथ ले, बनिये का स्वरूप धारण कर कई गाड़ियों में द्रव्य भरवाकर उसके घर गये तथा नगर के लोगों को जगाकर पूछा 'निरंजन ब्राह्मण का घर कौन-सा है?' तुरंत ही उस ब्राह्मण की स्त्री घर में से दौड़ती हुई बाहर आ खड़ी हुई और प्रश्न किया 'किसको पूछते हो! निरंजन से क्या काम है?'

परमात्मा ने कहा–'हे सुशीलवती! तुम्हारे स्वामी-हमारे सेठ निरंजन नाथ ने यह द्रव्य भेजा है सो दरवाजा खोल कर ले लो।'

द्रव्य के नाम का चमत्कार और ही है। उसका गुणवर्णन करने की शक्ति शेष

तथा सरस्वती में भी नहीं। द्रव्य के नाम से ही मृतप्राय जीव को नवीन चैतन्य प्राप्त हो जाता है, तो चेतनावान्-सजीव जीव की स्थिति का वर्णन कैसे हो सके?

विप्र पत्नी ने लड़कों को उठा कर दौड़ादौड़ मचा दी। मुहल्ले के लोग भी जागृत हो गये। सब निरंजन के घर में द्रव्य रखने की सहायता करने लगे। सहस्र मोहरों से भरी हुई सहस्र थैली परमात्मा ने अपने सेवकों द्वारा दी।

ब्राह्मणपत्नी ने पूछा—'सेठ जी! आपका नाम क्या? और आप कहां से आये?'

परमात्मा ने कहा—'मेरा नाम योगक्षेमनिर्वाह दास है तथा मैं आपके स्वामीनाथ के भेजे हुए द्रव्य को लेकर उनके पास से ही सीधा चला आया हूं।'

थोड़ी सी देर में छोटे से ग्राम में हो-हो हो गयी, यहां निरंजन के मित्र भी उसे ऐसा धनाढ्य हुआ जानकर शीघ्र ही उठ, दौड़े आये तथा परमात्मा से पूछने लगे—'निरंजन भाई कहां हैं? आज सबेरे से कहीं देखे नहीं, कल सबेरे तो घर में थे।'

योगक्षेमनिर्वाह दास रूपी परमात्मा ने कहा—'वे इस गांव के उत्तर दिशा की ओर गिरिकंदरा में पौढ़े हुए हैं- बहुत थक जाने के कारण नहीं आ सके, पर प्रभात से पहले आ जायँगे!'

जब योगक्षेमनिर्वाहदास परमात्मा लोगों के साथ बातें करते थे उस समय लोग उनकी दिव्य कान्ति देखकर चकित हो गये और उनके होठ पीले और कटे हुए देखकर बड़ा आश्चर्य होता था। थोड़ी देर में परमात्मा वहां से बिदा हो गये। फिर आपस में सलाह करके निरंजन के मित्र उसको गिरिकंदरा में तलाश करने के लिये मशालें जलवा कर चल पड़े।

"हे पिताजी! क्या कहूं, इस लोक में लक्ष्मी की महिमा बहुत बड़ी है, इतनी लक्ष्मीनाथ की थी नहीं। पंडित, महाजन तथा महात्मा कहते हैं कि लक्ष्मी की पाश में जो बँधा हुआ है उसको उत्तम गति नहीं, इतना होने पर भी लक्ष्मी के सेवकों की लक्ष्मी की उपासना बिना और देवता के ऊपर श्रद्धा होती ही नहीं। महात्माओं का वचन है कि 'लक्ष्मी नहीं हो तो भी दुःख, आवे तब दुःख, जाय तब दुःख,' पर लक्ष्मी की तृष्णा प्राणीमात्र में इतनी उत्कट है कि छोटे बालक को भी लक्ष्मी की जगमगाहट देख मोह उत्पन्न होता है। लक्ष्मी के भक्तों को अनेक अनर्थ प्राप्त होते हैं। राजदंड देना होता है, भाई मार डालते हैं, चोर चोरी कर ले जाते हैं, पुत्र छोड़ देता है, तिस पर भी लक्ष्मी का प्राबल्य इतना महान् है कि उसकी पाश में से छूटने की क्षणमात्र भी इच्छा नहीं होती। निश्चय इस लोक में तो लक्ष्मी मूर्ख को चतुर* बना देती है तथा बिना लक्ष्मी के पंडित भी मूर्खों में गिना जाता है। 'लक्ष्मी घर पधारी कि मित्र,

---

* यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः, स पंडितः स श्रुतिमान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते॥

स्नेही, सखा, प्रिय, पत्नी, पुत्र, नौकर, चाकर सब क्षमा-क्षम-जी हां जी हां कहते, भाई-भाई कहते और जी-जी करते जैसे एक मुर्दे के ऊपर अनेक गीध घेर कर बैठते हैं वैसे ही लक्ष्मीवान् के आसपास घेर कर बैठते हैं। पर पिताजी! लक्ष्मी चंचल है। वह किसी के बुलाने से आती नहीं, रखने से रहती नहीं। उसकी चंचलता ऐसी तीव्र है कि वह किस प्रकार जाती है और किस प्रकार आती है, इसे कोई भी नहीं जान सकता। ऐसा होने पर भी उसे पकड़ने, रखने तथा संभालने को मायावश जीव अत्यन्त परिश्रम करते हैं।

निरंजन ब्राह्मण तो वही था। लक्ष्मी के आने के पूर्व उसके एक मस्तक और दो पैर थे तथा लक्ष्मी आने पर दो मस्तक और चार पैर नहीं हुए, तो भी उसके संबंधी मित्र जो उसके दुःख में एक दिन भी सहायक नहीं हुए थे, 'यह भूखा है या इसने भोजन किया है' यह नहीं पूछा, 'मरा है कि जीवित है' यह जानने की भी इच्छा नहीं की थी, वे सब आज निरंजनभाई! निरंजनभाई, करते उसकी तलाश में दो चार कोश दूर बनी हुई गिरिकंदरा में आधी रात को भारी वर्षा पड़ते समय, ओले गिर रहे थे ऐसे कष्टदायक काल में उसकी तलाश करने को निकल पड़े हैं। 'हे देवी! हे लक्ष्मी! तुम्हारे सौभाग्य को, तुम्हारे सौन्दर्य को, तुम्हारे चापल्य को, दुर्जनों के आलिंगन करने की तुम्हारी मूर्खता को, पंडितों को दीन हीन रखने वाले तुम्हारे प्रभाव को नमस्कार है! सुव्यवसायी, शूर वीर, क्लेश को सहन करने वाले, धीर वीर पुरुषों से तू दूर भागती है, रत्नाकर तेरा पिता है, कोमल कमल में तेरा निवास है, अमृतवर्षी चन्द्र तेरा बंधु है तथा जगत् का जीवन—प्राण—परम प्रभु विष्णु तेरा पति है, इतना होने पर भी तेरी वक्रता को, तेरे नाथ के दासों ने दूर से प्रणाम करने ही में कल्याण माना है। तेरी उपासना से सज्जन भी दुर्जन गिना जाता है, पंडित भी मूर्ख माना जाता है। एक ही स्थान में उत्पन्न हुए सहोदर, सहोदर की प्राणहानि करते हैं, हिंसकों के साथ तुझे रमण कराते हैं, कृपण जीवों के यहां तू नृत्य करती है, तेरे प्रताप से विवेकी भी विवेक छोड़कर अविवेकी बनते हैं, हे लक्ष्मी! तेरी लीला विलक्षणता से भरी है।' निरंजन की शोधाशोध-ढूढ़ खोज चल रही है। झड़ी लगी हुई बरसात में भी गिरते पड़ते उसकी शोध में लक्ष्मी के सेवक पहाड़ पर चढ़े हैं। 'सँभालियो, मसाल बुझ न जाय, गिर पड़े तो सौ वर्ष पूरे हो जायँगे (मर जाओगे)' ऐसा, शोर (कोलाहल) मचा रखा है। उस समय निरंजन-परम भक्त निरंजन एकान्त गुफा में परमात्मा के स्वरूप को हृदय में धारण कर गहरी निद्रा ले रहा है।

पांच पचास मनुष्य पर्वत पर चढ़ गये। वे निरंजनभाई! निरंजनभाई! पुकारने लगे। निरंजन सचमुच जागकर विचारने लगा कि 'फिर यह उपाधि पीछे कहां से लगी। सबेरे से घर में से निकल आया हूं। इससे चिन्तातुर होकर स्त्री ने मनुष्यों को मेरी शोध के लिये भेजा होगा! पर घर जाऊंगा तो स्त्री

घुसने न देगी। वह कहेगी कि खाली हाथ क्या मुँह लेकर लौट आये!' यह विचार परमात्मा का ध्यान धरता हुआ वह निरंजन, बिना पलग और बिस्तर के सो रहा था। तलाश करने वाले पुरुषों ने गुफा देखनी आरंभ की।

देखते-देखते निरंजनवाली गुफा में पहुँचे, निरंजन वस्त्र ओढ़े लंबा होकर सो रहा था। उसके पास जाकर कितनों ही ने कहा—"भाई निरंजन! यहां क्यों सो रहे हो? उस सेठ को घर भेजकर तुम यहां सो रहे, यह अच्छा नहीं किया। आप आये नहीं इससे भाभी ने तो रौला मचा रखा है। उठो कहीं जंगली जानवर आ पड़ेगा तो लेने के देने पड़ेंगे! चलो, हम गाड़ी लेकर तुमको लिवाने आये हैं।"

इतने में दूसरे ने कहा—"निरंजनभाई! तुम बहुत धीरज वाले हो। इतना अधिक धन अनजान मनुष्य के साथ भेजने की तुम्हारी बड़ी हिम्मत हुई। यह सेठ अपने घर को गाड़ियां ले जाता तो तुम क्या करते? उठो भाई! घर चलो और अपने द्रव्य की जांच कर लो, सम्हाल लो, इस काल में सगे बाप का भी विश्वास न करना चाहिये!"

तीसरा बोला—"निरंजनभाई! तुमने गुणवान्, विद्वान्, जगत् के हृदय को जानने वाले होकर भी ऐसी भूल कैसे की?"

ऐसे अनेक प्रकार से लोग कहने लगे, एक ने कहा—"निरंजनभाई! तुम्हारे पास इतना धन होकर दुःख क्यों भोगते थे? अब इस झोंपड़ी को अलग करो और एक अच्छा सा मंदिर बनवाओ, उसमें अपने प्रभु को पधराओ, कुछ अच्छी रीति से जाति में उज्जवलता दिखाओ!"

निरंजन की जाति का एक ब्राह्मण जो समय कुसमय कभी भी निरंजन की ओर दृष्टि भी नहीं करता था, पंडितों की सभा में कभी निमंत्रण भी नहीं देता था, वह आज बोलने लगा—"हमारी जाति के निरंजनभाई भूषण हैं। इनकी विद्या का भी पार नहीं। बड़े-बड़े पंडितों को भी पराजित करने योग्य हैं। इनका घर बहुत पहले से गुणी तथा कुलीन गिना जाता है। इनके लड़के को कन्या मिलते (ब्याह होते) कहीं देर लगती है? मैं तो कितने ही दिन हुए निरंजनाभाई के पुत्र को अपनी कन्या देने के लिये प्रार्थना करता हूं। पर मुझ जैसे गरीब मनुष्य की कन्या को ऐसे बड़े घर वाले भला कैसे लेवें!"

ऐसे ऐसे अनेक गप्पों के सर्राटे आश्चर्यचकित हुआ निरंजन सुन रहा था। फिर भी जब वह सोता ही रहा, तब एक आदमी ने उसकी चद्दर झटक दी। तब वह उठ बैठा; पर कुछ पूछने की उसकी इच्छा नहीं हुई। वह मन में समझ गया कि 'अहो! परमात्मा की मुझ जैसे कृतघ्न के ऊपर कितनी अनहद कृपा! मैंने मूर्खता से परमात्मा के वचन के ऊपर कुछ थोड़ा सा संशय किया! हे अधम जीव! तेरा ऐसा कौन-सा अच्छा सत्कर्म है जिसके कारण वह महात्मा

प्रभु तेरे ऊपर कृपा करे? फिर चुपचाप सरल स्वभाव निरंजन, शोधने को आये हुए लोगों के साथ घर आया।

उसको देख कर तुरंत उसकी स्त्री बोली–"इन हम सबको अकेला ही छोड़ कर आप कहां चले गये थे! हमारे मन में तो बड़ी भारी चिंता थी कि तुम न जाने कब तक आओगे! उस सेठ के साथ जो रुपये भेजे थे वह आप ही को लाना चाहिये था कि नहीं?"

इतना होने पर भी निंरजन तो मौन ही धारण किये रहा। वह इतना ही बोला कि, 'इन सब बातों का स्पष्टीकरण पीछे ही रहेगा, अब तो इन भाइयों को घर जाने दो, इनको बड़ा परिश्रम पड़ा है।'

गांव के लोग थोड़ी देर पीछे बिदा हो गये तब निंरजन ने अपनी स्त्री से पूछा–"जो सेठ द्रव्य लेकर आया था, उसकी कांति कैसी थी?"

स्त्री बोली–"हे नाथ! उसका शरीर तो किसी बड़े श्रीमान् सेठ की तरह था, मुख का तेज देखने से निगाह नहीं ठहरती थी, वर्ण श्याम था, गेहुँआ रंग से उतरता-यह जैसा बादल का रंग है ऐसा, पर उसके होठ पीले पीले थे और उस सेठ के साथ दस पन्द्रह मुनीम मुत्सद्दी भी थे।"

तब निरंजन अपने माथे पर हाथ रखकर बोला–"अरे! रे! मुझ मूर्ख ने श्रीमुख के वचन पर हरताल लगायी, उस हरताल वाले श्रीमुख का साक्षात् दर्शन कराने के लिये वह यही पधारे थे! अरे पापी जीव! इसी से तू उनके दर्शन का भाग्यशाली नहीं हुआ। जो परमात्मा को वचन के ऊपर दृढ़ निश्चय नहीं रखता ऐसे जीव को वह परमात्मा क्यों कर दर्शन दे? जो जीव परमात्मा के वचनपर अनन्य श्रद्धा रखता है उस जीव का योगक्षेम वही परमात्मा निभाता है, यह श्रीमुख का वचन सत्य ही है।"

बालकुंवर ने राजा जनक को पूर्व कथा का अनुसन्धान कराते हुए कहा–"हे राजन्! निरंजन जैसा विचार करता था वैसा ही विचार शशिशेखरको भी आया था। बारह मास पूर्व हुए। ईश्वर ने सहायता की नहीं। इतने में उसकी स्त्री किसी प्रकार का उद्योग करने का बोध करने लगी।"

शशिशेखर ने कहा–"हे स्त्री! धंधे रोजगार के लिये धन चाहिये, सो कहां से लांऊ? घर में तो चूहे दुलत्ती खेलते हैं, पैसे के बिना उद्योग कैसे हो सके?"

स्त्री ने कहा–"हमारे पड़ोस के नगर में एक वैश्य-वणिक् रहता है, वह सबको इच्छानुसार ऋण देता है; वहां से ले आओ।"

शशिशेखर ने कहा–"हे स्त्री! वह बनिया जैसे सज्जन है वैसे ही शठ भी है। उसकी प्रतिज्ञा है कि किसी भी मनुष्य को एक से लेकर एक हजार रुपये तक इस शर्त पर देता है कि 'दूसरे जन्म में दूना देवे।' हे स्त्री! ओ साध्वी! जन्म

जन्मान्तर के किसी असत्कर्म के योग से आज हम दुःख में दिन काटते हैं तो नया कर्म और क्यों बढ़ाती है? पूर्व का जो ऋण है वह इस जन्म में महाकष्ट देने वाला है। उसके चुकाने की तो हमें शक्ति नहीं तब यह नया ऋण लेने की तुझे कैसे कुमति हुई है? यह नया ऋण करने के लिये मेरी इच्छा होती नहीं। इस जन्म में लिया हुआ द्रव्य देना भी जब कष्टदायी हो पड़ा है तब दूसरे जन्म में उसका देना कितना कष्टदायी होगा, इसका तू विचार कर तथा अपना आग्रह छोड़ दे। ईश्वर प्राणी मात्र को भूखा उठाता है, पर भूखा सुलाता नहीं। जिसने जन्म से पूर्व माता के स्तनों में दूध देकर अज्ञात बालक की रक्षा करने के लिये रचना की है, वह परमात्मा हमारा निर्वाह करेगा। पर बनिये की ऐसी कठिन शर्त का रुपया ऋण लेकर उद्योग करने का मेरा विचार नहीं होता। यह हठ तू छोड़ दे!"

शशिशेखर की स्त्री अज्ञान थी। उसको धर्म कर्म का लेश मात्र भी स्पर्श नहीं हुआ था। वह ईश्वर की अगाध महिमा को नहीं समझ सकती थी। जन्म तथा कर्म के भेद को समझने में अशक्त थी—वह केवल मायामयी मूर्ति थी। ऐसी स्त्री को पूर्व जन्म का तथा उत्तर जन्म का ऋणानुबंध तथा ईश्वर की महिमा का विचार ही कहां से हो? वह बोली—"हे स्वामिनाथ! यह अपने जन्म, जन्म जन्मांतर के ढकोसले अलग रखो तो अच्छा! देना और लेना यह जो होना-होगा सो होगा। कौन देखने लगा है कि मरने के पीछे क्या होता है? इस संसार में ही दुःख में-पाप में जीवन व्यतीत करना तथा दूसरे जन्म को रोना, यह क्या बुद्धिमानों का लक्षण है? 'आज के दुःख को जो नहीं टालता तथा कल के दुःख को रोता है, वह विद्वान् होकर भी मूर्ख के समान ही है।' हे स्वामिनाथ! लोक में कहावत है कि 'यह लोक मीठा, तो परलोक किसने दीठा (देखा)? इस लोक में दुःख, तो परलोक में क्या सुख?' इससे इस अपने शास्त्र की ही बातें न करो! पैसा होगा तो अनेक पुण्य कर्म करके उस बनिये के ऋण को दूसरे जन्म में चुका देंगे! द्रव्य न लोगे तो भी खाने को तो चाहिये ही कि नहीं और किसी का लेकर देना पड़ेगा कि नहीं। आप तो ज्यों के त्यों रहोगे। बनिये का देना न होगा तो दूसरे का देना होगा। इसलिये मेरा कहा मानो कि बनिये के पास से एक का दूना रुपया देना लिखकर धन ले आओ, उसमें से सब काम ठीक हो जायगा।"

अपनी स्त्री के रोज के ऐसे उलाहने, ताने कहावतें और दलीलों से शशिशेखर का मन धीरे-धीरे ढीला होने लगा। एक दिन वह प्रभात में पड़ोस के नगर में गया और बनिये के घर जा कर सौ रुपये ब्याज पर मांगे।

बनिये ने ब्राह्मण को उत्तम आसन पर बिठा कर कहा—"महाराज! आप एक से हजार तक रुपये भले ही ले जाओ, पर मैं ब्याज पर ऋण देना लेना यह व्यवहार नहीं करता। मैं तो बिना ब्याज ऋण देता हूं। पर ऐसा करते हुए

आपको मेरी शर्त के अनुसार चलना होगा। तुमको इन जन्म में मुझे एक पैसा भी नहीं देना है, पर दूसरे जन्म में दूने रुपये चुकाने का एक लेख लिखना होगा। इस शर्त पर एक से हजार तक जितना ऋण चाहिये लीजिये।''

शशिशेखर ने उस बनिये को बहुत-बहुत रीति से समझाया, अधिक व्याज देने का लालच दिया, अनेक प्रकार की बातें कहीं, पर बनियाभाई-कर्म का कीड़ा, स्वर्गसुख-नाशवंत सुख का लालची-एक से दो नहीं हुआ वह अपने निश्चय से बिलकुल नहीं डिगा फिर उस बनिये की इच्छानुसार लेख लिख देकर—शशिशेखर ने सौ रुपये लिये। अत्यन्त चिन्ता में डूबा हुआ शशिशेखर धीरे-धीरे अपने गांव की ओर चला और अपने मन में अत्यन्त ही चिन्तातुर होकर बोलने लगा कि 'ईश्वर करे सो सही, उसकी इच्छा के अधीन हुए बिना इस क्षुद्र प्राणी का छुटकारा ही नहीं।'

शशिशेखर के ग्राम तथा पूर्वोक्त नगर के बीच एक नदी थी, वहां वह आ पहुँचा। उस समय संध्याकाल हो गया था। सांयसंध्या का भी यही समय था। उसने अपने पास के सौ रुपये की गठड़ी को नदी के किनारे की रेती में गाड़ दिया और निशानी के लिये उसके ऊपर बालु का का शिवलिंग बना दिया। फिर वह नदी में स्नान करने गया, इतने में एक कौतुक बना।

पड़ोस के गांव की गायों और भैसों का झुंड़ नदी में जल पीने आया। ढोरों का स्वभाव है कि पानी पीने से पूर्व गोबर करते हैं। इसके अनुसार जिस स्थान पर शशिशेखर ने रुपये गाड़े थे उस पर भी उन्होंने गोबर किया। कूदे फांदे। इससे पहिचान के लिये बना हुआ शिवलिंग दब गया! हो चुका! अनिच्छा से 'एक का दूना' दूसरे जन्म में देने की शर्त पर महाक्लेश से लाये हुए रुपये रेती के नीचे दब गये। नदी में से स्नान कर बाहर आकर शशिशेखर देखता है तो अनेक स्थान खुले पड़े हैं, इससे रुपये का स्थान भूल गया। शिवलिंग की खोज के लिये उसने बहुत परिश्रम किया, पर उसका कहीं पता न लगा। तब वह मन में विचार करने लगा कि 'जो मैं खाली हाथ आऊंगा तो स्त्री कठोर वचन कहेगी और मैं तो जैसा हूं वैसा ही गिना जाऊंगा। अगले जन्म में सौ रुपये के दो सौ भले ही देने पड़े। चलो जी, और सौ रुपये बनिये के पास से ले आवें,' यह विचार कर वह फिर बनिये के मकान पर गया तथा अपना इत्थंभूत वृत्तान्त कह सुनाया।

बनिये ने कहा—''महाराज! इसमें क्या चिन्ता है! और सौ रुपये ले जाईये।''

पहले की शर्त पर शशिशेखर ने और सौ रुपये लिये। अब रात हो गयी थी। शशिशेखर का गांव चार कोस दूर था। बीच में नदी थी। चोरों का भय था। इससे उसी नगर में अपने एक किसान यजमान के यहां ब्रह्मदेव रात को

ठहरे। यजमान ने भी तत्काल, जो सेवा अपने से हो सकी वह की। इस किसान का घर बहुत छोटा था, इससे ढोर बांधने की सार के पास शशिशेखर के लिये खाट बिछा दी। थका मांदा शशिशेखर निद्रा लेने की इच्छा से खाट पर पड़ा।

यहां फिर एक दूसरा कौतुक बना। शशिशेखर जहां सोता था उसके पास ही किसान के दो बैल बँधे हुए थे। जेठ महीने से सारे दिन वह किसान बैलों को हल में भली भाँति जोतता रहा था। बैल थक कर लोट पोट हो रहे थे। उन दोनों बैलों में से एक बोला "अरे भाई! आज तो मैं बहुत थक गया हूं!"

दूसरा बैल बोला—"मुझे रगड़ने में कसर नहीं रखी, पर भाई! मैं तो अब छूटा! मेरे लेन देन का आज अन्तिम दिन है। इस किसान के साथ मेरा जो ऋणानुबंध है, वह कल पूर्ण होगा। कल मध्यान्ह को ज्यों ही किसान मुझे हल में से छोड़ेगा, उसी क्षण बिना तृण खाये मेरे प्राण छूट जाँयगे।"

पहला बैल बोला—"तेरा तो छूटकारा हो जायगा, पर मेरे छूटकारे का अन्त ही नहीं जान पड़ता। पूर्व जन्म का इस किसान का मुझे सवा लाख रुपया देना है, वह चुक जाय तब इससे कहीं मेरा छुटकारा हो न? किसान का रुपया लेकर मैं अपने उपयोग में नहीं लाया, राजा के मंत्री को कुछ कार्य होने पर मैंने दिलाया था। वह मंत्री इस गांव के राजा का 'मकुना' हाथी होकर जन्मा है। जो कोई मुझे उसके पास ले जाय और कुश्ती लड़ावे तो मैं उस हाथी को जीत लूं ऐसा है और उसके पास से रुपये वसूल करूं।"

शशिशेखर बैलों की यह बात सुनता रहा था। उसने विचार किया कि 'जो किसान के पास से यह बैल खरीद लूं तो मेरा जन्मभर का दरिद्र दूर हो जाय।'

दूसरे दिन सबेरे ब्राह्मण उठा। स्नानसंध्या की और किसान के आग्रह से उस किसान के घर ही में रहा। दोपहर होते ही पहले दिन बैलों ने जो बातचीत की थी उसी प्रकार दूसरा बैल हल में से छूटते ही मर गया। शशिशेखर को निश्चय हो गया कि 'जीते हुए बैल का राजा के मकुना हाथी से लेना है।' फिर उसरे यजमान से कहा—"हे भाई! तेरा यह एक बैल मर गया, तो अपने इस दूसरे बैल को भी बेच डाल। इसकी क्या कीमत है? बेचने की मर्जी हो तो इसकी कीमत से मैं पांच रुपया अधिक दूंगा।"

किसान ने विचार किया कि 'जो गुरुदेव इस बैल की पूरी कीमत दें तो मैं दूसरी अच्छी जोड़ी खरीद लूंगा।' बातचीत होते-होते सौ रुपये उसका मूल्य ठहरा। शशिशेखर ने लिखा लिया कि 'इस बैल पर मेरा इस जन्म का या जन्मान्तर का जो कुछ लेना देना हो वह चुकता करके यह बैल बेच दिया।'

फिर शशिशेखर ने उस बैल का थोड़े दिन रख कर खूब पुष्टिकारक पदार्थ खिला पिला कर मतवाला कर दियां और फिर उसे लेकर राजा के

दरबार में गया और बोला—"हे राजन्! यह मेरा बैल ऐसा बलवान् है कि आपके मकुना हाथी को भी हरा सकता है।"

ब्राह्मण के मुख से यह वचन सुनकर राजसभा हँस पड़ी, पर फिर राजा की इच्छा से बैल तथा हाथी की लड़ाई का निश्चय हुआ।

राजा ने शशिशेखर से पूछा—"हे ब्रह्मदेव! तुम्हारा बैल हारे तो तुम क्या दोगे?"

शशिशेखर ने कहा—"राजन्! मैं तो गरीब ब्राह्मण हूं। मेरे पास क्या है, जो मैं आप महाराजाधिराज को दे सकूं! पर जो मकुना हाथी और मेरे बैल की लड़ाई में आपके हाथी का पराजय हो तो आप मुझे सवा लाख रुपया दीजिये और मेरे बैल का पराजय हो तो मैं इस बैल को छोड़ कर चला जाऊं।" राजा ने यह शर्त स्वीकार की!

दूसरे दिन मैदान में मकुना हाथी तथा बैल को खड़ा रखा गया और इस लड़ाई को देखने के लिए राजा भी खुद आया था, महावत ने हाथी को मस्त करके बैल पर दौड़ाया। पर ज्यों ही हाथी दौड़ता-दौड़ता आया कि बैल ने फुंकार मारी और कहा—'अरे देवालिये! तू क्या मुहँ लेकर मेरे पास आया है!' ऐसा कह कर ज्यों ही अपने दोनों सींग इसकी सूंड पर जमाये, कि हाथी सरसराहट के साथ पीछे लौट कर भाग गया और देखने वाले चिल्ला उठे कि 'हाथी भागा, हाथी भागा!' पर राजा और मन्त्री बोल उठे कि यह लड़ाई कुछ ठीक-ठीक नहीं हुई। फिर दूसरी बार और तीसरी बार लड़ाने पर भी हाथी हारा और बैल जीता। शर्त के अनुसार राजा ने उस ब्राह्मण को सवा लाख रुपया गिन दिया। ब्राह्मण ने लिया तथा उसी क्षण बैल और हाथी दोनों मृत्यु को प्राप्त हुए। हाथी ने बैल के पास से लिया हुआ रुपया राजा को दिया था। राजा के पास से अपने देने का रुपया दिलाकर वह अपने ऋण से मुक्त हुआ था। अपने ऊपर जो किसान का देना था उसका रुपया दिलाकर बैल भी ऋण से छूट गया। ब्राह्मण पूर्व जन्म में किसान का वारिस था, उसने वारसा-मौरूसी धन सब लिया। ऋणानुबंध पूरा हुआ तथा सब अपने-अपने मार्ग पर चले गये।"

श्मशान में राजा की गोद में लेटे हुए बालकुंवर ने ऋणानुबंध की यह विस्तृत कथा सुना कर कहा—"पिताजी! इस जगत् की रचना ऋणानुबंध से ही हुई है। इसको प्रारब्ध कहो, कर्म कहो, लेना देना कहो, पर यहीं यह है कि जिसके द्वारा, एक दूसरे के संबंध से जुडे रहते हैं। कर्म—ऋणानुबंध से ही स्त्री, पुत्र, सगे, सहोदर, पैसा टका, ऋद्धि सिद्धि सब आ मिलते हैं। यह ऋणानुबंध पूरा हुआ कि किसकी स्त्री और किसका पति और किसका पुत्र और किसका पैसा! सब अपना-अपना मार्ग देखते हैं। मैंने जन्मान्तर में जो लेना देना किया है उसे मैं लेता हूं, भोगता हूं, देता हूं, अनेक निमित्त से दिलाता हूं तथा इस गति को प्राप्त हूं। आपके प्रताप से जो आत्मज्ञान के दो शब्द मेरे कान में पड़े हैं; और स्वेच्छा से नहीं, परंतु आपके वचन को मानकर ब्रह्मार्पण कृष्णार्पण करते हुए जो भोग भोगे हैं, इससे मैं उत्तम कुल में-राजा के यहां या संत के यहां जन्म लेता हूं तथा लेना देना दे लेकर अपना मार्ग पकड़ता

हूं। किये हुए कर्म तो भोगने ही से छूटते हैं। जब तक ये कर्म पूरे न हों तब तक जीवमात्र की यही गति है। मेरे पुण्य का लेश कम होने से मैं एक खड्डे से निकल कर तुरंत ही दूसरे खड्डे में पड़ता हूं, यहीं यम यातना है। दो सौ अस्सीदिन, अंधकारागार में, जहां पवन का संचार नहीं, प्रकाश के प्रवेश का स्थान नहीं, कारागार में पड़ा रहना है, वहां नीचा शिर किये हुए, लटका रह कर, अपरिमित यातना भोगता हूं, वहां से छूटता हूं तब घड़ी दो घड़ी या दिन दो दिन इस संसार का पवन खाता हूं और फिर इससे भी विशेष कष्टकारी अंधकारागार में पड़ता हूं। हे पिता जनक! 'जो जीव परमात्मा की खोज में श्रम नहीं करता, परमात्मा की माया को जानकर उसके त्याग करने का प्रयत्न करता नहीं, राजसी तामसी माया में बँधा रहता है, आवरण शक्ति से ढका रहता है तथा विक्षेपशक्ति के कारण भोगवासना का त्याग नहीं कर सकता, उसकी मेरे समान गति जानो।' चाहे वह जीव दान पुण्य करने वाला हो, परार्थ परमार्थ में तत्पर रहता हो, बहुतों का उपदेष्टा हो, शास्त्र का ज्ञाता हो, अनेक प्रकार का वैभव भोगने वाला हो, अनेकों का पालन करने वाला हो, पर जबतक 'शमदमादिक के साधन में उत्साही नहीं बना, पूर्ण वैराग्य को प्राप्त नहीं हुआ, उसकी वासना लय को प्राप्त नहीं हुई, ब्रह्म को जान ब्रह्मैव बना नहीं, तब तक उस जीव की मेरी ही सी दशा होती है।' जगत् का स्नेह मिथ्या, नाशवंत, स्वार्थपरायणतामय है। वह अन्योन्य के स्वार्थ के लिये ही है। 'पुत्र पर पिता का प्रेम है इससे पुत्र प्रिय लगता नहीं, परन्तु वृद्धावस्था में वह पिता माता की रक्षापोषण-पालन करेगा-इस मायाजाल से ही पिता को पुत्र प्रिय लगता है। पिता की संपत्ति भोगने के लिये पुत्र को पिता प्रिय लगता है, पति की शय्या का सेवन करती है इसलिये पत्नी पति को प्रिय है। पत्नी को पति अनेक प्रकार से रंजन करता है, इससे पति प्रिय लगता है।' इस जगत की घटना ही ऐसी है कि किसी को कोई प्रिय नहीं होता। सब अपने स्वार्थ के लिये प्रिय होते हैं, सब स्वार्थ के सगे हैं तथा आशा तृष्णा से घिरे हुए हैं, मोहजाल में लिपटकर खड़े और पड़े पछड़ते रहते हैं। मोहजाल की आशा पुरुष को ऐसी स्थिति में पटकती है कि उसकी उत्पन्न की हुई आशा में से यह विश्व मुक्त नहीं हो सकता। पर यह आशा मिथ्या है, मृगतृष्णा का जल है। जगत् की आशा से मुक्त हो वही मुक्त है। बाकी कोई किसी का नहीं। मा, बाप, भाई, भानजे, स्त्री, पुत्र, पैसा, कीर्ति, कुछ भी सत्य नहीं। सत्य केवल 'श्रीहरि' ये तीन अक्षर ही हैं।

यह संसार कैसा दुःखदायी है इसका ज्ञान हे पिताजी! तुम प्राप्त करो। इसकी आशा, तुष्णा, भोग-वासना छोड़ दीजिये। उस त्याज्यज्ञान से ही यह संसार तरा जायगा, अन्य उपाय इससे तरने का कोई नहीं। जब तक मनुष्यदेह है, तब तक तुम यह ज्ञान प्राप्त कर लो। संसार के कल्पित सुख भी कष्टदायी हो पडते हैं, तो संसार के सच्चे सुख तो अतिकष्टदायी ही होते हैं इसमें शंका ही न करियेगा। इस पर मैं एक प्राचीन कथा कहता हूं।

कल्पित पुत्र

"किसी एक बड़े नगर में धनपाल नाम का एक श्रीमान् ब्राह्मण रहता था। साधु संत था ब्राह्मणों का वह सेवक था, श्रीभगवान का पूजक भक्त था और व्यवहार में भी कुशल था। देवालय बनवाना, स्नानघाट बनवाना, सदाव्रत देना, प्रपा (प्याऊ, पौसाल) बैठाना आदि में उसकी प्रीति थी तथा तीर्थयात्रा में जाने की भी हमेशा उसकी इच्छा रहती थी। पर उसका उद्योग भारी था। घर में द्रव्य बहुत था। उसे छोड़कर यात्रा में जाने की इच्छा पूर्ण न होती थी। एक समय किसी संतपुरुष के उपदेश से उसने यात्रा के निमित्त जाने का निश्चय किया। धंधा रोजगार मुनीम मुत्सद्दियों के सिपुर्द कर दिया। 'पर द्रव्य किसे सौंपा जाय!' इसके लिये बड़े विचार में पड़ा। उसके घर में एक चौदह-पन्द्रह वर्ष की कुँवारी कन्या थी। वह पिता की इच्छा जान कर बोली—"हे पिताजी! इस द्रव्य की रक्षा मैं करूंगी। आप सुख से यात्रा कर आइये। आपके मुनीम मुत्सद्दी मेरी रक्षा करेंगे और मैं द्रव्य की रक्षा करूंगी।"

उस गृहस्थ का जाने का निश्चय हो गया था। इस आयोजन का पंसद कर पुत्री को मुनीम मुत्सद्दियों के सिपुर्द कर वह यात्रा को रवाना हुआ। हे पिताजी! यात्रा करने में भी बड़ा अन्तर है। 'यात्रा करना, संतसेवन करना, शास्त्रश्रवण करना, परब्रह्म की रची हुई इस लोक की लीला की प्रतिकृति में लीन होना, नित्य ध्यान धरना,' इसका मूल उद्देश इतना ही है कि इन पवित्र पदार्थों के सेवन और स्मरण के ही लक्ष्य में अवसान हो तो उस जीव की उत्तम गति हो तथा उत्तरोत्तर उत्तम गति होते-होते, किसी काल परम पद की प्राप्ति हो जाय। यात्रा का तो नाममात्र है। पर यात्रा में जा कर महात्माओं के पास रहने से अनेक ज्ञान की बातें सुनने में आती हैं तथा ऐसा होते-होते आत्मा के शोधन की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। जिज्ञासा के अन्त में परमात्मा को जान कर जीवशिव का भेदभाव टल जाता है, अभेद को पहचानता है तथा उसी में वह आप ही लवलीन होकर सायुज्य को प्राप्त होता है। यही यात्रा का सत्य उद्देश है। अनेक महात्मा तीर्थाटन करते-करते ही पूर्व के महात्माओं के समागम में आकर आत्मनिष्ठ हो गये हैं। अनेक भक्तजन संतपुरुषों के समागम से ही भगवत्पद को पा गये हैं।

पर हे पिताजी! इस जगत् के सब जीव ऐसे संस्कारी और अधिकारी होते नहीं, कि जो क्षणभर के समागम में अपने आत्मा का स्वरूप जान लें। वे तो अनेक प्रकार के कुतर्क करने वाले होते हैं। अधिकारी तथा संस्कारी जीव जिस दृष्टि से संत महात्माओं को, प्रभुलीला तथा यात्रा स्थलों को देखता है वह दृष्टि कुतर्कवादियों की नहीं है। जैसे पीलिया (कमला) के रोग से रोगी हुए मनुष्य को सारा संसार पीला ही दिखायी पड़ता है, दिन का अंधा, प्रकाशित

दिन नहीं ऐसे ही मानता है, वैसे ही कुतर्कवादी मनुष्य भी तीर्थाटन को तथा संतसमागम को निरर्थक मानते हैं। इस पर एक दृष्टांत सुनो।

परमात्मा सर्वव्यापक है

तुंगभद्रा नदी के तट पर बसे हुए नगर में कोई दो मित्र बसते थे। उनमें से एक पूर्व जन्म का संस्कारी, बुद्धिमान्, परमात्मा के स्वरूप का दिन रात सेवन करने वाला और परमात्मा की लीला पर वार जाने वाला-रीझ जाने वाला- न्योछावर हो जाने वाला-आत्म त्याग करने वाला था। दूसरा परमात्मादि किसी को भी नहीं जानता था; केवल बुद्धि विलासी और कुतर्कवादी था। उसके मत से 'परमात्मा की विभूति-मूर्ति आदि सब पाषाण, संतादि महात्मा ठगों के शिरोमणि, तीर्थाटन मन का बहलानां था। वह तो जगत के मोहजाल में फँसा हुआ था। संस्कारी मित्र इस असंस्कारी की इस वृत्ति को जानता था, पर वह उसकी देह तथा आत्मा की शुद्धि के लिये सदा आतुर रहता था। 'साधु पुरुषों का जीवन दूसरों के कल्याण के लिये ही है; वे, 'स्व' का त्याग कर 'पर' के हित में ही प्रेरित रहते हैं।'

एक दिन भक्त ने अपने मित्र से कहा—"भाई! तू जो साथ आवे तो चल, हम लोग तीर्थाटन करने जायँ। तीर्थाटन में श्रीकृष्ण परमात्मा ने परम पवित्र गोकुल वृन्दावन की दैवी भूमि पर और श्रीरामजी ने मोक्षपुरी अयोध्या की भूमि पर जो अनेक लीलाएं की हैं, उस स्थानों की लीलाएं देखेंगे, पतित पावनी गंगा, यमुना और सरयू में स्नान करेंगे, रमणीक रेती में लोटेंगे और अपनी देह तथा साथ ही आत्मा को भी सार्थक करेंगे।"

असंस्कारी मित्र ने कहा—"अरे ओ ओलिया भाई! तू तो औलिया का औलिया ही रहा! गोकुल, मथुरा तथा वृंदावन में भला ऐसा क्या रखा है तथा रामभूमि में भी क्या देखना है? जैसी यह भूमि वैसी ही वह, यहां भी मिट्टी पत्थर और वहां भी वही के वही। जोगटे, आलसी, अहदी, हराम के खानेवालों के झुंड ही संत, योगी, दास कि कोई दूसरे? मनुष्य के गढ़े पत्थरों के पुतले ही तेरे राम और कृष्ण या दूसरे कोई हैं? परन्तु तुम्हारी इच्छा है तो चलो। मुसाफिरी तो करेंगे। बाकी पत्थर और पहाड़ तो बहुत देखे हैं। उन्हें तो मुझे देखना नहीं। तुम उनको देखते रहना। पर देशान्तर के बड़े-बड़े सेठों से मुलाकात करेंगे, यही मेरे मन से यात्रा और पोखात्रा।"

भक्त मित्र का तो परमात्मा की लीला का अवलोकन करने की इच्छा से यात्रा में जाना ठहरा। व्यवहारकुशल का देश विदेश देखने की और अनेक नामधारी मनुष्यों का समागम करने की इच्छा से यात्रा में जाना ठहरा। एक परमात्मा की लीला देखने में मस्त है। दूसरा मनुष्य की लीला देखने में गुलतान है। दोनों की

दृष्टि निराली है। दोनों के निरखने में भी निरालापन है। एक आत्मकल्याण के लिये तीर्थाटन करने को निकला है। दूसरा दृष्टिकल्याण के लिये प्रवास को जाता है। दोनों के अधिकार भिन्न-भिन्न हैं। दैवी भूमि में दोनों निराला ही देखते हैं। दैवी संपत्ति और आसुरी संपत्ति में यही भिन्नता है। आसुरी संपत्ति से संपन्न कच्छपावतार में कच्छप को और मत्स्यावतार में मछली को देखता है। दैवी संपत्ति से संपन्न सर्वत्र ब्रह्म का दर्शन करता है। जिसका हृदय-मन-चित्त-बुद्धि विशुद्ध है, उसे सर्वत्र जगत् मात्र ब्रह्म की ही लीला से सजा हुआ दृष्टि पड़ता है। जो व्यावहारिक प्रपंच में कुशल है, वह परोक्ष और अपरोक्ष ब्रह्मज्ञ के समीप में जायगा तो भी उसे अंधकार ही जान पड़ेगा।

थोड़े दिन पीछे दोनों मित्र वृन्दावन की दैवी भूमि में आ पहुँचे, भक्त मित्र वहां की अलौकिक लीला देख कर प्रसन्न हुआ। 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' की तरह स्थल-स्थल पर परम प्रभु को रमण करता देखने लगा, उनकी लीला का अपरोक्ष दर्शन उसे होने लगा, गोप ग्वाल बाल संग परम ब्रह्म को रमण करता देखने लगा। उसका आत्मा अति प्रसन्न हो गया। वृक्ष और उनके पत्तों में परमात्मा और उसकी विभूति और नयी-नयी लीला बिना अन्य का दर्शन ही उसे नहीं हुआ।

उसे आनंदी, संतोषी, लीला देखने में एकतार देख असंस्कारी मित्र बोला–"अरे भाई! तेरी यही यात्रा है, यहां है क्या कि तू पागलों की तरह नाचने कूदने लगा है? 'जहां देखों वहां पानी पत्थरा, और लोग कहें हम करते जतरा,' यही क्या मूर्खता! यह तुम्हारी यात्रा हो, तो हो चुकी, एक संत महात्मा ने जो कहा है वह तुझे याद नहीं, इसी से तू बड़ाई मारा करता है।

'पत्थर पूजे हरि मिलें, तो मैं पूजूं पहाड़।
इससे तो चक्की भली, पीसि खाय संसार' ॥

वैसे ही ऐसी इन पत्थर की मूर्तियों के पूजने से, जल में मछलियों की तरह गोते मारने से, पहाड़ और वृक्षों के पैर छूने से जो कल्याण होता हो तो सब कब के स्वर्ग में पहुँच गये होते। अरे बावले! स्वर्ग बर्ग कुछ नहीं, मैं और तू यह दो ही हैं, और सब बबाल है। स्वर्ग में न तो झाड़ू, न टोकरा' यह तुझे खबर नहीं, इसी से भोले भाले की भांति भटकता रहता है, स्वर्ग मर्टियामेट (नाम मात्र) है, इससे अपना पागलपना निकाल डाल और कुछ तो बुद्धिमान् बन।"

बालकुंवर ने कहा–"राजाजी! देखा! जिस स्थल में विचरते ही अनेकों का मन शीतल, सुवासित, आनंदित होता है, वहां इस जड़ को पत्थर, पहाड़ झाड़ और पानी के खांचे ही जान पड़ते हैं। किसी संत ने कहा कि–

तुलसी तेरहसो वरष, यद्यपि लगी समाधि;
तदपि भांड की नहीं गई, दुष्ट वासना व्याधि।

वैसे ही इस जड़ यात्री की मनोवृत्ति थी तथा महाराज! इस जगत में भी ऐसों के भंडार भरे हैं।"

फिर भक्त मित्र ने कहा—"अरे ओ नास्तिक तथा कुतर्कवादी! तेरे हृदय में परमात्मा की लीला का ज्ञान कभी नहीं होगा, जब तक तू पवित्र बनकर दृष्टि न करेगा तब तक इस परमात्मा की सौंदर्यलीला का दर्शन तुझे नहीं ही होगा। जिस जीव का हृदय कोमल है, संस्कारी है, शुद्ध प्रेमी है, परमात्मा की लीला का भाव समझ सकता है, उसी को परमात्मा अपनी अद्भुत लीला का दर्शन कराता है। दूसरों से तो वह लाखों कोस दूर है। उसका स्वप्न भी होना उनको दुर्लभ है, तो दर्शन तो हो ही कहां से? निर्मल दृष्टि करने वाला तो देखता है कि—

"जाई जुई में कन्हैया बसे, गुलक्यारी में राधा प्यारी बसे।
चंपा में चतुर्भुज बेला में बिहारी केवड़े में गिरिवरधारी बसे
गुल क्यारी में राधा प्यारी बसे"

"अहो हो! क्या परम प्रभु की लीला विस्तृत हो रही—फैल रही हैं। पत्ते पत्ते में परमात्मा विराज रहे हैं। वृक्ष वृक्ष में विश्वबिहारी बसा हुआ है। जुई में जनार्दन विराज रहे हैं, मोगरे में मधुसूदन की सुगंध आ रही है। अहाहा! जहां देखता हूं, वहां मेरा प्यारा कन्हैया खेल रहा है। इस रमणीय रेती में गोप गोपालों के साथ कैसी लीला खेल रहा है! इस परमात्मा विश्वपति को मैं प्रणाम करता हूं। अरे मूढ़! तेरी असंस्कारी बुद्धि से यह सब लीला दूर ही है। 'जो असंस्कारी जीवन व्यतीत करता है, आसुरी सपंत्ति का उपासक है, सत् के जानने का जिज्ञासु नहीं, वह इस परम लीला का रहस्य समझ नहीं सकता।' उसे तो जन्ममरण के कष्ट में उसके अध्यास द्वारा दुःख की परंपरा ही भोगनी है। जो अनन्यता को पाता है, वही इस लीला के दर्शन करने का भाग्यशाली बनता है। परम लीला के दर्शन में जिसका जितना वेग होता है, उसको उतना और वैसा ही दर्शन होता है, साक्षात्कार होता है। तू मंदमति है, इससे तुझे वह साक्षात्कार नहीं होता, सुरगण* या महर्षि कोई उसके प्रभाव को नहीं जानता, तो तू अल्प, आसुरी संपत्ति का उपासक-कैसे जाने? कैसे साक्षात्कार करने का भाग्यशाली बने? प्रेमी ही उसे देखता है। जानता है, पर यह प्रेम का पंथ ही न्यारा है।

"चढि कै मैन तुरंगपर, चलिवो पावकमाहिं।
प्रेम्पंथ ऐसो कठिन, सब कोउ चालत नाहिं॥"

"अरे मूढ़मति मित्र! जो तुझको उपाधि-दुःख के रगड़े के अक्षत-सुरक्षित रहना हो, आत्मकल्याण करना हो, परम पुरुष के साक्षात्कार का अधिकारी बनना हो तो

* न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः। गीता 10।2

अपने हृदय में से कुतर्क निकाल डाल, विशुद्धि को प्राप्त कर, अपने हृदय को प्रेम से भरपूर कर, प्रेमी बन जा-अनन्य प्रेमी बन जा, तब तुझे भी मेरी तरह साक्षात्कार तत्काल होगा। निर्मल माया उपाधिरहित परम प्रेम ही सर्व सुख का कारण है।''

श्मशान के बालकुमार ने अपने पूर्व जन्म के पिता जनक को उद्देश कर कहा—''हे तात! तीर्थाटन में, संतसमागम में, परम पुरुष की उपासना में जिसकी जैसी दृष्टि है, वह वैसा ही देखता है। जिसका जैसा मनोवेग है, उसी के अनुसार वह शीघ्र समीपता प्राप्त करता है। तीर्थाटन की बड़ी महिमा है। प्रेम का कीड़ा ही उसको जानता है, जो जानता है, वही जानता है। जिसने उसे जाना है, उसने जनाया नहीं, पर जो अनजान है, वही बहुत बकवाद करता है।

हे पिताजी! जब वह धनपाल गृहस्थ यात्रा को गया तब उसकी पुत्री और उसके मुनीम मुत्सद्दी लोग उसके व्यापार धंधे की तथा धन की रक्षा पूर्ण सावध ानी से करने लगे। कन्या को घर में अकेली और बिना आश्रय की समझ, चौकीदारों के मन में उसका धन लूटने की प्रबल इच्छा हुई। उन्होंने कई एक लुच्चों के साथ संकेत करके एक रात्रि को उस कन्या के मारने और धन लुटने का निश्चय किया। पहरेदारों की सहायता से तीन चोर धनपाल सेठ के घर में दाखिल हुए। धनपाल की कन्या जिस कोठरी में धन था, उसी में नित्य सोती थी। वह सदा जाग्रत रहती थी। जरा भी पैर की आहट मालूम होती कि वह तुरंत बैठ जाती। चोरों ने उसके कमरे के पास जाकर किवाड़ हिलाये, पर अंदर से सांकल बंद थी, इससे वे उसे खोल न सके। द्वार हिलाने से कन्या को संशय हुआ। उस सेठ के यात्रा को जाने के पीछे कभी किवाड़ों का खटका नहीं हुआ था, इससे 'कौन है' इस बात के जानने के लिये कन्या ने कान लगाया तो किसी के चलने फिरने की आहट जान पड़ी। तब वह विचार करने लगी कि 'मेरे पिता को गये आज छः महीने हो गये, पर यह द्वार कभी नहीं हिला, किसी के पैर की आहट भी न हुई, जान पड़ता है कि आज कोई चोर आ गये। जो मैं सावधान न रहूंगी तो मुझे मार कर, पिताजी का बड़े कष्ट से इकट्ठा किया हुआ धन चोर ले जायँगे।'

ऐसा विचार करके उसने अपने मन में एक बात सोची और वह जोर से बोली—'ओ मा! ओ मा! तू जागती है?' फिर मा जानों उत्तर देती हो वैसे प्रत्युत्तर देती हुई वह आप ही बोली—'हां बहिन! जागती हूं, क्या कहती है?'

वह कन्या बोली—'मा! तू अब मेरा विवाह कर, तू विवाह करेगी तब मैं बिदा हो कर ससुराल जाऊंगी। वहां जाकर मैं भली भांति अपने पति की सेवा करूंगी, जब मेरे पति से मुझे प्रथम पुत्र होगा तब उसका नाम 'जागो' रंखूगी,। दूसरे का नाम 'लोगो' रखूंगी और तीसरे पुत्र का नाम 'चोर' रंखूगी फिर मां! ये बालक जब बाहर खेलने जाँयगे तब मैं उन्हें इस प्रकार नाम लेकर बुलाऊंगी, तब लोक बड़ा

आश्चर्य पावेंगे और मुझे हसेंगे भी सही! ऐसे कहती हुई वह कन्या एकदम बिस्तर पर पर से उठ खड़ी हुई। दूसरी ओर की खिड़की खोलकर आकाशी-खुले छत वाले कोठे पर गयी और जोर से चिल्लाने लगी कि "ओ लोगो, जागो, चोर! जल्दी आओ!"

इस तरह दो चार बार पुकारने से अड़ोसी पड़ोसी जाग उठे और जल्दी-जल्दी उसके घर के आगे दौड़ आये। दूसरे खंड पर चोरी करने गये हुए चोर तो यह समझे कि 'यह कन्या नींद में बकती है। इसे चिल्लाने की टेव है, इससे ऐसी बातें बकती होगी! पर थोड़ी देर में सो जावेगी, तब इसको मार, इसका धन ले जायँगे,' यह विचार वे चोर गुपचुप बाहर की ओर निर्भयता से खड़े ही रहे। धनपाल के घर के पहरेदार लोगों को घर में जाने से रोकने लगे, पर धनपाल की बेटी की पुकार से लोगों ने जाना कि 'कन्या पर कोई भारी कष्ट पड़ा है।' इस कारण चौकीदारों को मार-मार कर दूर किया और दुखंडे महल पर जाकर चोरों को पकड़ लिया!

दूसरे दिन वे तीनों चोर न्याय दरबार में हाजिर किये गये। राजा के सामने सब वृत्तान्त सुनकर न्यायाधीश ने उन चोरों को भारी दंड दिया। यह सजा सुनकर तो दो चोर तो फूट-फूट कर रोने लगे। पर तीसरा चोर न्यायसभा को आश्चर्य में डालता हुआ जोर से हँस पड़ा। यह चोर कभी-कभी संत समागम करता था। एक दिन कथा में ऐसा प्रसंग आया कि 'इस लोक के जीव जो कि मायाजाल में फँसे हुए हैं उनको जब स्वप्न के समान कल्पित स्त्री पुत्रादिक अनेक प्रकार के दुःख उपजाते हैं तो सत्य पदार्थ, स्त्री, पुत्र, पिता, माता, धन, धाम, ऐश्वर्य, कीर्ति कितना क्लेश करावेंगे, इसका जगत की माया में डूबे हुए जीव को विचार कर सब माया को दबाकर वासनाबंधन से मुक्त होने के लिये सबका त्याग करना चाहिये। क्लेश में से मुक्त होने के लिये जीव को सदा सत्संग करना चाहिये तथा सत्संग से बुद्धि निर्मल होती है, निर्मल बुद्धि से ज्ञान का चसका लगता है और गहरी ज्ञान की जड़ बैठने के पीछे वैराग्य व्यापता है। वैराग्यवान को संसार की आसक्ति छूट जाती है और वासना मृतप्राय हो जाती है। वासना का लय होने से मुक्ति होती है।' न्यायासन के समीप खड़े हुए तीसरे चोर को उसी क्षण उस संत के कहे हुए ये वचन याद आये। इससे वह जोर से हँस पड़ा।

यह देख न्यायाधीश ने पूछा—"ओ अपराधी! जब ये दो चोर सख्त सजा का नाम सुनते ही रोने लगे और रो रहे हैं, तो तेरे हँसने का क्या कारण?"

तीसरे चोर ने धनपाल की कन्या ने जो युक्ति रची थी उसका इत्थंभूत वृत्तानत न्यायाधीश को कह सुनाया और कहा कि "हे महाराज! आज मुझे पूर्ण ज्ञान हुआ, इस संसार के क्षुद्र जीव मोहांधकार में दौड़ रहे हैं व नित्य-नित्य स्त्री, पुत्र, धन, धाम और कीर्ति के लिये हाय हाय कर रहे हैं और फिर संसार में चतुर माने जाते हैं, पर वे बिलकुल मूर्ख ही हैं। देखो, इस धनपाल की पुत्री के कल्पित पुत्रों ने आज हमको कारागृहवासी बनाया है, सच्चे पुत्र अपने

माता, पिता तथा दूसरों को कितने क्लेश का कारण होते होंगे, उन दुःखों का विचार करते ही मुझे जोर से हँसी आयी है। हे न्यायाधीश! जब कल्पित पुत्र कैदखाने में पहुँचाते तो फिर सच्चे पुत्र नरक में भेजें इसमें आपको क्या आश्चर्य और संदेह है? मैं स्वयम् अपुत्र हूं, यह अपना अहोभाग्य समझता हूं, धनपाल की पुत्री के कल्पित पुत्रों ने जब आज मुझे कठिन मजदूरी वाले कारागार में दंड का अनुभव कराया है, तब उसके सच्चे पुत्र होते तो मेरी क्या दशा होती? सचमुच इस जगत में धन, स्त्री, पुत्रादि पदार्थ जीव को महान् कष्ट देने वाले ही हैं। उनकी माया में उनके दुःख में जो जीव आसक्त हो रहे हैं वे अपने हाथ से कष्ट को बुलाने वाले मूढ़मति ही हैं।"

उस चोर का यह सार्थ वचन सुनकर न्यायाधीश चकित हो गया। न्यायानुसार चोर को दंड तो दिया गया, पर दंड भोगने के उपरान्त वह चोर किसी सद्गुरु के पवित्र पद पंकज का सेवन कर, ज्ञानसंपन्न बन, वैराग्य धारण करके, लोगों में पूज्य गिना गया तथा कितने एक जन्मों में अपने असत्कर्म के भोग भोगकर सत्कर्म से तेजस्वी कांचन समान बन, परम धाम को प्राप्त हुआ।"

यह दृष्टान्त देकर बाल कुँवर ने राजा जनक से कहा—"स्त्री, पुत्र, राज, पाट, धन, कीर्ति इन सबमें से अपनी वासना को निकाल डालो। इस लोक में जीव को वासना यही अनर्थ की जड़ है। परमात्मा की प्राप्ति होने में जगत की वासना ही बाधक है। यह नरदेह कुछ थोड़े सत्कर्म का फल नहीं। यह बार-बार नहीं मिलता। गंधर्वादि महान् लोक भी इसकी इच्छा करते हैं। क्योंकि देवों को भी 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' 'पुण्य क्षीण होते ही देवताओं को भी मृत्युलोक में आना पड़ता है' उस (स्वर्ग) लोक में जाने से जन्म मृत्यु का सैदव का त्याग नहीं होता। जन्ममृत्यु का चक्र तो मनुष्यदेह से ही मिटता है, महाराज!

"यह नरकाया सोने की, बार-बार नहीं आने की।
आया तब क्या लाया है, अपनी किस्मत पाया है ॥
एक दिन जावे लाखों का; अलक पलक में क्या होता है ॥"*

इस लिये अलक और पलक भी मिथ्या न गवाँओ, सत् ही में लगे रहो। सत् ही सत् है, सत् ही नित्य है, सत् ही मुक्तिदाता है। इस सत् की प्राप्ति असत् में लीन होने से नहीं होगी,, सत् से ही सत् प्राप्त होता है। हीरे से ही हीरा विधता है, स्वर्ण से या दूसरी धातु से नहीं।

मनुष्यदेह गेह है

यह मनुष्यदेह परमात्मा का बनाया हुआ एक नया घर है। घर में जैसे अनेक खिड़कियां होती हैं, वैसे इस देहगेह में नव† (9) खिड़कियां हैं। दो नेत्र, दो नासिका, दो कान, मुख, गुदा तथा उपस्थेन्द्रिय। घर में जैसे स्तंभ होते हैं,

* दत्त दिगंबरकृत। † नवद्वारे पुरे देही।

वैसे ही शरीर में भी हड्डीरूपी स्तंभ हैं। घर बनाने में जैसे ईंट, चूना और पत्थरों का उपयोग होता है, वैसे ही देहरूपी घर में रक्त, मांस, मेद, मज्जारूपी चूना और ईंटों का उपयोग किया गया है। घर को सुशोभित करने के लिये जैसे चूने से पोताई करते हैं, वैसे देहगेह के ऊपर भी चर्मरूपी पोताई है। जैसे घर की खिड़कियों द्वारा घर का कूड़ा कर्कट साफ करके बाहर फेंक दिया जाता है, वैसे ही देहगेह की खिड़कियों द्वारा मल, मूत्र, वीर्य, कीचड़, लार आदि बाहर फेंक दिया जाता है। जैसे घर को सुशोभित करने में अनेक प्रकार के चौकी, पंलग, दीपक, आयने, मेज, सोफा, कुर्सी, गुलदस्ते, पर्दे, आदि इकट्ठे किये जाते हैं तथा उनसे घर अति सुन्दर जान पड़ता है तथा ऐसे घर का स्वामी बड़ी प्रतिष्ठावाला माना जाता है। वैसे ही देहगेह का शृंगार करने में कर्मरूपी चौकी, भक्तिरूपी आयने और ज्ञानरूपी दीपक आवश्यक है। ऐसा सुसज्जित मंदिर जिसके राज्य में होता है उसे देख जैसे इस लोक का राजा प्रसन्नचित्त होता है, वैसे ही परमात्मा जो कि जगत का स्वामी है, वह भक्तिज्ञान से सुसज्जित पुरुष पर बहुत प्रसन्न होता है। लौकिक घर की ऋद्धिसिद्धि से सुसज्जित पुरुष पर बहुत प्रसन्न होकर अपने समीप सभा में बैठने का उसे अधिकारी बनाता है, पालकी, म्याना, पीनस तथा छत्रका तुष्टिदान देता है, वैसे ही भक्ति और ज्ञानरूपी धन संपादन किये हुए भक्त या ज्ञानी को परमात्मा अपने दरबार में बैठने का अधिकारी करता है।

हे पिता जनक! आप मिथिला नगरी के अधिपति हो, अनेक सामंत आपके दरबार में विराजने के अधिकारी हुए हैं, पर राजाओं का राजा जो परमात्मा है, उसके दरबार में बैठने के आप अधिकारी बनो। उसके लिये देहगेह को सत्कर्मों से स्वच्छ कर जहां से फिर पतन न हो ऐसे स्थान पर नित्य बैठिये, ऐसी आत्मनिष्ठा प्राप्त करने का जो साधन नहीं करोगे तो आपका जन्म लेना और न लेना समान ही है। कौवे* और कुत्ते भी तो जन्मते हैं! पर 'उसका जन्म सार्थक है कि जिसका पुनर्जन्म नहीं।' संसारी ऐश्वर्य ऊपर की मोहनी जब तक चित्त के गुह्यागार में रही हुई है, तब तक यह अधिकार प्राप्त नहीं होता। यह अधिकार तो उसी को प्राप्त होता है, जिसकी सब अहंता ममता का नाश हो गया है, जो असंग है, शान्त है, निर्मल है, वैराग्यवान है, निर्विकारी है जिसका कर्ता भोक्तापन नष्ट हो गया है, जो देखने वाले, सुनने वाले, करने वाले से निराला ही बना है, जो द्रष्टा का भी द्रष्टा है, जो श्रवण करने वालों का भी श्रवण करने वाला है, जिसका मन, वाणी, चित्त शुद्ध है, वही जीव इस अधिकार को प्राप्त होता है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये

* काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते।

यथार्थ रीति से परमात्मा को जानना चाहिये, जिसके जानने से आवरण-मिथ्याज्ञान तथा विक्षेप से हुए दुःख की भी निवृत्ति होती है। इस ज्ञान को संपादन करने के लिये कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं। यह ज्ञान इस देह से ही संपादन किया जा सकता है। सत्, चित्, आनंदघन की उपासना करो, ज्ञानपूर्वक परमात्मा की भक्ति-प्रेम में लीन हो जाओ, भेद का त्याग करो, अभेद देखो, अद्वैत बनते ही 'अहं ब्रह्मास्मि' पद प्राप्त होता है। देंखो :–

गजल

तुझे है शौक मिलने का, तो हरदम लौ लगाता जा।
जलाकर खुदनुभाई को, भस्म तनपर लगाता जा॥
पकड़कर इश्क का झाड़ू, सफा कर हिज्र ए दिल को।
दुई की धूल को लेकर, मुसल्लेपर उड़ाता जा॥
मुसल्ला फाड़ तसबी तोड़, किताबें डाल पानी में।
पकड दस्त मैं परस्ती का, गुलाम उनका कहाता जा॥
न मर भूखा न रख रोजा, न जा मस्जिद में सिजदा कर।
वजू का तोड़ दे कूजा, शराबे शौक पीता जा॥
न हो मुल्ला न हो ब्राह्मण, दुई को छोड़ कर पूजा।
हुक्म है शाह कलंदर का, अनल हक तू कहाता जा॥*

* मुझे जहां से यह पद प्राप्त हुआ है वहां वह ऊपर लिखे अनुसार ही है। परंतु सूफी (वेदान्त) ग्रंथ के अभ्यासी एक विद्वान ने कहा है कि यह पद सूफी महात्मा **मनसूर** की कृति है। मैंने जैसा है वैसा ही ज्यों का त्यों रहने दिया है। इस पद (गजल) की उत्पत्ति की कथा इस प्रकार है :–सूफी **मनसूर** की परम धार्मिक, आत्मशोधन में लीन 'अनल' नाम की परमपवित्र बहिन थी। वह सदा धर्मग्रन्थों में के ईश्वरवचनों का पाठ करती थी।' उसमें ईश्वर का ऐसा वचन आया कि 'मुझे प्राप्त करना हो तो मेरे बंदों का संग कर।' इस वचन से '**अनल**' के नेत्र खुल गये; उसने धर्मशास्त्र तथा क्रिकाविधि का त्याग किया और ईश्वर के '**बंदे**' को ढूंढने चल पड़ी। कितने ही दिनों में '**हक**' नाम का सांई (भक्त) उसके नगर में आया। '**अनल**' उससे मिली और उसके पास से आत्मतत्त्व प्राप्त कर, स्व स्वरूप जान, '**हक**' के सद्बोध से '**अनल हक**' अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' का जप जपने लगी। यह वृत्तान्त उस नगर के बादशाह ने उनके (ईश्वर के प्रेम के अपात्र) द्वारा सुना, सुनकर राजा क्रोधित हुआ और सूफी **मनसूर** से कहा कि, 'अपनी बहिन को समझाओ। और पापी '**हक**' का साथ छुड़ाओ, इससे तुम्हारे कुल की प्रतिष्ठा की रक्षा होगी; तब हक को पीछे से मैं कठिन दंड दूंगा।' **मनसूर** अपनी बहिन को समझाने के लिये '**हक**' के आश्रम में गया। पर '**हक**' के उपदेश से भगिनी को पीछे लौटाना भूल ज्ञान संपादन होने से वह भी **अनलहक** का आदेश करने लगा। यह चमत्कार समझने में राजा असमर्थ था, **मनसूर** के बोध से अनेक पुरुष '**अनलहक**' का जप जपने लगे, इस कारण राजा ने **मनसूर** को फांसी के दंड की आज्ञा दी। जब **मनसूर** को–

इस 'अहं ब्रह्मास्मि' कि स्थिति को प्राप्त करने में उसी में लीन होने की आवश्यकता है। इसमें कुछ देना नहीं, कुछ गुमाना भी नहीं, प्राप्त ही करना है। इसके प्राप्त करने में तो (परमार्थ को प्राप्त करने वाला ही बुद्धिमान् है। व्यवहारकुशल नहीं) बुद्धिमान पुरुषार्थी पुरुष को अधिक श्रम नहीं पड़ता, बुद्धिमान् तो वही है कि जो ऐसा कर्म करे जिससे पुनर्जन्म न हो। इस सत् का ज्ञान प्राप्त होने के पीछे प्रारब्ध कर्म से कल्पित वासनाएं भले ही भोगे और संसारी की भांति विचरे तो भी उसको बाधा नहीं। देह से तो वह सर्वथा मुक्त है। ऐसा ही जीव जीवन्मुक्त है। वह संकल्प विकल्प से रहित हो, देह के कर्मों का द्रष्टा साक्षीरूप रह कर संसार में बिचरता है। हे देव! जगत के जंजालों का तुम परित्याग करो, उपाधियों को भस्म करो, अहंभाव को दूर करो, तो तुम भी वही हो। आज से तुम जीवन्मुक्त बनते हो। यह जीवन्मुक्त दृष्टि के द्रष्टा

—फांसी के समीप ले गये तब भी वह '**अनलहक**' का जप जपता था। इससे क्रोधाविष्ट हो राजा ने प्रजाजनों को आज्ञा दी कि 'इस पापी के एक जूता मारो।' **मनसूर** के अंगपर जैसे-जैसे जूते पड़ते गये वैसे ही वैसे वह अति आनंद पाने लगा। पर जब किसी सत्पुरुष ने उसके ऊपर पुष्प बरसाये तब उसके नेत्रों से अश्रुप्रवाह होने लगा। यह चमत्कार देख, राजा ने पूछा—'जूते पड़ते समय तो तू हँसा और पुष्प बरसते समय रोया, इसका कारण क्या?' यह सुनकर **मनसूर** ने उक्त पद पढ़ा इसका भावार्थ इस प्रकार है :—

हे राजा! जो तुझे (उस परमात्मा से) मिलने का शौक (प्रेम) है तो सदा उसमें लौ लगाता (लवलीन होता) जा, खुदनुमाई अर्थात् अहंता व ममता को जलाकर उसकी भस्म को अपने शरीर पर रगड़ता जा।

परमात्मा के प्रेमरूपी झाडू को ग्रहण कर अपने मन के मैल को साफ कर डाल अर्थात् अहंकार, ईर्ष्या, मोह, ममता, मेरा तेरा रूप मैल मन में जमा हुआ है, जो कि सारे अज्ञान की जड़ है, उसे हटाकर मन को निर्मल बना ले, द्वैतरूपी धूल को मुसल्ले (प्रार्थना के आसन) पर उड़ाता जा अर्थात् द्वैतरूपी धूल को कर्मकाण्डपर झोंक दे अर्थात् 'ब्राह्मण को यह करना चाहिये। क्षत्रिय को ऐसा करना चाहिये, वैश्य को यों करना चाहिये, मुसलमान यह करे, चाण्डाल ऐसा करे,' इत्यादि भेदभाव को छोड़ दे।

मुसल्ला को फाड़ डाल। (कर्मकाण्ड की खटपट को छोड़ दे) तसबी (जपमाला) तोड़ डाल, किताबें अर्थात् धर्मग्रन्थों को पानी में डुबा दे किंतु आत्मज्ञान का हाथ पकड़ कर (तत्त्वज्ञान का आश्रय लेकर) ब्रह्मज्ञान का सेवक बन जा।

उपवास करके भूखा न रह, रोजा (व्रतादि) न रख कर, मसजिद में जाकर सजिदा (नमन-प्रार्थना) को न कर, हाथ पैर धोने तथा स्नानादि बाह्य शौच करने के साधनभूत जलपात्र का फोड़ डाल, प्रेम—भक्तिरूपी मद्य का पान कर। मुल्ला ब्राह्मण अर्थात् धर्माचार्य आदि बनने का डौल त्याग दे, द्वैत को किसी प्रकार अपने पास फटकने न दे। शाह कलंदर की यही आज्ञा है कि तू 'अनलहक' अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' कहने का अधिकारी बन। सारांश यह कि गुणातीत—परमहंस अवस्था को प्राप्त कर। स्मरण रहे कि यह परमहंसावस्था-परमार्थदशा का वर्णन है, व्यवहारदशा में तो अन्तःकरण की शुद्धि के लिये वर्णाश्रमधर्मानुसार निष्काम कर्म अत्यावश्यक है।

राजा ने मनसूर के इस वचनों को सुन, अपनी प्राणदण्ड की आज्ञा वापस ले ली अर्थात उसकी फांसी की सजा माफ कर दी।"

को देखता नहीं, श्रवण के श्रवण करने वाले को श्रवण करता नहीं, मन के मानने वाले का मनोव्यापार को मंद करता है, मन से ही वह सर्वेश्वर सर्वात्मा महादेव को जानता है, विज्ञान के जानने वाले को जानता है। यही जीवन्मुक्त है। यही जाना सो सत्य। बाकी जीव का जंजाल है। इससे अन्य सब असत्य है। हे पिताजी! इस स्थिति को प्राप्त करोगे तभी जीवन्मुक्त होकर फिर विदेहमुक्त बनोगे तथा परमात्मा का साक्षात्कार करोगे। मेरा और आपका जो पिता पुत्र का संबंध, उसे स्वप्न ही समझिये। मैं पुत्र होता तो आपके यहां जन्म लेता, तुम पिता हो तो इस गढ़े में पधराआगे नहीं। पर मैं तुम्हारा पुत्र नहीं। तुम मेरे पिता नहीं। मैं तो अजर अमर निर्विकारी आत्मा हूं। भविष्य में मेरे प्रति मोह न रखना। मेरे प्रेम का विचार कि 'मैंने ज्ञान दिया है,' ऐसा विचार नहीं करना। केवल तत्त्व का ही विचार करना। क्योंकि अन्तकाल में कदाचित् मेरा स्मरण तुम्हारे पतन का कारण हो जाय। 'अन्तकाले या मतिः सा गतिर्भवेत्' अन्तकाल की वासनाभावना ने बहुतों को भ्रमाया है। जन्मजन्मान्तर तक अनेक कष्ट भोगकर आत्मनिष्ट बन कर भी अन्तकाल में मृगी के ध्यान से भरत मुनि जैसे महात्मा को मृगयोनि में जन्म लेना पड़ा था। यह विचार मन में दृढ़ रखकर सर्व उपाधि को, सब अहंकार को, सब वासना को, सब व्यावहारिक भावना को सदा के लिये आप त्याग कर दीजिये। अब मैं बिदा होऊंगा और अपने कर्मों का भोग भोगने के लिये उस निर्माणकर्ता की इच्छानुसार कार्य करूंगा।"

जीवन्मुक्त तथा विदेहमुक्त

राजा जनक ने बड़ी शीघ्रता से अपनी गोद में सोते हुए बालकुंवर से कहा–"हे पुत्र! हे परमज्ञानी! जरा ठहर और मुझसे कह कि जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त में क्या भेद है?"

"महाराज! जीवन्मुक्त बाहर से व्यावृत्त और अंतर से निवृत्त है, विदेहमुक्त अंदर और बाहर दोनों से निवृत्त है। विदेहमुक्त को भेद दृष्टि से भय लगता है और जगत् के सुख को दुःखरूप जानकर यह उससे दूर ही रहता है, वह जगत को दुःखरूप जान उसकी ओर दृष्टि भी नहीं करता, अन्तर्वृत्ति मात्र ही रहता है। जीवन्मुक्त यही जानता है कि 'जगत् भ्रान्ति से विलक्षण भासता है। पर वह मेरा ही स्वरूप है। मैं और जगत् कुछ अलग नहीं, इससे आंख मीच ली तो क्या और बंद रक्खी तो क्या? जहां मेरा ही स्वरूप है, वहां भय क्या?' वह सर्वत्र परमात्मा को ही देखता है, स्वस्वरूप को ही देखता है, इसी से वह जगत् की मौज लेता है। वास्तव में तो उसे जो सुख भासता है वह अपना ही अनुस्यूत सुख भासता है, जो केवल विचित्रता में ही भासता है तथा अपने माने हुए जगत् के सुख को जैसे अखूट दौलतवाला कौड़ी को तुच्छ

गिनता है, वैसे ही जीवन्मुक्त उस सुख मौज को अल्प गिनता है। उसको ऐसा भान होता है कि इस सुख के भोगने से लाभ क्या और न भोगने से हानि क्या? इस विचार से जीवन्मुक्त बाह्यवृत्ति के वेग को आकर्षण नहीं करता, वैसे ही अन्तःकरण के निश्चय को डिगाता भी नहीं अर्थात् जीवन्मुक्त कल्पित प्रारब्ध पुरुषार्थ के अधीन, कल्पित परमाणुजन्य शरीरवर्ती कल्पित सुख लेने में निःस्पृह रहता है किंतु स्वस्वरूप में तो वह अचल ही है।

स्वरूप से विलक्षण तथा जन्ममरण की अंनत प्रतीति वाली शंकाओं से भय को पाया हुआ ऐसा कोई पुरुष वैराग्य पाकर, योग के स्वरूपानुसंधान निमित्त कष्ट सहन करके मन सहित सब इन्द्रियों का निग्रह करने की आतुरता से आकर्षित हो, उपस्थादि सर्व इन्द्रियों को शिथिल कर पीछे स्वरूपानुसंधान साधन करे, तो भी शिथिल हुए अवयवों से कल्पित सुख का भोग भोगने में आसक्त ही रहता है और बाह्य दृष्टि से प्रतीत होता जगत् उसको किसी प्रकार भी आनन्ददायक नहीं जान पड़ता। इस लिये उसकी जैसी अन्तर्वृत्ति निवृत्त हुई हैं वैसे ही बाह्यवृत्ति भी निवृत्त हैं अथवा कृतकृत्य हुआ जड़वत् विचरता है। यह विदेहमुक्त का स्वरूप है।

जीवन्मुक्त तथा विदेहमुक्त में भेद इतना ही है कि एक की अन्तर्वृत्ति निवृत्त है और दूसरे की अन्तर और बाह्य दोनों वृत्तियां निवृत्त हैं। दृश्य कल्पित जगत् की प्रतीति दोनों को समान ही है तथापि सुख लेने के साधन जीवन्मुक्त के पास हैं तथा विदेहमुक्त के पास नहीं। विदेहमुक्त ने साधन गवांकर साध्य ही सिद्ध किया है अर्थात् जिन दश इन्द्रियां और अन्तःकरण के समुदाय वाले नाशवन्त शरीररूप साधन द्वारा स्वरूपानुसंधान करने में समर्थ होना होता है, वे कल्पित साधन विदेहमुक्त के नहीं के समान हैं तथा जीवन्मुक्त के वे साधन अक्षय कायम रह कर स्वरूपानुसंधान कराते हैं इसी से वह कल्पित सुख का अक्षय-अनावृत भोग करता है। विदेहमुक्त हठ-बल से और जीवन्मुक्त कल (युक्ति या धैर्य) से परम पद को प्राप्त करता है।

यह विषय स्पष्ट रीति से आपके हृदय में अंकित कराने के लिये हे पिताजी! तुमको एक दृष्टान्त दूंगा। अंधा और दृष्टि वाला दोनों एक जगह बैठे हैं। पास होता हुआ संगीत दोनों सुनते हैं। पर नेत्र वाला नेत्रों से देख कर जो आनन्द लेता है उस आनन्द को अंधा नहीं पा सकता, बल्कि अंतर्वृत्ति से अनुभव ही लेता है, सुख तो दोनों को समान है, पर अन्धा गाने वाले के मोहकपने से और पास होती हुई गड़बड़ से निर्भय है, उसे चोर आदि से भय नहीं, मारने वालों का भय नहीं, सौंदर्य के मोहकपने का भय नहीं, क्योंकि वह कुछ देखता ही नहीं इससे निर्भय है। पर देखते को सौंदर्य, चोर तथा मारने वाले को देखते ही तुरंत भय होगा,

यद्यपि भय अप्रकट है तो भी अप्रकट भय तो है ही, वह भय उसको तो होगा ही, ऐसे ही जैसे प्रकट आनन्द देखने वाले को है वैसे ही अनावृत प्रकट भय का भी साधन द्वारा संभव है। अंधे को जैसे अनावृत सुख का या आनंद का संभव नहीं। वैसे ही कल्पित भय का भी संभव नहीं।

यह देखता जीवन्मुक्त है और अंधा विदेहमुक्त है। इस पर से हे राजा जनक! तुम तात्पर्य समझ सकोगे कि देखने वाले से अंधा श्रेष्ठ है। इसलिये मैंने तुमको प्रथम जीवन्मुक्त की दशा भोगने को कही, फिर विदेहमुक्त होने की सूचना दी है, क्योंकि जिसने एक बार भी जब तक जगत् के किसी सुख पदार्थ का अनुभव नहीं किया, तब तक उसको उसके प्रति आकर्षण होने के भय का संभव है। स्त्री, पुत्र, ऐश्वर्य का भोग यद्यपि विदेहमुक्त नहीं भोगता तथापि उसकी उसे कदाचित् ईषणा (इच्छा) हो आवे अर्थात् 'मिथ्या जगत् का मिथ्या सुख कैसा होगा,' इस प्रकार ईषणा ही हो जाय तो उसे गड़बड़ में पड़ने का पूरा-पूरा संभव है। इससे वह संसार से दूर ही रहता है। जीवन्मुक्त को ऐसा कुछ नहीं। उसने तो मिथ्या सुख का अनुभव कर जगत् के सब सुखों को जगत् मात्र के सकल पदार्थों को देवतादि के लोकों को मिथ्या नाशवन्त माना है। इसलिये उसे भय नहीं, तथापि साधनसिद्धि में वह मन्द पड़ जाता है तो फिर जन्म लेना पड़ता है। विदेहमुक्त की साधना हठमय होने से उसे गिरने का भय ही नहीं रहता। वह श्रेष्ठ है। हे राजा! तुम प्रथम जीवनमुक्ति शनैः शनैः प्राप्त करो और विदेहमुक्ति हठ से नहीं बल्कि अनुभव से सहज में प्राप्त हो ऐसा करोगे तो तुम परम हो। जैसे शरद ऋतु में आकाश, वर्षा बरसने के पीछे निर्मल होता है, वैसे जो पुरुष ज्ञान की मौज के साथ सुख भोगकर निर्मल बनता है, वह निजानंदमय नित्य रहा तो वह निर्भय-परम तथा विदेहमुक्त है।"

मुक्ति-मोक्ष का लक्षण

राजा जनक ने शव (मृतक) रूपी महात्मा से पूछा—"हे महात्मन्! तुम पूर्व जन्म में भले मेरे पुत्र हो, पर तुम महत्पद के अधिकारी हो। न जानने योग्य भी जानते हो, इससे मेरे मन में जो शंका है उसका समाधान करो। परम मोक्ष कैसे प्राप्त हो? मोक्ष का लक्षण क्या है? मुक्तात्मा किस गति को पाता है? यह तुम मुझसे कहो!"

शवरूप बाल कुवंर ने कहा—"हे पिताजी! मैं महात्मा नहीं, ज्ञानी नहीं, पर कर्म का फल भोगने वाला अल्प प्राणी हूं। महात्मा तो आप हो! परंतु जैसे 'कीचड़ में लिपटे हुए रत्न को स्वच्छ जल से धोये बिना उसका प्रकाश प्रकट होता नहीं,' वैसे ही तुम भी उपाधिरूपी कीचड़ में लिपटे होने से अपने

चिदानंद स्वरूप को देख नहीं सकते। आपका प्रारब्ध और पुरूषार्थ सफल है, ऐसा मैं मानता हूं। आपने जो प्रश्न पूछा वह अति गूढ़, गूढ़का भी गूढ़ तत्त्व का तत्त्व रूप है तथा इसका उत्तर देना, वह मेरे ज्ञान से बाहर है। जहां ऋषिमुनियों की बुद्धि नहीं पहुँच सकती, वहां मुझ जैसे तत्त्वज्ञान से रहित अल्प का क्या समर्थ्य? तथापि उस परम योगी के कृपाप्रसाद से आपका थोड़ा-सा संशय छेदन करूंगा। सुनो! 'जो सूक्ष्म अविज्ञेय, अव्यक्त, अचल, ध्रुव, इंद्रियों के समूह, विषयमात्र और भूतों से रहति है, वही सब प्राणियों का अंतरात्मा, परम पुरुष, परमात्मा, पुराण पुरुष, परमेश है। उसी को क्षेत्रज्ञ कहते हैं।' वही त्रिगुण से मुक्त पुरुष भी कहा जाता है तथा वह कुछ कारणरूप कल्पित किया हुआ निष्क्रियात्मा सदसदात्मक है, यही पूजन, वंदन, उपासन करने, जामने और दर्शन करने योग्य है। तद्रूप से कोई श्रेष्ठ नहीं, उससे कोई विलक्षण नहीं, उसके रूप में विलीन होना यही मोक्ष है। पंच प्राण, दश इन्द्रिय, मन और बुद्धि से जो मुक्त है, सत्त्वादि तीन गुणों से जो मुक्त है, पापकर्म और पुण्यकर्म से जो मुक्त है, विराट की षोडश कलाओं से जो मुक्त है उसी पुरुष को मुक्ति मिलती है और वही मुक्त है। चिदात्मा ही मुक्तों की गति है। इस आद्यमूर्ति में मुक्तात्मा का प्रवेश हो, भेद का सर्वांश से लय हो जाय, यही मुक्तात्मा की गति है; जिस पुरुष ने हाथ, पैर, उदर अैर उपस्थ इन्द्रियों का संरक्षण किया है, निषिद्ध कर्मों का आचरण नहीं किया और जो आचरण नहीं किया उसका अभिमान भी कभी नहीं किया, जो समान दृष्टि वाला है, अन्तःकरण की सात्त्विक वृत्ति जिसको चरमावृत्ति कहते हैं उसी में मग्न है, निर्मल बुद्धि का है और सदा ही उस परमात्मा-अतंरात्मा-नारायण-परम पुरुष के शरण है, वही इस गति को पाता है। यह स्वरूप श्वेतद्वीप में बसता है, वहां के मुक्तात्मा स्थूल देहरहित हैं, इन्द्रिय भोगरहित हैं, चेष्टारहित हैं, शुद्धसत्त्वशील तेजस्वी हैं, इससे वे यत्किंचित् भी द्वैतभाव वालों की दृष्टि में पड़ते नहीं। इससे भी श्रेष्ठ वह परम घनश्याम मूर्ति है। यह मुक्तात्माओं से वेष्टित है और मुक्तात्मा के बिना और किसी का उसके दर्शन नहीं होते। श्वेतद्वीप में रही हुई (रही हुई यह वचन असत्य है, क्योंकि वह तो सब में है, पर श्वेतद्वीप में वह साक्षात् है इससे रही हुई कहा गया।) उस दिव्यमूर्ति के प्रकाश का तेज जो अनेक कोटि सूर्यों के तेज से भी विशेष है, इसी से जो वर्णन करने में नहीं आता, यही नहीं, पर तुम जितनी कल्पना कर सकते हो उससे वह पर है। इस पुंडरीकाक्ष जनार्दन

जगदात्मा में जो विलीन होना वही मोक्ष है। वह मूर्ति मैंने देखी नहीं, जानी नहीं, तो 'वह ऐसी है,' ऐसा कह, क्यों असत्य भाषणा करूं? जिसको उनका दर्शन हुआ हो वह क्या इस गढ़े में से निकलकर उस गढ़े में पड़े।

हे पिताजी! जय सच्चिदानंद! मैं जाऊंगा। इस जगत् का मेरा तुम्हारा साथ यही पूर्ण होता है। अब मेरा तुम्हारा सत्संग नहीं, जहां अनंत सुख है, वहां भी नहीं। वहां मैं भी नहीं, और तू भी नहीं, तो मिलना क्या? भेटना क्या? राजा क्या? और पुत्र क्या? ब्राह्मण क्या और चाण्डाल क्या? वहां एक परम प्रेम अद्वैत-पूर्ण-पुरुषोत्तम ब्रह्म ही है। वहां सब एक ही हैं, अद्वैत ही हैं। वहां मैं और तुम द्वैत में से छूटकर अद्वैत ही होंगे! उसी रूप से अनंत काल तक रहेंगे!"

इतना कहकर वह बालकुंवर फिर पूर्ववत् मृतक हो गया। उसके नेत्र मूंद गये। उसकी वाणी बंद पड़ गयी, क्षणभर में उसका चर्म कुम्हिलाय गया। राजा जनक परम उदासीन हो गया और उस बालकुंवर को फिर गढ़े में पधराकर उसे मिट्टी से दाब दिया। मिट्टी के साथ मिट्टी मिल गयी। राजा जनक पुनः स्नान कर, वस्त्र धारण करके, उत्तम ज्ञान ले, अपनी राजधानी में आया।

जनक का धारण किया हुआ वेष

हिमगिरि का योगिन्द्र महात्मा सुविचारशील और छद्मलिंग को संबोधन करके बोला—"हे वत्स! उस दिन से राजा जनक की स्थिति बिल्कुल बदल गयी थी। नगर छोड़ने पर जो जनक था, वह जनक अब नहीं था। पूर्व का जनक संसारी जनक था, व्यवहारी जनक था, लौकिक जनक था। आज जीवन्मुक्त जनक है, आत्मनिष्ठ जनक है। उसकी चित्तवृत्ति बिल्कुल शांत हो गयी है। उसके मन की अहंता ममता छूट गयी है। उसकी भावनाएं नष्ट हो गयी हैं। अस्ति, भाति नाम आदि के अंशों से वह रहित हो गया है। कामक्रोधादिक उसके दास बन गये हैं। सारा संसार उसको गंधर्वनगर के समान भासता है। जनकपुरी भी उसे बरसात से भीगे हुए चित्र की तरह जान पड़ती है। राज्य का व्यवहार वह साक्षीरूप मात्र ही होकर चलाता है वह किसी में लिप्त नहीं।"

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥

अर्थ—'दैवेच्छा से प्राप्त हुई वस्तु से संतोष मानने वाला, सुख दुःख आदि द्वंद्वों से रहित, मत्सररहित, कार्य की असिद्धि को समान मानने वाला, अनेक कर्म करने पर भी बंधन को प्राप्त नहीं होता।'

ऐसी राजा की स्थिति बन गई है। इस नवीन अवस्था को देखकर रानी और मंत्री चकित हो गये। संसार पर राजा को ऐसा दृढ़ वैराग्य व्याप गया था कि, 'एक दिन, रात को अपने हाथ से सिर मूंड़ भगवा वस्त्र धारण करके रानी के राजमहल के पास 'नारायण हरे' बोलता हुआ मिथिलास्वामी जनक नकली संन्यासी का वेश लेकर खड़ा रहा।'

राजा का यह विपरीत आचरण देख कर रानी बड़ी खिन्न हो गयी। वह राजा के पास आकर बोली—"महाराज! यह आपने क्या किया? परमात्मा के वचन का लोप किया? ठीक! पर आप क्षत्रिय हो, प्रजा पालनादिक कर्म करने के लिये जन्मे हो, कुछ संन्यासियों की भांति भिक्षा मांगने के लिये नहीं जन्मे, फिर यह विपरीत आचरण कैसा? आपको जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, इससे आपके आत्मा को नया चैतन्य मिला है, 'सत्' क्या और 'असत्' क्या, सो आप भली भांति जान सकते हो, आश्रम के धर्म भी जानते हो, पर कर्म का त्याग करने के लिये यह ज्ञान नहीं, परन्तु कर्म करते रह कर जो आत्मनिष्ठा प्राप्त हुई है, उसके द्वारा परम पद को पाने का अधिकारी बनने के लिये है। क्या भगवा पहन भिक्षा मांगने से अथवा वनचर की भांति वन में भटकने से ही परम तत्त्व को प्राप्त कर सकते हैं? नहीं जी। जिसको शुद्ध आत्मनिष्ठा प्राप्त हुई है, वह कर्म तथा अकर्म को विचार, स्वभाव प्राप्त कर्मों का त्याग नहीं करता, आश्रमधर्म का त्याग नहीं करता और वेष-टेक की टेढ़ी गली में प्रवेश कर, गोलमाल में पड़के, भूलता भटकता जाता नहीं। स्वामीनाथ!

जो वैराग्य दिखावे करी, वह तो मनकेरी मश्करी।
जो उपजे साचो वैराग्य, अंतर बाहर सर्वस्व त्याग ॥

मेरे सौभाग्यरत्न! आपको तो नित्यकर्म और आश्रम के कर्म करने ही हैं। क्योंकि कर्म का त्याग करने की अपेक्षा कर्म करते रहना, पर उसमें लिप्त न होना ही श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तो आपके शरीर का निर्वाह भी न हो सकेगा और उलटे भ्रष्ट होंगे। हे महाराज! किस लिये आपने एक दम राजपाट छोड़ कर, योगी का वेश धारण किया है? मुट्ठी-मुट्ठी अन्न घर-घर के द्वार पर मांग कर उस पर निर्वाह करने के लिये? आप इसके लिये जन्मे ही नहीं हैं। इससे हे प्रभु! यह आपका कार्य तो क्षत्रियोचित धर्म से और प्राप्त ज्ञान से विपरीत ही है। हे राजन्! यह त्याग ग्रहण करके घर-घर भिक्षा मांग कर, खप्पर में पड़े हुए अन्न से आपने संतोष करना विचारा होगा, भले! उत्तम ज्ञान प्राप्त करके उसका यह उपयोग करो, पर राजा का धर्म तो, प्रजा का पालन पोषण करने

में है, उसको अतिथि, देव, ऋषि तथा पितर इन सबका यजन करना है,' यह सब थोड़ा-सा भीख का अन्न लाकर कैसे पूर्ण कर सकोगे? आप तीन* विद्या के जानने वाले हैं, करोडों ब्राह्मणों का पोषण करने वाले हैं, ऐसे ओ भगवा वस्त्रधारी राजन्! इस राजलक्ष्मी को त्याग कर श्वान की तरह पेट भरने में तथा अधम पुरूषों के मुख की ओर देखने में क्या आनंद मानते हो? आप दूसरों के अन्न से पेट भरने के लिये नहीं जन्मे हो, औरों का पालन करने के लिये बनाये गये हो, पर हे दुर्दैव! सचमुच आज से मेरी पूज्य सासुजी वंध्या हो गयीं और पितरों को तो रोना ही है! हे वेषधारी राजन्! आप राजा हो इस लिये हजारों मनुष्य आपके सामने दोनों हाथ पसार कर खड़े रहेंगे, पर उनको जब कुछ भी फल नहीं मिलेगा तब वे निराश होंगे, वे क्या आपको आशीर्वाद देंगे और आपका कल्याण होगा? हे ज्ञानेच्छु! हे मुमुक्षु! आशा भंग का पाप आप कहां जाकर दूर करोगे? सचमुच आपकी तरह आश्रमत्याग करने वाले को यह लोक भी नहीं और परलोक भी नहीं। 'गृहस्थ होकर, राजा होकर, जो अपने धर्म का त्याग करता है, वह दोनों लोकों से भ्रष्ट होता है।' तिसमें भी आप ऐसे ज्ञानी होकर, अपनी धर्मपत्नी का त्याग करके, घर-घर द्वार-द्वार पर भीख मांग कर जीने की इच्छा करते हो, इस विपरीत कर्म का पाप तो अपार ही है। साधुपन धारण करने पर भी और त्याग का वेप बनाने पर भी आपके इस खप्पर, इस त्रिदण्ड और इस भगवा वस्त्र का जब कोई हरण करेगा तब आपको दुःख हुए बिना न रहेगा। उसी प्रकार मुट्ठी भर अन्न मिलने की भी नित्य-नित्य सूर्योदय होते ही आपको अपेक्षा भी रहेगी ही। साधु संन्यासी हो, जोगी, जती, जंगम या वैरागी हो, स्त्री को तजो, पुत्र को तजो, धन वैभव को तजो और कीर्ति का भी त्याग करो, यह सब हठ से तजोगे, पर उदररूपी गढ़े भरना न छोड़ोगे। किसी को अधिक और किसी को स्वल्प, कीड़ी को कण और हाथी को मण! परन्तु पेट भरे बिना किसी का काम नहीं चलता। पेट भरने के लिये दुर्जनों के सामने हाथ जोड़ कर खड़े रहते आपको खेद ही होगा। चन्द्र की कांति को नाश करने वाले मेघ में जैसे अधिक कालापन है, वैसे ही यद्यपि दुर्जन धर्म करते हैं, तथापि वह दूसरों का धर्मनाश करने ही के लिये हैं 'जब कौवे स्नान करें तो जानना कि अब दुष्काल समीप ही है' तथा जब काकमैथुन देखा जाय तब जानना कि अनर्थ का मूल ललाटलिखित है।' दैवयोग से दुर्जन दान देंगे तो भी निश्चय जानना कि दुर्जन की संपत्ति या दान, सन्ताप, मोह

---

* ऋग्यजुःसाम।

और कंप का कारण हुए बिना नहीं रहते, ऐसे दुर्जनों के पास से भी मुट्ठीभर अन्न की आशा करनी, क्या यही त्याग और सत् की प्राप्ति के योग्य साधन गिना जायगा? आपने द्वैत का त्याग किया हो, रज, तम का त्याग किया हो, आसुरी संपत्ति का विजय किया हो, शुद्ध सत्त्वगुणी बने हो, अभेद में लीन हो, तो फिर हमारे तुम्हारे में तथा इस प्रजा में क्या भेद है? मैं और आप एक ही हैं तो कौन किसका त्याग करता है और करेगा? आप अनुग्रहकर्ता कौन तथा अनुग्रह त्र मैं कौन? हे स्वामिनाथ! जिस ज्ञान के अभिमान से सत् का भान भूल कर, निदान आप जो कृत्य करते हैं, उस सत् ज्ञान में-चिदाभास में हम सब समान ही हैं, चिदाभास में भेद का लेश भी नहीं, परंतु हे राजन्! 'गृहस्थाश्रम का त्याग करके जो त्यागी हुए हैं, वे वास्तविक रीति से गृहस्थाश्रमी के आश्रय से ही जीते हैं, गृहस्थाश्रम ही अपने बड़े भाग्य से उनका पोषण करने वाला है।' सच्चा त्यागी तो वही है कि 'जो अपने आश्रम धर्म में परायण रह कर, जल में रहते हुए कमल की तरह निर्लेप रह के व्यवहार में विचरता है, अनेकों को ज्ञान, धर्म, दान, समानता से सत् समझ-समझा कर अनेकों का प्राणदाता बनता है तथा संसार की कोई भी वासना जिसको बाधा नहीं कर सकतीं, वही पुरुष इस लोक तथा परलोक में परमात्मा के सांनिध्य की मुक्त दशा का अधिकारी है, पर जो मुड़िया भगवा वस्त्र धारण करके, अपना पेट भरने के लिये आचार्य या गुरु सद्गुरुबाबा या साधु की छाया के नीचे बैठ, दाम और काम के बंधन में पड़, अनेक पुरुषों को तारने का अपने को अधिकार प्राप्त हुआ मान संन्यास का स्वांग धारण करते हैं, वे इस जगत को ठगने वाले बगुला भगत हैं, पाश से बँधे हुए पशु ही हैं। वे अपना और दूसरों का यह लोक और परलोक बिगाड़ने वाले ही हैं। कारण कि, मठ, शिष्य, पुस्तक, उदर भरने की चिंता तथा धनक लालसा से वे मुक्त नहीं, हे महाराज! इस काषाय वस्त्रों का त्याग करो, त्रिदण्ड का त्याग करके, राजदण्ड ग्रहण करो, अग्नि का आराधन करके जिसमें अनेक विद्वानों और गुणवानों को संतोष हो, परम पुरुषार्थ प्राप्त हो, ऐसे सत् के ज्ञान वाला परमार्थ यज्ञ करो, भेद को त्याग-अभेद को ग्रहण कर, विश्वकुंटुबी बनकर जगत् में विचरो, जब तक परम पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हुआ तब तक धर्म में अनुरक्त हर कर निरन्तर प्रजापालन तथा तपश्चर्या करने के लिये तत्पर रहो। 'परमात्मा का सेवन, भजन, पूजन, दर्शन यह सब भगवा वस्त्र धारण करने ही से होता है' ऐसा नहीं हैं। आपके समान पुरुष तो इसी शरीर से जीवन्मुक्त दशा के आनन्द को भोगते हैं, इससे

यह त्याग छोड़ क्षत्रियोचित धर्म में वर्तो तथा द्वैत का भेदन करके अद्वैत में प्रवेश करो, जो भगवा वस्त्र धारण किये बिना अन्तःकरण में रहते हुए चिदानन्द में लीन हो संकल्प का ही संन्यास करता है, वहीं विशुद्ध संन्यासी है और वही परमपद को प्राप्त करता है।"

पटरानी के ऐसे सद्बोधक वचन सुनकर, तत्त्ववेत्ता महात्मा जनकराय ने अपने स्वरूप को पहचान, रानी को आशीर्वाद दे, अपना वेष उतार डाला और राजभवन में पुनः प्रवेश कर, उत्तम रीति से राजकाज करने लगा। वह ज्ञानी, आत्माऽनात्मा का भेद समझने वाला, परब्रह्म की लीला वाले बगीचे में विहार करने वाला, सांसारिक व्यवहारों से विमुख हो, वृद्धि तथा क्षय से होते हुए हर्ष और शोक का त्याग करने वाला, ब्रह्मानन्द का उपासक बना था। तथापि जीवन्मुक्त दशा में उसको जो न्यूनता (कमी) मालूम पड़ती थी, उसे पूर्ण करने के लिये उक्त योगीन्द्र मुनि की उसे रटना लग रही थी। मुनि थोड़े काल तक पधारे नहीं, तब उसने अपने मनुष्यों द्वारा वन, उपवन, मठ, मन्दिर और गिरिकन्दराओं में शोध कराया, खोज किया, पर मुनि का पता नहीं लगा तब वह शोकातुर हो गया।

विचित्र स्वप्न

ऐसी स्थिति को प्राप्त हुए राजा जनक ने इस संसार के पदार्थ मात्र पर से प्रीति उठा दी। उसके रोम रोम में वैराग्य व्याप गया। वह इस जगत् को मृगतृष्णा के जल जैसा, गंधर्वनगर जैसा, आकाश अथवा जल में अंकित चित्र के समान मानने लगा। उसको सर्व व्यवहार बंधन के-पाश के समान_मालूम होने लगे। धीरे-धीरे इस लोक का आनंद अग्नि की ज्वाला के समान दुःखदायी हो गया। जन्म के पीछे मरण, चढ़ती के अंत में पड़ती, उदय के पीछे अस्त, उसी प्रकार आनंद के अंत में शोक ही है, यह विचार उसको प्रति दिन होने लगा। उसके आमोद प्रमोद अस्त हो गये। ऐसी स्थिति में विचारग्रस्तावस्था में एक दिन वह दोपहर को सो रहा। उस समय उसने नीचे लिखा स्वप्न देखा।

जानो कि 'एक दिन राजा जनक अपनी प्रबल सेना के साथ शिकार को गया है। एक हिरन के पीछे उसने घोड़ा बढ़ाया और सेना से बहुत दूर निकल गया। उसका शीघ्रगामी अश्व हिरन के पीछे सरपट दौड़ा जाता है। हिरन भी छलांग पर छलांग मारता चौकड़ी भरता आगे को दौड़ता चला जाता है। हिरन को पकड़ने की धुन में राजा एक घनी झाड़ी में प्रविष्ट हुआ और एक झाड़

व टहनियों से ढके हुए उजाड़ कुए के ऊपर होकर अक्षुण्ण मार्ग पर इसका घोड़ा दौड़ता जाता है। इतने में घोड़े ने ठोकर खायी और राजा उस कूप में गिर पड़ा। इस भयानक प्रसंग से राजा घबड़ाहट और आश्चर्य में पड़ा है और पड़ते-पड़ते कूप में बड़ की डाली हाथ में चिपट ली। घोड़ा तो राजा को गिरा हुआ देख, भाग गया और राजा बड़ की डाल पकड़कर लटका हुआ है। ऊपर निकलने का कोई उपाय समझ में नहीं आता। तब राजा विचार करता है कि 'किसी प्रकार इस संकट में से छूटूं तो प्रभुकृपा!' वह गद्गद्कंठ होकर प्रभु की प्रार्थना करता है, उसी क्षण उसकी दृष्टि ऊपर 'कचर कचर' करते शब्द पर पड़ी। और देखा कि जिस वड की डाल को पकड़कर वह लटकता है, उसकी जड़ को कुछ चूहे जो रंग में चित्र-विचित्र हैं-काटते हैं।'

उस समय राजा विचारता है कि 'जो डाली कट गयी तो नीचे कूप में पड़े ही सारी आयु पूरी होगी।' पर तत्क्षण नीचे दृष्टि पड़ी। वहां एक विकराल भयंकर अजगर मुंह फाड़े बैठा है। यह देख राजा बहुत घबड़ाता है। उसे कोई दिशा बचने की सुझती नहीं। तब तो वह जोर से चिल्लाने पुकारने लगा कि कोई पथिक मेरा शब्द सुन कर मुझे निकाल लेवे।'

इतने में एक स्त्री उस कूप के पनघट पर आकर खड़ी हो रही। राजा ने उससे कहा कि—"हे जगदम्बे! मेरी रक्षा कर, मुझे बचाव, मैं जनकपुर का महाराजा हूं, तू मेरी रक्षा करेगी तो तुझे अपरिमित धन दूंगा।"

वह स्त्री बोली—"हे राजन्! मुझे तेरी धन संपत्ति की आवश्यकता नहीं, पर जो तू मुझे ब्याहना स्वीकार करे तो मैं तेरी रक्षा करूं तथा इस संकट में से तुझे छुडाऊं।"

वह स्त्री कुरूपा, वृद्धा, अंग में कुष्ठ रोग से भरपूर, मुख में एक भी दांत नहीं और शरीर के चमड़े में झुर्रियां पड़ गयीं थी, इस कारण राजा उससे विवाह करने को अस्वीकार करता है किंतु बहु तेरी प्रार्थना कर, पुष्कल धन का लालच देकर रक्षा करने को कहता है, वर विरूपा स्त्री, एक भी नहीं मानती। अब ऊपर चूहे तो बड़ की जड़ काट ही रहे थे, इससे घबड़ाकर 'ना' छोड़कर राजा उस विरूपा को विवाहने की 'हां' कहने लगा है! तब बुढ़िया ने नीचे उतर राजा के पैर पकड़, बाहर निकाल धरती पर उतार दिया और कहा'हे राजन्! अपना बचन पूरा कर और मेरे साथ विवाह कर!'

राजा बोला— 'हे बुड्ढी मां! जरा दया करो, मैं तो तुम्हारे बालक समान हूँ!'

इतना सुनते ही बुढ़िया क्रोध से विकराल बन, अपना मुंह फाड़कर राजा को खाने को दौड़ी और सोते हुए राजा को भय के मारे सचमुच चिल्लाहट

करनी पड़ी। 'ओं ओं!' ऐसा करत-करते वह जाग्रत हो गया। चोबदार नकीब ने पुकारा कि 'जनकराय की जय! अन्नदाता का जयजयकार!'

राजा जाग्रत हो गया और वह विचारने लगा कि 'यह क्या?मैं यहां राजा हूं, नकीब- 'राजा जनक की विजय हो,' कहता है, वहां एक स्त्री स्वप्न में मुझे खाने दौड़ी और घबड़ाहट के मारे मैं चिल्लाने लगा था।'मैं राजा जनक सत्य' अथवा' जंगल में दौड़ती बुढ़िया के विकराल मुंख में जाता हुआ वह पुरुष सत्य?' इन दोनों में सत्य क्या? यहां मैं राजा सत्य हूं, वहां कुएं मे गिरा हुआ भी मैं ही था, इन दोनों में सत्य कौन सा? मुझे तो ये दोनो सत्य अनुभूत प्रतीत हुए हैं! यहां राजा जनक रूप से बैठा हूं और वहां विकराल विरूपा की चेष्टा से भय पाकर चिल्लाने वाला भी मैं ही हूं। तब इन दोनों में सत्य क्या?'

जगत् स्वप्नतुल्य है

राजा ऐसे विचार में लीन है। उसकी चित्तवृत्ति विकल बन गई है, वह बावले की भाँति चारों ओर देखता है, इतने में मंत्री लोग उसके पास राजकार्य के लिये आये। राजा की मुख मुद्रा विचारग्रसित देखके प्रणाम कर खड़े रहे इतने में विचित्र वेष धारण कर हाथ में ईख का दंड (इक्षुदंड) लेकर योगींद्र मुनि यहां पधारे! ये योगीन्द्र मुनि महात्मा याज्ञवल्क्य थे। राजा को उपदेश करने के लिए, याज्ञवल्क्य मुनि योग से अपना मूलरूप पलट कर विकृत वेष से वहां आये थे। उनका विचित्र रूप देखकर मंत्रिमण्डल खिल-खिलाहट के साथ हँस पड़ा। योगींद्रमुनि सबको हँसते देख चौगुने हँसे।

तब दोनों हाथ जोड़, राजा बोला- "हे महात्मन्! हे देव! ये असभ्य मंत्री आपके विचित्र अंग कि विचित्र चेष्टा देखकर हँसे, पर आप उनसे चौगुने हँसे, यह मुझे बड़ा आश्चर्य लगता है। कहिये आप क्यों हँसे !"

मुनि बोले– "राजन्! इन सबकी मूर्खता देख मुझे हँसी आयी है। तेरे मन का जो संदेह है, उसे दूर करने के लिये, मेरा आगमन है। तुझे ज्ञान किसने बोया है,' इसके जानने से क्या मतलब! पर उसके मधुरत्व के साथ ही संबंध है, मूढ़ पुरुष ही व्यर्थ वार्ता करते हैं!"

मुनि के ऐसे चकित करने वाले, अर्थ सूचक, बोधक और मर्मज्ञ वचन सुन, राजा जनक ने खड़े होकर उनके चरण छुए और पूछा- "हे देव! कहिये। आप कृपालु हैं। यह सत्य या वह सत्य?"

त्रिकालज्ञ योगीन्द्रमुनि बोले–"जैसा यह, वैसा वह। वह कूप में का

अजगर, बड़ की जड़ काटते काले सफेद चूहे, डाकिनी के समान स्त्री और उसकी विवाह की इच्छा, यह जैसे असत्य है, वैसे ही यह राजपाट, यह मंत्रि-मण्डल, यह पटरानी, राजकुंवर, धनसंपत्ति, विलासवैभव तथा यह विश्व-सब असत्य है। जैसे जाग्रत होने पर वह स्वप्न असत्य है, वैसे ही आत्मपद में जाग्रत होते ही यह सर्व विश्वमात्र असत्य ही है।"

मुनि के उपदेश वचन सुन, राजा जनक ने उनको पुनः साष्टांग दंडवत प्रणाम करके पूछा- "हे देव! मुझे आत्मपद में जाग्रत करो!"

राजा पृथ्वी पर दण्डवत पड़ा ही रहा, उठा नहीं। उसका अहं भाव जब तक मिटा नहीं, तब तक मुनि ने भी उठने को नहीं कहा।

जब वह अहंता ममता से मुक्त हुआ; तब मुनि ने कहा- "जनक उठ!"

राजा नहीं उठा, पड़ा ही रहा, क्योंकि वह जनक नहीं था, वह कैवल्यरूप बना था, फिर मूनि ने कहा- "राजा उठ!"जनक नामधारी, राजा की उपाधि से वेष्ठित उठा नहीं, तब मुनि ने कहा-"हे आत्मरूप उठ! जो तेरी इच्छा थी, वह मिला है। उठ!" जनक उठा। तब मुनि ने कहा- "हे नामरूपधारी जनक! 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्!'हे शान्तगुणी! सृष्टि होने से पूर्व यह जगत् सत् रूप ही, ब्रह्मरूप ही था। 'तत्त्वमसि, वह ब्रह्म तू है। पर जिनके हृदय पर गुरु कृपा कटाक्ष नहीं पड़ा, जिनके गुह्यगार में अद्वैत ने उदय नहीं पाया ऐसे हतभागी जीवों को ही यह मिथ्या जगत् सत्य भासता है और उन्हीं को मरण का भय व्यापता है। जो ब्रह्म है, उसे मरना क्या और जन्म लेना क्या? राजापन क्या और कुरुपा के साथ विवाह का भय क्या? कुछ भी नहीं। ब्रह्मरूपी विशाल सर्वव्यापक वस्त्र में, ब्रह्म ने ही परमात्मा ने ही अपनी इच्छा रूपी रंग की कूंची से नाना विध रूपवाला यह जगत् चित्रित किया है। इसमें सर्वत्र ब्रह्म ही है। उसके बिना अन्य कुछ नहीं। जाग्रत् में ज्ञानी को जो भासता है, वह सब परब्रह्म परमात्मा ही है और परमात्मा से भिन्न जो कुछ भासता है वह अविद्या है। अविद्या को नष्ट कर जो विद्या संपन्न बना, उसको परमात्मा से भिन्न कुछ भी नहीं भासता तथा ऐसा जो तीन काल में देखता है, 'मैं' और 'यह' इन दोनों का प्रकाशित बुद्धि से त्याग करता है, सर्व अनात्मा पदार्थ में से अनादिकाल की व्याप्त अज्ञानता को खींच, निकाल, निज स्वरूप में जो तदाकार होता है, उसको इस विश्व में रहते हुए भी द्वैतरहित सब दृष्टि पड़ता है, अर्थात् उसको कोई विक्षेप नहीं होता। स्थूल देह में बसता हुआ जीवात्मा, पंचमहाभूत, पंचतत्त्व, पंचकोष तथा ज्ञान क़ा विषय-इन सबसे भिन्न है। जो

सबसे भिन्न है, वही परमात्मा है। जैसे नृत्यशाला में रखा हुआ दीपक—सभा, नर्तकी, परदा, गृह आदि को-समानता से प्रकाशित करता है, वैसे सारे ब्रह्माण्ड को वही प्रभु प्रकाशित करता है। यह परमात्मा अशब्द, अस्पर्श, अरूप,अव्यय, रसरहित, गंधरहित, नित्य, अनादि, अनंत और अचल है। जिससे भूतमात्र जन्मते हैं, जन्म लेकर जीते हैं, जीव के घटघट में जो है, वही ब्रह्म है और वह ब्रह्म तू आप है। तू जीव भी नहीं, जनक भी नहीं, मनुष्य भी नहीं, राजा भी नहीं, बल्कि ब्रह्म है। यह ब्रह्म चैतन्य स्वरूप, निर्मल, अविनाशी, द्वैतरहित, आनंदस्वरूप है और वह अनुभव से ही जाना है। जिसको अद्वैतसिद्धि प्राप्त होती है, वह अद्वैत आत्मज्ञान की सामर्थ्य से जगत् को मिथ्या जान,लोक प्रसिद्ध नामरूपात्मक देह का देहीपना छोड़, व्यवहार में विचरता है। उसको चराचर में सच्चिदानंद स्वरूप के बिना और कुछ नहीं जान पड़ता। वही सदा जन्ममरण से मुक्त हो ब्रह्मरूप को पाता है। वह जानता है कि 'संपूर्ण प्रपंच ब्रह्मरूप है, तत्त्व का तत्त्व ब्रह्म है, चिंतन करने योग्य, विचारने योग्य, कहने योग्य, सबका सारभूत ब्रह्म ही है। उसके लिये कुछ जानना नहीं,विचारना नहीं, कहना नहीं और सूनना नहीं।, तू 'तत्त्वमसि'को जान तथा भगवान् वसिष्ठ ने रामचन्द्रजी को जो उपदेश दिया है उसका स्मरण-ग्रहण-सेवन कर कि—

यदा संक्षीयते चित्तमभावात्यन्तभावनात्।
चित्समान्यस्वरूपस्य सत्तासामान्यता तदा।।

'अभाव की अर्थात् इस जगत् का सर्व मोहजाल छूटने की अंतर की भावना होने से जब चित्तवृत्ति भली भान्ति क्षीण हो जाती है, तब चित्त की सब वृत्तियां बाह्य स्वरूप को भूल, अंतर् में प्रविष्ट होकर,उस चित्त की सामान्यता को प्राप्त कर, तदाकार बन जाती हैं और तब यह जगत्‌जाल ध्वस्त होकर—लुप्त होकर कहां जाता है, यह नहीं जाना जाता, ऐसी जो वृत्ति-वासना-भावना वही ब्रह्म और वही ब्रह्म जन्ममरण से मुक्त करने-वाला है।' जान लो कि 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' सर्वानुभवरूप जो यह आत्मा है, वही ब्रह्म है। वह ब्रह्म तू है।'

इन योगीन्द्र मुनि ने फिर जनक को ब्रह्म का स्वरूप बहुत उत्तम प्रकार से समझाया था। वह स्वरूप हृदय में धारण कर राजा जनक जीवन्मुक्त बन, राजपाट संभाल, राज्य करता था। वह यद्यपि व्यवहार काल में द्वैत को देखता, तथापि सर्वत्र चैतन्य व्याप्त होने से ज्ञानरूप आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं देखता था, सर्वत्र अद्वैत, समता, प्रेम को ही देखता था। उसका सब व्यवहार

विकार रहित-अहंत्व-ममत्वरहित था। वह आनंदस्वरूप में ही विहरता था, आनंदरस को ही ग्रहण करता था।

इस प्रकार राजा जनक जीवन्मुक्त बना। योगीन्द्र मुनि को तो उसे विदेहमुक्त करना था। पर उस प्रसंग की राह देखते हुए योगीन्द्र मुनि जनकपुरी में रहने लगे और उनकी आज्ञा से राजा ने यज्ञ आरंभ किया। इस यज्ञ में बड़े-बड़े पंडित पधारे थे। परन्तु इनमें सच्चे आत्मनिष्ठ थोड़े ही थे। जनक का यज्ञ हो रहा था, कि पूर्णाहुति के दिन सकल समाज भरा हुआ है, उनके बीच में ऋषियों से भी पानी भरावे, ऐसी संन्यासिनी गार्गी वस्त्र परिधान किये बिना दिगंबर अवस्था में यज्ञमंडप में आ खड़ी हुई।

राजा जनक की सभा में गार्गी

संपूर्ण ब्रह्मरूप जानने वाली, ब्रह्मरूप में विलीन हुई संन्यासिनीन अनेक तत्त्वविद् महात्माओं के मुख से सुना था कि 'राजा जनक को दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है,उसे तत्त्व सत् पदार्थ प्राप्त हुआ है, वह सत् का ही उपासक है, सत् बिना और कुछ नहीं जानता, देखता भी नहीं, कुछ सुनता नहीं और बोलता नहीं,' इसलिये उसकी परीक्षा करने के लिये जनक की यज्ञसभा में वह आयी थी। उसका वेष विचित्र-अद्भुत था। वह दिगंबर ही थी। उसकी कान्ति मनोहर जगत् के जीवों पर प्रताप की दिव्यपन से छाप डालने वाली थी। उसका अंग गौरवर्ण, सर्वांग लम्बे केशों से आच्छादित, कपाल पर त्रिपुंड्र की स्वाभाविक तीन रेखा थी, उसके हाथ में दंड और कमंडलु था। यत्किंचित् संकोच बिना वह सभा में आ खड़ी हो गयी। उसे सभा के बीच में खड़ी देखते ही सब सभासद विविध संकल्प से विचार ग्रसित हो गये तथा ऋषिवर्ग, नगरजन और क्षुद्र प्राणियों में कोई हँसी से, कोई कौतुक से, कोई निर्भर्त्सना से उसकी ओर देखने लगे। पर गार्गी के मुखमंडल के प्रकाश के आगे किसी की दृष्टि ठहर न सकी तथा कोई भी स्थितप्रज्ञ नहीं रह सका, केवल मुनि चक्र चूड़ामणि याज्ञवल्क्य ही स्थितप्रज्ञ रहे। इस गार्गी का संकल्प था-'मेरा स्वामी होने योग्य वही है जो स्थितप्रज्ञ हो तथा वही वस्त्र परिधान करावे तब पहनूं तथा केवल उसी की लज्जा करनी, क्योंकि जगत् के जीव तो पशु हैं और पशुओं की लज्जा ही क्या?' इससे वह सदा दिगंबर वेष से इस लोक में विचरती थी। याज्ञवल्क्य को स्थितप्रज्ञ देख उसने उनके पास से वस्त्र मांगा। याज्ञवल्क्य ने दिया। तब उनकी लज्जा करके वह खड़ी रही।

तब राजा जनक उसकी ओर देख बोले—"हे भगवती! मेरे राजभवन में इस विचित्र वेष (नग्रावस्था) में कहां से आयी? तू कौन है? सो मुझसे कह। 'यद्यपि मैंने छत्र चामरादि धारण किया है, पर मैं मुक्त हूं, ऐसा तत्त्व से तू जान।' ज्ञान से मेरा वासनाबीज भस्म हुआ हैं। मुझे शत्रु के नाश में प्रीति नहीं, वैसे ही स्त्री पुत्रादि के परिग्रह में भी प्रीति नहीं। मुझे कोई चंदन लगावे या कांटे से वेधे, दोनों समान हैं। मुझे मिट्टी और सोना समान है। जो देह तुझे दिखायी पड़ती है, वह देह सर्व संग से मुक्त है, सब काम से मुक्त है। मुझे त्रिदंडधारण और छत्रधारण समान है। मुझे बंध के कारणभूत पदार्थ में आसक्ति ही नहीं, मुझे दिगम्बर और साम्बर और चिदम्बर समान है। पर इस संन्यासदशा में रह कर तूने नग्नावस्था में इस राजसभा में प्रवेश किया, व्यावहारिक जीवों के सामने तू दिगम्बरपने से बिना लज्जा के खड़ी रही, यह स्त्री धर्म के विपरित वर्तना ही कहा जाता है तथा तूने मेरे गुरु के पास से वस्त्र ग्रहण कर परिधान किया, औरों को अंधा या पशुवत् गिना इसका कारण जानने की मेरी इच्छा है।"

विदेह कहाते हुए राजा जनक के मुख में से ऐसा कर्कश वचन सुन गार्गी बोली—"इस जगत् में विदेही माना जाता और परिचारकों से पूजाता हे देहदर्शी राजा जनक! बुद्धिमान् तत्त्वविद् वही गिना जाता है कि, 'जो अक्षर, शब्द और वाक्य दोषरहित बोलता है, बुद्धिमान निष्प्रयोजन या निरर्थक वाक्य का उच्चारण ही नहीं करता, वैसे ही कठोर, ग्राम्य, धर्म, अर्थ, काम से विरुद्ध, असंगत और असंस्कृत तथा न्यूनाधिक वाक्योच्चारण नहीं करता।' अनेक महात्माओं के मुख से मैंने सुना था, कि राजा जनक विदेही है, पर आज प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हुआ है कि तू विदेही नहीं, आत्मदर्शी नहीं, पर देहदर्शी अल्पप्राणी है और साथ ही मुर्ख भी है। विदेही परब्रह्म में रमण करने वाला पुरुष तो सदा सद्रुप ही रहता है। वह ब्रह्म के बिना अन्य पदार्थ को देखता ही नहीं। नट जैसे नाट्यवेष धारण करता है तब भी पुरुष है, उस वेष का त्याग करता है तब भी पुरुष है, वैसे ही ब्रह्मवेता दिगंबर हो या साम्बर हो, त्वगम्बर हो या चिदम्बर हो, उसमें अधिक क्या और न्यून क्या, यह तेरे समान विदेही नहीं जानता और उसमें तुझे विलक्षणता जान पड़ती है तो यह तेरा मूखपना नहीं तो और क्या है? तुझमें विदेहपन नहीं, क्योंकि जिसमें अखंडित सद्रूपता होती है, वहीं विदेही है। सद्रूपता का अभाव यही सदेहीपन गीना जाता है, तू सदेही है। इससे तूने मुझे नग्न

देखा। जो सद्रूपता होती तो ब्रह्मरूप ही देखता। जो स्थितप्रज्ञ है, वही विदेही है। मेरी प्रतिज्ञा थी कि 'जो स्थितप्रज्ञ हो वही मेरा स्वामी होने योग्य है,'अन्य तो पशु हैं, उनकी मैं लज्जा करती नहीं, पशु की लज्जा कौन करता है! ये महामुनि उच्च कोटि के स्थितप्रज्ञ ब्रह्मरूप हैं इससे इनकी ही मैंने लज्जा करी है। तू स्थितप्रज्ञ नहीं, यह इसी से प्रत्यक्ष होता है कि मुझे नग्न देख कर तुझे कौतुक हुआ और नग्नावस्था को तूने दूषण गिना है। तू पूछता है कि 'मैं कौन हूं?' यह प्रश्न तेरी अज्ञानता सूचित करता है। मिट्टी और पानी जैसे स्वभाव से मिले हैं, वैसे ही इस जड़ देह और चैतन्य का मेल है तथा इस जड़ और चैतन्य के संयोग से मैं निर्माण हुई हूं। यही जड़ और चेतन सब में है। जो जड़ तुझमें है वह मुझमें है और जो चेतन मुझमें है वह मुझमें है। तू किसको प्रश्न करता है कि 'मैं कौन हूं?' जड़ से प्रश्न करता हो तो जैसे रेती का कण एक दूसरे के साथ मिलकर एक दूसरे को जानता नहीं तो वह क्या उत्तर देगा? चेतन से प्रश्न करता हो तो चेतन एक ही है। जो तुझमें है वह मुझमें है, तो अपने चेतन से पूछ कि 'मैं कौन हूं?' प्रत्येक में एक ही चेतन और एक ही जड़ है, तो क्या प्रत्येक व्यक्ति को जुदा-जुदा ज्ञान हो सके? नहीं जी।

"हे राजा जनक! जान कि जो अव्यक्त प्रकृति तीस* कला से व्यक्त (प्रकट) हुई है वह मैं हूं, तू है और सारा जगत् है। तू पूछता है कि 'तू किसकी है और मेरे राजभवन में कहां से आयी?' यह प्रश्न भी मूर्खता से भरा है। जिसकी स्थिती क्रम-क्रम से क्षण-क्षण में बदलती हो, एक रूप में न हो, जिसका तू है उसी का सब है तो मैं किसकी कही जाऊं? क्योंकि स्त्री के गर्भाशय में वीर्य तथा रुधिर के मिश्रण से यह शरीर बनता है। उससे नववें महीने में जन्म होता है। चिह्न से स्त्री पुरुष कहे जाते हैं। बालकपन से क्रमानुसार बढ़कर प्राणी युवावस्था को पाता है और फिर वृद्ध होता है और अंत में मरण को पाता है। ऐसे क्रम-क्रम से पूर्व-पूर्व रूप का नाश होता जाता है और दीपक की ज्योति कि तरह नये नये रूपों को जीवात्मा क्षण क्षण में धारण करता है ऐसे रूपान्तर और स्थित्यन्तर होता जाता है। ये सब विकार शरीर को धारण करने पडते हैं, आत्मा को उनके

* पंच ज्ञानक हेतु पच इंन्द्रिय, मन, बुद्धि सत्त्व, अहंकार, वासनात्मक जगत्, अविद्या, प्रकृति, व्यक्ति, द्वंद्व, सुख, दुःख, जन्म, मरण, लाभ, हानि, प्रिय, अप्रिय काल पंचमहाभूत का सद्भाव, असद्भाव, विधि, वीर्य और तीसवां बल।

साथ कुछ भी लेना देना नहीं। वह तो विकार रहित है। वहां 'कौन किसका है और कहां से आया,' इस प्रश्न का उत्तर क्या दूं? ज्ञानी को यह प्रश्न कैसा? प्राणी को अपने हाड़ चाम के साथ संबंध नहीं, तो फिर दूसरों के साथ किसका संबंध हो? जीव को एक स्थिति में ठहरना नहीं, तो मैं जो आत्मरूप हूं, सो किसकी मनाऊं, और मैं कौन हूं और किसकी हूं और कहां से आयी यह कैसे समझा सकूं? हे राजन्! जो तू समानपने का अधिकारी होता, अद्वैत में मग्न, मस्त होता तो यह प्रश्न ही नहीं करता, पर तुझमें ज्ञान की कमी है, वही तुझसे ऐसे प्रश्न कराती है। ज्ञानी तो सबको द्वन्द्व से निर्मुक्त ही देखता है। अब जान कि जहां से तू आया है, वहां से मैं भी आयी हूं। जो स्थान तेरा और सबका है, वहीं स्थान मेरा है और सबका है और तू पूछता है कि 'इस सभा में कैसे आयी?'' किसकी सभा और किसका मंदिर, यह तू जानता नहीं, इसी से ऐसे अभिमान वाला तू प्रश्न करता है। यह मंदिर भूत में तेरा था नहीं और भविष्य में तेरा रहने का नहीं और वर्तमान में भी तू इसका स्वामी नहीं, क्योंकि इस मंदिर के एक भाग में ही तेरा स्थल है, उस विभाग का भी तू स्वामी नहीं, क्योंकि एक पलगं पर ही तेरी शय्या है और उस शय्या का भी तू स्वामी नहीं क्योकि उसके अर्ध की स्वामिनी तेरी अर्धांगिनी है, तब तेरी नगरी कहां है, तेरा मंदिर कहां है और तेरी सभा कहां है? पर हे राजन् तुझे अभी उपशम की प्राप्ति हुई नहीं और प्राकृत मनुष्य की भाँति तू केवल बुड्ढा ही हुआ है, इससे ऐसी निरर्थक बातें कहता है। तू ज्ञानवृद्ध नहीं इसी से तुझे द्वैतपना दृष्टि पड़ता है। तेरा मन तथा इन्द्रियां विषयोन्मुख हैं, इसी से मैं तुझे नग्न दिखायी पड़ी हूं और मुझे देखकर तुझे कौतुक हुआ है। मैं तो ब्रह्मरूप हूँ। तू भी ब्रह्मरूप है। ब्रह्म ब्रह्म को नग्न किस प्रकार देख सकता है? हे जनक तू स्थितप्रज्ञ होता तो तुझे मैं कि जो सदा ही अम्बरधारिणी हूं उसे 'मैं नग्न अवस्था में हूं ' ऐसी दृष्टि ही नहीं पड़ती। ''

गार्गी के ऐसे अनमोल, बोधक और तत्त्व से भरपूर वचन सुन वह राजा जो अपने को विदेहमुक्त हुआ निरभिमानपन से मानता था, उसका रहा सहा अभिमान चला गया। वह गार्गी के चरणों में पड़ा और 'मुझे ज्ञान दो!' वह भिक्षा मांगी।

गार्गी ने कहा—''हे राजन् ! इन तेरे समर्थ गुरुजी के समक्ष मैं ज्ञान देने की अधिकारिणी नहीं, इन्हीं से पूंछ, तुझे विदेहमुक्त करने को ये हीं समर्थ हैं। पर इन अपने स्वामी और तेरे गुरु को मैं एक प्रश्न पूछती हूं, उसका उत्तर तू

सुनकर ही अपने अर्थ को प्राप्त होगा।" फिर गार्गी ने दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम कर याज्ञवल्क्य मुनि से पुछा—"हे भगवन् ! कहो, कनक तथा कामिनि के त्याग से क्या कोई श्रेष्ट है? जन्म-मृत्यु से कौन मुक्त है?"

मुनिचक्रचूड़ामणि ने गंभीरपन से विचार कर कहा—"हां, है! कनक और कामिनी का त्याग हठ से भी होता है और यह स्थूल त्याग है, इसमें यत्किंचित् विशेषता नहीं, पर जो सूक्ष्म और कारण का त्याग करता है वही श्रेष्ठ है। काम का त्याग सरलता से हो सकता है, पर 'सूक्ष्म' का त्याग अति कठिन और दुर्लभ ही है। एक स्त्री जन्म से कुंवारी रही हो और उसने साठ वर्ष का आयुष्य ब्रह्मचर्य में बिताया हो, पुरुष का साथ तो क्या बल्कि उसके अगं के रंग का भी संकल्प न हुआ हो, ऐसा उग्र ब्रह्मचर्य वह हठ से पाल सकी हो और उससे सूक्ष्म का त्याग न हुआ हो तो उसके पतन का निश्चय ही है। कर्मयोग से वह बीमार पड़ी और आसपास के मनुष्य वैद्य को लाये। वह ब्रह्मचारिणी स्त्री पुरुष का स्पर्श न करती होने से उसे पर्दे में बैठाल, हाथ में डोरी बांध उस डोरी का छोर वैद्य के हाथ में दिया तथा वैद्य ने डोरी के द्वारा ही उस ब्रह्मचारिणी के अंग को ऐसी शीतल भावना दी कि वह ब्रह्मचारिणी स्त्री को फली। उसमें शान्तता हुई, पर उसी क्षण उस स्त्री के हृदयाकाश में नूतन भावना जन्मी कि 'हाथ की बँधी हुई डोरी के द्वारा मुझे पुरुष का स्पर्श होते ही इतनी शान्ति हुई तो जो स्त्रियां सर्वकाल पुरुष का स्पर्श करती होंगी उनको कितनी शान्ति होती होगी?' इस विचार के अन्त में उसका अवसान हुआ और उसे वेश्या का जन्म धारण करना पड़ा। तात्पर्य यह कि 'हठ से कनक कामिनी तजी जाती है, पर जो 'सूक्ष्म' है वह जब तक नहीं छोड़ा तब तक 'हठ' के कर्म निरर्थक ही हैं, स्थूल का त्याग हठ से बनता है, इससे वह श्रेष्ठ नहीं, पर सूक्ष्म का जो त्यागी है, वही त्यागी है और वही श्रेष्ठ है,' तब हे सकल तत्त्वों के तत्त्वों को जानने वाली विदुषी गार्गी! 'कारण' कैसे त्यागना, उसकी कथा कहता हूं सो सुन।

किसी एक अरण्य में एक ब्रह्मनिष्ठ मुनि रहते थे। उनके अचल अटल तपोबल से प्रसन्न होकर इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, देव और देवी सब पधारे। सर्व तत्त्वविद् देवों ने ब्रह्मवेत्ता को आशीर्वाद देकर कहा—"आप हमारे लोक में पधारो।"

मुनि ने प्रश्न किया—"हे देवताओं! कहो मुझसे कि आप के लोक में नित्य का, समता विषमतारहित अखंड सुख है!"

सब देवों ने कहा—"नहीं, अखंड सुख हमारे लोक में नहीं, अखंड सुख

तो ब्रह्मधाम में ही है!"

उस ब्रह्मवेत्ता ने कहा—"ऐसा है तो, आप पधारो। जहां का सुख नाशरूप हो, वहां मेरी जाने की इच्छा नहीं, मुझे तो अखंड सुख का भोगी होना है, क्योंकि वही श्रेष्ठ है।"

देवताओं के पधार जाने के पीछे कुछ समय तक उस ब्रह्मवेत्ता के मन में अभिमान रहा कि, 'अहो! ब्रह्मा, विष्णु महेश्वरादि ने मुझे अपने लोक में ले जाने को समझाया, प्रार्थना की, पर मैं निःस्पृह हो कर नही गया, मेरी जगह पर और कोई होता तो तत्क्षण तैयार हो जाता।' ऐसा अभिमान स्फुरते ही उसका शरीरान्त हो गया और इस अभिमान के योग से कितने ही समय तक उसे इस लोक में रगड़ाना पड़ा। इससे हे गार्गी! सूक्ष्म और कारण का नाश कर जो पुरुष समचित्त रहकर विचरता है, वही श्रेष्ठ है। कनक कामिनी का त्याग श्रेष्ठ नहीं। अखंडित ब्रह्मचर्य पालकर डोरी के स्पर्श से पुरुष का स्पर्श सुखदायी विचारने से वेश्यापन प्राप्त हुआ, नाशवंत लोक के सुख को तुच्छ गिननेरूपी दृढ़ ज्ञान होने पर मुनि को उस निःस्पृहपने का भी अभिमान स्फुरे, यह उसकी अपूर्णता है और इससे पतन होता है। इसलिये ज्ञानी को चाहे जितना ज्ञान होने पर भी पुरुषार्थ कर स्थितप्रज्ञ हो रहने के लिये 'सूक्ष्म' और 'कारण' का त्याग करना चाहिये। पर यह त्याग तो जिसे ब्रह्मानंद का अजर नशा चढ़ा हुआ है और चाहे जैसी खटाई से भी उतरता नहीं, उसी से होता है। क्योंकि, उसको सूक्ष्म और कारण बाधा नहीं करता। ऐसे ब्रह्मनिष्ठ की प्रज्ञा तीनों काल में दृढ़ समता वाली ही रहती है। उसके स्थान में से द्वैत निकल जाता है। जिसका कनक और कामिनी का त्याग श्रेष्ठ होता है, उससे श्रेष्ठ सूक्ष्म और कारण का त्याग है। यह त्याग तब ही होता है, हे ज्ञात्री गार्गी! कि जो इस 'वेद्य' का ज्ञाता है तथा वही सर्वरूप आत्मा को जान सब पदार्थों को आत्मा रूप देखता है और वही सूक्ष्म कारण का त्याग करने में समर्थ है और वही जन्म मृत्यु से मुक्त है। अनेकाग्रह बुद्धि वाला कि जिसने ब्रह्म को आत्मरूप से पहचाना नहीं, अव्यक्त का ज्ञाता नहीं, वह तप, योग, दानादिक करता हुआ भी समय पाकर जन्म ही लेता है और जन्ममरण से मुक्त नहीं होता।"

इस प्रकार गार्गी के साथ अनेक प्रकार के संवाद कर, मुनिचक्रचूड़ामणि याज्ञवल्क्य ने जब जनक को वेद्य (जानने योग्य) का परम विशुद्ध तत्त्वज्ञान समझाया तब वह विदेहमुक्त हुआ था। ऐसे परम ज्ञान के संपादन से ही

अर्थात् सूक्ष्म कारण के नाश होने से ही जनक विदेही होकर राज्य करता था। जनक, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठादि जीवन्मुक्त तथा विदेहमुक्त थे। वे संसार में रह कर भी निर्लेप थे। यह उनका सामान्य पुरुषार्थ नहीं था, अप्रतिम–अलौकिक पुरुषार्थ था। उनका ज्ञान शुद्ध था।

राजा जनक को परम तत्त्व के विषे अखंड वृत्ति का प्रवाह बहने लगा। वह अतंकाल में भगवद्रूप को यथार्थ जान कर कैवल्यगति को प्राप्त हुआ। हे वत्स सुविचार! पूर्व जन्म के ऋणानुबंध की, पूर्वजन्म के किये हुए कर्म की तथा विदेही जनक के आत्मशोधन की यह कथा तुम्हारा कल्याण करे। गृहस्थाश्रम में रह कर इस स्थिति को प्राप्त हुआ जीव दुर्लभ ही है। दुर्लभ है इसी से वह चिरकाल व्यतीत होने पर तीनों लोको में पूजनीय है।

यह लंबा इतिहास कह कर हिमगिरि के महात्मा ने मौन धारण किया। परम संतोष को प्राप्त हुए दोनों शिष्य महात्मा के चरणकमलों में प्रणाम कर इस अद्भुत इतिहास के श्रवण का मनन करते-करते अपने आश्रम को गये।

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः।
दुर्लभः स गुरुर्लोके शिष्यचित्तापहारकः॥

ॐ

षष्ठ बिन्दु

ईश्वर–सिद्धि

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

हे पार्थ! जिसके विषे सर्व प्राणी रहते हैं, जिसने सारे संसार का विस्तार किया है, वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से-अपरोक्षानुभव से लभ्य है-जाना जाता है।

प्रभात को श्रीशंकररूप महात्मा कुशासन पर विराजमान थे। दूसरे दर्भासन पर सुविचार बैठा था। भूमि पर उसकी स्त्री छद्मलिंग बैठी थी। महात्मा ने समाधि से मुक्त होकर दोनों को आशीर्वाद दिया। फिर हाथ जोड़कर सुविचार बोला–"हे गुरुदेव! ईश्वर का स्वरूप कैसे पहचाना जाय, इस विषय के संबंध में मेरे मन में बहुत ही गड़बड़ हुआ करती है। अनेक ऋषि मुनियों ने अनेक प्रकार से ईश्वर का स्वरूप वर्णन किया है, परंतु उस स्वरूप का साक्षात्कार हृदयाकाश में या नेत्रों द्वारा नहीं हो सकता। यह कैसे हो सके? श्रुति कहती है कि 'ईश्वर व्यापक है।' जैसे वायु विश्व में व्याप रहा है, वैसे ईश्वर परमात्मा चराचर में व्याप रहा है। यह व्यापक ईश्वर एक स्वरूप में किस तरह दृष्टिगोचर हो सके? जिस ईश्वर को यह जगत् देखने के लिये तरस रहा है, उस ईश्वर में व्याप्यव्यापक भाव को देख कर उसकी प्रतिमा चक्षु के समीप खड़ी हो तो ईश्वर को साकार कहा जा सके। पर आपने अनेक प्रसंगों पर कहा है कि 'ईश्वर साकार नहीं, बल्कि निराकार है, निरवयव है, अजर है, अमर है, सर्वव्यापक, चिदात्मा, सर्वगुणसंपन्न है। उसको कर्तापन और भोक्तापन नहीं।' फिर आप ऐसा भी कहते हैं कि 'वह साकार है तथा अनेक अवतार धारण करता है।' श्रीकृष्ण परमात्मा ने भी कहा है कि–

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥" गीता-4/7

'जब जब धर्म का नाश होता है और अधर्म की बढ़ती होती है, तब तब सच्चिदानन्द, निर्गुण, निरवयव, सर्वव्यापक, ऐसा जो परमात्मा सो मैं अपनी इच्छा

से अवतार लेता हूं।' यह ईश्वर का साकार स्वरूप सिद्ध करता है। परंतु वेद जो परमात्मा की वाणी है, वह 'नेति नेति' शब्द से 'यह नहीं, यह नहीं,' ऐसा कह कर रूप मात्र का अनादर करता है। अब ईश्वर को निराकार कहें तो प्रार्थना करते समय जो कहते हैं कि, 'हे प्रभु! तू हम पर दृष्टि कर।' ये शब्द व्यर्थ होते हैं। क्योंकि, जो निराकार है, जिसके हाथ, पैर, मुख, कर्णादि इंद्रिय नहीं, उसी प्रकार उसके नेत्र भी नहीं, नेत्र हों तो वह साकार गिना जाय और नेत्रों के बिना कृपा की दृष्टि कैसे कर सके? बल्कि साकार स्वरूप तो जीव को साध्य है लेकिन निरवयव, निरंजन, सच्चिदानन्दघन स्वरूप जीव की दृष्टि में कैसे आ सके? उसका साक्षात्कार कैसे हो? अभेद, मुक्त, अजर, सर्वव्यापी, ऐसे स्वरूप के जानने तथा साक्षात्कार करने की रीति, हे गुरुदेव! हमको बताओ। शंकररूप श्रीशंकर ने भी 'भज गोविंदम्' गाया है। उसी प्रकारः—

"नंद (गोष्ठ) प्राङ्गणरिंगणलोलमनायासं परमाकाशम्।
नाना (भावा) कल्पितनानाकारमनाकारं भुवनाकारम् ॥ श्री गोविन्दाष्टक।

(नंद के (गोष्ठ के) आंगन में मंद-मंद गति करता, श्रम के बिना, परम आकाशरूप, अनेक प्रकार के (माया के) कल्पित आकारों को धारण करने वाला, निराकार, तीनों भुवनोंरूप श्रीकृष्ण परमात्मा है।) इत्यादि गाकर ईश्वर के साकार तथा निराकार दोनों स्वरूप दिखाये हैं। वैसे ही गीता, उपनिषद् और दूसरे अनेक स्थलों में उसको निराकार, निरवयव माना है। इसी तरह महात्मा पुरुष भी परमात्मा के स्वरूप को नये-नये प्रकार से वर्णन करते हैं, व जिस स्वरूप को शिव ब्रह्मादिक नहीं जान सकते; जो जानते हैं वे भी 'नेति' 'नेति' 'यह नहीं' 'यह नहीं' इस शब्द से उसका वर्णन करते हैं, तो परमात्मा का शुद्ध तथा साक्षात् स्वरूप कैसा है, उसका दर्शन हमको कराओ। आप महात्मा, संग से रहित, सत्पुरुषों में उत्तम, नित्य तथा अद्वितीय आनंदरस से व्यापक और दया के समुद्र हो, सो हमारे ऊपर कृपा करो! आपके अनुग्रह से हमारे अनेक प्रकार के संशय दूर हुए हैं। हम भाग्यशाली हुए हैं, कृतार्थ हुए हैं, कामादिक अथाह दोषों से भरे हुए भवसागर से मुक्त होने के जिज्ञासु बने हैं। आप कृपा करके इस अविनाशी, अविकारी, कैवल्य स्वरूप के दर्शन करा कर इस जीव को कृतार्थ करो।"

महात्मा क्षणभर मौन धारण कर नेत्र मूंदे बैठे रहे। फिर बोले—"हे वत्स! तुम्हारे समान ही जिज्ञासा, पूर्व काल में किसी एक राजा को हुई थी। उसकी कथा तू सून!

"इस विश्व में किसी एक नगर में संपत्तिमान्, विद्वान्, गुणज्ञ, शास्त्र

वेत्ता, संस्कारी, सत्पुरुषों का सेवनेवाला, एक राजा राज्य करता था। वह परम पदार्थ का जिज्ञासु था। पूर्व जन्म के संस्कारयोग से इंस राजा को ईश्वरदर्शन-ब्रह्मप्राप्ति की जिज्ञासा हुई थी। अनेक महात्मा, संत पुरुष, पंडित उसके मन का समाधान करने के लिये उसकी सभा में आते थे, पर कोई उसके मन का समाधान कर न सका।

यह राजा सर्व महात्मा पुरुषों से एक ही प्रश्न करता—"आप ईश्वर को जानते हैं? वह है? कैसा है? यदि है तो उसे मुझे बताओ। यदि नहीं बता सकते तो 'वह है नहीं,' ऐसा मानो। फिर पाप पुण्य भी नहीं। दान, तप, व्रत भी व्यर्थ हैं। उसके लिये भजन, यजन, पूजन का क्या मतलब?'

राजा का वचन अति गूढ़—कूट था। विश्वनगर में रहते हुए जीव अपना स्वरूप नहीं जानते हैं, तो ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म का स्वरूप कहां से जानें तथा बतावें भी कैसे? यदि जानने का अभिमान करें तो उनकी भूल थी। पर ये क्षुद्र जीव राजा को किसी प्रकार उलटा सीधा समझाकर उससे द्रव्य मिलने की लालसा से कहते थे कि 'हम ईश्वर को भली-भाँति जानते हैं तथा उसके बताने को भी समर्थ हैं।' राजा कहता कि 'मुझे बताओ!'

आत्मा परमात्मा के स्वरूप को नहीं जानने वाले तथा द्वैत और अद्वैत के रहस्य से बहिर्मुख ऐसे जीव राजा के मन का समाधान करके उसके द्वारा सत्, चित्, आनंद, घन ऐसे परमात्मा को सत्य तथा असत्य से विलक्षण किसी अन्य पदार्थ के मान, परन्तु दृष्टि से अगोचर स्वरूप बतलाने को प्रयत्न करते थे, पर 'भेदरहित ब्रह्म का प्रतिपादन करना तथा वह मायिक दृष्टि से गोचर हो,' ऐसा समझाने में मायिक जीव फलीभूत नहीं होते थे और राजा की शंका अधिक-अधिक बढ़ती जाती थी। वह सत्यासत्य का बहुत अच्छी तरह जानने वाला था, संसार से अत्यन्त उदासीन हुआ था, परंतु सर्व पदार्थो का सेवने वाला और परमात्मा के सत्य स्वरूप को संसार में रहकर जानने का जिज्ञासु था। उसकी वृत्तियां उत्तम स्थान में लगती थीं। वह नित्य अनित्य वस्तु का विवेकी था, शमादिक षट् संपत्ति का उपासक था, पर शुद्ध भावना से वेष्टित जीव को जो परम दिव्य स्वरूप का साक्षात्कार होता है वह उसको न हुआ होने से नित्य ही परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करने की उधेड़ बुन किया ही करता था। ऐसा अधिकारी जीव दुनियादारी के वाक्पंडित तथा वाणी के वैखरी वाले और भोगों के भोक्ताओं के वाक्चापल्य से ठगा जाय, यह अशक्य ही था। उसके मन का समाधान करने को आये हुए पंडितों के साथ आत्मा

अनात्मा का, पंचकोशों का, जगत जीव का, दृश्यादृश्य का वह ऐसी अच्छी रीति से विचार करता कि परमात्मा का साक्षात्कार कराने वाले प्रपंची जीव उसके साथ वाद में पराजित होते, ऐसे पराजित हुए अनेक महात्माओं को वह राजा, 'जैसे वरुणपुत्र बंदी जनक विदेही की राजसभा में अनेक पंडितों के साथ विवाद करके पराजित करता और फिर उनको जेल में पधराता था,' उसी प्रकार यह राजा भी पराजित हुए महात्माओं को कैद करता था, इस तरह इसके कैदखाने में हजारों विद्वान् गुणवान् द्वैत अद्वैत शास्त्र पढ़े हुए और कितने एक तो 'हमने ब्रह्म को यथार्थ जाना है' ऐसा कहने वाले वेदान्ती कैद में पड़े थे। ये विद्वान् गुणवान् और ब्रह्मज्ञान प्राप्त कराने वाले शास्त्र पढ़े हुए अवश्य थे, पर अपनी अहंवृत्ति से जगत् की माया में लोलुप होने से बँधे हुए थे। उन्हें अपने आप को ईश्वर के साकार और निराकार स्वरूप का निश्चय ही नहीं था, तो साक्षात्कार तो हो ही किसका? तथा ऐसे दूसरे को साक्षात्कार कैसे करा सके? जिसका अपना ही पेट खाली है, वह दूसरे को किस प्रकार तृप्त कर सके? भिक्षुक भिक्षुक-को कैसे संतुष्ट कर सके? पूर्ण में से ही पूर्ण हो सकता है, क्या अपूर्ण में से पूर्ण हो सकता है? इस कलियुग का प्रताप ऐसा है कि सब कोई ब्रह्म का साक्षात्कार करने और कराने में तत्पर होते हैं। सब जीव ब्रह्म-ब्रह्म, ईश्वर-ईश्वर, परमात्मा-परमात्मा का तोते की तरह नाम उच्चारण किया करते हैं, परन्तु जैसे जल में रहते हुए कमलपत्र को शीतल तथा मधुर जल का स्पर्श नहीं होता, वैसे ही इन जीवों को भी ब्रह्म का बिल्कुल स्पर्श भी नहीं, वे लटपट पंछी हैं, माया में मुग्ध हैं, उदरपरायण रह कर विषय सेवन में प्रवृत्त रहने वाले हैं। ब्रह्म को जानने के लिये जिस त्याग की आवश्यकता है, उससे वे बहिर्मुख हैं। जिसकी प्रज्ञा प्रकट नहीं, जो जीव ज्ञानामृत का पान करके तृप्त तथा कृतकृत्य नहीं हुआ, वह जीव भले ही अनेक शास्त्र पढ़ा हो, समर्थ गुरु के मुख से आत्मा परमात्मा के भेद तथा अभेद का ज्ञान श्रवण किया हो तो भी बाह्य इंद्रियों को अन्तरात्मा में लीन किये बिना, ब्रह्म-परब्रह्म, परमेश्वर-परमात्मा का साक्षात्कार कर या करा नहीं सकता। राजा के कैदखाने में भेजे हुए पुरुषों में एक भी जीव सच्चा तत्त्ववित् तथा ब्रह्म का साक्षात्कार भी नहीं कर पाया था, और इस मार्ग पर भी चढ़ा न था। सब व्यवहार चतुर थे। वे सब माया में मुग्ध ही थे। उनमें किसी की भी अहंता ममता नष्ट न हुई थी और अविनाशी परमात्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन करने के अधिकारी भी नहीं हुए थे। वत्स! जान कि, जगत् में जो जानता नहीं, वहीं जानता है

और जो जानता है, वही नहीं जानता, जो कहता है कि 'मैं जानता हूं,' वह नहीं जानता, जो नहीं जानता, वही परमात्मा के स्वरूप को जानता है अथवा मार्ग में आरूढ़ (चढ़ा हुआ) है, वेद का अध्ययन करने वाला, अनेक धर्मशास्त्रों को जानने वाला, जगत् के कार्य में अति कुशल, बड़ी-बड़ी सेनाओं का पराजय करने वाला, बड़े-बड़े राज्यों को अंगुली के सिरे पर नचाने वाला, अनेक पदार्थों के गुणावगुण शोधने वाला, द्वीपान्तरों में कीर्ति संपादन करने वाला जीव, ब्रह्मतत्त्व को नहीं जानता। जिसके चारों ओर जगत् की लीला व्याप्त हो रही है, जो दृष्टिगोचर जगत् को ही सत्य देखता है, ऐसा जीव चाहे जैसा महान् कार्य करने वाला हो तो भी परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता। दुनियादारी के चतुर पुरुष दुनिया में ही चतुर हैं। उनकी चतुराई परब्रह्म के जानने में निष्फल ही है। ब्रह्मसुत्र, उपनिषद् और गीता का गुरुमुख से भली-भाँति श्रवण किया हो तो भी जब तक आत्मा अनात्मा की अभेद स्थिति जीव को नहीं प्राप्त हुई, तब तक उस जीव को परमात्मा का शुद्ध स्वरूप दिखायी नहीं पड़ता। जैसे धातु की कड़छी दाल, शाक आदि के स्वादिष्ट रस को नहीं जानती, वैसे ही अनेक शास्त्रों का अभ्यास करने वाला जीव ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर सकता।

राजा के अनेक संत महात्माओं को कैदखाने में भरने से लोगों में उसकी अनेक प्रकार से अपकीर्ति होने लगी। देश देशान्तर में उसकी चर्चा फैली। वह नास्तिक और अधर्मी ओर ब्रह्मपीड़क गिना गया। कुछ दिन पीछे कोई भी पंडित ईश्वर का साक्षात्कार कराने को उसके समीप आने की हिंमत न कर सका। किंवदंती ऐसी फैली कि 'जो पंडित कैद किये गये हैं, उनको सजा बड़ा कष्ट देता है। किसी से चक्की पिसवाता है, किसी से चरखा कतवाता है, किसी से बैल की भांति कोल्हू का काम लेता है। किसी से और दूसरे अधर्म के काम कराता है।' ऐसी-ऐसी अनेक चर्चा लोगों में होने लगी, सब राजा का नाम रखने लगे। कोई कहने लगा कि 'ईश्वर कहीं रास्ते में बैठा है कि, ऐसे पापी राजा को दर्शन दे!;

तब दूसरा बोला कि—"बहुरत्ना वसुंधरा, सारी पृथ्वी पड़ी है। कोई ईश्वर का लाल इसका भी माथा फोड़ने को निकल आवेगा।',

किसी ने कहा कि 'हिमालय में बहुत महात्मा हैं, वे आवें तो राजा का घमंड दूर करें' तथा किसी ने कहा कि 'इस कलिकाल में महात्मा ही कहां? वे तो अब गये।'

दूसरा नास्तिकवादी बोला कि 'यदि ईश्वर हो, तो कोई बतावे क्यों नहीं! ईश्वर बीश्वर यह तो मन की कल्पना है, सब मृगतृष्णा के जलतुल्य है, ठगों की ठगविद्या ही है।'

ऐसे अनेक रीति से राजा की निंदा और चर्चा होने लगी। राजा ने कैद खाने का वृत्तान्त जगत से ऐसा गुप्त रखा था कि वहां क्या होता है इस बात को कोई नहीं जानता था, इस कारण बाहर की प्रजा अपने मन में आवे वैसी अनेक कल्पनायें करती थीं। पर राजा शुद्ध सत्त्वगुणी था, ब्राह्मणों का पोषक था, धर्म के पाश में बँधा हुआ था, भगवद्धर्म के अनुष्ठान से सर्वेश्वर में अखंड भक्तिमान् था, दया, लज्जा, और भय से भरपूर था, ज्ञान में कुछ सामान्य अपूर्ण था, और उसकी वृत्तियां विषय में प्रवृत्त थीं, इसी से वह ब्रह्म का तत्त्व जानने से बहिर्मुख रहा था। 'तत्' पद तथा 'त्वम्' पद के अर्थ का उसको यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ था, तिस पर भी इस जगत् के मायिक पंडितों ने उसे ऐसा समझाया था कि 'परमात्मा नामरूपादि से रहित नहीं बल्कि सहित है, उसका साक्षात्कार महात्मा पुरुष ही करा सकते हैं।' इसी से उसको यह चेटक लगा था कि 'जो मुझे परमात्मा का साक्षात्कार करा दे, उसका मैं दास होकर रहूं तथा इस राजपद का त्याग कर सदा उसकी सेवा करूं।'

यह राजा कुछ विवेकरहित न था, तो फिर गुण संपन्न महात्माओं को दुःख दे, यह कैसे हो सकता था? लेकिन मन्दबुद्धि के योग से अज्ञानी पुरुष की तरह व्यापक परमात्मा को प्रमाण से जानने की इच्छा करते हुए अथवा उस रूपातीत को दृष्टि से देखने को जो शुद्ध सात्त्विक प्रेम भक्ति की दृढ़ता चाहिये वैसी दृढ़ता न होने से वह मायिक दृष्टि से उसका साक्षात्कार करने की इच्छा करता था। हे वत्स! प्रकाशक आत्मा को प्रमाण की अपेक्षा ही नहीं। वह स्वयं प्रकाश ही है। प्रकाशक सूर्य को जैसे अपने प्रकाश के लिये अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं, वैसे सत्-चित्-आनंद घनात्मक परमात्मा का साक्षात्कार करने में अन्य की अपेक्षा नहीं। शुद्ध सात्त्विक प्रेम ही दर्शन करता है। परन्तु इस ज्ञान से वह विमुख था।

यह राजा ब्राह्मण, महात्मा, संत या तपस्वियों का द्रोही न था। बल्कि यह मानता था कि 'इसके द्वारा कोई परम पुरुष मेरा कल्याण करेगा।' कारागृह में रहते हुए संत महात्माओं को वह सब प्रकार से सुख देता था। प्रभात में उठ कर उन सबके दर्शन करता था। उनका पूजन, अर्चन, पादप्रक्षालन आदि करके उनके चरणामृत का पान करता था। कारागृहवासी संत किसी प्रकार से दुःख न पावें, इसकी भली भांति जांच रखता। यह सब

कार्य वह ऐसी गुप्त रीति से करता था कि कारागृह के बाहर की प्रजा बिल्कुल अज्ञात रहती थी। संत नित्य उसे आर्शीर्वाद देते थे कि 'हे राजन्! हमारी ईश्वर से सप्रेम ऐसी याचना है कि आपके मन का समाधान हो।' राजा प्रेम पूर्वक प्रणाम करके कहता कि 'हे महात्मा पुरुषों! हे करुणासागरो! आपकी कृपा से ही मेरी कामना पूर्ण होगी। मैं जो उत्तम फल की प्राप्ति चाहता हूं, वह केवल आपके चरणों की कृपा से ही प्राप्त होगी। मेरी कामना की मुक्ति के साथ इस कारागृह में से आप सबकी मुक्ति होगी।'

राजा ने देश विदेश में ढिढोंरा पिटवाकर जगत् को जना दिया था कि 'जो कोई ईश्वर का साक्षात्कार करावेगा उसकी सब व्यावहारिक मनःकामना पूर्ण करूंगा। उसको अपना राजपाट सब देऊंगा और उसका दास बनकर रहूंगा। पर जो कोई मुझे छलने आवेगा, उसका कारागृह में वास होगा।'

देश देशान्तर से अनेक पंड़ित, माया के जीव साधु संत, बड़े-बड़े आचार्य, धन और कीर्ति के लालच में उसकी इच्छा तृप्त करने को आते थे, परंतु वे निरंतर के कारागृह का वास सुनकर पुनः चले जाते थे। आने वाले पुरुषों में एक भी पुरुष चौदह भुवन का संन्यासी या विश्वसुख का त्यागी न था, पर सब कीर्ति सुखादिक के लालची थे। किसी की भी भोगवासना निर्जीव न थी और किसी को भी न उत्कट वैराग्य व्याप्त हुआ था। ऐसे पुरुष उस राजा की शंका का समाधान ही नहीं कर सकते थे, तो परोक्ष का अपरोक्ष दर्शन तो करा ही कहां से सकते थे?

अपर अष्टावक्र मुनि का आगमन

पर एक समय साक्षात् अपर अष्टावक्रयोगी तपस्वी, मुनि, संत का रूप धारण किये इस राजा की सभा में पधारे। उनका तेजोबल देखते ही राजा दिङ्मूढ़ हो गया, संभ्रम में पड़ गया तथा तुरंत अपने आसन से उठकर उन ऋषि के चरणों पर दंडवत् पड़ा। फिर अर्ध्य पाद्य से उनकी पूजा कर, दोनों हाथ जोड़कर बोला—"हे महात्मन्! हे देवेश! आप भले पधारे! कहिये मैं आपकी क्या सेवा करूं? यह दास आपके चरण सेवन में अपने जन्म को सार्थक समझता है!'

अपर अष्टावक्र ने कहा—"हे राजन्! मैं तुझे ईश्वर का साक्षात्कार कराने आया हूं!"

राजा ने कहा—"हे मुने! आप मेरी प्रतिज्ञा जानते हैं! जो कोई मुझे ईश्वर

का साक्षात्कार करावे, उसे अपना सारा राजपाट तथा सकल वैभव विभूति सौंप देने को मैं तैयार हूं। पर जो दंभ से, कपट से अथवा छल से मुझे ठगने का प्रयत्न करता है, उसे मैं सदा के लिये कारागार में भेज देता हूं!"

अपर अष्टावक ने कहा—"हे राजन्! अपना राजपाट अपने पास रहने दो, मुझे उसकी कामना ही नहीं। कारागृहवास कराना यह तेरे लिये अति कठिन कर्म है! मुझ संत को तो राजमंदिर और कारागृह समान ही है। पर प्रथम तू प्रश्न पूछ और अपनी कामना को सफल कर तथा शीघ्र, तूने मूर्खता से जिन अनेक महात्मा पुरुषों को कारागृह में रख छोड़ा है, उनको मुक्त कर।"

राजा ने दोनों हाथ जोड़ कर पूछा—"हे सतं पुरुष! क्या परमात्मा है? उसे आप जानते हो?"

अपर अष्टावक्र बोले—"हां है, और मैं उसे जानता हूं!"

राजा बोला—"हे कृपासिंधो! जो आप परमात्मा को जानते हो तो मुझे दर्शन कराओ!"

मुनि ने कहा—"हे राजन् मैं तुझे दर्शन कराऊंगा, पर मैं जो आज्ञा करूं सो तू सुन! आज से आठवे दिन अपने नगर के शिष्ट पुरुषों की एक सभा कर और जिन संत महात्मा पुरुषों को कारागार में कैद कर दिया है उनको उस सभा में आने का निमंत्रण कर। उन सबके समक्ष तुझे ईश्वर का साक्षात्कार कराऊंगा!"

राजा ने प्रणाम करके मुनि की आज्ञा स्वीकार की। आठवें दिन आने की प्रतिक्षा कर वह मुनि तत्काल वहां से अन्तर्धान हो गये।

आठवें दिन प्रभात में राजा ने बड़ी सभा की। नगर के सेठ साहूकार, पंडित, जौहरी, अधिकारी तथा सामान्य लोगों से सारा दरबार—सभामंडप भर गया। एक तरफ कारागार में भरे हुए सब महात्मा भी विराजमान थे। वे भी 'कारागार में से मुक्ति मिले,' इसके लिये प्रार्थना करते थे कि 'वह परमेश इस महात्मा को यश दे।' सभामंडप के मध्य में ऊंचे सिंहासन पर अपर अष्टावक्र मुनीश्वर विराजमान थे। उनके मुख चंद्र के प्रकाश से सभामंडप प्रकाशित हो रहा था। उनकी तेजस्वी मूर्ति देखकर सब दिङ्मूढ़ हो गये थे। उनके मुँह से अस्फुट ॐकार का जप हो रहा था। मानों 'राजा का समाधान करने को साक्षात् शंकर ही पधारे हों,' ऐसी उनकी आकृति शोभायमान थी।

सभा भर गयी। महात्मा के मुख में से क्या शब्दोच्चारण होता है, यह सुनने को जैसे चकोर पक्षी चंद्रमा के सामने इटकट देखता है वैसे सबकी दृष्टि उन्हीं की ओर थी। चोबदार ने नेकी पुकारी। सर्वत्र शान्ति व्याप गयी। तब

राजा बोला–"हे महापुरुष! हे योगीन्द्र! मुझे परमात्मा का साक्षात्कार कराओ!"

योगीन्द्र ने कहा–"हे राजन्! जरा धीरज धर, प्रथम सभा में बैठे हुए हीरा, मोती, माणिक, पन्ना के परीक्षक जौहरियों को मेरे पास बैठाल!"

तुरंत ही जौहरी उनके आगे लाकर बिठा दिये गये। इसके पीछे उन महात्मा ने राजा के कंठ में पहने हुए हीरे का हार तथा दूसरे सामंत तथा मंत्रियों के कंठ में पहने हुए माणिक, रत्न, नीलम, पन्ना के हार लिये और समीप बैठे हुए जौहरियों से कहा–"हे महाजनों! आप जवाहिरात की परीक्षा ठीक-ठीक कर सकते हो?"

जौहरियों ने कहा–"हां महाराज!"

फिर योगीन्द्र ने सब हार कंठे आदि उनको देकर कहा–"इनकी परीक्षा करो।"

जौहरियों ने एक-एक हार हाथ में लेकर कहा कि 'इसमें अमुक-अमुक हीरा लाख-लाख रत्ती का है, उसकी कीमत पच्चीस लाख की है, अमुक हीरे का मूल्य दश लाख से कम नहीं, अमुक लाल अनमोल है, अमुक नीलम ऐसा है कि उसे सौ रुपये में भी कोई न ले,' ऐसे जुदा-जुदा हीरा, मोती, माणिक, लाल, नीलम की कीमत बतायी, वैसे ही उन जवाहरों की उत्तमता तथा कनिष्ठता का भी बहुत विवेचन किया।

योगीन्द्र ने जौहरियों से कहा–"इस लाल नीलम की परीक्षा तुम बराबर कर जानते हो?"

जौहरियों ने कहा–"हां महाराज!"

योगीन्द्र ने कहा–"आप हमको अभी यह परीक्षा सिखा दो!, तुम नहीं सिखाओगे तो चाण्डाल के हाथ से तुम्हारा सिर कटवा डालूंगा!"

ऐसा कहकर तुरंत योगीन्द्र ने ऐसी भंयकर मुखमुद्रा धारण की कि जौहरी घबड़ा गये, सभा आश्चर्य में पड़ गयी। राजा विचार में गोते खाने लगा। भूदेव मन में विचार करने लगे कि 'यह योगिराज राजा को किस प्रकार परमात्मा का साक्षात्कार करावेंगे!' जौहरी एक दूसरे के मुँह की ओर टकटक देखते विचारने लगे कि, 'अभी की अभी रत्नपरीक्षा कैसे सीख सकते हैं? यह कैसे हो?' जौहरियों को थोड़ी देर आपस में बातचीत करते देख योगीन्द्र ने क्रोधमुद्रा धारण करके कहा कि "अबे जौहरियों! हमको सिखाते हो कि नहीं? अभी की अभी हमको जवाहिरात की परीक्षा सिखाओगे नहीं तो अभी तुम्हारा सिर कटवा डालूंगा!" ऐसा कह कर अपने पास की एक लाठी उठा कर बोले कि "सिखाते हो कि नहीं?"

दूसरे जौहरी तो थरथर कांपने लगे, पर उनमें से एक वृद्ध और हिम्मत वाला जौहरी बोला—"महाराज! आपकी इच्छा है तो अभी सिर कटवा दीजिये, पर अभी की अभी हम आपको यह रत्न परीक्षा सिखाने को असमर्थ हैं। लाल, नीलम की परीक्षा करते-करते हम सफेद हो गये (वृद्ध हो गये) तो भी पूरी-पूरी परीक्षाशक्ति अभी हम ही में नहीं है, तो जिसने कभी लाल नीलम देखे ही नहीं, उसे तुरंत यह परीक्षा कैसे सिखा सकें और वह कैसे सीख सकता है!"

पर महाराज तो हठ कर बैठे कि "अभी-अभी सिखाओ और अभी इसके न्यूनाधिक मूल्य का कारण भी समझा दो, नहीं तो सिर कटवा डालेंगे" और अपने हाथ में का वज्र दंड उठा कर उस जौहरी के मस्तक पर प्रहार पर प्रहार करने को तत्पर हो गये।

महाराज की इस युक्ति का भेद राजा समझ न सका, मुनि को अत्यन्त क्रोधित हुए देखकर राजा भी थरथरा गया और मन में घबड़ाया कि, 'कहीं बाबाजी एकाध का सिर न फोड़ डालें।' तब राजा हाथ जोड़ प्रणाम करके बोला—"हे महाराज! अभी तुरंत आप हीरा, मोती, माणिक, लाल नीलम के मूल्य का भेद, उत्तम और अधमपना कैसे सीख सकेंगे? इनकी परीक्षा शक्ति आपको तुरंत कैसे आ सकती है? इसके सीखने और भेद जानने के लिए बहुत वर्ष चाहिये। इन जौहरियों के बाप दादे से रत्नपरीक्षा का धंधा है तथा बालकपन से परखना सीखते हैं तो भी अभी पक्के परीक्षक नहीं हुए। तो आप जिन्होंने कभी ही कभी रत्न देखे हैं! उन आपको अभी ये कैसे सिखा सकें?"

योगीन्द्र ने कहा—"हं! ऐसा है! अच्छा! इस जड़ पदार्थ की परीक्षा सीखने को बहुत काल चाहिये, अभी की अभी उसकी विद्या नहीं पढ़ी जा सकती, इस भेद का साक्षात्कार अभी का अभी न हो सकेगा, ऐसा?"

राजा ने कहा—"हां, महाराज! इस भेद को जानने और समझाने को बहुत काल चाहिये। अनेक प्रकार के भारी, हलके, बड़े, छोटे, लाल नीलम देखते-देखते इनकी परीक्षा शक्ति प्राप्त होती है, तब उनकी ऊंची नीची किमत जानी जाती है।"

महाराज को तो इतना ही चाहिये था। राजा के मुख से यही वचन कहलाना था। फिर सौम्य दृष्टि धारण करके डरते कांपते जौहरियों को शांत करके योगीराज बोले—"हे राजन्! कुछ समझा? तुझे अपनी मूर्खता का कुछ भान होता है? यह नाम रूप रंग वाला एक जड़ पत्थर है, जिसे दृष्टि से यह समाज देख सकता है, ले सकता है, परख सकता है, जब उसकी परीक्षा शक्ति भी अभी की अभी बतलायी और समझायी नहीं जा सकती, तो जो परमात्मा.

सच्चिदानंद, प्रभु, जिसके समान कोई नहीं-जिसका रूप नहीं, रंग नहीं, नाम नहीं, जो केवल अद्वितीय ही है, इस चर्मचक्षु से दिखायी नहीं देता, ऐसा जो है-जो शब्दातीत है, रूपातीत है, इन्द्रियातीत है, जिसको वेद 'नेति नेति' कहते हैं, उस परमात्मा का तुझे अभी का अभी साक्षात्कार कराना यह कैसे हो सकता है? अरे मूढ़! तूने ये अनेक संत महात्मा पुरुष अपनी मंद बुद्धि से कैद किये हैं, इसका क्या कारण? अभी और अभी इन सब महात्माओं को मुक्त कर और फिर मैं तुझे ईश्वर का दर्शन कराऊंगा।''

राजा बुद्धिमान था। उस महात्मा के वचन के मर्म को भली-भांति समझ सका। उसने अपने मन्त्रियों को बुलाया, सब संत महात्माओं को उनकी योग्यतानुसार सत्कार करके संतोष देकर कारागृह से मुक्त किया।

सभा का विसर्जन हुआ। पर महात्मा के वचनामृत का पान करने के लिये सब बैठे रहे। कोई बालक भी वहां से नहीं गया। मुनिराज तो अपने जप में लीन थे। उनके आगे राजा ने हाथ जोड़ कर कहा—''हे महात्मन्! हे योगीन्द्र! आप मेरी कामना का तृप्त करो! ईश्वर का मुझे साक्षात्कार कराओ।''

थोड़ी देर मौन धारण करके महात्मा बोले--''हे मूर्ख राजन्! अभी तेरे मन में यह घमंड रहा है कि 'ईश्वर का साक्षात्कार क्षण में हो सकता है!' अरे अल्पमति जिज्ञासु! 'ईश्वर का साक्षात्कार होना,' यह कुछ सहज नहीं। जब तक तेरी मानसिक मायिक वृत्ति नहीं फिरेगी, दिव्य नेत्र न प्राप्त होंगे, तब तक ईश्वर का साक्षात्कार तुझे हो नहीं सकेगा? ईश्वर नेत्रों का विषय नहीं, प्रेम का-ज्ञान का विषय है। इसलिये तू ज्ञान प्राप्त कर। ज्ञान से तुझे ईश्वर का साक्षात्कार होगा। ज्ञान से ही अज्ञान के कर्म मात्र की निवृत्ति होती है। कर्म का हेतु 'अध्यास' है। अध्यास 'अन्यथाबुद्धि।' रज्जु में सर्पबुद्धि होना, सीप में चांदी की बुद्धि होना, नाशवंत में अविनाशी बुद्धि होना, यह अध्यास का स्वरूप है। इस अध्यास का कारण 'अविद्या' है। अविद्या का बोध करने के लिये 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्यों का जहां तक विशुद्ध हृदय से अहंकारवृत्ति रहित होकर ज्ञान न हो, तब तक अविद्या का नाश होता नहीं। अविद्या का नाश और विद्या की प्राप्ति होते ही ईश्वर-परमेश्वर-परमात्मा का साक्षात्कार होता है। सूर्य से अंधकार का नाश होने के पीछे चाहे जैसे जोर से अधंकार दौड़े, पर सूर्य के प्रकाश का नाश नहीं कर सकता, उसी प्रकार परा विद्यारूपी सूर्य का हृदय में संपूर्ण प्रकाश व्यापने पर अपराविद्यारूपी अज्ञान उसके हृदय में टिकता नहीं। पर इस परा विद्या को प्राप्त करने के लिये जैसे इन जड़ पदार्थ हीरा, मोती की परीक्षा करना सीखने के लिये सारी आयु चाहिये तथा बहुत अभ्यास चाहिये। वैसे ही

शब्दातीत और इन्द्रियातीत परम पुरुष को देखने के लिये बहुत अभ्यास चाहिये। शब्दातीत और इन्द्रियातीत परम पुरुष को देखने के लिये थोड़ा काल, थोड़ा साधन प्राप्त किया हुआ जीव.कैसे दर्शन कर सकता है यह कह! जैसे हीरे की परीक्षा सीखने से नहीं सिखाई जाती बल्कि वह अपने श्रम से स्वदृष्टि से ही सीखी जाती है, उसे सीखने वाले बहुत समय में सीख सकते हैं, वैसे ईश्वर दर्शन भी बहुत श्रम, बहुत कष्ट, श्रवण, मनन और निदिध्यासन से ही, शुद्ध प्रेम से ही हो सकता है। यह विद्या प्राप्त करने वाले ही परब्रह्म, परमात्मा, शिव, सच्चिदानंदघन, प्रभु, कृष्ण, राम, नृसिंह का साक्षात्कार कर पाते हैं। हे मूढ़ राजन्! इस सबका स्वल्प भी विचार किये बिना इन महात्मा पुरुषों को तूने अपार दुःख दिया, क्लेश कराया, इस तेरी मूढ़ता का मैं क्या वर्णन करूं?''

शान्ताकार की कथा

पूर्व काल में तेरी ही भांति एक मूर्ख राजा था। 'किसी एक संत ने उसको

'शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशम्'

इस श्लोक का चाहे जैसा भारी पंडित आवे तो भी तीन वर्ष के भीतर अर्थ नहीं समझा सकता, ऐसा कहा।' उसका मर्म न समझते हुए, 'इस सरल श्लोक का पंडित भी अर्थ नहीं समझा सकेंगे' ऐसे ही उस मूर्ख के मन में समा गया, इससे जितने पंडित उसकी सभा में आवें उनसे पूछने लगे कि 'शान्ताकारं॰' इत्यादि का अर्थ क्या? अर्थ तो सुगम था। परंतु राजा में उसके सत्यासत्य की परीक्षा करने की शक्ति न थी, इससे वह राजा तेरी तरह ही 'पंडितों को झूठा, कुछ आता नहीं,' ऐसा कहकर कैद कर देता।

एक समय कोई व्यवहारकुशल पंडित उस राजा के पास आया और उसने राजा से कहा—''हे राजन्! तू बहुत चतुर और विचक्षण है। इस श्लोक का अर्थ भली-भांति समझाने के लिये आज से तीन वर्ष चाहिये।''

राजा के हृदय की बात ही उसने कही। 'अहो! यह कोई पूर्ण पंडित मुझे मिला,' ऐसा राजा ने माना।

उसको प्रणाम कर राजा बोला—''हे भूदेव! आप कृपा कर मुझे इसका अर्थ समझाओ।''

तब वह विवेकचतुर पंडित राजा को कौमुदी* पढ़ाने लगा। जब राजा ने तीन वर्ष व्याकरण पढ़ा तब वह 'शान्ताकारं॰' का अर्थ करने बैठा। उसने क्या देखा?

* व्याकरणशास्त्र।

कारागार में पड़े हुए पंडितों ने जो अर्थ किया था, वही अर्थ उसको दृष्टिगोचर हुआ।

फिर विवेकचतुर पंडित की ओर देखकर वह बोला–"पंडितजी! इन विद्वानों ने मेरी सभा में 'शान्ताकारं.' को जो अर्थ किया है वही अर्थ इस श्लोक का पढ़ने से समझ में आता है। अरेरे! उस धूर्त साधु के भुलाने से 'इस श्लोक के समझने में तीन वर्ष लगते हैं,' ऐसा मान कर मैंने अनेक पंडितों का अपनी मूर्खता से कारागार में व्यर्थ रखा है?"

विवेकचतुर पंडित ने कहा–"हे राजन्! वह साधु धूर्त न था, बल्कि निपुण था। अज्ञानमात्र से तेरी बुद्धि चंचल है, इसी से तू उसके कहने के मर्म को समझा नहीं था। 'शान्ताकारं भुजगशयनं.' इस श्लोक का अर्थ करने को तुझे तीन वर्ष चाहिये, कारण कि तू व्याकरण आदि से अज्ञान था; पर पंडित तो पढ़े हुए थे, इससे उनको तो इस श्लोक का अर्थ सुगम ही था। व्याकरण का तुझे अभ्यास हुआ और उसका अर्थ आज तू कर सकता है, इसी से तू जान सकता है कि उस साधु की इच्छा तुझे सच्चा अर्थ सिखाने की थी। राजा होकर तू देववाणी से अज्ञात रहे, यह शोभा नहीं देता। तुझसे पढ़ने को नहीं कहा और इस युक्ति से तुझे पढ़ाया और तू स्वतः अर्थ करे, यहीं उस महात्मा का लक्ष्य वचन था।"

अपर अष्टावक्र ने कहा–"हे राजन्! ईश्वर का साक्षात्कार होता है, पर उसके लिये और कहीं तलाश को जाने की आवश्यकता नहीं। 'कोई बतावे अभी उसका दर्शन होता,' यह तो अज्ञान ही है, तू अपने हृदय में देख! यह ईश्वर वहीं विराजमान है। मेरी तरफ देख! यहां भी है। पर दर्शन करना सीखना चाहिये। यथार्थ देखने वाला ही ईश्वरदर्शन-ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है।"

राजा ने पूछा–"हे महाराज! परमात्मा को मैं अपने हृदय में देख नहीं सकता, इसका कारण क्या?"

अपर अष्टावक्र ने कहा–"अन्नमयादि कोष के आकार से रहती हुई अविद्याशक्ति जब तक विद्यमान होती है, तब तक जीव शिव का भेदव्यवहार विचरता है। यह अविद्याशक्ति जब निवृत्त होती है तब जीव शिव का भेद निवृत्त होता है और भेद निवृत्त होने पर सर्वत्र विकल्परहित आत्मस्वरूप प्रकाशता है। यह शक्ति पाने के लिये पुरुष को जगत् की सब उपाधियों का लय करना चाहिये, वासना मात्र का त्याग करना चाहिये, सर्व दृश्य पदार्थों के ऊपर विचार से मिथ्या दृष्टि करनी चाहिये तथा जब वस्तु का अभाव हो जाय और कुछ भी शेष न रहे, न माया-न वासना-न कामना और न कर्मफल की आसक्ति, तब ईश्वर का दर्शन होता है-अर्थात् केवल ही कर्म संन्यास प्राप्त हुए साक्षात्कार सिद्ध होता है। सर्व

उपाधिरहित स्वयं प्रकाश चैतन्य स्वरूप प्राप्त होते ही जब कुछ भी शेष नहीं रहेगा, न मालुम पड़ेगा तथा 'यह नहीं, यह नहीं' ऐसा देखते-देखते अन्त में जो कुछ शेष रहेगा, वही परमात्मा का स्वरूप है, वही ब्रह्मरूप है। वही अर्जुन का देखा हुआ साक्षात् श्रीकृष्ण का विराट विश्वव्यापी स्वरूप है। कुशाग्र बुद्धि का जीव ही इस ईश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार कर सकता है। समुद्र का उलीचना जैसे कठिन काम है, तो भी महाप्रयत्न से समुद्र भी उलीचा जा सकता है, इसी प्रकार जो जीव खेद पाये बिना, मन का निग्रह करके कर्माशक्ति का त्याग कर, अज्ञान को परे कर, समानपने से जगत् में विचरता है, सब कर्मों के फल का संन्यासी बन, देहधारी होते हुए भी विदेहीपन से विचरता है, वही परम पुरुष का प्रेमी बन रहता है, वही नैष्ठिक प्रेमी परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है। यह साक्षात्कार करने के लिये संकल्प का संन्यास करके, भगवत्परायण हो, द्वैतमात्र का त्याग करना चाहिये, भोक्ता होने पर अभोक्ता होना चाहिये, शुभाशुभ, लाभ हानि सबमें समानवृत्ति रखनी चाहिये, राग द्वेष से विमुक्त होना चाहिये, चित्तवृत्ति का निरोध करना चाहिये, मन का नाश करना चाहिये और शमादिक गुणसंपन्न बनना चाहिये। इस स्थिति को प्राप्त होने में अपना पुरुषार्थ ही काम आता है। अपने पुरुषार्थ से ही साक्षात्कार हो सकता है। अन्य कोई ईश्वर का साक्षात्कार नहीं करा सकता। जैसे शरीर का रोग आप ही ओषधि पिये बिना और पथ्य किये बिना नहीं जाता, जैसे आपको लगी हुई भूख आप ही भोजन किये बिना शान्त नहीं होती, वैसे ही ईश्वर--परमेश्वर--परमात्मा-ब्रह्म का साक्षात्कार स्वयं साधन किये बिना हो नहीं सकता और कोई करा भी नहीं सकता। जैसे हीरे की परीक्षा स्वयं सीखे बिना नहीं सीख सकता, उसी तरह परमेश्वर के साक्षात्कार के लिये रागद्वेषादि से पूर्ण ऐसे इस संसार को स्वप्नतुल्य जानना चाहिये। परमात्मा की गुणमयी दैवी माया का त्याग करके जैसे कीड़ा भ्रमरी के डंक से भ्रमरी का ही स्मरण किया करता है तथा अंत में भ्रमरी ही बन जाता है, वैसे ही जो जीव परमात्मा को प्रसन्न होने के लिये रात दिन परमात्मा का ही भजन (रटन) करता है, वही परब्रह्म का दर्शन कर सकता है, अन्य नहीं। किसी के सिर पर बोझा हो तो उस भार को उतार कर उसको सुखी किया जा सकता है, किसी को भूख लगी हो तो उसे भोजन कराकर तृप्त किया जा सकता है, पर परमात्मा के साक्षात्कार में और कोई सहाय नहीं कर सकता। जो परोक्ष भी नहीं, जो प्रत्यक्ष भी नहीं, जो अनुमान का विषय नहीं, जो प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं, जो मापरहित है, रूप नहीं, रंग नहीं, आंकार नहीं पर जो सत्यज्ञानमय अनन्त 'ब्रह्म' ऐसा स्वयं प्रकाश आनन्दघन चैतन्यस्वरूप है, उस रूप को 'दासोहऽम्'

इसका सदा विचार करने से ही देख सकता है, इसका मार्ग दर्शक मात्र गुरु ही है। यह रूप मोटा या पतला नहीं, ऊंचा नहीं, नीचा नहीं, यह एक स्थान में नहीं, पर अनेक़ स्थान में है। यह जन्म, मृत्यु, जरा से बाधरहित है, यही इस सृष्टि को उत्पन्न करता है, पालता है और संहार करता है। यह निर्गुण होने पर भी सगुण है, निराकार होते हुए साकार है, परोक्ष होते हुए भी अपरोक्ष है। 'यह काष्ठ, पाषाण या धातु की मूर्ति ही में है' ऐसा नहीं, यह रूप उपाधिरहित होकर भी सोपाधि है। यही इस जगत् की लीला मात्र का विस्तार करता है, यही काम्य कर्म का और निषिद्ध कर्म का निवारक है, यही प्रकाशक भी है और अप्रकाशक भी है। यह द्वैत रूप से प्रकाशता है और अद्वैत रूप से लीला विस्तार करता है। यह भक्तों के हृदय में सर्वकाल चिरस्थिर बसा हुआ है और अभक्त जन का शासन करने में उत्सुक है। इसी से भूतमात्र जन्मते हैं, जन्म के पीछे जीते हैं, तथा जीव मात्र इसी में प्रवेश पाकर लीन होते हैं। यही परमेश्वर, यही ब्रह्म, यही श्रीकृष्ण, यही श्रीराम है। इस स्वरूप का दर्शन परम निष्काम प्रेम से ही होता है। अजामिलादि को इस स्वरूप का दर्शन परम प्रेम के योग से ही हुआ था। रूपातीत के इस रूप में बालकपन, जवानी, बुढ़ापा नहीं। वह एक देश या एक काल में नहीं होता, वह तो एक ही स्वरूप धारण करके रहता है और भिन्न-भिन्न स्वरूप भी धारण करता है तथा जैसे यंत्र से चलती हुई कल अपने स्वरूप या वेग को नहीं बदलती, वैसे ही यह अपने एक स्वरूप को ही तीन काल में धारण करके रहता है और नये रूप में भी दर्शन देता है। यही परमात्मा परमेश्वर है। ऐसे परमेश्वर का देखना सरल नहीं। जो जीव परम श्रद्धावान, पूर्ण प्रेमी है, जो शमादिक षड्गुण संपन्न है, वैसे ही जो जीव इस जगत् के अनेक कार्यों में प्रवृत्त होकर भी उसी की लौ में, प्रेम में चकनाचूर है-लवलीन है, उसी को परमात्मा का साक्षात्कार होता है। यह परमात्मा तुझसे दूर नही, बल्कि तेरे सम्मुख ही है, तुझमें ही है, लेकिन शुद्ध प्रेमी हुए बिना उसका दर्शन होगा नहीं।"

राजा उनको प्रणाम करके बोला—"हे महाराज! इस स्थिति को मैं अभी प्राप्त नहीं हुआ। आप मेरे गुरु होकर मुझे उपदेश करो! यह राजपाट, धन, धान, ग्राम, विलास, वैभव, रानी, कुमार, किसी की भी मुझे इच्छा नहीं। हे दयासिन्धो! मेरे ऊपर करुणा करके मुझे अपनी शरण में लीजिये। किसी जन्मजन्मान्तर के मेरे सुकृत के कारण आप पधारे हैं तो कृपा करके मेरी वासना के वेग को टाल कर मुझे इस जगत् की उपाधि से मुक्त करो। मुझमें जो कमी हो उसे दूर करके, भवसागर से मुझे मुक्त करो। 'बाहर के विषयों को तथा अंदर के अहंकार को त्याग करने

में मैं समर्थ होऊं,' ऐसी मेरी वैराग्यवृत्ति हो, ऐसा मुझे उपदेश कर, मुझे अपने चरणों में लीजिये।"

अपर अष्टावक्र मुनि ने कहा—"हे राजन्! अनात्मपदार्थ का चिंतन जो मोहरूप और दुःखमय है, उसका तू सदा के लिय त्याग कर दे तथा जिस शुद्ध पवित्र स्वरूप पर तुझे प्रेम श्रद्धा हो, उसका ही तू नित्य चिंतन किया कर और 'स्वयंप्रकाश, सर्व के साक्षीरूप परमात्मा तेरे हृदय में प्रकाश कर शुद्ध सात्त्विक रूप से दर्शन दें,' ऐसी भावना किया कर। यह भावना दृढ़ होने तक जितना प्रयास हो उतना कर, अहंकार का नाश कर, जगत् में उदासीन बनकर विचर। जब तेरी भावना दृढ़ होगी तब ही तत्काल नित्य, अविनाशी, अव्यक्त परमात्मा का तुझे साक्षात्कार होगा। इस तेजःपुंज रूप का दर्शन होने के लिये प्रथम शम का सेवन कर। शम अर्थात् मनोनिग्रह—मन को इधर-उधर जाने से रोक, उसको पराजित कर अपनी आज्ञानुसार उसको वर्ताने की शक्तिवाला हो और देख कि वह तेरी आज्ञा के पालन में तत्पर है कि नहीं। मन को जीतकर इन्द्रियों को जीत। उनको जीतकर उपरति का सेवन कर। कामना मात्र के त्यागने की इच्छा कर। सब कामनाओं को जलाकर भस्म कर। फिर तितिक्षा का सेवन कर और परम वैराग्यशील हो। फिर पूर्ण श्रद्धावान् बन। गुरु के वचन पर शंका छोड़ विश्वास कर। 'उनके वचन को ही परम मान्य गिनने से ही जीव का कल्याण है।' इतनी दशा सुधारने के पीछे तू मुमुक्षु दशा को प्राप्त होगा और तब ही तुझे परमात्मा का साक्षात्कार-अपरोक्ष दर्शन होगा। स्मरण में रख कि वह शब्दातीत है,' पर उसका ज्ञान शब्द से ही होता है। 'गीता, उपनिषद्, वेदान्तसुत्र आदि शब्द हैं।' इन शब्दों से परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। मुमुक्षु दशा को प्राप्त करते समय जो स्थिर न हो सको तो रूप का सेवन करने लगो। ऐसा करने में हानि नहीं। ऐसी शंका न करना कि 'प्रभु तो रूपातीत है, इसलिये उसका ज्ञान इस रूप से कैसे होगा।' जैसे शब्दातीत का ज्ञान शब्द से होता है, वैसे ही रूपातीत का ज्ञान रूप से होता है। क्यों न होगा? ऐसी दृढ़ मति से उसी रूप में सब इन्द्रियों को लगा कर देखो कि 'यही रूप ईश्वर है' ऐसी दृढ़ श्रद्धा और अचल प्रेम होते ही साक्षात्कार होगा। इसमें लेश मात्र भी शंका नहीं। इसी रूप में से परम प्रभु का दर्शन होता है। केवल तेरी दृष्टि नूतन दिव्य होने की आवश्यकता है। इस व्यवहार में रह कर तू प्रभु के दर्शन करने को कैसे समर्थ हो? इसका दर्शन कौन कर सके? इस स्थिति को प्राप्त हुए को तेरे समान राजैश्वर्य की क्या परवाह, कि तेरे समाधान के लिये तेरे पास आवे? जिसको तोष या रोष की परवाह नहीं, जो तीन लोक के स्वामी की सेवा में तत्पर है, तीन लोक का ही

स्वामी है, उसको तेरे राज पाट की क्या परवाह है? तू स्वंय ही परम प्रेम करने वाला बन और उक्त क्रम-शम दमादि साधन के क्रम से सेवन साधन कर। तुझे साक्षात्कार होगा। अपनी आराध्य मूर्ति में एक लक्ष्य होने से तुझे साक्षात्कार होगा। पर अनन्य एक लक्ष्य से-अन्य से नहीं। यह मूर्ति ही परम पुरुष है।''

यह कह कर तुरंत ही अपर अष्टावक्र अन्तर्धान हो गये। दरबार विसर्जित हुआ। तब से राजा ने उस महात्मा के उपदेशानुसार, राजपाट, धन धाम, ग्रामादि के ऊपर से अपनी अहंकारवृत्ति को हटा लिया और वह अपने इष्ट, प्रेममूर्ति, परम पुरुष परमात्मा, श्रीकृष्णचन्द्र का शुद्ध मन से दिन रात ध्यान धरने लगा। जब तक उसकी अहंकारवृत्ति नष्ट न हुई, तब तक उसने कर्मकाण्ड का त्याग नहीं किया बल्कि पूजन, अर्चन, स्मरण पादवंदन आदि क्रिया वह करता था। ऐसे करते-करते बहुत दिनों में उसकी ऐसी भावना दृढ़ हो गयी। अपने इष्ट उपास्य के बिना अन्य के देखने को वह असमर्थ हो गया। श्रीकृष्ण का साक्षात्कार रूप उसके साथ बातचीत करने लगा। ऐसे करते-करते कालान्तर में वह आप ही श्रीकृष्णस्वरूप में लीन हो गया।

सिद्धाश्रमवासी शंकर स्वरूप महात्मा ने सुविचार को संबोधन करके कहा—''हे वत्स सुविचार! ईश्वर का साक्षात्कार करना, यह थोड़े काल का और थोड़े श्रम का फल नहीं। काल के काल तक जिन जीवों की भावना उसी परम प्रेम रूप में जब तक लीन नहीं होती, तब तक उनको प्रत्यक्ष साक्षात्कार नहीं होता। जो ज्ञान, जो श्रद्धा मैंने तुममें प्रकटायी है, उसका नित्य सेवन करने से और जीव की मलिन बुद्धि से उत्पन्न किये हुए जगत् के अभाव और अहंकार के नाश से, उपाधियों के त्याग से, जगत् के मोह माया, ममता के मरण से, वैराग्य, ज्ञान और भक्ति के सेवन से, स्वस्वरूप के निदिध्यासन से परमात्मा का साक्षात्कार होता है। साक्षात्कार होने के बाद जीव के सांसारिक मोह का लय हो जाता है तथा वह जीव इस संसार में रहता हुआ भी विदेह मुक्ति को ही भोगता है।''

महात्मा के मुख से ईश्वर के साक्षात्कार का ज्ञान प्राप्त करके सुविचार और छद्मलिंग महात्मा की समाधि का समय देख, उनको प्रणाम करके अपनी पर्णकुटी को बिदा हुए। महात्मा ने जो साक्षात्कार कराया, उससे वे ईश्वर के स्वरूप को अपने हृदयाकाश में निहारकर अपना अहोभाग्य मानने लगे।

ॐ

सप्तम बिन्दु

मननानन्द

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति। (मुण्डक 1-1-3)

प्रश्नः—हे भगवन्! किसके ज्ञान से इस (ब्रह्म) सबका ज्ञान होता है?

विचारतः।

उत्तरः—विचार से।

पूर्व दिशा में अरुणोदय हुआ है। भगवान् सूर्यनारायण के जगत को प्रकाशमान करने में अभी विलंब है। सांसारिक जीव नित्य नैमित्तिक कर्म में व्यावृत हो रहे हैं। सत्पुरुषों ने हरिभजन से दिगन्त पर्यत प्रदेश को गर्जित किया है। ऋषिकुमार स्वाध्याय की प्रवृत्ति में पड़े हैं। कई एक शिष्य आश्रम को झाड़ कर लीप-पोत कर, ऋषिसेवा में तत्पर बन गये हैं।

सुविचार तथा प्रकटप्रज्ञा उस सुप्रभात में परब्रह्म का ध्यान करते-करते जाग्रत हुए। यहां प्रकटप्रज्ञा अपने स्वामी सुविचार की सेवा में नित्य तत्पर रहती थी। वह स्नान कर पति की संध्यासामग्री तैयार कर उनके सामने आ बैठी। सुविचार परब्रह्म के ध्यान में निमग्न था। गुरु के कहे हुए पूर्व दिवसों के ज्ञान का मनन करता तथा 'गुरु के आश्रम में जाने को अभी विलंब है' यह विचार कर दंतधावन, स्नान, संध्यादिक नित्यकर्म से निपट कर प्रकटप्रज्ञा के समीप सद्गुरू द्वारा प्राप्त ज्ञान के रहस्य की चर्चा करने का विचार करता था। हरिनाम का जप करता हुआ वह जब प्रकटप्रज्ञा के समीप जा बैठा, तब प्रकटप्रज्ञा दोनों हाथ जोड़ उसके सामने बैठी। थोड़ी देर पीछे प्रकटप्रज्ञा ने कहा—"हे महात्मन्! हे देव! हे सुविचारशर्मन्! आप क्या विचार करते हैं?"

सुविचार ने कहा—"हे सुशीले! हे प्रिये प्रकटप्रज्ञे! हमारे ऊपर सद्गुरूदेव ने जो अपार कृपा की है, उसका ही केवल विचार करता हूं। अहो! हम लोगों के भाग्य का पार नहीं। बहुत समय व्यतीत होने पर और अनेक सद्गुरुओं का समागम करने पर भी जिस ज्ञान का संपादन करने के भाग्यशाली न बनते, वैसा ज्ञान संपादन करने के लिये आज हम भाग्यशाली हुए हैं। हमको उत्तम ज्ञान अनायास प्राप्त

हुआ है, इसके लिये हे देवि! मैं किसको धन्यवाद दूं? हे देवि! यह सब तुम्हारा ही प्रताप है। तुम जैसी प्रकटप्रज्ञा ने मुझे कर्म करने की प्रेरणा न की होती तो शंकर का तप कहाँ, दिव्य मणि की प्राप्ति कहां, दिव्य मणि के संयोग से अनेक दान पुण्य करना कहां, महात्मा मुनि का कुरुक्षेत्र में पधारना कहां, उनका ज्ञानोपदेश कहां, हम पर इन महात्मा का अनुग्रह कहां, मेरा हिमगिरि में आना कहां, इस दिव्य ज्ञान का प्राप्त होना कहां और इस ज्ञान के योग से जीवन्मुक्त दशा की स्थिति कहां! यह सब कहां था? 'यह सब हम लोगों के प्रारब्ध का बल है कि पुरुषार्थ का बल है।' यह समझने को मैं असमर्थ हूं। हे देवि! यह सब प्रताप तुम्हारा-प्रकटप्रज्ञा ही का है। जो खर्च करने से कम न हो, बोने से दूना हो, चोर चोरी न कर सके, लुटेरा लूट न सके,' ऐसा धन तुम्हारे द्वारा ही मुझे प्राप्त हुआ है। महात्मा ने जो महान् उपदेश किया है, उसी का मैं मनन किया करता हूं। इस आनंद में मुझे जगत् के सब आनंद क्षुद्र और स्वल्प जान पड़ते हैं। एक दिन उपदेश करते-करते महात्मा ने कहा था कि

"सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम्"

सन्तोष ही सर्व सुख का मूल है

यही सत्य है। इस जगत में जो जीव सन्तोषी नहीं वह जीव चोर लूटेरों की भांति दौड़ धूप ही करता रहता है तथा चाहे जितना प्राप्त करे तो भी उसकी तृष्णा को सन्तोष नहीं। उसको 'पारलौकिक साधन' सिद्ध करने का स्वप्न भी कहां से हो? वह तो लौकिक जंजाल में ही इस अमूल्य मनुष्यशरीर को गँवा देता है। रोना, पीटना, संग्रह करना, खाना, खेलना, सोना और की अधिकता देख ईर्ष्या करना, अपनी अधिकता से अहंकार बढ़ना, नये खटराग लगाकर रगड़ना और रगड़ाना, प्राप्त पदार्थ पर सन्तोष न मानना और अप्राप्त के लिये झखना-बिलखना, असंतोष में लीन होकर बहुत से झगड़ों में पड़ना, यह इस जगत के अल्पज्ञ जीवों की नित्य की क्रीड़ा है। पर सन्तोष बिना सुख कहां? पुरुषार्थ बिना प्राप्ति कहां? आत्माराम बिना मोक्ष कहां? सद्गुरु बिना सत् असत का ज्ञान कहां? अज्ञानी जीव का स्वभाव ऐसा प्रबल होता है कि प्राप्ति में तृप्ति नहीं, पर नूतन-नूतन तृष्णा की जागृति होने देनी और अप्राप्य-दुर्लभ नाशवन्त पदार्थ पर प्रीति कर, उसके मिलने की आशा तृष्णा में मोहांध होकर, अधोगति के गड्ढे में पड़कर उसी में कृतार्थता माननी। यह आशा तृष्णा कैसी बुभुक्षित है, इसका मुझे अपरोक्ष दर्शन हुआ है। आशा तृष्णा में ही कृतार्थता मानने वाले को वह गोते खिलाने को ऐसा

मोहित कर देती है कि वह जीव न इस लोक का सुख पाता है और न परलोक के लिये पुण्यपुंज का संचय कर सकता है।

किसी एक मनुष्य को दैवयोग से सोने की मुहरों से भरे हुए पांच चरु (हंडे) मिले। इनसे तृप्त न होकर उसकी तृष्णा छः चरु प्राप्त होने ही हुई और छः चरु प्राप्त करने की आशा में उस तृष्णादास ने अपने सर्व सुख को त्याग कर बड़े कष्ट से धन कमाकर छठा चरु पूर्ण करने का प्रयास आरंभ किया। 'क्षुद्र जीव कितनी प्राप्ति कर सकता है?' जो द्रव्य उसने प्राप्त किया था, उसमें से दान धर्म करना तो अलग रहा, बल्कि उससे उपभोग करना भी छोड़ कर, वह जीव जो सुख भोगता था उसमें भी कमी कर दी। वह विशेष द्रव्य संग्रह की इच्छा से अनेक संकट सहन करने लगा। वह लंघन करे, स्त्रीपुत्रादि को न दे, अतिथि विमुख जायँ, इस बात की परवाह भी न करे, ऐसे छठा चरु पूर्ण करने की तृष्णा में अत्यन्त फँस गया, पर छठा चरु भरा नहीं। दैवेच्छा से चोर आकर पांच भरे हुए पूर्ण चरु और छठा अपूर्ण चरु चुरा ले गये। वह जीव ज्यों का त्यों भिखारी* हो गया। फिर वह छहों चरुओं के लिये रोने लगा।

तब एक महात्मा ने कहा—"अरे ओ मूढ़! तेरे पास धन था तब तूने किसी को दान दिया नहीं, धर्म किया नहीं, परमार्थ किया नहीं, अपने सुख को छोड़ तू तृष्णा में लीन रहा। विशेष धन मिलने के लिये तूने अपने सर्व सुख का नाश किया। यह धन मार्ग के इन कंकरों के तुल्य था। ऐसे निरुपयोगी धन का नाश हुआ है। उसका तुझे क्यों शोक होता है? 'जो जीव प्राप्त से तृप्त नहीं तथा अप्राप्त के लिये बिलखता रहता है, उसकी सदा यही गति होती है।' जीव को जो अपने आप अनायास प्राप्त हो, उसके ऊपर संतोष करना चाहिये। हे देवि! उद्यम हजार करो, पर कर्म बिन कौड़ी भी नहीं मिलती।

क्या प्रारब्ध श्रेष्ठ है?

नहीं, वह भी श्रेष्ठ नहीं। पूर्व जन्म में किये हुए कर्म इस जन्म में फलरूप में प्राप्त होते हैं, वही प्रारब्ध-दैव† है। पूर्व जन्म में किये हुए कर्म इस जन्म में विस्तार पाते हैं और प्रत्यक्ष होते हैं। जैसा कर्म होता है वैसी ही बुद्धि, वैसा ही व्यवसाय, वैसी ही प्राप्ति, वैसा ही फल, वैसे ही सहायक मिल जाते हैं। 'जिस

---

* दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥

† पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते।

जगह पर जीव को सुख या दुःख भोगना होता है उस जगह रस्सी में बँधे हुए बैल की तरह उसका भाग्य-प्रारब्ध-बलात्कार उसे घसीट ले जाता है।' पूर्वजन्म में उत्तम कर्म करने वाला उत्तम फल पाता है, अधम कर्म करने वाला अधम फल पाता है। 'जीव को अपना प्रारब्ध उत्तम करने के लिये सत्कर्म- उच्च कर्म करने चाहिये,' क्योंकि क्रमक्रम से यही सत्कर्म प्रफुल्लित होकर जीव को नये सत्कर्म के लिये उत्तेजित करते हैं। प्रारब्ध बिना फल प्राप्ति नहीं होती। दौड़ा-दौड़ी करने से फल प्राप्ति होती हो तो 'श्वान अत्यन्त दौड़ा दौड़ी करता है' और 'वृषभ बहुत पुरुषार्थ करता है,' पर उनको कुछ भी प्राप्ति नहीं होती। बल्कि, इस जन्म में किये हुए संचित कर्म का फल जीव को उसी समय आ मिलता है। इसलिये जीव को प्रत्येक क्षण ऐसे सत्कर्मों का संचय करना चाहिये कि जिनके संचय के परिणाम में उसके फल की उत्तम प्राप्ति हो। हे देवि! 'इस शरीर को जो उत्तम फल की प्राप्ति होती है, वह पूर्ण जन्म के सुकृत के परिणाम से हुई है।' ऐसा मैं मानता हूं! जो ऐसा न होता तो तुम जैसी पतिपरायणा स्त्री के मुख से धन की लालसा का उच्चारण नहीं होता। पर जैसे प्रारब्ध बलवान है, वैसे ही-

पुरुषार्थ भी बलवान् है

जैसे दो पहियों के बिना गाड़ी नहीं चल सकती, सृष्टि की वृद्धि जैसे एक से नहीं हो सकती, वैसे ही पुरुषार्थ तथा प्रारब्ध के बिना फल की प्राप्ति नहीं होती।* जीवरूपी एक गाड़ी को वहन करने के लिये दो चक्र हैं—'प्रारब्ध तथा पुरुषार्थ।' जीवरूपी गाड़ी एक पहिये से नहीं चल सकती। उसके चलाने को प्रारब्ध और पुरुषार्थ इन दो चक्रों की आवश्यकता है। इससे जीव दोनों की सहायता से ही संसारमार्ग को काटता है। पुरुषार्थ का आधार प्रारब्ध है और प्रारब्ध का आधार पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ के बिना प्रारब्ध फलता नहीं और प्रारब्ध के बिना पुरुषार्थ नहीं फलता। इस जगन्नगर में बसते हुए, अनेक जीवों का सत् असत् कर्मफल मैंने देखा है। बहुत पुरुष पुरुषार्थ के सेवक थे, विद्या में-विद्वान् थे, चतुराई में पारंगत थे, साहस में समर्थ थे, परंतु उनका प्रारब्ध निर्बल होने से यश भी प्राप्त नहीं हुआ। बहुतेरों का प्रारब्ध तेजस्वी होने पर भी वे जहां तक पुरुषार्थ के अधीन नहीं हुए, तब तक उनका प्रारब्ध प्रकाशित न हो सका। अपनी स्थिति का विचार करो। तुम्हारो वचन से दुःखित हुआ मैं शंकर का आराधन करने गया तो आज प्रकट शंकर के मुखामृत का पान करने के लिये हम भाग्यशाली बने हैं।

---

* यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्। एवं पुरुषकारेण बिना दैवं न सिद्ध्यति ॥

कर्म

जब तक जीव की आत्मा परमात्मा में संपूर्ण एक वृत्ति नहीं हुई, तब तक जीव से कर्म लगा-लिपटा ही रहता है। कर्म तथा उपासना करते-करते जब तक जीव की वासना सत्, चित्, आनंदघनमय होती नहीं, तब तक जीव को कर्म करना है तथा उस कर्म के भोग भी भोगने हैं। इससे जीव को नित्य ऐसे कर्मों का संचय करना चाहिये कि जो कर्म उसको निजानंद की ओर ले जाने में सहायक हों, कर्म और उपासना से ही जीव को अधिकारपद प्राप्त होता है। अधिकारपद प्राप्त हुए बिना ज्ञान की ओर दौड़ जाने वाला जीव उभय लोक से भ्रष्ट हो जाता है। जिस जीव को इष्टप्राप्ति की कामना है, उसे धीरे-धीरे कर्म की गौण कर उपासना को प्राधान्यपद देना चाहिये। जब तक जीव अकेले कर्म के खटाटोप में भटकता रहता है, तब तक मुक्ति के द्वार का उसको दर्शन भी नहीं होता, जैसे शरीरसंपत्ति संपादन करने के लिये, प्रथम विरेचन दिया जाता है, उसी तरह ब्रह्मानंदरूपी संपत्ति संपादन करने के लिये कर्म करना यह रेचन के स्थान पर है। निरोगी शरीर करने के लिये जैसे रोगनाशक औषधी दी जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मानंदरूपी संपत्ति प्राप्त करने के लिये रोगनाशक अर्थात् संसार के क्लेश तथा खटराग को नाश करने वाला और स्थिरता प्राप्त कराने वाला धर्म (कर्तव्य) तथा उपासना है। शरीर में जो अशक्ति प्राप्त हुई हो तो उसे दूर करने के लिये-कांचन के समान शरीर करने के लिये मालती, वसंत, चंद्रोदय आदि जैसे औषध हैं, वैसे ही ब्रह्मरूपी संपत्ति प्राप्त करने के लिये ज्ञानरूपी औषध लेना चाहिये। अकेले कर्म के खटाटोप में पड़े हुए जीव को सत् की प्राप्ति नहीं हो सकती। जैसे रेचन (जुलाब) लिया हुआ मनुष्य शरीर संपत्ति वाला नहीं हो सकता वैसे ही कर्मठ परब्रह्म के ज्ञानमार्ग की ओर नहीं जा सकता। पर जब तक जीव संसार में है तब तक उसको कर्म अवश्य कर्तव्य है। व्यवहार के कर्म निष्कामपन से करने चाहिये। इन कर्मों से अन्तःकरण की शुद्धि होती है, अधिक कुछ नहीं। पर 'जो कर्म में अकर्म* और अकर्म में कर्म देखता है वही बुद्धिमान् और सत्कर्मी है।' यज्ञ, दान, तप, आदि कर्म त्याग† करने योग्य नहीं, क्योंकि ये कर्म निष्पाप करने वाले हैं। पर कर्म से मोक्ष नहीं, मोक्ष तो ज्ञान से ही है, तथापि कर्म निष्प्रयोजन नहीं। दान,

---

* कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।

† यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥

पुण्य, जप, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, उपासन, यम, नियमादि बिना ज्ञानप्राप्ति नहीं होती तथा अन्तःकरण की शुद्धि के बाद चित्तशुद्धि की आवश्यकता है। चित्तशुद्धि उपासना से प्राप्त होती है। संसार में रहता हुआ जीव अर्थात् मोहमाया में फँसा हुआ जो जीव मोहमाया का उपासक होकर भी "अहं ब्रह्मास्मि, अहं ब्रह्मास्मि" बकता रहता है, वह इस लोक व परलोक दोनों से भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे उभयलोक भ्रष्ट जीव को अत्यन्त चाण्डाल गिनों। उसका सदा के लिये त्याग करना चाहिये।

कैसे कर्म करना?

अधिकारी जीव को ऐसे कर्म करने चाहिये कि कर्मों के संचय ये उत्तरोत्तर प्राप्त हुए जन्म में वह हुमा पक्षी की भांति ऊंचा ही बढ़ता जाय। जैसे-जैसे वह ऊंचा चढ़ता जायगा, वैसे-वैसे उसकी वासनाएं निर्बल होती जायँगी; संसार के खटराग से तथा जगत् के जंजाल से अति दूर होता जायगा। दैववशात् उसके अन्तःकरण के किसी कोने में रही हुई उस वासना का बल जोरावर हो, उसे नीचे गिराने का प्रयत्न करेगा, तो भी जैसे हुमा पक्षी के बच्चे पृथ्वी पर गिरने से पूर्व अंड़े में से सजीव होकर फिर ऊंचे उड़ जाते हैं, वैसे ही अधिकारी बना हुआ जीव वासना में फिर रगड़ने से पूर्व संसार में से मुक्त हो? ऊंचा ही चढ़ जायगा। ऐसे उच्च स्थान को पाये जीव के लिये परमात्मा ने–

सप्त भूमिकाएं

निर्माणं की हैं।

(1) किसी को उद्वेग न करना, पुण्यकर्म का सेवन करना, पाप से निर्लेप रहना, भोग की अपेक्षा न करना, मन, वाणी तथा कर्म से सत्पुरुषों का समागम करना और ज्ञान की अपेक्षा करनी, यह प्रथम भूमिका है। इसे योगभूमिका कहते हैं।

(2) निर्दोष अन्तःकरण रखना, सद्गुरु का आश्रय करना, मद मोहादि का त्याग करना, संत पुरुषों का समागम करना और उनकी वाणी का तात्पर्य ग्रहण करना, यह विचारनामक दूसरी भूमिका है।

(3) संतपुरुषों के प्रतिपादन किये हुए सिद्धांतों को बुद्धि में रख कर निश्चय कर पवित्र आचरण से रह के दृष्टि को जो जीव निर्मल करता है वह जीव असंसर्गा नाम की तृतीय भूमिका में पहुँचता है। इस भूमिका में प्रवेश किया हुआ जीव, मैं कर्तव्यभोक्तव्यरहित हूं। बाध्यबाधकरहित हूं, सुख दुःख प्रारब्ध कर्म से आता है

और जाता है, वह तो केवल ईश्वराधीन है, विषयभोग दावानलरूप हैं, संयोग वियोग के लिये है, संपत्ति परम आपत्ति है तथा चिंतादिक रोग बुद्धि से ही लगे हुए हैं,' ऐसे नित्य के विचार से चित्त को विषयमात्र से संकुचित कर जो जीव विषयों से असंग रहता है, वह सामान्य असंसर्गी है।

(4) उपरोक्त भावना को शुद्ध अन्तःकरण से त्याग कर जो मौन तथा शान्त है, वह श्रेष्ठ असंसर्गी है। जीव का जब इस तृतीय भूमिका में प्रवेश होता है तब अज्ञान की निवृत्ति होकर परम तत्त्व का अनुभव करता है और क्रम-क्रम से वह चतुर्थ भूमिका में प्रवेश करता है। इस भूमिका में प्रवेश किया हुआ जीव, कोई एकाध प्राणी, अपनी उपाधि दूर हो जाने के कारण जल में भी रह सकता है और स्थल में भी रह सकता है, वैसे ही अज्ञान, अविद्या, अहंकाररूपी उपाधि के दूर होने से वह जीव परब्रह्म धाम में जाने का अधिकारी होता जाता है। इस चतुर्थ भूमिका का नाम स्वप्नभूमिका है। स्वप्नभूमिका जीव जगत् को स्वप्नवत् देखता है।

(5) इससे श्रेष्ठ भूमिका में प्रवेश करने वाले जीव की वृत्ति सत्त्वगुणशील तथा बहुत बलवान् बनती है। वह जीवन्मुक्त है। अंतर्मुक्ति वाला है और बहिर्वृत्ति वाला भी है। यह सुषुप्ति भूमिका पंचम है। इस भूमिका में रहता जीव दिन प्रतिदिन अपनी वृत्तिस्थिति को संकुचित करता-करता जीवन्मुक्त की परिपक्क हुई दशा को प्राप्त होता है। इस स्थिति में वह नींद वश सा जान पड़ता है।

(6-7) स्थिति का परिपाक होते ही उसकी छठी तथा सातवीं भूमिका का उदय होता है। सातवीं भूमिका वाणी का अविषय-अगम्य है, सर्व भूमिकाओं का तेजोबिंदु है, जो जीव लोकवासना, देहवासना तथा शास्त्रवासना का त्याग कर, सब भ्रांति को दूर कर ॐकार को उसके सात्त्विक रूप में हृदय में धारण करता है, वह नित्य शुद्ध मुक्त विशुद्ध अद्वैत को पहुँच कर, परमात्मरूप चिदानन्द में अपना लय करता है।

निरभिमान की चोट

अब पांचवीं स्थिति को प्राप्त होने वाले जिज्ञासु को जगत् में रहने पर, जगत् के ही नहीं, बल्कि विश्व के 'अहम्' का त्याग करना चाहिये, विषय मात्र का वैराग्य करना चाहिये। जिसके प्रारब्ध कर्मों का संग्रह पुण्य के पुंज रूप है, तेजोराशि है, वही जीव इस स्थिति को प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है। गुरुमुख से श्रवण किया है कि कोई एक जिज्ञासु संत महात्मा ईश्वरपूजन में बँधा हुआ था। एक समय

उसने मार्ग में जाते हुए किसी अन्य संत के मुख से सुना कि–

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्त-देश-सेवित्वमरतिर्जन-संसदि॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्व तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥

स्वगुण की न प्रशंसा करना, न दंभ धरना, न हिंसा करनी, सहनशीलता, सरलता, आचार्यसेवा, बाह्यांतर शुद्धि, सन्मार्गनिष्ठा, संयम, इन्द्रियादि विषयों में वैराग्य और अहंकाररहित होना, जन्ममृत्यु जरा व्याधि में नित्य दोष देखना, पुत्र स्त्री गृहादि में प्रेम न करना, समचित्त रहना, हर्ष शोक न करना, परमात्मा पर दृष्टि कर एकांत भक्ति करना, एकान्त में वास करना, अज्ञानी से प्रेम न करना, आत्मतत्त्व में निष्ठा रखनी, ज्ञान का फल मोक्ष है यह जानना, यह सब ज्ञान कहा गया है तथा इससे विपरीत अज्ञान कहा है।

श्रीकृष्ण परमात्मा के इस वचन को सुनकर उस संत ने निश्चय किया कि 'पुरुष को अपना स्वरूप शुद्ध, निर्मल, उन्नत करने के अर्थ निरभिमानी, अदंभी, क्षमाशील, निष्कपटी होना चाहिये।' आज से मैं क्षमाशीलता धारण करूंगा। उक्त शब्द उसके कान में चलते-चलते पड़ गये थे, उनसे उसने यह निश्चय कर लिया। वह सारा दिन तो साधु बाबा ने क्षमा वृत्ति में पूर्ण किया। दूसरे दिन 'नारायण हरे' कहते हुए किसी गृहस्थ के यहां भिक्षा के लिये जा खड़े हुए। गृहस्थ की स्त्री ने भिक्षा दी। पर दैवयोग से उस गृहस्थ की स्त्री के पात्र से महाराजश्री का पात्र छू गया और उनको संन्यास का अभिमान जाग्रत हो आया! रग रग में क्रोध व्याप्त हो गया और बहुत तिरस्कार के साथ तड़क कर साधु बाबा बोल उठे–"हे दुष्टे! मेरे पात्र तो तूने छूआ क्यों? धिक्कार है! संतपुरुष की इस प्रकार सेवा करेगी?" ऐसा कह क्रोधांध बन कर उसने अन्नसहित उस पात्र को फेक दिया और वह क्रोधाविष्ट दृष्टि के साथ वहां से चला गया। नदी में जाकर सचैल (वस्त्रोंसहित) स्नान किया, तब उसका क्रोध कुछ शान्त हुआ और जब आश्रम में जाकर बैठा तब तो क्रोध

निर्मूल हो गया। वह मन में विचार करने लगा कि 'अरे! यह क्या हुआ? मैंने कल यह प्रतिज्ञा कर ली थी, कि मैं क्षमा गुण धारण करूंगा, पर उस प्रतिज्ञा को तो मैं आज ही भूल गया! मुझे अपने भगवारूप का अभिमान आया। उस स्त्री से पात्र छू गया तो इसमें क्या हुआ! मैं तो संन्यासी हूं। मेरे लिये तो चारों ही वर्ण समान हैं। उनमें भेदभाव–छुआछूत अथवा अपवित्रता क्या? मैं ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय नहीं, वैश्य नहीं, शूद्र नहीं, किंतु मैं तो केवल चैतन्य ब्रह्म हूं। फिर भी मेरा अभिमान अभी गया नहीं, तो मेरे इस भगवा में धूल पड़ी! मेरी अपेक्षा तो वह गृहस्थ की स्त्री ही श्रेष्ठ है, जिसने मेरे अनेक कटु वचन सुनकर भी बिल्कुल क्षमा गुण धारण किया और जो दोनों हाथ जोड़, दीन बन, खड़ी ही रही थी। वही मेरी गुरु! वही मेरी उपदेष्ट्री! वही मुझे तारेगी!' ऐसा विचार करता हुआ साधु बाबा उस गृहस्थ के घर जाकर, अचानक उस साध्वी के चरणों में पड़कर बोला–"हे अंबे! हे जगज्जननी! तेरा मैंने घोरतम अपराध किया है, उसके लिये तू मुझे क्षमा कर। तू आज से मेरी गुरु है। तुझमें जो क्षमा गुण है, वह इस भगवा में नहीं। हे सति! हे मातुश्री! मुझे आशीर्वाद दे कि मैं अपने मार्ग पर चला जाऊं।" वह स्त्री बावली सी बन कर, मौन धारण कर, हाथ जोड़ कर, खड़ी ही रही और संत उससे आज्ञा लेकर विदा हुआ। उस दिन से उस महात्मा को ऐसी गंभीर चोट लगी कि वह क्रोधरहित होकर पूर्ण तत्त्वज्ञानी बन गया। उसका भगवा का अभिमान टल गया। इससे वह शुद्ध सात्त्विक बन गया। इस प्रकार जीव को पूर्व जन्म या पूर्वाश्रम का अभिमान समय-समय पर क्लेशकारी हो जाता है। ये अहंकार की वृत्तियां उसको उलटे मार्ग में ले जाती हैं। पर इसमें चोट (धक्का) लग जाय तो तत्काल वह जीव निरभिमानी बन, तर भी जाता है।

हे देवि! ऐसा ही एक दूसरा दृष्टांत मुझे स्मरण में आता है। जीव को स्त्री पुत्रादि में मोह नहीं बल्कि–

सौन्दर्य में मोह है

स्वार्थ में मोह है और दृष्टि की रची हुई सृष्टि में मोह है, दृष्टि-सृष्टि का लोप होते ही सौंदर्यसृष्टि का नाश हो जाता है और उसके साथ ही मोह भी नष्ट हो जाता है। स्वार्थ नष्ट होते ही मायिक प्रेमीपन नष्ट हो जाता है और मायिक प्रेम नष्ट होते ही वह सन्मार्ग में संचार करता है।

किसी एक नगर में धर्मपाल नाम का एक साहूकार बसता था। उसके धर्मशीला

नामक एक रूपवती कन्या थी। इस कन्या को पूर्व जन्म के योग से योग की सिद्धि प्राप्त हुई थी। एक दिन वह मार्ग में चली जाती थी, इतने में उस नगर के राजकुमार की दृष्टि उसके नाशवान् शरीर पर पड़ी। इसके अंग के रंग और सौंदर्य से वह कुमार अत्यन्त मोहांध हो गया और रात दिन उसे ही रटने लगा। राजकुमार ने सब मौज, शौक छोड़ दिये। वह शोकसागर में तैरने लगा। खाना, पीना और आनंद उत्सव में भाग लेना, यह सब उसने छोड़ दिया। इस मोहांधपन से उसका शरीर दिन प्रतिदिन सूखता गया। यह वृत्तान्त उसके पिता और नगर की प्रजा के पालने वाले राजा ने भी सुना। राजा ने धर्म पालने का विचार छोड़ उस कन्या के पिता से कहा कि "अपनी पुत्री का मेरे कुमार के साथ विवाह कर दो।"

उस गृहस्थ ने कहा–"हे राजन्! यह कार्य बड़ा है, इससे पन्द्रह दिन पीछे मैं इसका उत्तर दूंगा।"

उत्तर तो दिया, पर उसी दिन से वह गृहस्थ बड़ी चिन्ता में पड़ा कि 'मैं क्या करूं? राजा क्षत्रिय है, मैं वैश्य हूं, मेरी कन्या विचारशील, व्रताचारवती और साध्वी है। उसे जो राजकुल में दूं तो अनेक दुःख भोगेगी,' ऐसा विचार करते-करते दो दिन में उसका शरीर सूख गया और वह पंजर मात्र रह गया।

पिता की यह स्थिति देख उसकी प्रतापिनी बुद्धिशालिनी पुत्री ने पूछा–"हे पिताजी! आपको क्या कष्ट है?"

पिता ने इत्थंभूत वृत्तान्त अपनी पुत्री से कह सुनाया और बोला कि "राजा का और हमारा वर्ण भिन्न है, इससे उसके कुमार के साथ तेरा विवाह करते मेरे धर्मशीलपने को दूषण लगेगा और नगर में मेरी प्रतिष्ठा को भी दाग लगेगा। लोग निंदा करेंगे कि यह धर्मपाल नामधारी, अधर्म के मार्ग में द्रव्य के लालच में लगा है और इसने अयोग्य विवाह संबंध किया है।"

पिता के मुख से सकल वृत्तान्त सुन कर कन्या खिलखिलाकर हंस पड़ी और बोली–"हे पिताजी! इसी के लिये आप घबड़ाते हैं? इसमें कौन भारी कार्य है कि जिसके लिये आप इतने भारी चिन्तातुर होते हैं, राजा की आज्ञा पालन करके यदि कुमार की इच्छा होगी तो मैं उसके साथ विवाह करूंगी। तुम जरा भी न घबड़ाओ। मैं धर्मशील हूं। अपने और आपके धर्म में कुछ भी दाग नहीं लगने दूंगी।"

फिर उस कन्या ने पन्द्रह दिन में अपना शरीर किसी सन्त महात्मा की प्रसादी के प्रताप से ऐसा गला डाला कि वह हाड़ पिंजर के समान हो गया। जिसके मृगी के समान नेत्र थे वे कुंडली पड़ कर भीतर को हो गये, चन्द्र के समान मुख बंदर के समान हो गया, पयोधर की जगह मांस का लोथड़ा लगा

हुआ जान पड़ने लगा, केले के समान जंघा सिरकी के समान हो गयी, हाथी के गंडस्थल के समान नितंब भी सकुचा गये और सिंह के समान कटिस्थान में चर्म मात्र रह गया।

राजपुत्र तो उत्कण्ठा और उमंग में आकर उस कन्या का ही ध्यान धरता था। उसके समीप वह कन्या पंद्रहवें दिन गयी। पर उस लावण्यमयी मूर्ति की मुखाकृति देखते ही राजपुत्र चौंक कर उससे दूर खड़ा हो गया! वह विचार करने लगा कि–"यह कौन? भूत या प्रेत!'

उस कन्या ने कहा–"हे राजपुत्र! मैं भूत और प्रेत नहीं, बल्कि मैं वही धर्मपाल की पुत्री हूं, कि जिस पर तुम मोहित हुए हो। आज मुझे देख कर आपको मोह क्यों नहीं होता? कैसे दूर भागते हो? जिस पर आपको मोह हुआ है, जिसकी प्राप्ति के लिये आपने अन्न जल छोड़ा है, जिसके लिये धर्म छोड़ने और छुड़ाने को तत्पर हुए हो, वही मैं आपके समीप आपकी आज्ञा का पालन करने आयी हूं। आओ, बैठो, जो इच्छा हो उसे तृप्त करो!"

राजपुत्र ने कहा–"तू ऐसी भयावहनी कैसे?"

धर्मशीला ने कहा–"कुमार! आप मुझमें किस स्थल पर भयंकरता देखते हो? मैं तो जो पहले थी, वही अब भी हूं।"

कुमार ने कहा–"जिस सौन्दर्य को देखकर विवाह करने का मुझे मोह हुआ था, वह सौन्दर्य कहां है?"

कन्या बोली–"जिस देह में आपने सौंदर्य देखा था, यह वही देह है, पर महाराज! आपने मेरे शरीर में कहां वह सौंदर्य देखा था कि, जिससे आप मेरे साथ विवाह करने को तैयार हुए थे? जो मेरे साथ विवाह करने की आपकी इच्छा हो तो मैं तैयार हूं। पहले मैं जो थी, वही आज भी हूं। पहले रूप रंग में ऐसी ही थी और पीछे भी रूप रंग में मैं ऐसी ही होऊंगी।"

राजकुमार ने कहा कि "तू तो परम सुन्दरी थी, सो ऐसी चुहिया, डाकिनी और पिशाचिनी के समान कैसे बन गयी?"

कन्या ने कहा–"हे राजकुमार! मेरी सुन्दरता कहीं जाती नहीं रही। जो मांस तथा लोहू की सुन्दरता इस अंग में आपको देखने में आती थी, उसी को आप सुन्दरता कहते हो और उसी की आपको इच्छा हो, तो वह बूचड़खाने (चांडालवाड़े) में है। पर उस सुन्दरता को देखते ही आपको वमन हुए बिना न रहेगा। पर हे कुमार! जरा सुनो, 'सौंदर्य में जिसे मोह होता है, वह सौंदर्य नष्ट होते ही उसका मोह भी नष्ट होता है।' आज मैं जान सकी हूं कि, आपको मुझ

पर मोह न था, बल्कि मेरे सौंदर्य पर मोह था और 'सौंदर्य पर जो मोह रखते हैं वे मूढ़मति हैं।' क्योंकि, सौंदय त्रिकाल अबाधित नहीं, आज आप जिसको सौंदर्यवान देखते हो उसी को किसी समय सौंदर्य से जर्जरित हुआ, आज की मेरी स्थिति में देखोगे। तब क्या आपको अज्ञानपने पर लज्जा न आवेगी? इससे हे महाराज! अकेले सौंदर्य पर मोह करना यह चतुर आदमी का काम नहीं। जो मुझ पर आपको मोह हुआ हो तो आप मेरा पाणिग्रहण करो और जो मेरे सौंदर्य पर ही आपको मोह हो तो मैं आपकी धर्मपत्नी होने की इच्छा नहीं करती।"

फिर क्षणभर मौन धारण करके वह प्रतापिनी साध्वी बोली–"अरे राजकुमार! इस मार्ग की ओर दृष्टि करो। तुम्हारी दासी आती है, उसे देखो। जब आप बालक थे, तब इस दासी को आपने देखा था?"

राजकुमार बोला–"हां, मुझे थोड़ा-थोड़ा स्मरण है कि उस समय वह बड़ी रूपवती थी!"

उस कन्या ने कहा–"आज उसका मुख मलिन हो गया है, दांत गिर गये हैं, सिर के बाल बगले के पर की भांति सफेद हो गये हैं, शरीर पर झुर्रियां पड़ गयी हैं, आज वह ऐसी कुरूपा दिखती है कि आप उसे देखना भी नहीं चाहते। पूर्व काल में यह सुन्दरी थी, इसका वह सौंदर्य आज कहां गया कि जिस सौंदर्य पर आपके पिता ने संतुष्ट होकर आपके लालन पालन के लिये आपको इसे सौंपा था? महाराज! वह सौंदर्य आज कहां है, यह तो वह की वही है? राजपुत्र विचारग्रस्त ही रहा, तब उस साध्वी ने कहा–"न समझते हो तो समझो। वह सौंदर्य केवल दृष्टि का विकार ही था। सौन्दर्य कुछ वस्तु नहीं और वह सौन्दर्य स्थिर भी नहीं। जैसा आज है वैसा कल नहीं, क्योंकि दृष्टि में क्षण-क्षण पर परिवर्तन हुआ करता है। जो आज बाल है, वह कल अन्नादि के आहार से तरुण, फिर वृद्ध फिर जर्जरित और फिर काष्ठरूप होता है, ऐसे ही सौन्दर्य–लावण्यका भी परिवर्तन देख, ज्ञानी पुरुष उसका सदा ही त्याग करते हैं। हे राजपुत्र! काल की क्रीड़ा का आपको ज्ञान नहीं, इससे सौन्दर्य से मोहांध हो, अपने धर्म से विपरीत आचरण कर, हाथ से आंखे बंध करके कूप में गिरते हो। सौन्दर्य क्या है? इस नाशवान् शरीर में रक्त, मांस, मेद आदि उत्पन्न होता है। यही रक्त, मांस, मेद ही सौन्दर्य है! इसी से मनुष्य कान्तिमान् जान पड़ता है। इसी से कवियों ने स्त्री को कमलमुखी, चन्द्रमुखी, मृगनयनी कहा है; और मांस से भरी हुई जंघा को कदलीस्तंभ की, पयोधरों को हाथी के कुंभस्थल की तथा कटि को सिंह के कटि की उपमा दी है। हे राजकुमार! यह तो कवियों की कल्पना मात्र है। स्त्री केवल मांस, मज्जा, रक्त और चर्म से दूसरे प्राणियों की भांति बनी हुई है, उसी तरह चमड़े की पुतली है, उसमें अधिक

कुछ नहीं। जो सब में है वही उसमें है। मुझमें जो था, वही इस दासी में भी था, आपकी दूसरी रानियों में भी है। वह कहीं नहीं गया, तो फिर आपका मोह उन पर से क्यों उतर गया है? अब कहो हे कुमार! किस पर आपको मोह था? मुझ पर या मेरे रक्त मांस पर? जो मुझ पर आप मोहित हुए थे, तो जो मैं थी, वही हूं तथा जिस पदार्थ से मैं सुन्दरी जान पड़ती थी, वह पदार्थ तो कसाईखाने में भी देख सकते हो, पर आपको उस पर तो मोह नहीं क्योंकि उसमें आपको सौन्दर्य दिखायी नहीं पड़ता, तो फिर सौन्दर्य कहां है? सौन्दर्य यह दृष्टि का विकार ही है कि कुछ दूसरा है? एक जिसको सौन्दर्य मानता है वह दूसरे की दृष्टि में कुरूप गिना जाता है, अज्ञानी जन ही दृष्टि सृष्टि में सुख मानते हैं।"

"हे राजकुंवर! इस विषय में आपसे एक पौराणिक दृष्टान्त कहती हूं, सो सुनो! विचार करो। यह राज्य की प्रजा आपकी पुत्र पुत्री हैं, ऐसा मान कर प्रजा को पुत्र पुत्री की भांति देखते हुए तथा उन पर कुत्सित रीति से मोहित न होते हुए अपना धर्म पालन करो।"

मन से माना हुआ मोह ही अन्धा बनाता है

पूर्व काल में दिवोदास नामक एक राजा था। अनेक शास्त्रों के श्रवण से और महात्माओं के समागम से उसकी बुद्धि निर्मल थी। वह सदाचारी तथा धर्मनिष्ठ प्रजापालक राजा था। महात्मा पुरुषों के संग से उसके निश्चय हुआ था कि 'इस देह को त्याग कर जीव अपने अन्तकाल की वासना के अनुसार वैसे ही शरीर को धारण* करता है,' वर्तमान से ऊंची योनि में भी जन्मता है और नीची योनि में भी जन्म लेता है। महात्माओं के मुख से यह वृत्तान्त सुनकर 'मृत्यु के पीछे कैसा जन्म होगा,' यह न जान सकने से उस राजा को बड़ा खेद हुआ।

एक प्रसंग पर उसने अपने युवराज से कहा—"कदाचित् मेरा जन्म किसी नीच योनि में हो, तो तत्काल मेरा मस्तक काट डालना।"

पुत्र ने पूछा—"पिताजी! तुम नीच योनि में अमुक स्थान में जन्मोगे यह मैं कैसे जान सकूं?"

राजा ने कहा—"मेरे कपाल में 'श्रीविष्णु का चरणचिन्ह तिलक' दिखायी देगा, उस चिन्ह को देख तू मुझे मार डालना, कि जिससे मेरा अधम योनि में से उद्धार हो!"

थोड़े दिन में राजा दिवोदास की मृत्यु हुई। अन्तकाल के समय सूकर के

---

* यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः ॥ गीता. 8/6

शिकार में वासना रहने से उसे सूकर का जन्म मिला और वह अनेक सूकरियों के साथ घूरे पर क्रीड़ा करने लगा। ये सूकर सूकरी क्रीड़ा करते थे कि इतने में दिवोदास के पुत्र की उन पर अकस्मात् दृष्टि पड़ी तथा पूर्व जैसा उसके पिता ने कहा था, वैसा ही एक सूकर के कपाल पर तिलक चिन्ह देख कर उसको मारने के लिये म्यान में से उसने तलवार निकाली।

भय से कांपते हुए पूर्व जन्म के दिवोदास राजा ने मनुष्यवाणी से कहा—"हें हें! यह क्या अधर्म का काम करता है!"

राजकुमार बोला—"आपकी आज्ञा का पालन करता हूं।"

दिवोदास सूकर ने कहा—"मुझे यहां कुछ भी दुःख नहीं। मैं इन सूकरियों के साथ विहार करता हूं। ये मुझे दिव्यांगनासमान लगती हैं और कीचड़ का आहार अमृत के आहार से भी अधिक स्वादिष्ट लगता है। यह छोटी सूकरी कैसी सुन्दर है! इसको मैं कल ही लाया हूं। ऐसी सुन्दर सूकरी हमारी जाति में एक भी नहीं। इसके साथ क्रीड़ा करने में जो मुझे आनंद होता है, ऐसा आनंद किसी लोक में भी नहीं।"

दिवोदास सुकर की यह वाणी सुनकर राजकुमार चकित हो गया और बोला—"राजा के राजमहल में स्वरूपवती सुन्दरियों के भोगने में जो आनंद है, वही आनंद सूकर के घूरे पर रह कर सूकरियों के साथ क्रीड़ा करने में भी है। यह सूकर इस सूकरी को सौन्दर्यवती समझता है। मनुष्य भी स्त्रियों को सुन्दर मानकर उनमें मोह पाता है, सचमुच सौन्दर्य या कुरूपता का आधार प्राकृत दृष्टि में रहा है। सौन्दर्य की कोई माप तौल नहीं, जिसके मन ने जो सौन्दर्य मान लिया वह सौन्दर्य* है। फिर भी जो एक को सुन्दर लगता है वह दूसरे को नहीं। 'अमुक ही सुन्दर है' ऐसा कोई नहीं कह सकता। इससे निश्चय होता है कि सौन्दर्य नामक कोई वस्तु नही। एक ही पदार्थ अपने देखने वाले की नजर से तीन प्रकार का बनता है। मार्ग में जाती हुई एक स्त्री कामी पुरुष को सुन्दर कामिनी जान पड़ती है, एक कुत्ते को वह मांसपिंड जान पड़ता है और योगी पुरुष उसको चलता फिरता मुर्दा समझता है† इस लिये मन ही बंध और मोक्ष का कारण है, **'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः'** सौन्दर्य के

---

* दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सिताऽपि मधुरैव।
तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संल्लग्नम् ॥

† एक एव पदार्थस्तु त्रिधा भवति दीक्षितः।
कामिनी कुणपं मांसं कामिभिर्योगिभिः श्वभिः ॥

सौन्दर्य को तथा आनंद के आनंद को अर्थात् परमानंद को तो ज्ञाता पुरुषमात्र ही देख और समझ सकता है, अन्य को उसका अधिकार ही नहीं।"

उस कन्या ने मोहित राजपुत्र से कहा कि—"हे राजपुत्र! तुम मुझ पर मोहित हुए हो, तो कहो कि तुमने मुझमें विशेष क्या देखा? तुम्हारे अनेक रानियां है और वे मुझसे किसी प्रकार भी न्यून नहीं बल्कि अधिक हैं, तो भी जिस सौन्दर्य को देख कर तुम मोहित हुए हो, वह तुम्हारी दृष्टि का विकार ही है अथवा और कुछ? यह विकार निकाल डालो! तब तुम सबको समान ही देखोगे। सूकर को सूकरी में जैसी सुन्दरता दिखायी देती है, वैसी ही मनुष्य को स्त्री में भी दिखायी देती है। इसमें ज्ञाता को ही मोह नहीं होता। मैं जिस पदार्थ से भरपूर थी और हूं, उसी पदार्थमय जगत् की स्त्रियां भी हैं। मुझ पर मोह होता है तो लीजिये, यह सौन्दर्य तुम्हारे सामने हाजिर है!"

उस कन्या का ऐसा वैराग्यपूर्ण संभाषण सुनकर, राजपुत्र के प्राकृत अज्ञानमय नेत्र पटल दूर हो गये। उसके हृदय में वैराग्य का संचार हुआ और उसको सब ब्रह्ममय दीखने लगा। वह फिर अवसानपर्यन्त अपनी प्रजा का पुत्र पुत्रीवत् ही पालन करता रहा।

सत् की प्राप्ति के प्रसंग को अवश्य ग्रहण करो

सुविचार ने प्रकटप्रज्ञा से कहा कि—"सौंदर्य नाम का कोई पदार्थ ही नहीं,पर अनेक जीव अनेक प्रकार के सौंदर्य के वश होकर अनेक वासनाओं में लिपटे रहते हैं। कोई धन को, कोई कीर्ति को, कोई भोग को सौंदर्य का स्थान समझ, उसी में मस्त बन जाते हैं, ऐसे संसारी रगड़े में भी जो उसको कोई अमूल्य प्रसंग प्राप्त हो और चसका लग जाय, तो उस अपनी देह को तथा आत्मा को सार्थक कर लेना इष्ट है। जीव को जो ऐसा प्रसंग मिले तो उसे झपट लेने में चूकना नहीं चाहिये। दैवकृपा से ही ऐसा प्रसंग आ मिलता है तथा उस प्रसंग को चूकने पर जीव को हमेशा के लिये संताप होता है। इतना ही नहीं, बल्कि प्रतिजन्म जीव को चौरासी के चक्कर में घूमना पड़ता है।

भगवान् नारदमुनि किसी एक गृहस्थ के यहां पधारे और उससे उन्होंने कहा कि—"हे अधिकारी जीव! तू वयस्क हो गया है, तेरे घर पुत्र पुत्रियां हैं, तूने संसारभोग पाया है, खाया पिया है और आनंद किया है, अब तू प्रभु भजन करके आत्मा को सार्थक कर ले।"

यह मूढ़मति संसारी जीव, नित्य सत्संग करता, महात्माओं का पूजन

करता, दानधर्मपरायण रहता, परपीडन से सदा दूर भागता, तथापि माया का जीव था। संसार पर इस अभागे को बड़ी प्रीति थी, सत्संग शिरोमणि नारद जैसे परम भक्त उसके घर पधारे, उससे लाभ लेने की उसे इच्छा नहीं हुई।

वह बोला—"हे महाराज! आपका कहना सत्य है, इन जीवन के पिछले चार दिनों में 'जो सुकृत हो सो कर लेने की' मेरी बड़ी इच्छा है। अब तो मुझे प्रभु भजन में प्रीति करनी ही चाहिये। पर क्या करूं? मेरी इच्छा तो बहुत है, पर अभी यह राम छोटा है, शंकर भी अभी कुछ करने योग्य नहीं। यह जरा बड़ा हो जाय तो यह मेरा निश्चय है कि प्रभु-भजन में लग जाऊंगा।"

नारद जी ने कहा—"अरे ओ माया के जीव! तुझसे इस माया का त्याग नहीं होगा, राम और शंकर समय पाकर बड़े होंगे, इससे तुझे बड़े जंजाल लगेंगे, इतने में तेरा आयु पूर्ण हो जायगा और तू जैसे का तैसा ही इस लोक में से हाथ घिसता और सिर धुनता चला जायगा। तुझे अभी बड़ा संकट सहना है, इस कारण तुझसे इस भव में भजन होना नहीं और माया छूटेगी भी नहीं।"

ऐसा कह कर नारदमुनि अंतर्धान हो गये तथा माया में रचपच रहा मूर्ख ज्यों का त्यों माया में लीन रहा। फिर उसने बहुत पश्चात्ताप किया। पर 'जो घड़ी हाथ से गयी वह नहीं लौटती।' जगन्नगर के जीवों को परमात्मा का भजन करने में 'आज नहीं कल करूंगा,. बाल्यावस्था में नहीं पर तरुणावस्था में और वृद्धावस्था में प्रभु भजन करूंगा, तत्त्वानुसंधान करूंगा, माया को परास्त करूंगा, संसार की ममता तजूंगा,' ऐसे विचार में एक क्षण भी नहीं गमाना चाहिये। 'कल करने का कार्य आज करो और आज का अभी ही करो। समय किसी की भी राह नहीं देखता।'

काजल की कोठरी में कोई ही बिना दाग के बचता है

बहुत से जीव ऐसा समझते हैं कि 'हम जनक विदेही के समान हैं' और ऐसा मान कर अपने को सिद्धवत् ही समझते हैं। वे मानते हैं कि 'जैसे जनक, याज्ञवल्क्य और वसिष्ठादि महात्माओं ने संसार में रहकर भी परमार्थ साधा था, वैसे ही हम भी परमार्थ सिद्ध करेंगे! पर मोहजाल में पड़े हुए अज्ञानी जीव जानते नहीं कि 'जनक-जनक ही थे, याज्ञवल्क्य-याज्ञवल्क्य ही थे, वसिष्ठ-वसिष्ठ ही थे। दूसरा जनक, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ कोई हुआ ही नहीं और होगा भी नहीं।' उसकी तुलना करने वाला मनुष्य कौन है? जिस जनक ने सुलभा से कहा कि, 'मेरे एक हाथ को कोई चंदन से चर्चे और दूसरे को बांस से मारे तो भी मुझे आनन्द या शोक नहीं,!' मैत्रेयी और कात्यायनी को छोड़,

याज्ञवल्क्य ने ज्ञानी होकर, अरण्य सेवन किया था और वसिष्ठ के सौ पुत्रों की हानि हुई, तो भी सती अरुंधती को या वसिष्ठ मुनि को क्रोध नहीं आया।' ऐसी स्थिति को पहुँचने वाले में और ईश्वर में क्या भेद है? इस स्थिति को पाया हुआ मनुष्य जीव नहीं किंतु शिव ही है, ईश ही नही, बल्कि परमेश है, इस स्थिति को जिसने पाया नहीं। इसके द्वार का भी स्वप्न में भी दर्शन हुआ नहीं, ऐसा जीव ही 'अहं ब्रह्मास्मि' और तत्त्वमसि' का जप जपा करता है! परन्तु वह जगत् को हँसी का ही पुतला है! यह संसार एक काजल की कोठरी के समान है। इसमें दाग बिना लगे शुद्ध रह कर परमार्थ सिद्ध करना, यह काम बड़ा कठिन है। एक महात्मा ने कहा है किः—

"राम जहां तहँ काम नहिं, काम जहँ न तहँ राम।
तुलसी दोनों नहिं मिलें, रवि रजनी एक ठाम॥

जहां माया का विलासरूप जगत् है, वहां परमात्मा नहीं और जहां परमात्मा है, वहां जगत् नहीं। परमात्मा और संसार को एक ही स्थल में लाने का प्रयत्न करने वाला अज्ञानी है। माया के विलासरूप इस जगत् के मिथ्या पदार्थों के साथ यथेष्ट व्यवहार करने वाले तथा काम क्रोधादि के वश हुए मनुष्य जो त्याग दर्शाते हैं वह उनका मिथ्या दंभ ही है। 'अहं ब्रह्म, अहं ब्रह्म' यह उनका जगत् ठगने का प्रपंच है तथा परमात्मा भी ऐसे ब्रह्म ठगों से अनेक कोटि कोश दूर ही रहता है।

एक गृहस्थ संसार त्याग का ढोंग (सोंग) कर,.'अहं ब्रह्मास्मि' बन, अपने घर के एकान्त भाग में रहने लगा। उसने घर का खटराग स्त्री पुत्र को सौंप दिया और लोगों से कहने लगा कि 'अब हमने सर्व जंजाल छोड़ दिया है, अब तो तत्त्वानुसंधान करके आत्मा का शोध करता हूं। चाहे लोग भला कहें, चाहे बुरा कहें, अपने को कुछ लेना देना नहीं। अपने तो ब्रह्म हैं। ब्रह्म को क्या?' पर इतने पर भी कटिमेखला की चाबी (ताली) छूटी नहीं थी।

ऐसे संसारी बैरागी ज्ञानी के पास एक समय एक अर्थी याचक ने जाकर कहा कि "हे भाई! मुझे पैसे की बड़ी आवश्यकता है इसलिये पचास रुपये दीजिये।"

राम तथा काम को एक आसन पर बिठालने वाले 'अहं ब्रह्मास्मि' के जीव ने कहा—"भाई! मैं तो पैसे को हाथ भी नहीं लगाता, मेरा है क्या कि तुझे दूं? मैंने तो सबका त्याग किया है!"

ऐसी बातें करता है, इतने में एक देनदार के साथ उसके पुत्र की तकरार हुई। उसको सुनकर राम-कामदास तड़प उठा कि 'पैसा तेरे बाप का था कि,

ले गया और देते समय झगड़ा करता है? पैसा कुछ कंकर पत्थर नहीं कि वह छोड़ दिया जाय?

वह देनदार आजतक जिसको ब्रह्मनिष्ठ जानता था वह उसे अब ब्रह्मठग भासित हुआ तथा उसने गंभीर श्वास लेकर कहा कि "लोग जैसा कहा करते हैं, वैसा कलियुगी वेदान्ती आज मैंने प्रत्यक्ष देखा।"

कहने का तात्पर्य यह है कि 'जो त्यागी का वेष ऊपर से धारण करता है और अन्दर से संसार के खटरागों में शिर मारता रहता है, वह जनक तथा वसिष्ठ के समान नहीं हो सकता,' बल्कि, वह तो संसार में विचरता कीचड़ से लिपटा हुआ अल्प जीव ही है। कनक, कान्ता और कीर्ति का जो त्यागी है वही त्यागी है और वही संन्यासी है। संसारमात्र का जो त्याग वही त्याग, पदार्थमात्र पर जो विराग वही विराग और संकल्प मात्र का जो संन्यास वही संन्यास। ऐसे पुरुष में और परमात्मा में अतंर ही नहीं। मोक्षाभिलापी जीव को जगत् के जंजाल का नित्य के वास्ते त्याग कर देना चाहिये। 'अहं ब्रह्मास्मि' को पहुँचने वालों के पास घर नहीं, धन नहीं, संग नहीं, जगत् नहीं, पुत्र नहीं और दारा नहीं। परन्तु 'अहं ब्रह्मास्मि' का मिथ्या डौल बताने वालों के तो सब कुछ है। ऐसे पुरुष जनक विदेही का जो उदाहरण दिया करते हैं वह दंभ पर छत्रछाया है। वह महात्मा पुरुष संसार में रहने पर संसार से मुक्त था। जलकमलवत् संसार में रह सांसारिक विषयों से अलिप्त था। वैराग्य। दिक विषय उसके समीप दासवत् हो गये थे, उसकी आत्मसत्ता परम श्रेष्ठ थी, वह आत्मरसायन का आस्वाद करने वाला था। 'जिसका आत्मबल श्रेष्ठ होता है, वही संसार का त्याग कर सकता है,' बाकी के तो पिंजरे में पड़े हुए तथा मुख से राम-राम बोलते हुए तोते ही हैं।

सत्संग ही तारता है

जगन्नगर के जीव को नित्य सत्संग करना चाहिये। सत्संग आत्मबल देता है, सब दैहिक पापों को भस्म करता है, चेतन को सत्स्वरूप के अनुसंधान में प्रेरणा करता है। सत्संग के प्रताप से अनेक कुमार्गगामी जीव भी तर गये हैं।

एक संत महात्माओं की टोली में किसी एक असाधु का प्रवेश हो गया। वह बड़ा दंभी था, पर संत सेवा में उत्साही था। संतो के साथ रहते रहते उसको कुछ अल्प स्वल्प ज्ञान भी हुआ, परंतु उस ज्ञान से उसका हृदय रँगा हुआ नहीं था। यह जीव बाहर से साधुता दर्शाता हुआ संत सेवा में दौड़ता,

प्रेम से संतो के चरणों पर पड़ता, पर अन्तःकरण में अनेक प्रकार की कामनाएं किया करता। असाधु सो असाधु! वह सत्साधु एकदम कैसे बने? यह असाधु तो द्रव्य को देखते ही उसके ग्रहण करने को आतुर था, स्त्री को देखता तो भोगविलास की इच्छा के अधीन हो जाता। प्रभात में स्नान संध्या करके गायत्री का जप करता तब मन में ऐसा संकल्प विकल्प भी होता कि 'आदित्य भगवान् राजगद्दी दें तो अहोभाग्य हो!'

उसके हृदय की ऐसी घटनाओं से बहुत से महात्मा अज्ञात नहीं थे। परन्तु यह अनधिकारी जीव संतों की सेवा करने में सदा तत्पर रहता था, इससे दयालु महात्माओं ने उसे उन्नत स्थान में ले जाने की कामना की।

घूमता फिरता यह महात्माओं का मंडल किसी एक राजा के राज्य में जा पहुँचा, उस राजा के एक कन्या थी। वह राजा धर्मशील संतों का सेवक और सांसारिक विषयों को धिक्कारने वाला था। 'वह अपनी कन्या का विवाह किसके साथ करे,' इसके विचार में चिंतित था। उसने विचार किया कि 'यदि किसी राजकुमार को कन्या दूंगा तो वे राजा लोग ऐसे दुष्ट होते हैं कि अनेक कुकर्म करने में सदा तत्पर रहते हैं तथा उनके रनवास मे अनेक स्त्रियां होने से मेरी पुत्री को अनेक संकट भोगने पड़ेंगे। यदि सामंत के पुत्र को कन्या दूंगा तो वह मेरे ऐश्वर्य से अहंकारी बन, सज्जन होगा तो भी दुर्जन बन जायगा। प्रजाजन में से किसी को दूंगा तो राजा का जमाई होने से वह मदमत्सर में लीन होने के कारण अनेक प्रकार के कुढंग करने में तत्पर होगा।' ऐसा विचार करते-करते उस राजा ने अपनी पुत्री का विवाह किसी संत महात्मा के साथ करने का निश्चय किया।

उक्त सत महात्माओं का मंडल उसकी राजधानी में आया। तब राजा ने अपने मुख्य मंत्री को मुख्य संत (महत) के पास भेज कर अपनी पुत्री के पाणिग्रहण की प्रार्थना की। संतों ने विचार किया कि 'हमको स्त्री से क्या? द्रव्य से क्या? राजपाट से क्या? स्त्री तथा द्रव्य का त्याग कर आत्मानुसंधान करने के लिये त्यागी हुए हैं, संकल्प का संन्यास करने के लिये मथन किया है वहां संसार का रगड़ा! वाह! यह भी ठीक! जो हम संसारी होंगे तो अवश्य उभय लोक से भ्रष्ट हो जायँगे। स्त्री परम दुःख की खान है, नरक में जाने वाली है तथा अनेक उपाधि बढ़ाने वाली है, उसका पाणिग्रहण! वाह! नरक का द्वार हाजिर हजूर!' ऐसा विचार करके सर्व संतों ने राज कन्या के साथ विवाह करने का निषेध किया।

पर वह भोग विलास का भूखा, अल्प, साधुपने को प्राप्त हुआ असाधु ब्याह करने को तैयार हो गया। 'राजा की कन्या, राजगद्दी का उत्तराधिकार,'

इन दो बड़े लाभों से वह लोभायमान हो गया। उसने राजकुमारी के साथ विवाह करना स्वीकृत किया। तुरंत ही उसे राजसभा में ले गये। यद्यपि वह जीव संसार के विचारों में प्रवृत्त था, तथापि सत्संग के योग से उसकी मलिन बुद्धि कुछ संस्कारी हुई थी, इससे उसने राजा से पूछा कि "मैं कोई राजकुमार नहीं, कोई प्रधानपुत्र नहीं, कोई सरदारपुत्र नहीं, तो भी मुझे इस कन्या के देने का प्रयोजन क्या?"

राजा ने कहा—"हे महात्मन्! संत निर्विकार, निष्कपट, विचार बल तथा आत्मबल का पोषण करने वाले, प्रपंच से रहित हैं। इसी से मैं अपनी कन्या उन्हें दान में देने की इच्छा करता हूं। संत सेवा के प्रताप से मेरी पुत्री भी आगे चल कर संस्कारी होकर उभय लोक का श्रेय साधन करने के लिये शक्तिमान होगी और त्रिलोक की स्वामिनी होगी।"

संतों का संग करने वाले इस त्यागी को यह सुनकर विचार हुआ—"ओहो! संत का इतना भारी प्रभाव! मैं शुद्ध सात्त्विक संत नहीं, कामना मेरे हृदय में खलबलाहट करती ही रहती है। इतने पर भी मुझे इस राजकन्या की प्राप्ति होती है तो मैं जो सात्त्विक निरपेक्ष, कामनारहित, सर्वत्यागी संत होऊं तो मैं क्या प्राप्त न कर सकूं? त्रिभुवन का स्वामी होने में मुझे क्या विलम्ब लगे? उसके सामने यह राजपाट किस गिनती में? नहीं-नहीं! मैं विवाह नहीं करूंगा—मैं शुद्ध सात्त्विक संत ही बनूंगा, इस राजकन्या का नहीं पर त्रिभुवन का स्वामी होऊंगा।'

ऐसा विचार कर वह खड़ा हुआ और राजा को आशीर्वाद देकर बोला—"हे राजन्! मुझ त्यागी को विवाह क्या? कैसा? मैं इस राजकन्या का या तुम्हारे राज का स्वामी नहीं होऊंगा पर त्रिभुवन का स्वामी होकर अखंडानंद प्राप्त करूंगा।"

इतना कह कर फिर संतमंडल में आ खड़ा हुआ तथा वह संत महात्मा अनेक जन्म में परमात्मा की उपासना कर, आत्मसत्ता प्राप्त कर शुद्ध बन कर, अन्तिम जन्म में नामदेव का नाम धारण कर प्रभुगुण गाकर, परम धाम को पहुँचा। देवि प्रकटप्रज्ञा! सत्संग ही जगत् में साररूप है। अनेक महात्मा सत्संग से ही तर गये हैं। जगन्नगर का जीव जैसे बने वैसे सत्संग करे, सत्संग करते समय बहुत सम्हाल करनी पड़ती है। मायावी जगत् प्रपंच से भरा हुआ है। 'साधुओं के वेष में धूर्त अनेक' इस लोकोक्ति के अनुसार अनेक संत कहलाने वाले पुरुष 'बगुला भगत' बन कर संसार में विचरते हैं। ऐसों का सत्संग करना नहीं। वैसे ही बड़े-बड़े मठ और मंदिर बाँध बैठे हुए जीव भी संत पद के अधिकारी नहीं ये तो माया के जीव हैं। इनको तो दूर से ही प्रणाम करना चाहिये।

संतों का लक्षण

संत पुरुष रजोगुण, तमोगुण से रहित तथा सत्त्वशील होते हैं, जन्म, जरा तथा मृत्यु के दुःख को गिनते नहीं, किसी से द्वेष नहीं करते, वैसे ही किसी पर प्रेम भी नहीं करते, और न मायिक प्रेम में बँधते हैं। वे निवृत्ति और प्रवृत्ति की इच्छा नहीं करते। उनको प्रकाश और प्रवृत्ति का मोह नहीं। वे उदासीन के समान संसार में विचरते हैं, सत्त्वादिक गुणों से चलायमान नहीं होते। उन्हें कोई प्रिय या अप्रिय नहीं। पत्थर को तथा कांचन को समान गिनते हैं। स्तुति या निंदा की स्पृहा नहीं रखते, मान अपमान में समान बुद्धि रखते हैं। मित्र तथा शत्रु को समान गिनते हैं, अव्यभिचारिणी भक्ति करके परब्रह्म की उपासना करते हैं, एकान्त का सेवन करते हैं, किसी तरह के सांसारिक-प्रापंचिक कार्यों का आरंभ नहीं करते, इन्द्रियों के विषयों पर वैराग्य रखते हैं, मन को नियम में रखते हैं, संकल्प का संन्यास करते हैं। ये ही सच्चे संत हैं परंतु बनावटी संत रजोगुण, तमोगुण से भरपूर होते हैं। उनको न शान्ति, न तत्त्व का निश्चय, वे तो जगत् के जंजाली जीव ही हैं। संसार में विचरते हुए वे द्वेष, क्लेश, मानभंग और निंदा के ही भोगी होते हैं। दर्शन करते ही ये जीव चित्त तथा वित्त (धन) को हरने वाले ही हैं, किन्तु संसार में फँसे हुए जीवों को उपदेश देने वाले नहीं। शुद्ध सात्त्विक संत जहां प्रेम, वीरता, ब्रह्मनाद, धर्मप्रियता, दयालुता तथा दान से श्रेय प्राप्त कर यम, नियम, आसन, दम, स्वाध्याय, तप, आर्जव, अहिंसा, अक्रोध, शान्ति, क्षमा, अद्रोह के भोगी हैं। वहां संसारी संत दंभ, दर्प, अभिमान, पारुष्य तथा अज्ञान के भोगी हैं। श्रीकृष्ण परमात्मा ने कहा है कि 'प्रथम दैवी तथा दूसरी आसुरी संपत्ति है,' दैवी संपत्ति वाले तो संत ही हैं। इन संतों का संग ही सत्संग है,' भिन्नता का-द्वैत का त्याग कर एक निष्ठा से संत सेवा करनी, यह संत सेवा ही जीव को सन्मार्ग में चला कर चिदानंद के ध्यान में मग्न-मस्त कराती है।

शरीर किसका है सो देखो

जीव को यह संसार अनेक प्रकार से कष्टदायक है। देवि छद्मलिंग! जगन्नगर का जो जीव, जगन्नगर को ही सत्य देख उसी का ही उपासक बना है, उसको यत्किंचित् भी ज्ञान नहीं कि 'मेरा इस लोक में जन्म लेना कैसे सार्थक हो सकता है,' इसी कारण वह कष्ट ही कष्ट सहता है। जब से जीव का पिंड बँधता है,

तब से अंतपर्यन्त कष्ट का ही भागी बनता है। गर्भोपनिषद् में जीव के कष्ट की कथा है। उसे जो जानता है वही गर्भ में से छूटने का प्रयत्न करता है। अपना जो मनुष्यशरीर दृष्टिगोचर होता है वह स्थूल शरीर है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से पंचभूतात्मक पंच विषय, पंच कर्मेन्द्रिय तथा पंच ज्ञानेन्द्रियवाला यह शरीर है। पांच इंन्द्रियों से इसका निर्वाह होता है। छः रस इसके आश्रय हैं। छः गुणों से वह बँधा हुआ है। सप्त धातुओं से यह स्थूल शरीर बँधा हुआ है। यह वात, पित्त तथा कफ इन तीन मलों से सज्जित है, शुक्र तथा शोणित के कारण वाला है तथा भक्ष्य, भोज्य, पेय और चोष्य ऐसे चार प्रकार के आहार से इस स्थूल शरीर की उत्पत्ति है। इसमें जो कठिन भाग है वह पृथ्वी, द्रव भाग जल, उष्ण भाग तेज, चले फिरे सो वायु तथा पोल आकाश है। ये पंचभूत अपना-अपना निर्माण कार्य करते रहते हैं। छः प्रकार के रस से लोहू, लोहू से मांस, मासं से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और इन सबके संग से वीर्य बनता है। पिता के वीर्य तथा माता के शोणित से गर्भ स्थिर होकर उपजा है। प्रथम दिन वीर्य तथा शोणित मिलता है। सातवें दिन विशेष मिल कर ग्रंथी सी बनती है। पक्षभर (पन्द्रह) दिनों में गोल पिंडाकार होता है। महीने पीछे वह पिंड बड़ा होकर कठिन होता है, दूसरे महीने मस्तक की आकृति बनती है। तीसरे महीने हाथ पैर का अस्पष्ट आकार बँधता है। चौथे महीने में पैरों और मस्तक के बीच (धड़) का आकार बनता है। छठे महीने इन्द्रियों का आकार बनता है, सातवें महीने जीव की स्पष्ट प्रतीति होती है, आठवें महीने सब अवयव पूर्ण होते हैं। नववें महीने अवयव पोषण पाकर वृद्धि पाते हैं तथा दशवें महीने में गर्भ जन्म पाता है। इस गर्भकाल में जीव को अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं। गर्भधारण काल में माता अथवा पिता का चित्त व्याकुल हो तो गर्भ से अंधा, लूला, कुबड़ा, खंजा, बालक जन्मता है। पिता का वीर्य अधिक हो तो गर्भ में पुत्र होता है। माता का रुधिर अधिक हो तो कन्या जन्मती है। रज, वीर्य समान हों तो नपुंसक रूप धारण करता है। परन्तु गर्भकाल में माता को जो-जो पीड़ा होती है, वह पीड़ा गर्भ को भी भोगनी पड़ती है। वह गर्भ दबा रहता है, जरायु से बँधा रहता है, मलमूत्र के भरे हुए स्थान में उलटा नीचे को मुँह किये बैठा रहता है, महाकष्टकारी जठराग्नि में झुलसता सा रहता है, अतिमलिन दुर्गंधवाली वायु से वह सदा त्राहि-त्राहि करता भड़भड़ाता रहता है। यह जीव गर्भ में निराधार है, निर्बल है, पराये आश्रय में रहता है और परके कष्ट का भोक्ता बनता है। ऊपर पैर और नीचे माथा ऐसी स्थिति में अंधेरे आगार में-कि जहां वायु का संचार नहीं, प्रकाश भी नहीं, केवल

नरक का कूप छलाछल भरा है। वहां रहने से कैसा कष्ट होता है इसका विचार करने से शरीर कांपता है। अहो कष्ट! अहो गति!

गर्भ में जीव अनेक प्रकार से अपने उत्पन्नकर्ता की प्रार्थना करता है कि 'हे प्रभु! इस संकट में से मेरा उद्धार कर! इस उपकार को मैं त्रिकाल में भी नहीं भूलूंगा।'

ऐसी स्थिति में रहता हुआ गर्भ जब इस जगत् की वायु का स्पर्श करता है, तब उहां, उहां, तू तहां अर्थात् मैं यहां और तू वहां! करता हुआ जगदीश को संसार की वायु के स्पर्श के साथ ही भूल जाता है। श्वासोच्छास लेते ही परमात्मा के उपकार को, दिये हुए वचन को, की हुई प्रतिज्ञा को भूल जाता है। तथा जो अनेक कष्ट गर्भवास में सहन किये होते हैं उनको भूल जाता है। जिस जगत् में बीजरूप होते हुए दुःख, अंकुरित होते हुए दुःख, और बीज से बहिर्भूत होने के दुःख तथा फूल फालकर नवपल्लवित होने में भी दुःख है, उस जगत् को सुखकारी सत्य, नित्य मानने वाले जीव की प्रज्ञा को धन्य ही कहना चाहिये! इस जगत् में जन्म कर जिस पुरुष के पुण्य का अत्यन्त परिपाक होता है, वही पुरुष वैराग्य को पाकर इस कष्ट में से मुक्ति मिलने का विचार करता है। वह विचार करता है कि मैंने कर्मवश अनेक शरीर धारण किये हैं, उन-उन शरीरों के अनुसार अनेक प्रकार के आहार किये हैं, अनेक माताओं के स्तनों का पान किया है, अनेक सुन्दरियों का सेवन किया है, अनेक पुत्र उत्पन्न किये हैं, अनेक कूड कपट किये हैं और कई बार एक पेट से जन्म लेकर मृत्यु हुई फिर दूसरी बार जन्म हुआ है। सुखशय्या पर शयन किया है और नरक में घसीटा गया हूं। ऐसे दुःख से भरे हुए संसार में से अभी मेरा छुटकारा हुआ है तो इस देह के नाशंवत-अस्थिर कष्टकारक सुख को और इस संसार को प्रणाम करना चाहिये, अशुभ की निवृत्ति करनी चाहिये, मुक्ति के लिये परब्रह्म के शरण जाना चाहिये! अनेक जन्म में अनेक पुत्र कलत्र के शुभार्थ अनेक कर्म मैंने किये हैं, पर वे संबंधी जन सुख भोग कर जाते रहे हैं—कहां जाते रहे हैं इसे भी मैं जानता ही नहीं तथा अपने कर्मों के अनिष्ट फल को तो मैंने अभी भोगा है। दश मास तक अंधकार में रह, जो उग्र से उग्र तपश्चर्या मैंने कि है, उसको मैं सार्थक करूंगा।'

ऐसे विचार वाला ही कोई जीव करोड़ में एक आधा जीव अपने देह और आत्मा का सार्थक करता है और परम पद प्राप्त करने वालों के संघ-समुदाय में मिल जाता है। उसी जीव का ही जन्म लेना सार्थक है कि जिसका फिर जन्म न हो। उसी जीव का जन्म लेना कल्याणकारी है कि जिसने अनेकों का कल्याण किया है और परम पुरुष के संघ में प्रवेश किया है।

सकाम कर्म दोषरूप है

जगन्नगर के संसारी जीवों में से कोई एक आतुर जीव संत महात्मा के पास जाकर खड़ा रहा। वहां दो संत आपस में बातें करते थे। एक संत ने कहा—"जीव को मरते समय तक कर्म करना चाहिये। जैसे पीतल का पात्र रोज का रोज मांजा जाय तो चकाचक रहता है, वैसे ही अन्तःकरण की शुद्धि के लिये जीव को कर्म करना आवश्यक है।"

दूसरा महात्मा बोला—"सुवर्ण के पात्र को मांजने की कभी भी जरूरत नहीं, वह सदा ही चमकता है। जिसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ है, उसे कर्म की अपेक्षा किस हेतु रखनी चाहिये? नित्य कर्म करने से कुछ भी फल नहीं होता।"

प्रथम महात्मा ने कहा—"नहीं, फल होता है। जैसे कंचनपात्र शुद्ध है तथापि हवा के स्पर्श से उसमें मलिनता उत्पन्न होती है, वैसे ही जहां तक संसार में जीव का वास है, वहां तक उसे मलिन संसार की, मलिन हवा के स्पर्श से मलिनता का भय है, उस भय के निवारणार्य कर्म की आवश्यकता है। प्रथम कर्म करना है तथा अन्तकालपर्यन्त भी कर्म करना ही है। संसार में रहता हुआ जीव जो कर्म से बहिर्मुख होता है तो उसे पतन का भय रहता है।"

दूसरे महात्मा ने कहा—"सत्य है, प्रारंभ के कर्म से अन्तःकरण शुद्ध होता है, अन्तःकरण की शुद्धि से ज्ञान की जिज्ञासा होती है, ज्ञान की जिज्ञासा से श्रवण में प्रवृत्ति होती है, श्रवण के मनन की टेव पड़ती है, मनन से दृष्टि के समीप नया प्रकाश प्रकट होता है। इस प्रकाश में ज्यों-ज्यों गहरी सूक्ष्म दृष्टि करने लगें तो वैसी ही ठीक गहराई पर अति दूर के स्थान में निजानंद के दर्शन का भाग्यशाली बनता है। कर्म करना अवश्य है, पर सकाम कर्म का भोगी ज्यों ही कर्म के फल में दोष, दुःख, अनित्यता का अनुभव करेगा त्यों की उसका कर्म अपने आप छूट ही जायगा। वह निष्काम का उपासक बनेगा तथा तब ही उसको सत्, चित्, आनंद का दर्शन होगा और फिर वह तद्रूप बन जायगा, पारस रूप बन जायगा। तब उसको मलिन वायु बाधा न कर सकेगा। ऐसे ज्ञानी को कर्म की अपेक्षा ही क्या है? पर जो मूढ़जन परिपक्व दशा को प्राप्त नहीं हुए और अहंभाव से कर्म का त्याग करते हैं, उनके लिये तो कर्म के त्याग से चौरासी का चक्र रहट की माला की भांति तैयार ही रहेगा।"

जिज्ञासु ने उस महात्मा से पूछा—"हे संत! कर्म अपने अनुष्ठान से ही चित्त की शुद्धि करके कृतार्थ होता है अर्थात् वह कर्म ब्रह्माकार वृत्ति को प्राप्त

होने के बाद तो अस्त ही होता है।"

संत ने कहा—"इस स्थिति को प्राप्त हुए ज्ञानी को कर्म करना न करना समान ही है। जो निष्कामपन से कर्म करता है, वह कर्म ही नहीं। जैसे जलपक्षी जल में डूबकी मानने पर भी यत्किंचित् भी जल से नहीं भीगता, वैसे ब्राह्मी स्थिति को-ब्रह्माकार वृत्ति को प्राप्त हुए जीव को कर्म कोई बाधा नहीं करता, बल्कि निष्काम कर्म तो सहाय करता है।

ब्रह्माकार वृत्ति का फल

जिज्ञासु ने पूछा—"हे महात्मन्! जैसे यह सर्व दृश्य अविद्या का कार्य है और जो सर्व वृत्तियां उत्पन्न होती हैं वे अविद्या के कार्य हैं? उसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति करनी, यह भी अविद्या का कार्य है तो उसके करने से क्या महत्फल है?"

उत्तर—"बंध्या का पुत्र जाता है, ऐसा करने से वृत्ति उस आकार की कल्पना करती है। वास्तव में तो वंध्यापुत्र है ही नहीं, तथापि शब्द के श्रवण से वैसी आकृति की कल्पना होती है, वैसे ही ब्रह्माकारवृत्ति यह भी अविद्या का कार्य है अवश्य, तथापि वह सत्, चित्, आनन्दरूप वृत्ति हो जाती है और उससे पुनरावृत्तिरहित मोक्षरूप फल प्राप्त होता है। वृत्ति तो काल्पनिक ही है। अब कर्म भी अविद्या का कार्य है तथा अविद्या से अविद्या की निवृत्ति होती नहीं, परंतु दृश्य विनाशी है, ऐसा ज्ञान उत्पन्न होने के साथ ही कार्यसहित अविद्या की निवृत्ति होती है। ऐसे ही ज्ञान-परम की पहिचान यह भी अविद्या का कार्य अवश्य है, परन्तु उससे अविद्या की निवृत्ति न हो, ऐसा मानने का कारण नहीं। क्योंकि जैसे बिच्छू अनेक बच्चे जनता है और उन बच्चों से उसका पेट फट जाता है,* सूर्य उदय होते ही अन्धकार को खा जाता है, वैसे ही परम का ज्ञान उदय पाते ही वह अविद्या को खा जाने की शाक्तिवाला है तथा अविद्या के बाध से ब्रह्म यही सत् रहता है। जैसे कतकरेणु (निर्मली बूटी का बीज) यह मिट्टी का कार्य है, तथापि उसे जल में डालने से माटीरूप कार्य मैल, कचड़ा आदि को नीचे बैठा, जल को निर्मल करके आप भी नीचे बैठती है, वैसे ही अविद्या से उत्पन्न हुई ब्रह्माकारवृत्ति, चिदानंद को प्राप्त करने की 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसी वृत्ति को धारण कराती है तथा अविद्या का कार्य होने पर भी वह सत्य फल देती है।"

प्रश्न—"ब्रह्मैवाहम्" मैं ब्रह्म हूं, ऐसा बारंबार अनुसंधान- विचार-वृत्ति करने का क्या काम है? जो है सो है ही। राजा को पट्टाभिषेक किया तो वह

---

* हरिः करी वृश्चिकवेणुरम्भाः सकृत्प्रसूता विलयं प्रयान्ति।

राजा तो हुआ ही है। उसको बारंबार 'मैं राजा हूं' 'मैं राजा हूं' ऐसा बोलने तथा विचारने का कुछ भी प्रयोजन नहीं। राजा है सो है ही। ऐसा ही 'यह पट है,' 'यह घट है' ऐसा कहने और जानने से भी फल क्या?

उत्तर– "हे जिज्ञासु! तूने सच कहा, पर सुन! सर्व सामग्री तैयार हो अर्थात् पूर्व जन्म का ही साधन सिद्ध हो, अन्तः करण शुद्ध होकर निर्मल बना हो, तो उसको 'तत्त्वमसि' आदि गुरूपदेश से आवरणभंग होकर ज्ञान-प्रकाश हो जाता है। पर जिनको वैसा नहीं उनको पूर्व के देहादिक के अध्यास का स्फुरणरूप दोष वारंवार आकर बाधा देता है। जैसे सूर्य के सतत प्रकाशित तेजो राशि का बादलों से अटकाव होता है तथा शुद्ध प्रकाश नहीं पड़ सकता, वैसे ही अपूर्ण संस्कारी को पूर्व के अभ्यास से 'ब्रह्मैवाहम्' का प्रकाश हो नहीं सकता। सूर्य का संपूर्ण प्रकाश लेने के लिए जैसे रोकने वाले बादल दूर होने चाहियें, उसी प्रकार मिथ्या देहाध्यास का संपूर्ण रीति से उन्मूलन कर डालने तथा ज्ञानमय ब्राह्मीं स्थिति को प्राप्त करने के लिए, सत्याध्यास को स्थापित करने के निमित्त 'ब्रह्मैवाहम्' का अनुसंधान कर्तव्य है ही। क्योंकि ऐसा करते करते दृढ़ अपरोक्ष हो जाने पर आरुढ़ दशा प्राप्त होती है तथा वह दशा प्राप्त होने पर कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। 'मैं आप ब्रह्म हूं,' यह तो स्वभाव सिद्ध है, पर बीच बीच पुरुष को 'मैं जीव हूं,' भला मैं वह ब्रह्म कैसे? ईश तो दूसरा ही है'–ऐसे द्वैत की भ्रांति पड़ती है उसे दूर करने के लिये, 'मैं-वह और वह–मैं ही हूं'-मैं ब्रह्म ही हूं, अन्य नहीं इस विचार की अपेक्षा ही है। राजा का, घट का या अन्य स्थूल पदार्थ का दृष्टांत इसमें घटता ही नहीं। कारण कि स्वभाव सिद्ध ब्रह्म अति सूक्ष्म है तथा उस स्थिति को प्राप्त करना, यह अति दुर्घट है। हे जिज्ञासु! जैसे हीरा कितना तथा कैसा पानीदार है, इसकी परीक्षा सीखने को जौहरी के पास रह कर दृष्टि की सूक्ष्मता आदि परिपाकता प्राप्त करने के लिये चिरकाल तक अभ्यास करना पड़ता है। फिर सूर्य सामान्य रीति से प्रत्यक्ष है पर उसका सत्य स्वरूप जानने के लिये ज्योतिष के अभ्यास की आवश्यकता है तथा उस अभ्यास से वह कितना बड़ा और कैसा है यह जान सकते हैं। ऐसे स्थूल को जानने के लिये जब अभ्यास की आवश्यकता है तब सूक्ष्म तत्त्व के तत्त्व को समझने तथा उस स्थिति को पाने के लिये अभ्यास की जरूरत हो, इसमें आश्चर्य क्या? जैसे अभ्यास से कीट भ्रमरीरूप हो जाता है, वैसे 'ब्रह्मैवाहम्' के नित्य अभ्यास से 'ब्रह्मैवाहम्' बन जाता है।"

सुविचार ने छद्मलिंग से कहाः इसी के लिये संसारी जीव को 'मैं देहरूप हूं, पुरुष हूं, स्त्री हूं, मैं जन्म मरण का अधिकारी हूं।' ऐसे अभ्सास को छोड़कर

प्रथम 'मैं परमात्मा का दास हूं,' ऐसी भावना दृढ़ करनी चाहिये। वह भावना दृढ़ होने के बाद 'परमात्मा मेरे हृदय में ही है' यह भावना दृढ़ करनी और यह भावना दृढ़ होने के बाद 'अन्त में मैं तो वही परमात्मा हूं, ब्रह्मरूप हूं, मैं अकर्ता हूं, अभोक्ता हूं, निर्लेप हूं,' ऐसा अखंड अध्यास करना। अथवा 'देहभाव से मैं उस परमात्मा का दास हूं, जीवभाव से उसका अंश हूं तथा आत्मभाव से मैं तो वहीं हूं, 'ऐसी निश्चल भावना नित्य रखनी चाहिये। जगन्नगर में रहते हुए जीवों की वृत्ति इस अध्यास को छुड़ाकर अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प के चक्कर में डाल देती है, असत्य को सत्य मनाती है, इससे असत्य के मुख में ही जीव जकड़ा रहता है। उसका वह अध्यास छुड़ाने के लिये 'ब्रह्मैवाहम्' का अध्यास सर्वोत्तम साधन है। असत्य जगत् को भी प्रत्येक जीव अपनी-अपनी वृत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न रीति से देखता है।

भ्रान्ति से ही जगत् भासता है

एक समय दस मनुष्य अंधकार में साथ-साथ चले जाते थे। वे चलते-चलते एक घर के द्वार पर आये। द्वार के बीच में एक रस्सी पड़ी थी। अंधकार के कारण रस्सी का स्वरूप पहचाना नहीं गया। 'पर यह सर्प है' ऐसी भ्रान्ति से वे दस मनुष्य उस रस्सी को दूर न करके कूद-कूद आगे गये। फिर आपस में बातें करने लगे कि 'अहो! यह सर्प कितना बड़ा है!' दूसरे ने कहा 'बहुत बड़ा है।' असल में बात तो सर्वथा और ही थी।

एक आदमी ने जिस सर्प को देखा उसको दूसरे ने नहीं देखा पर दस आदमियों को अपनी-अपनी वृत्तियों में अलग-अलग सर्प जान पड़ा और उसका आरोप रस्सी में कर दिया। अधिष्ठान रस्सी थी। उसमें सर्प का अध्यास हुआ था और इसी से उनको रस्सी सर्परूप देखने में आयी थी। वस्तुतः तो सर्प न था, बल्कि रस्सी थी।

ऐसे ही जगत् विषे भी जानना। जगत् सत्य नहीं, पर हर एक प्राणी की वृत्ति के अनुसार जगत् भासता है और वह भी सत्य भासता है। यहां तो केवल ब्रह्म परमात्मा ही है। वही सत्य है, निर्लेप, निर्विकारी सनातन और शुद्ध है। इस परमात्मा की सत्ता से जगत् की सत्ता भिन्न नहीं। सीपी में रजत (चांदी) का भासना, यह जैसे विपर्यय ज्ञान है, वैसा ही विपर्यय ज्ञान जगत् की सत्यता में भी है। ज्ञानवृत्ति में अनेक प्रपंच न होने पर जो प्रतीति होती है वह भी विपर्यय ज्ञान है। मिथ्या रजत में और मिथ्या सर्प में सत्य रजत और सत्य सर्प की प्रतीति करने के लिये जैसे मिथ्या बुद्धि जाग्रत् हुई सीप तथा रस्सी को रजत तथा सर्प मनाती है-अर्थात्

जैसे चांदी भी नहीं और सर्प भी नहीं, बल्कि उनका अधिष्ठानरूप सीप और रस्सी ही है और चांदी तथा सर्प भास मात्र हैं, वैसे ही वस्तुतः यह जगत् नहीं पर उसका अधिष्ठान रूप परब्रह्म ही सत् है तथा उस परब्रह्म के कारण ही जगत् भासता है। इस ज्ञान का नाम 'प्रमाज्ञान' है। ऐसा ज्ञान प्राप्त करना, यह जगन्नगर के जीव का कर्तव्य है। यह कर्तव्य उसको बंधन नहीं करता, पर मुक्त करता है।

यथा दृष्टिस्तथा सृष्टिः

जगत् की प्रतीति का कारण अविद्या है। इस अविद्या का नाश हुए बिना सत् का ज्ञान नहीं होता। नख के शिखा पर्यन्त अन्तःकरण रहता है, उससे उपहित चेतन जीव कहलाता है और अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र द्वारा बाहर निकल कर फैलती है तथा अमुक विषय पदार्थ तक पहुँच उसमें जो चैतन्य है वह विशेष चेतनवृत्ति, उपहित चेतन का साक्षी है, उसको देखती है और सत्य मनाती मानती है। देखो, स्वप्न में केवल अविद्या ही है तथा जगत् भी स्वप्न के समान है। बल्कि कार्य कारण रूप प्रपंच तथा उसकी प्रतीति, यह अविद्या का कारण है और प्रपंच की प्रतीति ज्ञान होने के पूर्व ही है, पर सत की प्रतीति होने के पीछे, प्रपँच की सत्ता नहीं रहती तथा प्रपंच की सत्ता शक्ति-का नाश होते ही जगत् की भ्रांति टल जाती है, अध्यास मिट जाता है और अधिष्ठान जो परब्रह्म वही सत् रहता है। "यथा दृष्टिस्तथा सृष्टिः" ऐसे जहां तक देखने में आता है, तहां तक नाम रूपादिक सृष्टि को जीव कल्पित करके प्रंपच को सत्य ठहराता है, पर सत्य की प्रतीति की सत्ता ही आत्मा की सत्ता है तथा आत्मा की सत्ता कितनी और कैसी है वह ज्ञान के बिना और नित्य के अध्यास बिना प्रतीत नहीं होती। इस कारण जीव को सदा सर्वदा 'ब्रह्मैवाहम्'-अध्यास रखना चाहिये। इस अध्यास में लीन होने के बाद सत् की सृष्टि और दृष्टि में-विश्व में-अवकाश में भी शेष रहता है। परमात्मा दूर नहीं बल्कि वह सान्निध्य में ही है-देखना आता हो तो ही दिखायी पड़ता है। प्रश्न होगा कि—

परमात्मा कैसे दृष्टि पड़े?

दर्पण में जैसे पदार्थ मात्र का तथा अपना प्रतिबिम्ब पड़ता है तथापि दर्पण में इनमें से कुछ भी नहीं, आप और पदार्थ मात्र दर्पण से पृथक् है वैसे इस व्यवहार दृष्टि से परमात्मा निराला है और जो कल्पना करता है सो अविद्या का कारण है। परमात्मा सर्वव्यापी सबमें है। जगत् भी भिन्न नहीं। तू भी भिन्न नहीं, परमात्मा भी और नहीं,

यह सब एक ही है। जो भेदत्व है वह मलिन बुद्धि का ही कर्तव्य है।

एक कागज पर किसी एक चित्रकार ने सुंदर चित्र बनाया। फिर उस चित्र को देखकर चित्रकार बहुत प्रसन्न हुआ। वह आनंद में मग्न होकर बावला बन गया और उसे देख-देख कर नाचने कूदने लगा। चित्र अति सुन्दर था। 'यह चित्र कहां है?' इस विचार से उसने कागज से पूछा—"तुझमें चित्र है?"

कागज ने कहा—"चित्र क्या और मुझमें क्या यह मैं जानता नहीं।"

फिर कलम से पूछा—"तुझमें चित्र है?"

कलम ने कहा—"चित्र क्या है यह मैं जानती नहीं।"

ऐसे ही काले पीले रंगों से पूछा तो उन्होंने कहा—"हम भी नहीं जानते।"

चितारे का चित्र तो है ही, दीखता भी है, तब यह चित्र आया कहां से? इसका उसे आप विचार हुआ। वास्तव में यह चित्र चितारे की बुद्धि ही में है। ऐसे ही जीव की वासना में ही यह जगत्, जीव और शिव का भेद रहा है। जिसने यह भेद निकाला है, जो नैष्ठिक होकर परमात्मा के विषे एकतार हो गया है, उसको परमात्मा का नित्य साक्षात्कार होता है। इस एकतार होने के लिये यथार्थ ज्ञान सम्पादन करना चाहिये।

ज्ञान दो प्रकार का है

यथार्थ ज्ञान तथा अयथार्थ ज्ञान। सत् का जानना यह यथार्थ ज्ञान कहा जाता है। स्वप्न में उत्पन्न हुई अथवा भ्रान्ति में दृश्यमान् हुई सृष्टि को जो सत्य मानता है तथा उसी में मोह पाता है, वह अयथार्थ ज्ञान है। यद्यपि दोनों ज्ञान इन्द्रियजन्य हैं, तथापि इन्द्रिय हो या न हो, इसका कोई नियम नहीं है। क्योंकि, स्वप्न में इन्द्रियां नहीं, तथापि इन्द्रियों से आत्मा के उस शरीर अर्थात् स्वप्नशरीर का व्यवहार होता है। यह व्यवहार जिसको असत् के समान प्रतीत होता है, उसी को यथार्थ ज्ञान प्राप्त हुआ कहा जाता है। 'परमात्मा के संकल्प मात्र से यह सृष्टि नियमपूर्वक चलती है।'* परमात्मा सर्वव्यापक है। उसके इन्द्रियां नहीं। वह कर्ता भोक्ता होने पर भी अकर्ता, अभोक्ता है। ऐसा ही ज्ञान यथार्थज्ञान अथवा प्रमाज्ञान कहा जाता है। प्रमाज्ञान वाला जीव परमात्मा को अशरीरी,† इन्द्रियादिक से रहित मानता है। ऐसा जानता हुआ भी अपने यथार्थ ज्ञान में परमात्मा के साक्षात्कार

---

* मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। गीता 9/10

† अशरीरी-व्यावहारिक-इन इन्द्रियों से दीख सके अथवा इस बुद्धि से कल्पित हो ऐसा नहीं-अर्थात् इन सबसे परे इनमें जुदा ऐसा कोई दिव्य स्वरूप।

का भी अनुभव करता है, शरीरादिक अवयवों वाला देखता है पर निश्चयपूर्वक मानता है कि 'जिस शरीर की कल्पना करने में आती है। जिन इन्द्रियों की प्रतीति बताने में आती है, वैसा वह नही।' वह भजने वाले को भजता है, भजने वाले का आत्मा है, भजने वाला उसका आत्मा है तथा आत्मा-आत्मा के ऐक्य से भजने वाले को सायुज्य मुक्ति का तथा द्वैत के विषय से भजने वाले को ही सामीप्य मुक्ति का अधिकारी बनाता है।

जगत् स्वप्नतुल्य है

जैसे स्वप्न सत्य नहीं, वैसे जगत् भी सत्य नहीं, दोनों के व्यवहार मिथ्या हैं। जैसे स्वप्न में एक रंक राजा होता है, धनाढ्य होता है तथा राजा रंक (भिखारी) बन जाता है, परन्तु वह पुरुष जागने के पीछे जाग्रत् दशा में देखता है, तब उसको सब मिथ्या आडंबर जान पड़ता है। राजा-राजा ही है और भिखारी-भिखारी ही है। राजा की ऋद्धि-सिद्धि गयी नहीं और भिखारी का दारिद्रय नहीं गया, सब हाजिर है। वैसे ही जगत् तथा जगत् का सब व्यवहार मात्र दृष्टि की रची हुई सृष्टि में ही सत्य जान पड़ता है, परंतु सत् पदार्थ का ज्ञान होने के बाद अद्वैत दृष्टि की प्राप्ति से सृष्टि दृष्टि का विषय ही मात्र रहती है। स्वप्न में कार्य कारण एक साथ ही भासते हैं। जैसे कोई कुम्हार मिट्टी लेने की टोकरी लेकर जाय, लावे, गूंदे, चाक पर चढ़ाकर उसका घड़ा बनावे तथा इस रीति से निमित्त कारण तथा उपादान कारण से घट रूपी कार्य बनता है, वैसा स्वप्न में नहीं है। स्वप्न में तो कार्य तथा कारण एक साथ ही प्रकट होते हैं। यह सब अविद्या का ही प्रताप है।

किसी को शंका होगी कि 'अविद्या में जगत् की कारणता कैसे सिद्ध होगी? घट में मृत्तिका कारण है, पट में तंतु कारण है, परंतु अविद्या सबका कारण कैसे हो सके? दूसरी अविद्या अकेली ही जगत् का कारण हो तो वह जड़ है तथा जगत् में तो विचित्रता भासती है; इसलिये यह कैसे असत्य जान पड़े? जो अविद्या को 'चेतन के आश्रय है' ऐसा कहोगे तो भी दो कारण होंगे। अविद्या और चेतन। बल्कि जगत् का कारण जीवों का अदृष्ट है, इससे जीवों के अदृष्ट को जगत् का कारण कहेंगे कि, ईश्वर को जगत् को कारण कहेंगे? दृष्टान्त में जैसे कर्म और भोग। कर्म का फल भोग है, यह भोग अविद्या का कार्य है, ऐसा कहें तो कर्मजन्य यज्ञ का फल जो स्वर्ग है वह मिथ्या होगा तथा वह मिथ्या है ऐसा कहेंगे तो शास्त्र झूठा ठहरेगा, इसका समाधान कैसे हो?'

इस शंका का उत्तर इतना ही है कि, जो सत् है उसकी उत्पत्ति होती नहीं, बल्कि सत् त्रिकालाबाधित है। वैसे ही तो असत् होता है उसकी भी उत्पत्ति नहीं होती। जैसे वंध्यापुत्र, खरगोश के सींग, सांप के कान, आकाश की छाया इत्यादि की उत्पत्ति में सत्यता ही नहीं।

अब जगत् असत् होने पर भी उसकी उत्पत्ति कही है, यही सिद्ध करता है कि जगत् मायिक है, वह सत् भी नहीं और असत् भी नहीं तथा सत् असत् दोनों नहीं। जो जगत् को सत् कहेंगे तो प्रपंच में कार्यत्व नहीं आवेगा तथा असत् कहेंगे तो यह असंगत है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष दिखायी पड़ता है, उसमें व्यवहार किया जाता है और सत् तथा असत् कहेंगे तो एक ही समय में सत्-असत् रूपता जगत् में घट सकती नहीं। वास्तविक रीति से जगत् जैसा है वैसा ही है। मानो कि वह अनिर्वचनीय है। अब अनिर्वचनीय का कारण भी अनिर्वचनीय ही होना चाहिये तथा इस कारण का नाम अविद्या है। जगत् की उत्पत्ति से पूर्व जगत् सत् हो तो खरगोश (शशा) के शृंग भी होने चाहियें तथा सत्-असत् दो धर्म तो एक स्थान में रह ही नहीं सकते। **'मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** इस अर्थानुसार जगत् सत्य गिना जाय। पर ऐसा नहीं, क्योंकि प्रपंच जगत् को सत्य मानें तो **'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'** यह परम श्रुति, सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद रहितत्व दर्शाती है, वह वचन मिथ्या ठहरे। पर जैसे घट उत्पत्ति के पूर्व असत् है तथा उत्पत्ति के पीछे सत् मालूम होता है वैसा जगत् नहीं। जगत् उत्पत्ति के पूर्व असत् हो तो इसमें कार्यत्त्व किसका हो? अर्थात् जगत् अनिर्वचनीय है तथा वैसा ही अनादि अज्ञान उसका कारण है। अज्ञान अकेला है, पर उसमें शक्ति विचित्र है। इससे इस कारण का यह कार्यरूप जगत् भी विचित्र है। सीपी में चांदी का भास होता है, इसका कारण सीप नहीं, बल्कि चांदी के भास का कारण अज्ञान है। इसी का दूसरा नाम अविद्या है। यह अविद्या जड़ है। भले ही वह चैतन्य के आश्रय में रहती है परन्तु उससे चेतन में कारणता नहीं आती। चेतन तो अधिष्ठान के आश्रय में रहता है और अकेली ही अविद्या जगत् का कारण बनती है। जीवों के अदृष्ट का, ईश्वर का तथा जगत् का कारण मात्र यह अविद्या ही है तथा यह जगत् अविद्यारूप है, इसी से वह मिथ्या है।

जो यज्ञादिक करने में आते हैं वे साधन कर्म हैं तथा स्वर्गादिक लोक उनके फल हैं पर उसका तात्पर्य तो ब्रह्म की एकता में ही है। परन्तु इसमें भी साध्य तथा साधनभाव दिखाकर बोधन द्वारा "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" ऐसा बोध करके जीव को स्वर्गादि से भी वैराग्य प्राप्त होने का मर्म रखा है। सबसे वराग्य कराकर परमात्मा के पद में शांति प्राप्त करने को ही शास्त्र का यह बोधवचन

है। ब्रह्मपद, कृष्णपद, रामपद, निजानंदपद, स्वरूपानंदपद, परम प्रेमपद की प्राप्ति में स्वर्गादिक लोक तुच्छ हैं, यही भाव शास्त्रकार-मुनि-योगी जनों ने इस वचन से दर्शाया है। नित्य का स्थान तो परब्रह्मधाम है कि जिसकी प्राप्ति हुए पीछे फिर जन्म मरण नहीं, पुनः पतन नहीं, ऊंचे से ऊंचे, ठेठ तक ऊंचे ही चढ़ना है, कि जिससे ऊंचे चढ़ना भी शेष नहीं! वही नित्य तथा मुक्त दशा है।

सर्वव्यापी परम ब्रह्म की परम है

हे देवि! मुझे आश्चर्य होता है कि ऐसे नित्यमुक्त स्थान की प्राप्ति के बदले प्रपंच के जीव 'यह बड़ा देवता, यह छोटा देवता, यह तो मेरा इष्ट देव है और वह बड़ा है,' ऐसे अभिमान से नित्य क्लेश बटोर लेते हैं।

एक समय हमारे राजा के दरबार में विवाद हुआ कि 'कौन देव बड़ा? शंकर या विष्णु, गणेश या शक्ति?'

सभा में के विद्वान् और गुणवान ज्ञानी और अज्ञानी सब अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार वाद विवाद करने लगे। कोई शंकर की श्रेष्ठता प्रतिपादन करने लग गया, कोई विष्णु के बड़े-बड़े कामो की प्रशंसा करने लगा। विवाद इतना बढ़ा की बात करते-करते मारामारी पर नौबत आ गयी। वास्तव में किसी ने शंकर का या विष्णु का प्रत्यक्ष दर्शन किया नहीं था और न दोनों देवों में से किसी का स्वरूप ही जाना था। यह संवाद देखने को साक्षात् हरिहर योगी का रूप धारण करके उस राजसभा में पधारे।

उन्होंने दोनों पक्षों को शांत करके पूछा कि—"हे दुनियादारी के चतुर पंडितों! धर्म के वादियों! तुममें से किसी ने शिव को अथवा विष्णु को देखा है?"

विवादियों ने कहा—"नहीं महाराज!"

हरिहर ने कहा—"जो देखा नहीं तो तुम उनकी श्रेष्ठता कैसे प्रतीत करा सकोगे? ओ मूढ़मतिवालों! हरि तथा हर एक ही हैं। उनमें भिन्नता नहीं। भेद केवल प्रत्येक पुरुष के ज्ञानबल में है। यह दृश्य मात्र परमात्मा का स्वरूप है। परमात्मा की विभूतियों में से किसी की भी निंदा करने से सत्य धर्म प्रवर्तक नहीं हो सकता तथा सत्यपद का अधिकारी भी होता नहीं। हरि तथा हर ये जगत् में सर्वत्र आत्मा-परमात्मा स्वरूप से विराजते हैं।"

ऐसा कहने के साथ ही सारे दरबार में तेजो राशि रूप हरि तथा हर एक ही स्वरूप में दृष्टिगोचर हुए। हरि के उपासक ने हरि को, हर के उपासक ने हर को, राम के उपासक ने राम को बालकृष्ण के उपासक ने बालकृष्ण को,

गणेश के उपासक ने गणेश को, शक्ति के उपासक ने शक्ति रूप को देखा। हरि तथा हर परम प्रभु बिना अन्य कुछ भी दिखायी ही न पड़ता था, प्रत्येक पुरुष अपने आत्मा में हरि तथा हर को देखने लगा।

पीछे तेजोराशि हरिहर ने कहा—"यही परमात्मा का एक ही नित्य-शुद्ध-परम स्वरूप है और कुछ भी नहीं। जो साधनसंपन्न हैं, उन्हीं को यह प्राप्त होता है, अन्य को नहीं होता। जो जगत् के जीव मदांध बन कर परमात्मा की विभूतियों को द्वैतभाव से देखते हैं, वे सत्-चित्-आनंदघन-पद के अधिकारी नहीं तथा उनको सत्य ज्ञान तीन काल में भी प्राप्त नहीं होता। पर जैसे अंधेरे में रहा हुआ चोर कचड़े में हाथ डाल कर पकड़ जाने के भय से भागता हुआ गोबर के ढेर में जा गिरता है और उसकी धन प्राप्ति की आशा निर्मूल होती है, वैसे जो परमात्मा की विभूतियों में भेद दृष्टि करते हैं वे मिथ्यावाद में लिपट कर मोह के कीचड़ में फँसे रहते हैं। परमात्मा महेश्वर अद्वितीय है-श्रेष्ठ है-सर्व का कारण है, सर्वमय है। चाहे जिस नाम से उसकी उपासना करो। पर वह सब वही है। जैसे जल, वारि, पानी को चाहे जिस भिन्न नाम से मंगवाइये, पदार्थ एक ही आवेगा, वैसे शंकररूप में, विष्णुरूप में, कृष्णरूप में, रामरूप में, नृसिंहरूप में, वामनरूप में, आदित्यरूप में, शाक्तिरूप में, गणेशरूप में, मानवरूप में, वनस्पतिरूप में अथवा विराटरूप में उपासना करने से परिणाम में तो अंततः एक परब्रह्म की ही प्राप्ति करनी है। इस प्राप्ति में श्रद्धा की दृढ़ता और वासना की निर्मूलतता, प्रपंच का मिथ्यात्व तथा सत्य की प्रतीति संकल्प का संन्यास और अहम् का विनाश, द्वैत का नाश और अद्वैतमय दृष्टि, यही प्रधान कारण है। जिसने आत्मरसायन खाया है, जो आत्मसत्ता से वेष्टित है और आत्मरस का स्वादी है, वही आत्मा परमात्मा का अनुसंधान कर परम प्रभु को पाता है।"

इतना कह कर हरिहर अंतर्धान हो गये। पर जगत् में घंटाकर्ण के समान अनेक मूढ़ जन बसते हैं कि जो अपनी जड़ता का त्याग न करते हुए परमात्मा की विभूतियों को अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं तथा मदांध बन कर सत् की प्राप्ति में निर्बल बन सत् की ही निंदा करते हैं।

सत् क्या?

यह सत् क्या है? कैसा है? कहां है? प्रकटप्रज्ञा! तू जानती है कि सत् तो सत् ही है, नाम रूपरहित है। उसे किसकी उपमा दूं? यह सत् परम प्रकाशित है, सर्वत्र है। जहां दिवाकर नहीं, नक्षत्रपति नहीं, नक्षत्र नहीं, सर्वत्र प्रभा ही है, जिसके

जानने से-देखने से जो फल सिद्ध होता है उससे अन्य फल सिद्धि नहीं, जिसके सुख से अन्य सुख नहीं, जिसके समान अन्य रूप, सौन्दर्य, कला, अथवा ज्ञान नहीं, जिसके दर्शन से श्रेष्ठ दर्शन नहीं, जिसके दर्शन के पीछे अन्य किसी के दर्शन की अभिलाषा रहती नहीं, वही सत्! इसी सत् में से राम, कृष्ण, शंकर, ब्रह्मा, आदित्य, गणेश, शक्ति, विराट्, विश्व और प्राणीमात्र हुए हैं। इसी सत् को परमात्मा, परमेश और महेश कहते हैं। इस सत् के दर्शन में जीव को सदा तत्पर रहना चाहिये, मथन करते रहना चाहिये, उत्साही रहना चाहिये। पर जीव की क्षुद्रता इतनी अपार है कि वह सत् की अपेक्षा असत् में बहुत मस्त रहता है। मूर्ख प्राणी संसार में रह कर 'यह मेरा देह, यह मेरी स्त्री, यह मेरा पुत्र, यह मेरा मित्र, यह मेरा दास, यह मेरा हाथी, यह मेरा घोड़ा, यह मेरी संपत्ति यह सब मेरा ही है, मैं ही यह करता हूं, मेरे बिना कौन ऐसा है जो करे'–ऐसे मैं मैं मैं बँध कर उसी में लीन रहता है तथा अपना उत्तम आयुष्य मांस की पुतलियों की सेवा में और नाशवन्त को प्राप्त करने में व्यर्थ गँवाता है। किंचित् संस्कारी पुरुष पूजन अर्चन के ठाट में कालक्षेप करते हैं, अधिक यज्ञयाग में लग कर सत् का फेरा जो स्वर्गादिक, उसकी एषणा करते हैं। यह सब असत् व्यवहार ही है, सत् की एषणा का व्यवहार नहीं। जिससे इस सर्वसंग में व्यवहार करने में कुशल होता है तथा जिससे सौन्दर्य की प्रतीति होती है, उस प्राण के अधिपति परमात्मा की शोध में किसी का चित्त लगता नहीं। कर्मठ की एषणा यह एषणा ही नहीं, यह तो आवर्जन विसर्जन का घाट है। स्त्री पुत्रों के ऊपर जिनकी आत्मबुद्धि है वे पामर हैं। जो पामर उनके सुख दुःख को अपना सुख दुःख मानते हैं वे तो और भी अल्प प्राणी हैं तथा उनके रक्षण की चिंता में जो रात दिन निर्गमन करते हैं वे मूढ़ ही हैं! जो इस नश्वर शरीर में अभिमानी हैं, वे मरुभूमि में जल ही आशा करने वाले मृग हैं! जिस शरीर को नियमादिक से दंड देना चाहिये, उस शरीर का जो मनुष्य विषय के विष से पोषण करते हैं, वे अमृत की आशा से मणिधर सर्प के बिल में हाथ डालने से जिस फल की प्राप्ति होती है, उसी फल को पाते हैं। जिसको सत् के दर्शन की, नित्य पूर्ण पुरुषोत्तम की प्राप्ति करनी है, उसको अन्य की उपासना नहीं करनी चाहिये। शक्कर मिलने की इच्छावाला यदि बबूल या बेरी के पेड़ की सेवा करे तो वह जैसे निरर्थक है। उसी तरह सत् की प्राप्ति के लिये अहंकार को छोड़, वैराग्य को सजाकर, संयमी बन प्रेमी बनना चाहिये। जैसे शक्कर-शक्कर जपने वाला शक्कर को नहीं पा सकता, वैसे ही संसार के कामादिक सेवने वाला सत् को प्राप्त नहीं कर सकता। जिसकी परमात्मा के साथ लगन लगती है, वह आनंद, लगन की मधुरता, स्वाद, रस अन्य

को बता सकता नहीं, चखा सकता नहीं, वह अनुपमेय है। उसे जो जानता है वही जानता है, वही उस सुख को भोगता है। परमात्मा में जो प्रीति होती है उसे एक भक्त की जानता है, दूसरे से कहने से उसका स्वाद उसकी समझ में नहीं आता। परमात्मा की प्राप्ति में नाम, स्मरण, कीर्तन, लीलातनु का दर्शन, इनमें अत्यंत प्रीति, सात्त्विक पदार्थों के संबंध से प्रेम की ऊर्मियों का उछलना और सतत् उसमें एकतार हो जाना, यही साधनों का साधन है तथा सार का भी सार है। इसी साधन से संपन्न जीव एक ही जन्म में निजानंद के स्थान का निवासी बनता है। इस स्थिति के पाने वाले को भजन में तथा भजने वाले में द्वैतभाव नहीं रहता उसका पूज्य पूजक भाव शांत हो जाता है। जो पूज्य वह पूजक और जो पूजक वह पूज्यरूप बन जाता है। अटल प्रेमी इस पद को पाता है! प्रेमानंद को भोगता है।

प्रेम तथा ब्रह्म एक ही है

प्रेम कहो, ज्ञान कहो, ब्रह्म कहो, कृष्ण कहो, राम कहो, शंकर कहो, यह सब एक ही हैं, नाम मात्र का ही भेद है। जल कहो, वारि कहो, पानी कहो, सागर कहो, रत्नाकर कहो, नदी कहो, पर सर्वत्र पानी ही है; माता कहो, काकी कहो, भाभी कहो, लड़की कहो, बहिन कहो, गृहिणी कहो, पर स्त्री जातिरूप से एक ही है; नाम का ही भेद है। ऐसे ही ब्रह्म विषे भी समझना। ज्ञान से भी ब्रह्म की प्राप्ति है, प्रेम से भी ब्रह्म की प्राप्ति है। प्रेमी तथा ज्ञानी एक ही है। प्रेमी से ज्ञानी श्रेष्ठ है। ज्ञानी से प्रेमी श्रेष्ठ है। इनमें अधिकता न्यूनता की बुद्धि रखनी अज्ञानता का कार्य है।

किसी एक प्रसंग पर ज्ञानी तथा प्रेमी वन में चले जाते थे, इतने में सामने बाघ दिखायी दिया। प्रेमी ने कहा—"हम तो भागते हैं। नहीं तो बाघ खा जायगा!"

ज्ञानी ने कहा—"हम तो परमात्मरूप ही हैं, परमात्मा-परमात्मा की रक्षा करेगा ही!"

प्रेमी ने कहा—"भले आदमी! जो कार्य अपने से हो सकता है, उस कार्य के लिये परमात्मा को श्रम देना यह क्या योग्य है?"

प्रेमीजन परमात्मा में जिस प्रकार एकतार हो जाता है, उसका स्वरूप निराला है। प्रेमी अवतारी पुरुष है। ज्ञानी सिद्ध पुरुष है। प्रेमी अनेक के सहवास में आकर, जलकमलवत् निर्लेप रह, अनेकों का उद्धार करता है। ज्ञानी सिद्ध दशा में रह, जगत् के भय से दूर भागता है। प्रेमी जगत् में रहने पर भी निर्लेप रहता है तथा वही श्रेष्ठ है। प्रेमी जिस प्रकार परमात्मा में एकतार हो जाता है, परमात्मास्वरूप बन जाता है, परमात्मा में आत्मा को विलीन करता

है, परम आत्मा में उसका आत्मा लीन हो जाता है, उसकी खूबी का वर्णन नहीं हो सकता। ज्ञानी की लीनता अन्य ही प्रकार की है। ज्ञानी जल के बुदबुदे के समान है। जल में से उपज, जल में ही समा के विलय को पाता है। प्रेमी वीणा के सुर (स्वर) के समान है, आप आनंद भोगता और दूसरों को आनंदभोग कराता है। पर दोनों एक ही हैं। तात्पर्य यह कि प्रेमी जीवन्मुक्त है और ज्ञानी विदेहमुक्त है।* ज्ञान ही प्रेम है, प्रेम ही ज्ञान है। ज्ञान से उत्पन्न हुआ प्रेम सबसे श्रेष्ठ है, प्रेम से उपजा हुआ ज्ञान ही अचल-अटल, अबाध्य रहता है। इसी ज्ञान प्रेम में रहता हुआ ज्ञानी जीव सर्वकाल परमात्मा का सामीप्य भोगता हुआ सायुज्य को पाता है। यह अति अद्भुत है। सत्य है। इसी दशा को प्राप्त जीव ईश्वर की कृपा से शीघ्र मुक्त हो जाता है। अजामिल जैसा (अधम जीव) क्षणमात्र में ही इस दशा को प्राप्त कर सका है। यह प्रेम-अनन्यता का प्रताप है। जिस प्रेम से अजामिल ने नारायण का भजन किया है, वही प्रेम शुद्ध और सत्य है, ज्ञानी की वृत्ति तीव्रतम उच्चाभिलाषी है, प्रेमी का हृदय-वृत्ति-भावना उच्च तथा संस्कारी है। दोनों के आत्मा में परमात्मा का शुद्ध ज्ञान तथा शुद्ध प्रेम ये समान ही गंभीर और गाढ़ हैं। प्रेमी तथा ज्ञानी भूमा* ब्रह्म के दर्शन के अधिकारी हैं। प्रेमी परमात्मा के सकल दरबार गढ़ में जाने का अधिकारी है। ज्ञानी दरबार का सामंत है। राजा सामंत के साथ सदा ही सलाह करता है, अपने हृदय की लहरें उसको समझाता है, पर प्रेमी तो

---

* जीवन्मुक्त तथा विदेहमुक्त का स्वरूप पूर्वापर समझाया है, उसका स्पष्टार्थ ऐसे समझना "न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरत्यन्तमुपहतिरस्ति" और "न वा शरीरस्य प्रियाप्रिये स्पृशतः" सशरीर जीव को प्रियाप्रिय का नाश होता नहीं, जो अशरीर है उसे प्रियाप्रिय स्पर्शता नहीं, यह श्रुति जीवन्मुक्ति की प्रतिपादक है। ज्ञानी को शरीरपातपर्यन्त जीवन्मुक्त की संज्ञा दी जाती है तथा शरीरपात के अनन्तर उसे विदेहमुक्त कहा जाता है। पर जनक जैसों को विदेहमुक्ति की संज्ञा प्राप्ति का कारण यही है कि उनको देह के ऊपर ममत्व विगत हुआ-जाता रहा था, अर्थात् जनक को जहां विदेहमुक्त कहा जाता है, वहां शास्त्रदृष्टि से उनको जीवन्मुक्त ही समझना, कारण कि शरीरपात से पूर्व शास्त्रानुसार कोई विदेहमुक्त नहीं कहा जाता। ज्ञानदृष्टि से, मोक्षदृष्टि से जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त एक ही हैं, पर जीवन्मुक्त को प्रारब्ध क्षीण होने तक भोग भोगने पड़ते हैं तथा विदेहमुक्त एक ही है, पर जीवन्मुक्त को प्रारब्ध क्षीण होने पर भोग भोगने पडते है तथा विदेहमुक्त को कुछ रहता ही नहीं, क्योंकि उसके शरीर का पात हुआ है। अर्थात् जीवन्मुक्त के चित्त के स्वरूप का नाश होता है और विदेहमुक्त के चित्त का स्वरूप ही नाश को प्राप्त होता है।

† यो वै भूमा सत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति।

राजा के रनवास से लगाकर राजा के गुप्त कार्य में भी राजा के समीप में और अंतर में (भीतर) दोनों स्थानों में रह सकता है। ज्ञानी ज्ञान में स्वसुख के लिये ही तरसता है। प्रेमी अपने प्रेमपात्र के सुख के लिये भी तरसता है। प्रेमी अपना सर्वस्व परमात्मा को ही देखता है। वृन्दावन की गोपियां प्रेम की पात्र थीं। श्रीकृष्ण को जगत् का नाथ न जान कर, गोपीनाथ जान, कृष्णमय होने से वे मुक्ति को प्राप्त हुई हैं। ऐसे प्रेम का पात्र बनने के लिये तन, मनरहित बन जाना चाहिये। सदा उत्साही रहना चाहिये, दृष्टिमात्र का विलोप करना चाहिये, दृष्टि का दृष्टि में विलय करना चाहिये, चित्त तथा चैतन्य, द्रष्टा तथा दृश्य ये नाम मात्र की उपाधियें टल जानी चाहिये, भेद मिटाना चाहिये, अभेदमय हो जाना चाहिये। बलवती भोगवृत्ति का नाश होना चाहिये। यह दिव्य प्रेम—ज्ञान, आत्मा की प्रगाढ़ शक्ति प्रेम रसायन। इसका जो भोगी है, वह इसमें सर्वकाल रमण करता है और उसकी वृत्तियां विरम जाती हैं। यही प्रेमी परमज्ञानी है, जिसने भाववृत्ति से भावत्त्व, शून्य वृत्ति से शुन्यत्व, परब्रह्म वृत्ति से पूर्णत्व जाना है और उसमें सर्वस्व का विलय किया है। हे प्रकटप्रज्ञा! ज्ञानी पुरुष रूप है। प्रेमी स्त्री रूप है। जैसे युगल रूप बिना सृष्टि नहीं, वैसे अकेले ज्ञान से मोक्ष है ऐसा मैं नहीं मानता, गुरुदेव भी नहीं मानते। प्रेम बिना ज्ञान मिथ्या है, ज्ञान बिना प्रेम व्यर्थ है। ज्ञानी और प्रेमी दोनों ही सायुज्य मुक्ति के-निजपद के अधिकारी हैं। दोनों प्रेम ब्रह्मरूप बन रहे हैं। ब्रह्म में ही विलास करते हैं। जगत् में रहने पर भी जिसका द्वैतभाव अदृश्य हुआ है वह ज्ञानी-प्रेमी निर्हेतुक भक्ति में ही लीन रहता है, क्योंकि हरि प्रेमज्ञानरूप ही हैं। जैसे संसारी अविवेकी जीव को विषय में अटल प्रीति है वैसी ही अटल हरिप्रीति मेरे हृदय में से न जावे।"

X X X X

इस प्रकार की अनेक ज्ञानगोष्ठी करने के बाद सुविचारशर्मा तथा प्रकटप्रज्ञा गुरु के आश्रम प्रति चले। मार्ग में सुविचारशर्मा ने फिर कहा—"तुम साक्षात् प्रकटप्रज्ञा हो! देवी तुम्हारे प्रताप से इस ज्ञान की ऋद्धि-सिद्धि मुझे प्राप्त हुई है। तुम मुझसे विशेष भाग्यवती हो, प्रतापी हो और ईश्वर सान्निध्य प्राप्त करने की पूर्ण अधिकारिणी हो।"

पति के मुख से ऐसे वचन सुनकर छद्मलिंग थोड़ी देर चुप रही और फिर बोली—"हे स्वामिनाथ! मैं इस लोक के व्यवहार में आपकी दासी हूं। प्रकटप्रज्ञा का परम नाथ सर्वस्व सुविचार है। सुविचार ही प्रकटप्रज्ञा का रक्षक

है। पति के सहवास से पत्नी निर्विकार बन निरंजन को जानने के लिये भाग्यशाली बनती है। जो आपसे संत ने मेरा पाणिग्रहण न किया होता, तो मेरी क्या दशा होती? साक्षात् शंकर के अविच्छिन्न दर्शन का लाभ प्राप्त हुआ है, उनके मुख से झरते हुए ज्ञानामृत का नित्य पान करने में आता है, यह सब आपके चरण कमलों का ही प्रताप है। हे महात्मन्! हे संत! आपको शोधने मैं निकली न होती तो इन महात्मा के दर्शनों का अलभ्य लाभ मुझे कहां से मिलता? कारण मात्र के कारण तथा अपने कल्याण में मैं केवल आपको ही देखती हूं। मेरी इतनी ही इच्छा है कि मैं सदा आपके साथ ही रहूं और आप सदा मेरे साथ रहें तथा मेरा मन, प्राण, चित्त सब आपमें विलीन रहे।"

इस प्रकार वातचीत करते-करते वे गुरु के आश्रम में जा पहुँचे। मार्ग में से बीने हुए सौगंधिक पुष्पों की माला गुरु के कंठ में आरोपित की तथा कृतांजलिपूर्वक चरणवंदन कर महात्मा के मुख से ज्ञानामृत का पान करने के लिये उनके समीप जा बैठे।

ॐ

अष्टम बिन्दु

शुद्ध संकल्प–सात्त्विक भावना

सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया।
कीटको भ्रमरीं ध्यायन्भ्रमरत्वाय कल्पते ॥

अर्थः—सदासक्त-एक निष्ठा से सत् (ब्रह्म) के चिंतन में लगा हुआ पुरुष सत् (ब्रह्म) पने को पाता है, जैसे भ्रमरी के ध्यान वाला कीट भ्रमरीरूप को पाता है।

विवेकचूड़ामणि।

गुरूदेव से आज का उनका चरित्र अज्ञात न था। जो ज्ञान सुविचार तथा प्रकटज्ञान ने प्राप्त किया है उससे महात्मा प्रसन्नचित्त थे। 'प्रकटप्रज्ञा के कारण सुविचार का ज्ञानप्राप्ति का कार्य सिद्ध हुआ है तथा प्रकटप्रज्ञा पर सुविचार की पूर्ण श्रद्धा है,' ऐसा जान उसके मन का कुछ विशेष समाधान करने के लिये गुरुदेव ने कहा—

"वत्स सुविचार! इस लोक के जीवों को बंध तथा मोक्ष में डालने वाला मन है। मन अनेक नयी-नयी सृष्टियो को रचने वाला है। मन को सात्त्विक मार्ग में लगाओ तो वहां लग जायगा और जो राजस तामस की ओर प्रेरणा करो तो वहां भटकेगा। इन मार्गों में विचरता हुआ उसी-उसी मार्गरूप उसी-उसी की भावना करेगा। संकल्प करेगा। भावनानुसार वासना प्रकट होगी। वासनानुसार फल मिलेगा। इस भावना का फल उसको इस जन्म में मिलता है। जिसकी उच्च भावना दृढ़ शुद्ध अन्तःकरण से उद्भूत हुई होगी उसे वैसे फल प्राप्त होंगे। इसलिये जीव को सर्वदा-ऊंची, उत्तम बड़ी-बड़ी उन्नतपने की मोक्ष की भावना नित्य करनी चाहिये तथा मन को इस भावना में ही दृढ़ करते रहना, यह सर्वथा श्रेष्ठ कर्तव्य है। क्योंकि जो जैसी भावना करता है, जो जैसी वासना से बँधा है, वह वैसा ही वैसा होता है। जो राजा की भावना करता है, तो वह राजा बनता है। चाण्डाल की भावना करने वाला चाण्डाल होता है, श्रीमन्त की भावना करता है तो श्रीमन्त, विद्या की भावना करने वाला विद्वान्, चक्रवर्ती की भावना करने वाला चक्रवर्ती, क्रोध की भावना करने वाला क्रोधी, क्रूरता की भावना

करने वाला क्रूर तथा आत्मबल की भावना करने वाला अपनी भावनानुरूप फल प्राप्त करता है। अज्ञ मनुष्य 'मैं राजा होऊं, मैं श्रीमान् होऊं, मैं विद्वान होऊं, मैं कीर्तिमान् होऊं, मैं ब्रह्मनिष्ठ बनूं, ऐसे मनोरथ घर में बैठा-बैठा किया करे तो उससे तो कुछ राजा, धनवान् विद्वान, कीर्तिमान् या ब्रह्मनिष्ठ नहीं होता, पर जो उसकी भावनारूप वासना दृढ़ होगी, तो वह इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में भावनानुरूप फल को प्राप्त करेगा ही।

जीव के जीवित का एक पवित्र क्षण

प्रत्येक जीव के जीवन में एक क्षण ऐसा आता है कि उस क्षण में जो भावना दृढ़ घर कर लेती है उसके उसी वासना का पिंड बनता है तथा उस वासनारूप ही फल प्राप्त होता है। इस शुभ क्षण में दृढ़ हुआ संकल्प-मनोरथ- भावनानुसार फल देता है, तो सदा जिसको एक ही भावना की रटन रहती है, उसे वह भावना फले तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? केवल वह भावना दृढ़-शुद्ध-पवित्र होनी चाहिये, विशेष कुछ नहीं। क्षण में एक और क्षण में दूसरा, ऐसे प्रतिक्षण परावर्तन पाये हुए संकल्प कुछ भावना वासना नहीं, यह तो भ्रमणा मात्र हैं। जिन-जिन जीवों ने उन्नत स्थान को पाया है वे परम भक्त, परम ज्ञानी बन, श्वेतद्वीपवासी बन, मुक्त हुए हैं। यह उक्त शुभ काल में विशुद्ध मन से किये हुए संकल्प-मनोरथ-भावना का ही प्रताप है। पवित्र काल में हुई पवित्र भावना शनैः शनैः दृढ़ होती है। उस भावना को पूर्ण होने के लिये मथन करता है, मायाजाल में से छूटता भी जाता है, मार्ग (सद्गुरू) भी मिलता, उत्तरोत्तर सकल साधन प्राप्त कर परम फल को भी प्राप्त करता है। अल्प प्राणी संकल्प-मनोरथ भावना के माहात्म्य का जानकार न होने से प्राप्त हुए फल के अनेक कारण कल्पना करता है। पर यह सब मिथ्या है। जो प्राप्त होता है-निर्धन या धनवान्, विद्वान् या मूर्ख, दाता या कृपण, कीर्तिमान् अथवा निंदापात्र, राय या रंक, भक्त या नास्तिक, ज्ञानी या अज्ञानी, बंधनमय या मुक्त, ऐसा सब जो इस प्रपंच में देखने में आता है, उसका मूल कारण इस लोक में जन्म जन्मान्तर में उपरोक्त पवित्र क्षण में हुआ पवित्र दृढ़-संकल्प-मनोरथ-भावना ही है। वह पवित्र क्षण कब आ पहुँचे, यह मनुष्य जानता नहीं, इसलिये परम पद की प्राप्ति चाहने वाला जीव प्रतिक्षण उत्तम संकल्प-मनोरथ- भावना-करने की मन को टेव डाले कि जिससे अदृश्य रहा हुआ वह पवित्र क्षण कहीं निकल न जाय और जीव को हाथ घिसते क्षुद्र भावना का कष्ट प्राप्त होकर जन्म जन्मान्तर भटकते, आवर्जन और विसर्जन, पुनः पुनः

जन्ममरण के कष्ट भोगने का भागी न होगा पड़े।

वत्स! इस जगत् में जो अनेक साधन सिद्ध होते हैं वे पूर्वजन्म के उस पवित्र क्षण की पवित्र भावना के रूप ही हैं। इसमें कुछ किसी का उपकार नहीं। कुम्हार घड़ा तैयार करता है, उसमें न तो उस पर मिट्टी का उपकार होता है, न चाक का उपकार होता है और न चाक फेरने वाले दंड का उपकार होता है। एक दूसरे का संयोग होते ही पूर्वकाल की भावनानुरूप एक दूसरे का कार्य साधता है। जिस ज्ञान की तुझे प्राप्ति हुई है, उसमें प्रकटप्रज्ञा का कुछ बल नहीं, बल्कि तेरे और इसके पूर्व जन्मों के उस पवित्र क्षण की पवित्र भावना ही प्रधान कारण है और तुम्हारे अनेक जन्मों के कर्म इस जन्म में पूर्ण हैं। अनेक जन्म के पवित्र संकल्प-भावना से तुमको इस जन्म में उसका फल 'यथार्थ ज्ञान' मिला है, तुमने सत्य को जाना है, आज वह जानना पूर्ण हुआ है। जीवमात्र की उस पवित्र क्षण में जैसी-जैसी भावना होती है, उसी भावना के अनुसार वासना का पिंड बँधता है और वह जन्म जन्मान्तर में उसकी वासनानुसार फल प्राप्त कराता है। वासना जो सात्त्विक हो तो सात्त्विक फल मिलता है, राजस हो तो राजस, तामस हो तो तामस फल मिलता है। वर्तमान जन्म में जीव जो-जो भावनाएं करता है। वे भावनाएं अन्य जन्म में स्फुरायमान होकर प्रकाशित हो उठती हैं। दृढ़ हुई भावना के अनुसार चिंतन किया हुआ पदार्थ, भोग, पदवी, उसके समक्ष आकर उस जन्म में भी खड़े रहते हैं। भावना का बल इतना विशाल है कि उससे सच्चिदानन्द विराटस्वरूप श्रीपरम परमात्मा भी शुद्ध भावना करने वाले की संपूर्ण इच्छाओं के अधीन होकर अनेक प्रकार के अवतार भी धारण करता है।

राजा दशरथ की जन्मान्तर में हुई भावना

हे वत्स! भगवान् श्रीरामचन्द्र जी के माता-पिता दशरथ कौशल्या की पूर्व जन्म की भावना का तुझे यथार्थ ज्ञान न हो तो सुन! महाराजा दशरथ और देवी कौशल्या जन्मजन्मान्तर में स्वायंभुव मनु और शतरूपा थे। वे उस जन्म में अनेक प्रकार के मनोरथ करते थे। उनके संकल्प-भावना-वासना अति दृढ़ थे, इससे उस जन्म में भी उन्होंने अनेक प्रकार की संकल्प सिद्धि प्राप्त की थी। उत्तम संकल्प के अनुसार दंपती की भावना अति प्रबल और दृढ़ हो गयी। दोनों ने यह मनोरथ किया कि 'हमारे यहां विराट् भगवान पुत्ररूप में अवतरें, उनकी लीला क्रीड़ा देखें, लाड़-प्यार करें, अनेक प्रकार के सुख भोगें तथा उनके संबंध से असार संसार को तर जायँ।' दिन प्रतिदिन यह भावना दृढ़ होती गयी।

वे नित्य प्रार्थना करने लगे कि 'हे परम प्रभो! हे परमात्मन्, हे सर्वेश्वर, हे सर्वाधार, हे सच्चिदानंद! तू भक्त की कामना का कल्पद्रुम है, अनंतकोटि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति तेरी इच्छा मात्र से होती है, भक्त के प्रेम के तू अधीन है, उसकी कामना पूर्ण करने को तू अनेक प्रकार से दर्शन देता है, जो तेरे अधीन है, तू उसके अधीन है। हे प्रभो! तेरे शुद्ध सात्त्विक स्वरूप का दर्शन हो और हमारी मनःकामना पूर्ण हो, ऐसी करूणा कर!'

यह प्रार्थना करते-करते भगवान् मनु तथा उनकी पत्नी शतरूपा कदंमूल का आहार करके परम तप करने लगे। इस तीव्र तप के प्रभाव से उनका ध्यान-निष्ठा-भावना एक रूप ही हो गयी! अन्त समय में तो केवल वायु भक्षण करके ही दंपती रहते थे। उनके तप के प्रभाव से आश्रम स्थान के आसपास का प्रदेश देदीप्यमान हो गया था। दोनों के अस्थिमात्र रह गये थे। पर उनके तपस्तेज का वर्णन नहीं हो सकता। इन्द्रादिक लोकों में भी उनके तप का यशोगान होने लगा। देव देवादि उनके तप से प्रसन्नचित्त होकर उनको अनेक प्रकार के वर देने को तैयार हुए। परन्तु 'जिनका संकल्प, मन का मनोरथ शुद्ध, सुघड़, सुन्दर और परम है, जगत् के ऊपर जिनकी आसक्ति नहीं, जिनकी भावना तीव्रतर हुई है, जिनकी विद्याशक्ति की वृद्धि हुई है तथा जिनकी अविद्या का ह्रास हुआ है,' ऐसे मनु भगवान को वर की कामना न होने से सब देवता मनु भगवान की स्तुति करते-करते बिदा हो गये। परमात्मा के गुणगान में धीर, उत्साह संपन्न, दंपती अधिकाधिक समाधिनिष्ठ होते गये। उनका संकल्प-भावना दृढ़ होकर उसी में तन्मय तदाकार हो गये। शरीर, अन्तःकरण तथा प्राण का सर्व भान और चंचलता निस्तेज हो गयी। भावनाशक्ति की पूर्णता यही उनका संयम था। जिनकी भावना अखंड, अविचल और एकाग्र है, वह कितने काल तक रहती है, इसका कुछ प्रमाण नहीं, वह अनंतकाल रहती है। दोनों ने अनंतकाल पर्यंत तपस्या की।

'ऐकान्तिक प्रेमाकुल भक्तचन्द्र के आकर्षण से करुणासिंधु एकदम उछल जाता है,' इसी प्रकार परमात्मा की उनके ऊपर पूर्ण कृपा हुई। गंभीर रूप से अद्वैत बनी हुई शतरूपा और मनु भगवान की आनंद कल्लोल ध्वनि, कर्ण प्रदेश में होकर हृदय में प्रविष्ट हुई। उस अमृतमय स्पर्श से शतरूपा और मनु भगवान की भावना-संवेदना और शरीर अत्यन्त प्रफुल्लित हो गये।

वह दिव्य गान कर्ण प्रदेश में ध्वनिरूप से सुनायी पड़ने लगा। आन्तर दृष्टि में परम तत्त्व ज्योतिरूप का दर्शन होने लगा। परन्तु उससे तृप्त न हो

कर स्वायंभुव मनु ने प्रार्थना की कि–"हे प्रभो! आपके केवल मनोमय दर्शन से ही मुझे तृप्ति नहीं, इस दीन के दृष्टिगोचर हूजिये!"

भक्तजन की प्रेमपूर्ण भावना देखकर विराट् भगवान का साक्षात्कार हुआ। उस अनुपम सौंदर्य मूर्ति का वर्णन वाणी नहीं कर सकती। परमात्मा के अंग प्रत्यंग में दिव्य शोभा छा गयी थी। उनके मृदु तेजस्वी श्याम शरीर की कान्ति को नील कमल या नील मेघ की उपमा भले दीजिये, परंतु जगत् में नाम रूप से पहचाने जाते कोई पदार्थ वस्तुतः उसकी उपमा के योग्य नहीं। करकमल, चरणकमल और अधरोष्ठ 'प्रखर अग्नि के दाह पर मेघ के शीतल जल सिंचन से जैसे शान्ति हो,' वैसी शान्ति देनेवाले थे। सुभग नासिकायुक्त मुखचन्द्र की शोभा शरतचन्द्र को लज्जित करने वाली थी। भ्रमर के समान श्याम रंगवाले, कोमल घूंघर वाले बाल, गर्दन पर सुशोभित थे। नेत्रों में से निकलता अमृत भक्त के हृदय को उल्लसित करता था। विशाल भाल और काम के धनुष् के समान वक्र भौंहों के बीच केशर का तिलक शोभायमान था। कानों में जो मकराकृति कुंडल थे, वे क्षण-क्षण कपोलों पर टकराते थे और उनमें से दिव्य प्रकाश होता था, जिससे मुखमंडल पर दिव्य तेज झलक रहा था। मस्तक पर जो दिव्य मुकुट रत्नजड़ित था, उसका तेज नवग्रहों के तेज के समान था। सुन्दर शंखाकार कंठ में धारण की हुई मोतियों की माला और वैजयंती माला श्याम शरीर के ऊपर तारागणों के समुदाय की तरह अनुपम शोभा दे रही थी। विशाल वक्षःस्थल पर भृगुलत्ता का चिन्ह निस्सीम गांभीर्य दर्शाता था। भक्तों का उद्धार करने वाले हाथी की सूंढ के समान आजानु बाहु भुजाओं में रत्नजड़ित कंकण दीप्त हो रहा था और भक्त भयहरण चरणारविंद में सुवर्ण के नूपुर रुमझुम कर रहे थे। सीधी और कोमल अंगुलियों में रत्नजड़ित मुद्रिकाएं दमक रही थीं। पैरों की अंगुलियों के नख चांदनी के समान चमकते थे। चरणतल में वज्र, अंकुश, ध्वजा और कमल के चिन्ह विराजमान थे। पीठ पर तरकस था। हाथ में अभयदंड था। बिजली के समान चमचमाता पीताम्बर कटि पर धारण किये हुए थे। शंख, चक्र, गदा और पद्म ये चार पुरुषार्थरूप चार आयुधों को धारण किये थे। बायीं ओर सौंदर्य की शोभा की खानरूप चित्-शक्ति महामाया मंद मंद हास्य करती और वंदना करती दोनों हाथ जोड़े खड़ी थी। 'यह सब अलंकार अलौकिक थे।

ऐसे जगत्-मोहन लोकोत्तर अदृष्टपूर्ण रूप धारण करके सर्वेश्वर भगवान के दर्शन दिये। दंपती के नेत्रों में प्रेमाश्रु की धारा बहने लगी। अत्यानंद से कंठ

गद्गद हो गया। कष्ट से भी बोलने को दंपती समर्थ न हुए। उनका शरीर शिथिल हो गया और दंडवत् प्रणाम करते ही दंपती हर्ष से मूर्छित हो गये।

फिर दयानिधि ने अभयप्रद हाथ से दंपती को उठाकर कहा—"तुम्हारी निस्सीम प्रेमाढ्य भक्ति से आकर्षित होकर मैं तुम्हारे अधीन हुआ हूं। हे मनो! हे शतरूपे! तुम मेरे अनन्य भक्त हो, तुम्हारे जो-जो मनोरथ हों वे निःसंकोच मुझसे कहो, उन्हें पूर्ण करने को मैं सदा उत्सुक हूं। ऐसा मेरे पास कोई पदार्थ नहीं जो भक्त को देने योग्य न हो, विराट में मेरा जो जो कुछ है वह सब भक्तों का ही है। मैं भी भक्तों का ही हूं और यह मेरी चित्-शक्ति महामाया तुम्हारी अनन्य भक्ति से प्रसन्न है। सात्त्विकपन से तुम्हारे कल्याण में हम सदा तत्पर हैं। हे मनो! हे शतरूपे! तुम जानो कि मैं भक्तों का हूं और भक्त मेरे ही हैं।"*

परमात्मा की इस परम शीतल करने वाली वाणी से अति शीतल बने हुए दंपती बोले—"हे जगन्निवास भक्तवत्सल! हे सर्वेश्वर! आप अनंत वरदान के देने वाले मेरे सम्मुख हैं, पर जैसे जन्मदरिद्री कल्पवृक्ष के नीचे रहकर भी विपुल संपत्ति भोगने में लज्जा पाता है, वैसे ही 'आपके पास से क्या मांगना' यह हे प्रभो! हमको सूझता नहीं! आपके उदंड औदार्य के आगे हम सदा ही संकुचित हैं, परंतु आपका अपूर्व प्रेम हमको ढीठ बना देता है। हे प्रभो! हम आपके प्रेमरत्नाकर में प्रेमबद्ध हो कर डूबे रहें इस लिये आप हमारे यहां पुत्ररूप से अवतार लीजिये!"

ऐसी प्रेमभरी वाणी सुनकर विराट् भगवान् ने कहा—"पुत्रवात्सल्य के प्रेम के लिये तुम्हारी इच्छा तृप्त कर मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूंगा। हे महाभाग सती शतरूपे! तुम पृथक् वरदान मांगो, क्योंकि मेरी जो शक्ति है, ऐश्वर्य है, सो सती का प्रताप है। जगत् में जन्मी हुई और जन्मने वाली सतियां निरंतर मेरी शक्ति और ऐश्वर्य में वृद्धि करती हैं। ऐसी सतियों के चरणारविंद मेरे चरणों से बहुत पवित्र हैं और सती के आनंदपूर्णत्व में मुझे परम आनंद है।'

सती शतरूपा ने कहा—"हे आनंदकंद! पति के वरदान से मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ है। हे प्रभो! 'आपकी निर्वासनिक और ऐकान्तिक भक्ति मुझमें रहे, आपके बालसुख की भोगने वाली बनूं और आपके चरणों में निस्सीम भक्ति करके मैं वैराग्यवाली और ज्ञानवती होकर अंत में आपके चरणों को प्राप्त होऊं,' यह वरदान दीजिये! तुम्हें लाड़ लड़ाऊं, प्यार करूं, मेरी वृत्ति सदा तुममें ही जाग्रत रहे, मैं तुम्हारा नित्य लालन पालन करूं ऐसी मेरी जो नित्य की भावना है उसे पूर्ण करो।"

ऐसा मधुर और अति गूढ़ वचन सुनकर, प्रसन्न मुख से निरंजन, निराकार

* ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।

और साकार ऐसे विराट् भगवान ने कहा—"हे जननि! हे जनक! तुम्हारी इच्छानुसार सब होगा। रघुकुल में दशरथ कौशल्यारूप में तुम जन्मोंगे तथा रामरूप से मैं तुम्हारे यहां जन्मूंगा। यह महामाया चित्-शक्ति मेरी भार्या होगी। वहां तुम्हारे सब मनोरथ मैं पूर्ण करूंगा। हे जननि! वसुदेव देवकी रूप से चन्द्रवंश में तुम जन्मोगे। वहां तुम मुझे बालक की तरह लाड़ लड़ाइयो।" ऐसे वरदान देकर विराट भगवान अन्तर्धान हो गये।

हे वत्स सुविचार! इस भावनानुरूप स्वयं परमात्मा ने साकाररूप धारण करके दशदथ रूपी मनु भगवान के घर में वास किया था। शतरूपा ने कौशल्या और देवकी-अवतार लेकर लाड़ लड़ाया था। हे वत्स! जिसकी दृढ़ भावना है, उसको कुछ अप्राप्य नहीं। प्राप्य अप्राप्य का प्रश्न जिसकी भावना शुद्ध नहीं उसी को है।

इस जगन्नगर के अनेक जीवों में कोई बड़ा और कोई छोटा है। कोई क्रूर और कोई मृदु है, कोई राजश्रीसंपन्न है, कोई कांचनहीन है, यह सब उनका जन्मजन्म की भावना का ही फल है। जिसकी उत्तम भावना है वह उत्तम फल को पाता है। जिसकी कनिष्ठ भावना है वह कनिष्ठ फल को पाता है। उत्तम मोक्षदायी भावना होने के लिये कर्ताभोक्ता की भावना छोड़, संसार की भावना छोड़, शरीर को विनाशी समझ, आत्मसत्ता का विनाश कर अनंतता में लय करना चाहिये। यह भावना-वासना शुद्ध है और उसका जन्म तथा मृत्यु का विनाश करने वाली है। एवम् परम ज्योति के दर्शन कराने वाली ही नहीं, बल्कि परम ज्योति में विलीन कराने वाली व चिदानंदमय है। दृढ़ संकल्पयुक्त शुद्ध सात्त्विक भावना का फल परम कल्याणकारी तथा सायुज्य मुक्ति का दाता है। यह भावना प्रबल करने के लिये पुरुष के स्वरूप का दर्शन कर, नित्य इष्ट का ही अध्यास रखना चाहिये। एक दिन में, एक वर्ष में या एक जन्म में उस पवित्र क्षण में जन्मी हुई वासना (भावना) जो क्रम-क्रम से परिपक्क दशा को प्राप्त होती जाती है, वह सिद्ध नहीं होती, परंतु नित्य-नित्य क्रम-क्रम से इस पवित्र भावना को दृढ़ करते-करते जन्मजन्मान्तर में वह शुद्ध सात्त्विकपने को पाती है तथा तब ही उसके इच्छित मनोरथ पूर्ण होते हैं।

हे वत्स सुविचार! जो फल आज तुझे प्राप्त हुआ है वह तेरी अनेक जन्मजन्मान्तर की भावना की परिपक्क दशा का परम फल है। प्रकटप्रज्ञा केवल निमित्तमात्र है। 'प्रकटप्रज्ञा से तुझे उत्तम ज्ञान की प्राप्ति हुई है,' ऐसा तुझे न समझना चाहिए, बल्कि चिरकाल तक सुविचार-सात्त्विक भावना से हुई विशुद्धि का ही फल है।

पूर्वकाल में ऐसे अनेक प्रसंग बन गये हैं, जिनमें मायावश जीवों को क्षणमात्र

के प्रसंग से शुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ है। रहूगण राजा को जड़भरत के क्षणमात्र के प्रसंग से परम ज्ञान प्राप्त हुआ था। देवहूति को कपिलदेव के पास से अध्यात्म ज्ञान प्राप्त हुआ था। युद्ध जैसे भयानक प्रसंग में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ज्ञान दिया था। पुत्रों के मरण से खिन्न हुई देवकी को श्रीकृष्ण ने मृत पुत्रों के दर्शन कराकर ज्ञान की अधिकारिणी कीयी थी। ऋषि के कंठ में मृत सर्प का आरोपण करा कर शुकदेव जी के मुख से राजा परीक्षित को ज्ञान कराया था। यह सब किससे बना? यह क्या एक ही जन्म का मनोरथ-सुविचार संकल्प भावना का फल था? नहीं, नहीं जन्मजन्मान्तर में रहूगण का, देवहूती का, अर्जुन का, देवकी का तथा परीक्षित का दृढ़ संकल्प था, पवित्र भावना थी-जिससे अन्तिम जन्म में निमित्त मात्र से परम ज्ञानवान् बन, मोक्ष के साधन का संग्रह कर तर गये थे। भावना को प्रसंग मिलते ही वह पूर्ण हो गयी। नहीं तो मार्ग में जाना कहां, पालकी उठाना कहां, जड़ भरत का कूदना कहां, रहूगण का कुवाक्य कहां, भरत का ज्ञानोपदेश करना कहां, यह कुछ एक ही जन्म का और एक ही प्रसंग का फल नहीं, बल्कि अनेक जन्म की सात्त्विक भावना का ही फल था। देवहूति के भी नव पुत्रीयों के पीछे पुत्र की कामना होनी और उसके मुख से ज्ञान सुनना, भयानक रणसंग्राम के प्रसंग में अर्जुन को मोह होना, श्रीकृष्ण को परम पुरुष जानने के पीछे भी देवकी का मरे हुए पुत्रों के लिये विलाप करना और धर्म की रक्षा करते हुए राजा परीक्षित को कलि के संग से धर्म की विस्मृति होनी तथा अकार्य हो जाना, शाप पाना तथा शुकदेवजी के मुख से तत्त्वोपदेश संपादन कर असार संसार से पार जाना, वह कुछ सहज प्रसंग की संपत्ति नहीं, बल्कि अनंत जन्मों का फल है। ऐसा फल प्राप्त करने के लिये प्रत्येक जीव को शुद्ध सात्त्विक षट्संपत्ति का आराधन कर क्रम-क्रम से उत्तमता प्राप्त कर, पूर्णत्व को पाना चाहिये। वत्स को भी यह प्रसंग प्राप्त हुआ है, यह तेरा अहोभाग्य है। तेरी शुद्ध सात्त्विक भावनाओं की अवधि से ही सांप्रत प्रसंग प्राप्त हुआ है। पूर्वकाल में ऐसा ही प्रसंग अवधूत की माता को प्राप्त हुआ था।"

"हे आनंदकंद! हे महात्मन्! हे गुरुदेव! हे दयासिंधों! कृपा करके अवधूत की माता को यह प्रसंग कैसे प्राप्त हुआ था, यह हमसे कहो" ऐसा सुविचार ने हाथ जोड़कर कहा।

अवधूतचरित्र

हिमगिरि के महात्मा ने कहा—"हे वत्सो! पूर्वकाल में निर्गुण नगर में बुद्धिमती नाम की एक स्त्री थी। वह जन्मदरिद्री थी। उदर पोषण भी वह

महाकष्ट से करती थी। घर-घर और द्वार-द्वार भीख मांग कर वह अपना निर्वाह करती थी। एक समय बुद्धिमती फिरती-फिरती किसी ब्राह्मणी के घर के पास जा पहुँची। यह ब्राह्मणी मरणशय्या पर पड़ी थी। इस ब्राह्मणी के पास शालिग्राम की एक परम पवित्र मूर्ति थी। उसका वह नित्य पूजन वंदन सेवन करती थी। मरते समय उसकी नित्य की सबल भावना प्रफुल्लित हुई। उसके नेत्रों के सामने परम प्रभु प्रत्यक्ष होने लगे। उस समय सब दुःखों को बिसार कर वह एक ही रटना करने लगी कि, 'मेरे मरण के पीछे इन मेरे इष्ट भगवान् शालिग्राम का कौन पूजन करेगा?'

इस परम पवित्र भावना के योग से इस ब्राह्मणी के परम पवित्र देह का त्याग करने के लिये उसका पवित्र आत्मा प्रसन्न नहीं था। सात-सात लंघन होने पर भी उस ब्राह्मण बाला का आत्मा उसके शरीर को त्याग कर नहीं गया। वह मुख से शालिग्राम-शालिग्राम ही जपा करती थी। इतने में बुद्धिमती उसके द्वार पर जा पहुँची तथा ब्राह्मणी को निश्चेष्ट दशा में देख, उसके पास गयी। ब्राह्मणी को चेतनता आयी और बोली—"अरी बुद्धिमति! इन मेरे शालिग्राम भगवान का तू नित्य मेरे समान ही पूजन करेगी?"

बुद्धिमती ने स्वीकार किया। ब्राह्मणी ने शालिग्राम की वह मूर्ति उसे सौंपी तथा उसी समय उसका पवित्र आत्मा उसकी शुद्ध भावनानुरूप दिव्य लोक में प्रयाण कर गया।

उस ब्राह्मणी के कहने के अनुसार बुद्धिमती उन शालिग्राम का नित्य पूजन सेवन करने लगी। क्रम-क्रम से उसके चित्त में उपयुक्त पवित्र क्षण में यह भावना हुई कि 'यह शालिग्रामरूप परमात्मा मुझे ज्ञानोपदेश करके असार संसार से तारें तो मेरा परम कल्याण हो। अरे रे! मेरे ऐसा कोई ज्ञानी पुत्र भी नहीं, जो मुझे इस असार संसार में से तारकर मेरा मनोरथ पूर्ण करे!'

यही भावना उसके चित्त प्रदेश में नित्य-नित्य बढ़ने लगी। क्रम-क्रम से उसकी भावना ऐसी दृढ़ होती गयी कि 'कोई योगी अवधूत उसका पुत्र है तथा वह उसे ज्ञानोपदेश करता है,' ऐसा वह दसो दिशाओं में, प्रत्येक कार्य में, प्रत्येक क्षण में, चन्द्र और सूर्य के मंडल में, आकाश और तारागणों में देखने लगी। प्रसंग प्रसंग पर उसकी भावना नये-नये स्वरूप उपजाने लगी। 'मानो किसी महात्मा ब्राह्मण को ब्याही गयी है, उससे गर्भवती हुई है, उसके पेट में ॐकार का जप होता है, जन्मने वाला पुत्र ॐकार का ही जप जपने लगा है, ॐकार बिना अन्य शब्द का वह उच्चारण करता नहीं तथा ॐकार का जप जपता माता को उपदेश देता वह अवधूतवेषी पुत्र वन में चला जाता है,' ऐसी अद्भुत लीला वह नित्य परोक्ष और अपरोक्ष देखने लगी। दिन-दिन उसकी यह

भावना विकास पाने लगी, सात्त्विकपन में दृढ़ होने लगी, साक्षात् शालिग्राम को अवधूत वेष में देखने लगी। ऐसी ही भावना का पिंड बँधता गया तथा भावनारूप वासना के साथ वह पंचत्व को प्राप्त हुई।

पूर्वजन्म की भावनारूप और दृढ़ हुई वासनारूप उसका जन्म श्रीविश्वनाथ की काशीपुरी में हुआ। विवाह योग्य होने पर उसके पिता ने विधिपूर्वक इसी नगर के विवेकशील नामक सुज्ञाता ब्राह्मण के साथ उसका विवाह किया। इस जन्म का उसका नाम सिद्धसंकल्पवती था। वह दिन रात परमात्मा की सेवा में परायण रहती। शालिग्राम की पूजा करती, संपूर्ण वृत्तियों को निरंतर एकाग्र रख, लयावस्था को सिद्ध करती थी। ऐसी निर्विकल्प दशा में चित्तैकाग्र्य सहज प्राप्त होता जाता था। परम ज्योतिर्मय के दर्शन के प्रभाव से मानुष व्यवहार और ब्रह्माण्ड एकाकार होकर उसकी दृष्टि के आगे जान पड़ता था। 'औरों के जीवन में उसके जीवन की उत्कृष्टता-उन्नति है;' ऐसा जान पड़ता था। मोक्षाधिकारी को ऐसा ही होना चाहिये। इससे विपरीत या विषम न हो उसकी वैसी ही भावना थी। तद्रूप दिव्य सत्य उसकी दृष्टि में सृष्टि रचता था।

सिद्धसंकल्पवती परम सती थी, पतिपरायणा थी, विवेक से अपना गृहकार्य यथेच्छ किया करती थी और भावनानुरूप वय होने पर भी पुत्र न होने से, उसकी प्राप्ति की कामना करती थी। अपने कुल के अनुसार वह अनेक प्रकार के व्रत करने लगी, गरीबों को दान देने लगी। शालिग्राम का पूजन करते समय पुत्रप्राप्ति का मनोरथ पूर्ण करने के लिये गद्‌गदित कंठ से प्रार्थना करने लगी। इस रूप में पूर्वजन्म की उसकी वासनारूप भावना दृढ़ होने में जो-जो कमी थी, वह इस जन्म में पूर्ण होती गयी। उसकी भावनानुसार सुदिन तथा सुयोग में उसे गर्भ रहा।

गर्भ छः मास का हुआ, तब एक दिन उसका पति विवेकशील पूजा करता था और सिद्धसंकल्पवती उसके समीप में बैठी-बैठी पूजा की सामग्री देती थी, उस समय गर्भ में ॐकार का जप होने लगा। सिद्धसंकल्पवती तथा विवेकशील को यह चमत्कार देख, आश्चर्य हुआ और 'गर्भ में कोई संत है, कोई अवतार ही है,' ऐसा मानने लगे। दशम मास पूर्ण होने पर सिद्धसंकल्पवती को प्रसव हुआ और एक अवधूत बालक का जन्म हुआ। जन्मते ही, वह बालक जोर-जोर से चिल्ला-चिल्ला कर ॐकार का जप करने लगा। इसके सिवाय उसने उं वा या तूं या, ऐसा कोई शब्द नहीं किया। यह देख कर प्रसूति गृह के सब लोक चकित हो गये।

बालक अवधूत पांच वर्ष का हुआ। तब तक ॐकार के सिवाय कोई भी शब्द नहीं कहता था। माता-पिता को बालक जब छोटा होता है तब से यह विचार होता है कि 'यह कब बड़ा हो, चलने लगे, बातें करने लगे,' ऐसे अनेक मनोरथ होते हैं। वैसे मनोरथ विवेकशील और सिद्धसंकल्पवती को भी होते थे। अवधूत बालक खाता था, खेलता था, परन्तु किसी शब्द का उच्चारण नहीं करता था।

यह देख सबको आश्चर्य लगता था, पुत्र के बोलने के लिये माता-पिता ने कई उपाय किये, पर सब निष्फल गये। सगे सहोदर और व्यवहार के जाननेवाले वैद्यों ने कहा कि 'बालक गूंगा (मूक) है,' इससे माता-पिता को बहुत संताप होने लगा। परन्तु इस बालक में देह के धर्म से विपरीतता प्रत्यक्ष दिखायी देती थी। वह गूंगा होने पर बहरा न था। वह सब सुनता था। सब समझता था, पदार्थ मात्र को देखकर मानो 'वह पदार्थ का अवलोकन करके सार ग्रहण करता हो,' ऐसी क्रिया करता था। तिस पर भी शब्द नहीं बोलता था।

अवधूत बालक आठ वर्ष का हुआ। उसके यज्ञोपवीत का समय आ पहुँचा। पिता ने यज्ञोपवीत संस्कार कराने का विचार किया। उस समय एक ब्राह्मण ने कहा कि "वह गायत्री को किस तरह पढ़ सकेगा?" कई ब्राह्मणों ने कहा कि 'उसका यज्ञोपवीत संस्कार तो होना चाहिये, उसके कान में गायत्री मन्त्र का उच्चारण करने से वह संस्कृत तथा पवित्त हो सकेगा।' फिर संताप पाये हुए माता-पिता ने ब्राह्मणों की अनुमति से इसे विधि के अनुसार यज्ञोपवीत देने का विचार किया।

अवधूत द्वारा माता को उपदेश

यज्ञोपवीत की क्रिया के लिये बालक अवधूत को यज्ञ मण्डप में बैठाया गया और ब्राह्मण वेदोच्चार करते हुए "**अग्निमीळे पुरोहितम्**" का घोष करने लगे कि उनके साथ ही अवधूत भी अपने मधुर कंठ से पद, क्रम के साथ वेद की ऋचाएं पढ़ने लगा। इतना ही नहीं, बल्कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्व वेद के मन्त्र भी संस्कारी पंडित की तरह पढ़ने लगा। यह देख ब्राह्मण मण्डल अत्यन्त आश्चर्यचकित हो गया, संतुष्ट हुआ और माता पिता के हर्ष का पार न रहा।

जब माता सिद्धसंकल्पवती बाल ब्रह्मचारी अवधूत को भिक्षा परोसने आयी तब प्रथम भिक्षा परोसते समय अवधूत बाल योगी ने 'भवति'! भिक्षां देहि' के बदले ऋग्वेद का मन्त्रोच्चार किया–

ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ॥'

(**अर्थः**–यज्ञ का देव, ऋत्विज, होता, रत्नों के धारण करने वाले अग्निदेव ही मैं स्तूति करता हूं।) यह मन्त्रोच्चारण सुन ब्राह्मणमण्डल पुनः निरवधि चकित हो गया और परस्पर बातें करने लगा कि 'जो जन्म का गूंगा है, उसको यह वेद का ज्ञान कहां से?' दूसरी बार उसकी माता भिक्षा परोसने आयी तब यजुर्वेद का मंत्र पढ़ता हुआ बालयोगी अवधूत बोला कि–

'ॐ ईशावास्यमिंद सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'

(**अर्थः**–इस जगत् में जो कुछ पदार्थ है, वह ईश्वर से व्याप्त है। उसका

त्याग करके तू अपने आत्मा की रक्षा कर।) तीसरी बार उसकी माता भिक्षा परोसने आयीं, तब उसके कान के समीप जाकर अवधूत ने समावेद का मन्त्र उच्चारण किया–

'ॐआप्यायन्तु ममांगानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिंद्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्या मा मा ब्रह्म निराकरोत् ॥'

(**अर्थः**–मेरे अंग, वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल, सब इंन्द्रियां तृप्त हों, सब ब्रह्मस्वरूप है और ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को मैं भूलूं नहीं और वह मुझे बिसारे नहीं।)

जैसे-जैसे बाल अवधूत इस तरह बोलता गया, वैसे उसकी माता को घबड़ाहट होती गयी और उसका पिता दिङ्मूढ़ जैसा बन, पुत्र के मुख को देखने लगा, ब्रह्ममण्डल एकचित्त बन, 'यह क्या करता है' सो देखने को आतुर बन उसके पास खड़ा रहा। चौथी बार बाल ब्रह्मचारी की माता भिक्षा देने आयी तब पुत्र के मुख से वेद के जुदे-जुदे मन्त्र सुनकर सचकित तथा सभय खड़ी ही रही।

उसने बालक से कहा–"हे पुत्र! तू यह क्या करता है? भिक्षा ले।"

ब्रह्मचारी बालक ने कहा–"हे जननि! मैं भिक्षा ग्रहण करता हूं, मैं भिक्षा ग्रहण करता हूं।" ऐसा कह कर अथर्व वेद का मंत्र बोला–

'ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा : भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः व्यशेम देवहितं यदायुः'

(**अर्थः**–कान से कल्याण को सुने, नेत्रों से कल्याण को देखें तथा हे यजन करने योग्य देवों! स्थिर ऐसे अंगों से तुम्हारी स्तुति करके जो देवों का हित करे ऐसी आयुष्य को प्राप्त करें।)

यह मंत्रोच्चार करके बाल ब्रह्मचारी अवधूत ने कहा–"हे जगदम्बे! हे मम जननि! हे जगज्जननि! मुझे भिक्षा देने का तेरा मनोरथ है, इससे तू चार बार देने आयी है, पर मुझे जो भिक्षा चाहिये सो तूने मुझे एक बार भी नहीं दी। मेरी मांगी भिक्षा तू मुझे देगी?"

सिद्ध संकल्पवती ने कहा–"हे पुत्र! अपार आनंद मुझे प्राप्त हुआ है। तुझ सा पुत्र अपने पिता के वंश की रक्षा करने वाला है, इससे तेरे पिता को भी आनंद हुआ है। यह ब्रह्ममंडल जो तेरे अद्भुत चमत्कार संपन्न स्वरूप से और तेरी देवांशी वाणी से आनंद भोगता है, उसके सामने मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहती हूं, कि हे पुत्र! जिस भिक्षा की तुझे कामना होगी वह भिक्षा देकर मैं तेरे मन का मनोरथ पूर्ण करूंगी।"

प्रसन्नचित्त अवधूत ने हास्यपूर्ण वदन से कहा–"हे माता! हे अम्बे! अपने इस पुत्र को संन्यास लेने की भिक्षा दे।

'ॐपूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥'

(**अर्थः**—यह पूर्ण है, वह भी पूर्ण है। पूर्ण से ही पूर्ण होता है तथा पूर्ण में से पूर्ण ले लेने से पूर्ण ही शेष रहता है!) यही हमारी भिक्षा में पूर्णता है।''

बालक के मुख से यह वचन सुनकर सिद्धसंकल्पवती को उसके व्यावहारिक अज्ञान से जो आघात हुआ, उसका वर्णन करने को कोई भी शक्तिमान् नहीं है। चतुर्मुख ब्रह्मा और सहस्रमुख शेष भी समर्थ नहीं हैं। अभी उसी समय आज ही प्राण से भी अधिक-पुत्र-बालक ने मौन व्रत छोड़ा है, आनंदाब्धि में कर्म कराने वाले ब्रह्मदेवों के साथ माता-पिता हर्ष में तैरने लगे हैं, 'पुत्र भाग्यशाली है, अवतारी है, पूर्ण ज्ञानी है,' ऐसे विचार में दंपती कल्लोल करते हैं, 'पुत्र बड़ा होकर हमारा परिपालन करेगा, पितृऋण देकर हमको तारेगा, 'पुं' नाम के नरक में पड़ने से रोकेगा (बचायेगा), लोक समुदाय में ऐसे सकल गुण संपन्न पुत्र से हमारी कीर्ति में वृद्धि होगी,' यह आनंद भोगने का अभी प्रारंभ ही हुआ है, उसी क्षण पुत्र ने संन्यास लेने की भिक्षा मांगी। यह सुनकर विवेकशील और सिद्धसंकल्पवती को कैसा आघात हुआ होगा, इसकी कल्पना करनी अशक्य है। सिद्धसंकल्पवती के नेत्रों में से आंसुओं की धारा बहने लगी, उसका कंठ रुक गया, बोल न सकी। वह क्षणभर चित्त भ्रम वाली बन गयी, इससे उसे मूर्छा आ गयी।

माता की ऐसी दशा देखकर बाल अवधूत ने उसके नेत्रों पर हाथ फेरकर उसे सावधान किया, तब माता बोली—''हे पुत्र! तूने यह क्या भिक्षा मांगी? मेरे प्रभु श्रीशालिग्राम की कृपा से तुझ सा पुत्ररत्न मुझे प्राप्त हुआ, वह क्या संन्यास लेने के लिये? हे पुत्र! गृहस्थाश्रम भोगने से पहले, हमारे लाड़ प्यार का आनंद हमें देने से पहले तू संन्यास ले, यह हमसे कैसे सहन होगा? हे पुत्र! तू कोई दूसरी भिक्षा मांग।''

बाल ब्रह्मचारी ने कहा—''हे माता! मुझे यही भिक्षा चाहिये है, अन्य नहीं। हे माता! यह भिक्षा देने में तुझे क्या बाधा है?''

माता ने कहा—''हे पुत्र! तू हमारा रक्षक है, हमारे मनोरथ पूर्ण करने वाला है, पर मेरी आज्ञा बिना तू संन्यास नहीं ले सकता।''

पुत्र ने कहा—''हे अम्बे! तेरी जो प्रतिज्ञा है उसे तू पूर्ण कर। मेरे पिता का वंश रखने वाले धर्मशील तीन पुत्र और एक पुत्री की तू माता होगी, इसलिये मुझे संन्यास लेने की आज्ञा दे!''

फिर बाल अवधूत ने कहा—''अम्बे!

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥

(**अर्थः**—शरीर नश्वर है, वैभव भी शाश्वत (सदा रहनेवाला) नहीं तथा

मृत्यु नित्य पास रहता है। इससे धर्म का संग्रह करना चाहिये।) यह जन्म धारण करने का कर्तव्य है।"

सिद्धसंकल्पवती बोली—"हे प्रिय पुत्र! माता की आज्ञा के बिना तू अपना कर्तव्य कैसे पूर्ण करेगा?"

"हे अंबे! माता कौन और पुत्र कौन?" अवधूत ने पूछा—"तू माता किसकी और मैं पुत्र किसका? मैं तो अवधूत, योगी, बालब्रह्मचारी हूं, मेरे माता-पिता कौन? मैं अजन्मा, अविकारी, अलिप्त, निरंजन हूं। यह तूने अभी जाना नहीं? अपने मन में से पुत्र और माता का विचार जड़ मूल से दूर कर। मेरे और अपने स्वरूप को देख। हे जननि! तेरी पूर्वजन्म की भावना पूर्ण करने को मैंने जन्म धारण किया है। तेरी भावना थी कि 'मुझे शालिग्राम जैसा पवित्र और कल्याणदाता पुत्र हो और वह असार संसार सागर से तरने का उपदेश देकर मेरा कल्याण करे' वह वासना-भावना पूर्ण करने को ही मेरा अवतार है। हे मां! तू जान कि यह शरीर अनित्य है और आयुष्य का भरोसा नहीं। जैसे आकाश में बिजली चमक कर क्षण मे नाश पाती है, समुद्र में बुलबुले क्षण में दिखायी देकर लुप्त हो जाते हैं वैसे ही आयुष्य है। जगत् में कोई चिरंजीव नहीं और कोई स्थिर भी नहीं, इसलिये प्राप्त क्षण में पुरुष आत्म कल्याण कर ले। एक पवित्र क्षण में जन्मा हुआ, पवित्रता में दृढ होता-होता वृद्धि पाया हुआ सात्त्विक संकल्प—पवित्र भावना में मैंने तरणोपाय दृढ़ करके सिद्ध किया है और तू करले तथा अपनी भावना सफल कर। हे अंबे! इस श्मशान भूमि की तरफ तू देख। वहां नित्य असंख्य मनुष्य भस्म होते हैं। उनमें से जिन्होंने तत्त्व संग्रह किया है, जन्म के देह के आत्मा के धर्म को जाना है, नित्य धर्म क्या है सो जान कर परमात्मा को पहचाना है, वे ही जन्म तथा मृत्यु के चक्कर में से बाहर निकल गये हैं। शेष तो मिट्टी में से बने हैं, मिट्टी में मोह पाकर, मिट्टी ही में पड़, मिट्टी ही में से पुनर्जन्म धर, फिर मिट्टी ही में समा जाते हैं। आकाश में सूर्यनारायण देव का उदय होता है और लोकदृष्टया वे अति तीव्र गति से करोडों कोस की मंजिल करते हैं। इनके क्षण क्षण में जीव का आयुष्य क्षीण होता है। रात्रि होती है और फिर प्रभात होता है। इसी तरह प्रत्येक क्षण आयुष्य क्षीण होता जाता है, इसका विचार किसको है? सब झूठे झगड़ों में झगड़ते रहते हैं तथा ऐसा करते-करते 'आज भजन करूंगा, कल ईश्वर सेवा करूंगा, तीसरे दिन ज्ञान प्राप्त करूंगा ऐसे विचारों में छत्तीस (36000) हजार रात्रि समाप्त कर देता है और कर्तव्य चूकता जाता है। हे माता! इन छत्तीस हजार दिनों में भी इस जगन्नगर के जीवों की कामना पूर्ण नहीं होती, नित्य-नित्य वह नयी-नयी उपाधि में, माया

में आनन्दपूर्ण हृदय से रगड़ता रहता है तथा अन्त में लख चौरासी की रहटमाला में पड़कर जन्ममरण के चक्कर में पड़ा रहता है। जैसे थोड़े जल की मछली थोड़े ही समय में मर जाती है, वैसे ही मनुष्य भी अल्पायुषी है, इससे थोड़े काल में ही मरण पाता है। जैसे वृक्ष पर पड़ा हुआ बरसात का जल क्षण भर स्थित नहीं रह सकता, थोड़ी देर में पृथ्वी पर गिर जाता है, सूख जाता है तथा हुआ न हुआ हो जाता है, ऐसी ही इस शरीर की भी गति है। जीव जन्मता है, बाल्यावस्था भोगता है, यौवन का अनुभव लेता है, वृद्ध होता है तथा मरण पाता है। यही इस देह का नित्य का धर्म है। इससे पार होने वाले को अनित्य पदार्थ का त्याग और नित्य पर राग होना, यह नित्य का कर्तव्य है। जैसे वटवृक्ष के ऊपर नीले पत्ते आते हैं, उनमें से छोटे बड़े कोमल सूखे पत्ते समय आने पर गिर पड़ते हैं और कालवश हो, अपना आयुष्य पूर्ण करते हैं, वैसे ही इस जगत् के जीवों में अनेक जीव जन्मते हैं, उनमें से छोटे, बड़े समय या कुसमय में काल के मुख में जा पड़ते हैं, हे अंबे! ऐसी जगत् के जीवों की व्यवस्था है। यह मनुष्यदेह नित्य प्राप्त नहीं होता, यह तो बहुत काल के पुण्य के संचय का परिणाम है, अनेक जन्म की शुभ वासना का फल है। जन्म जन्मान्तर की भावनाओं का प्रताप है। इसमें परम पुरुष के साथ गाढ़ा स्नेह करना, उसके प्रेम में लीन होना, यही सकल तत्त्व का तत्त्व, सार का सार और धर्म का धर्म है। पिता, माता, पुत्र, धन यह तो चार घड़ी की चमक है। इनमें मोह क्या? अपना मोह छोड़ और मुझे ही भजके तर जा तथा मुझे आज्ञा दे, कृतार्थ हो।"

सिद्धसंकल्पवती का इस उपदेश से समाधान नहीं हुआ। उसके हृदय में अभी कुछ अज्ञान, कुछ मोह, कुछ व्यावहारिक वासना का संचार था, अज्ञान था। उसका नाश करना, दूर करना अवधूत ने मन पर लिया।

वह फिर बोला—"हे अम्बे! इस नदी की ओर देखो। वह खड़भड़ाहट करती बही जाती है। उसका अपार वेग देखो! दूर दृष्टि करते उसका वेग तुमको जान पड़ेगा। पर इस स्थल से वह कैसे बहती है, यह नहीं जान पड़ता। यही नदी बहते-बहते आगे समुद्र में मिलती है, पर अपने मूल स्थान को फिर प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसे ही इस देह को भी समझ। बालक कैसे बढ़ता है, कैसे जगत् में रमण करता है, कैसे मोटा, पतला, बीमार होता है। शिशु किशोर, तरुण तथा वृद्ध कैसे होता है, वह कैसे मृत्यु को पाता है। इस नदी के उस पार खड़े होने से जैसे इसका बहना नहीं जान पड़ता, पर दूर से देखने वाले को मालूम होता है, वैसे ही हमारी गति हमको नहीं जान पड़ती, दूसरे ही उसे देख सकते हैं। और नदी जैसे मूलस्थान को पुनः प्राप्त

नहीं होती, वैसे ही जीव को पुनः बालकपन प्राप्त होता नहीं तो फिर बालपन में संन्यास न लेना और वृद्धावस्था में संन्यास लेना,' इसका अर्थ क्या? गया सो पीछे आता नहीं। पर हे जननि! काल का वेग तो अति त्वरित है। नदी के वेग से भी जीवित का वेग अधिक प्रचंड है। मेरी ओर तू दृष्टि कर, कल मैं छोटा सा बालक था। आज देखते-देखते मैं बड़ा हो गया हूं। कब बड़ा हुआ, कैसे बड़ा हुआ, इसका तुझे ज्ञान भी नहीं। अंबे! आयुष्य की, जीवन की ऐसी गति है। पुत्र, स्त्री, धन, वैभव, देह, आयुष्य नाशवंत हैं। जैसे समुद्र में रहा हुआ मगर सपाटे के साथ मनुष्य को ग्रहण करता है, वैसे ही काल भी मनुष्य को सपाटे के साथ वश कर लेता है। विश्व में कोई अमर नहीं। अमर तो वही है कि जिसने अपनी देह का नहीं बल्कि आत्मा का कल्याण करने को स्वरूपानुसंधान रूप अमृत पिया है।"

सिद्धसंकल्पवती ने कहा—"हे पुत्र! तूने संसार सुख नहीं देखा उसे देख तथा फिर अपने साथ ही हमारा भी कल्याण करके कल्याण के मार्ग पर चढ़ और चढ़ा।"

"हे जननि! बता मुझे संसार क्या है? संसार अर्थात् अज्ञान, स्वप्न अथवा कुछ और है? पर जैसे नींद में आया हुआ स्वप्न जाग्रत में नाश पाता है, वैसे ही हे अंबे! स्वप्नरूप यह संसार भी नाम रूप रहित जाग्रदवस्था- ज्ञानावस्था प्राप्त होते ही नाश को प्राप्त हो जाता है। ऐसा संसार भोगने को तू मुझे कहती है और उसमें कल्याण मानती है? क्या विपरीत मति! पर हे अंबे! जान कि सुन्दर वृक्ष के ऊपर मोगरा का या गुलाब का फूल सुंदरता में प्रकाशित अवश्य रहता है, पर जिसको आज तुम सुगंधित देखती हो, वह कल कुम्हिला जाता है, दृष्टि में से जाता रहता है और मनःसृष्टि में से भी नाश पाता है। क्योंकि काल उसको खा जाता है, बिसार देता है। वैसे ही यह आयुष्य आकाश में चमकती बिजली के समान है। एक क्षण में वह दृष्टि पड़ती है, दूसरे क्षण में न जाने कहां अदृश्य हो जाती है। इसकी कुछ खबर भी नहीं पड़ती। हे अंबे! ऐसा आयुष्य अस्थिर है, उसमें जीव को तत्त्वोपदेश ग्रहण करके परम कल्याण पाने के लिये प्रयत्न करना चाहिये, संसार भोगने के लिए नहीं! मेरे अनेक जन्म हुए हैं और तेरे अनेक जन्म हुए हैं। तब तू मेरी माता न थी और मैं तेरा पुत्र न था। अनेक पुत्रों का सुख तूने अनुभव किया है और अनेक माताओं का लाड़ मैंने देखा है। उनमें से एक पुत्र का भी तुझे आज स्मरण नहीं और उनका मोह भी नहीं। तूने जैसे उनका मोह छोड़ दिया है, वैसे ही मेरे प्रति भी विराग धारण कर और इस विश्वप्रति भी विराग कर और अपनी आत्मा का कल्याण कर ले। क्योंकि तेरी आत्मा के कल्याण करने के लिये

ही मुझे जन्म धारण करना पड़ा। इस जन्म में अपने संकल्प का संन्यास करके स्वस्वरूप का अनुसंधान कर मोक्ष को पाकर युक्त एवं कर्मफल का त्याग कर नैष्ठिक बन कर शान्ति को प्राप्त हो, पर जो अयुक्त है उसकी कामना में फलाशक्ति कर बंधन में मत पड़। तू युक्त हो, सर्व कर्म का त्याग करके, अभ्यास तथा वैराग्य से चित्त का निरोध कर, वासना का क्षय कर, मन का नाश कर, तत्त्वज्ञान संपादन कर। यह प्रपंच मिथ्या है। इसका मिथ्यापन जानकर अपनी आत्मा को साध्य रख और मेरी ही नहीं बल्कि इस लोक की, देव लोक की, ब्रह्म लोक की और सत्य लोक की सर्ववासना को छोड़ दे। पूर्व जन्म में तेरी जो-जो भावना बँधी हुई हैं, उन पर ज्ञानामृत का सिंचन करके पवित्रता को पुष्ट कर, नव पल्लवित कर और अपने आत्मा को सार्थक कर ले। हे मैया! देह की अनित्यता जान मेरे ही स्वरूप में तू सदा निमग्न रहेगी तो तू परम पद को पावेगी।"

वात्सल्य प्रेम से उमँगी हुई माता को पुत्र का ज्ञानोपदेश सुनते ही पूर्वजन्म की भावना का स्मरण हो आया। पूर्व जन्म में शालिग्राम की पूजा करते इसको जो-जो भावनाएं होती थीं, उनका तादृश चित्र उसके समीप में खड़ा हो रहा। उसको ज्ञान प्राप्त हुआ। उसका मोह नाश हुआ। वह अपने पुत्र को पुत्ररूप से नहीं, बल्कि अद्भुत योगीरूप में देखने लगी। ब्रह्मा, विष्णु और शंकर के स्वरूप में उसको दर्शन हुआ! वह उस रूप में तादात्म्य हो पा गयी। उस रूप के स्वरूपानुसंधान में वह ऐसी लीन हो गयी कि उसकी मनःसृष्टि में से द्वैत निकल गया। वह देह का भान भी भूल गयी। ब्राह्मण समाज इस बालक अवधूत का ज्ञान देख कर उसे वंदना करने लगा। बाल अवधूत को हर्ष या शोक, मेरा तेरा यह कुछ न था। उसकी वृत्ति उसकी माता के कल्याण में लगी हुई थी।

थोड़ी देर में भ्रांति मिटते ही सिद्धसंकल्पवती बोली—"अहा! मैं आज कृतार्थ हुई हूं! जैसे देवहूति का कल्याण करने के लिये कपिल भगवान जन्मे थे, वैसे ही मेरा कल्याण करने के लिये इस अवधूत योगी का जन्म हुआ है। मेरा ममत्व तथा अहंत्व क्षीण हुआ है, नष्ट हुआ है। इस अद्भुत मूर्ति में मैं लीन हूं। ऐसी ही मूर्ति का ध्यान तथा भावना अन्तकाल पर्यंत मुझे रहे!" फिर पुत्र को उद्देश कर वह बोली—"हे योगीन्द्र! हे विपुल ज्ञानी! मैंने भिक्षा दी, आपकी इच्छा में आवे वहां विचरो!

तुरंत ही जो दंड कमंडलु हाथ में था उसे ले अवधूत ने वन में प्रयाण किया। उसका अकलित चरित्र देख जनसमाज कृतार्थ हुआ। चलते समय उस अवधूत महात्मा ने कहा की "अशाश्वत देह को जो अनित्य जानता है, अनित्य देह के सुख को जिसने तिलांजलि दी है तथा परमात्मा की भक्ति

में जो लीन है, वह शाश्वत परब्रह्म धाम का और उसके सुख का भागी होता है। अहो लोकों! शाश्वत तथा अशाश्वत को जान नित्यमुक्त परम आनंद के भागी होने का प्रयत्न करके जिसके हृदयान्त में वह भावना प्रबल होगी, वही उसके सुख का भोक्ता होगा।"

भावना का स्वरूप

"वत्स सुविचार! यही अवधूत योगी गुरुदत्तात्रेय हैं, इन्हीं ने जगत् के कल्याणरूप चौबीस पदार्थों में से तत्त्व ग्रहण कर चौबीस गुरु किये थे, अपनी शुद्ध भावना को परम पद में स्थापित किया था, प्रकटप्रज्ञा तो तेरे प्रसंग में एक कारण ही है वैसे ही उसके प्रसंग में तू भी कारण है। तुम दोनों की पूर्व जन्म की भावना सात्त्विकपने को प्राप्त थी, उसी का इस जन्म में फल प्राप्त हुआ है, जो जीव ध्यान की-संकल्प की-मनोरथ की-भावना की पूर्ण दृढ़ता करता है उस जीव का पिंड भगवान् मनु के अनुसार शुद्ध सात्त्विक वासना का बँधता है, वासना पवित्र और दृढ़ होने से वह पूर्णानन्द को प्राप्त होता है। जिसको जैसा और जिस पर प्रेम होगा, जैसी भावना दृढ़ होगी उसको उसी प्रकार इष्ट स्वरूप और इच्छित फल की प्राप्ति होगी, प्रेम ही प्रमुख है, भावना बलवती है, संकल्प सिद्धि देता है, प्रेमभक्ति से ही तन्मय तदाकारता का साक्षात्कार प्राप्त होता है। जिसको यह स्थिति प्राप्त होती है, उसके आनंद का पार नहीं रहता, उसका आनंद अनिर्वचनीय है। न्यूनतारहित है।

परब्रह्म के समीप विराजते भक्तजन शुद्ध सात्त्विक भावनावाले हैं, इससे सब ही उसको प्रिय तथा समान है। जो सर्वस्व ईश्वरार्पण करते हुए व्यवहार में विचरते हैं, असत् से दूर रहते हैं। उनमें का राजा अथवा रंक सायुज्यता में समान ही है। ईश्वर के समी एकासन पर बैठने का स्त्री या पुरुष, ब्राह्मण या चाण्डाल, धनवान या निर्धन, सबको समान अधिकार है। तुम दोनों की भी ईश्वर के सान्निध्य में समानता ही है, जैसे पतितपावनी जाह्नवी के अलग-अलग घाटों पर समान ही पवित्र करने वाला जल बहता है, वैसे ही अपनी-अपनी रुचि के अनुसार शुद्ध भावना से जिन-जिन भक्तों ने जैसी-जैसी उपासना की है, ज्ञान संपादन किया है, उन्हें वैसा ही फल मिला है। पर जिनकी प्रेमभावना ईश्वर प्रति ही है, वे सब परम पुरुष के समीप समान ही हैं। जैसे रुचि की विचित्रता से सुवर्ण के अनेक अलंकार नये-नये

स्वरूप के दीखते हैं, पर अंत में तो सुवर्ण ही हैं, वैसे ही प्रेमी भक्त की विचित्र रुचि के अनुसार परब्रह्म के नूतन-नूतन स्वरूप दिखाई देते हैं, पर वे सब एक ही हैं। ईश्वर, परमात्मा, परब्रह्म, पुरुषोत्तम, नारायण, आदिपुरुष, परम ज्योति हरि हर एक ही हैं-केवल निस्सीम प्रेम तथा ऐकान्तिक भक्ति का स्वरूप ही जुदा दिखाई देता है। यह सब भावना के ही नूतन-नूतन रूप हैं। यह नूतन-नूतन भावनारूप, नूतन-नूतन स्वरूपधारी परमात्मा के सांनिध्य का जीव अपनी-अपनी भावनानुसार अधिकारी है।

शुद्ध भावना प्रदीप्त करने के लिए बहिरंग का त्याग करना तथा अंतर्दृष्टि को जाग्रत करना चाहिये। हृदय प्रदेश में दर्शन देते भगवत् स्वरूप का निरंतर ध्यान करना, चरण कमल में दृष्टि जमानी, अति शान्तपन से धीरे-धीरे दृष्टि को ऊपर चढ़ाना, भगवान् के मुखारविंद पर स्थिर स्थापन करना तथा इसी क्रम से धीरे-धीरे नीचे उतार चरणकमल पर पुनः स्थिर करना। ऐसे आरोहण अवरोहण करते-करते चरणों पर तथा नेत्रों पर दृष्टि स्थिर हो जायगी, भक्त की दृष्टि वहां ही लीन हो जायगी तथा फिर त्रिकाल में दैववशात् अज्ञानरूप गाढ़े अधंकार में जाने का समय आवे तो भी वह स्वरूप-मूर्ति (तत्त्व का ज्ञान-स्वरूपानुसंधान) दूर न होगी किन्तु वह उसी में लीन रहेगा। फिर क्रम-क्रम से ध्याता तथा ध्येय का लोप हो जायगा तथा स्वरूप बिंदु रस द्वारा परमात्मा में ऐसा लीन हो जायगा कि वहां ही अवधि, वहां ही मुक्ति, सर्वत्र 'हरिरेव जगज्जगदेव हरिः' जानेगा।"

इस प्रकार भावना का अपूर्व ज्ञान देकर योगीन्द्र महात्मा ने विराम पाया तथा शुद्ध सात्त्विक भावना से भावित हुए दंपती अपने आश्रम को विदा हुए। इस दिवस से नित्य शुद्ध सात्त्विक भावना को विशेष निर्मल, विशेष तेजस्वी और अति दृढ़ करते गये।

ॐ

नवम् बिन्दु

भक्ताधीन भगवान्

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ श्रीगीता।
आत्मारामाश्च मुनयो निर्गन्था अव्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥ श्रीभागवत।

अर्थः—जो ब्रह्मभूत अहं ब्रह्मास्मि के निश्चयवाला, प्रसन्न आत्मा, राग द्वेषादि से मुक्त विशुद्ध चित्त है वह कभी शोक या कामना-इच्छा नहीं करता, सर्वभूत-प्राणिमात्र के प्रति समान वृत्ति रखता है, मेरी परम भक्ति को प्राप्त करता है। वह सदा सबको छोड़ मेरे ही (परब्रह्म के) शरण रहता है तब वह मेरे प्रसाद से शाश्वत अविनाशी मेरे पद को पाता है।

अर्थः—भगवान् श्रीहरि के गुण ही ऐसे हैं कि आत्मा के ही आनन्द में रमनेवाले मुनीश्वर जो काम क्रोधादि अहंकार व परिग्रह से रहित होते हैं वे भी फलानुसंधान रहित भक्ति करते हैं।

परब्रह्म के साक्षात् अंशावतारी नित्यमुक्त योगीन्द्र महात्मा ध्यान में से मुक्त हो आनन्दरूप में विराजमान थे। आज का उनका मुखारविंद अति प्रसन्न था। आनन्द उनके मुख पर झलक रहा था। समय भी ऐसा सुन्दर था कि इन योगीन्द्र महात्मा के प्रसन्न चित्त को आह्लादित करता था। वनराजियें फल-फूल कर महंक रही थी। निर्दोष पक्षी मानो 'परब्रह्म की अलौकिक लीला का गान करते हों,' ऐसे मधुर स्वर से कलरव कर रहे थे। ठौर-ठौर काले मृग खेलते दौड़ते निर्भय आनन्द कर रहे थे, तथा नजदीक के मुनि बालकों के आस पास कूद नाचकर आनन्द उपजाते थे। मुनि बालक भी उनको पकड़ कर उनके मुख का चुम्बन करते थे। यह देखकर योगीन्द्र महात्मा परमात्मा की परम लीला को प्रणाम करते थे।

महात्मा का ऐसा अलौकिक दिव्य प्रसन्न मुख देखकर सुविचार और छद्मलिंग भी बहुत प्रसन्न हो गये। उन्होंने मार्ग में मिले हुए मानस सरोवर में से उत्तम कमल तोड़ लिये थे। प्रत्येक ने अपना प्रेम-भक्ति-आनन्द दर्शाने को

जो एक-एक माला गूंथी थी, उसे महात्मा मुक्त देव के प्रसन्न चित्त में आमोद-प्रमोद बढ़ाते हुए उनके कंठ में परम प्रेम से पहना दी और साष्टांग दंडवत् करके उनके समीप बैठे।

फिर प्रसन्न चित्त से योगीन्द्र महाराज बोले—"हे वत्स सुविचार! हे प्रकटप्रज्ञे! हम लोगों का समागम इस जगत् की लीला के लिये आज तो अन्तिम ही है। अब हम फिर मिलेंगे। अनिर्वचनीय स्थान में मिलेंगे अवश्य, पर वहां इस रूप से नहीं। उस स्थान में हमारा नूतन ही स्वरूप बन जायगा। जहां मिलेंगे वहां मैं भी नहीं और तू भी नहीं, वहां ब्राह्मण नहीं और शुद्र नहीं, गुरु नहीं और शिष्य नहीं, वहां शोक, मोह या भय नहीं, वहां अभय ही है। वहां कहने वाले नहीं, सुननेवाले नहीं, कर्ता नहीं और भोक्ता नहीं, राग नहीं, द्वेष नहीं, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा, तृष्णा, धर्म, अर्थ, काम इनमें से वहां कुछ भी नहीं। वहां पाप, पुण्य, सुख, दुःख, वेद, यज्ञ, याग, भोजन, भोज्य इनमें का कुछ भी नहीं। वहां मृत्यु की शंका नहीं और जन्म का भय नहीं, जाति का भेद नहीं और विजाति से संकोच पाना नहीं। वहां पिता नहीं और माता नहीं, बंधु नहीं, मित्र नहीं। वहां चिदानन्दमात्र परम पवित्र परमात्मा ही है। उसी परमात्मा को प्राप्त करने की इस लोक के जीवों में शुद्ध सात्त्विक प्रबल वासना होनी चाहिये। कर्ता भोक्ता आदि कर्मों का जिनके हृदय-चित्त में से लोप हो गया है, जिनके मन का नाश हो गया है, जो वृत्तिशून्य होकर, आत्ममय बन, सर्वत्र एकता का अनुभव करते हैं, परम श्रद्धा से परमात्मा-ब्रह्म को भजते हैं, ऐसे जीवनमुक्त हैं तथा ये जीवनमुक्त ही विदेहमुक्त रूप से व्यवहार में विचर, इस अविनाशी अच्युत धाम को पाते हैं। यह एक प्राकर की वासना है। पर जीवनमुक्त के आत्मा में ऐसी जो वासना वास करके दृढ़ हो रही है वह वासना नहीं बल्कि शुद्ध सत्त्वनामक सत्तासामान्य है तथा आकाश की तरह जीव को उपाधि होने पर कर्म धर्म में जो लिपाता नहीं, सर्वज्ञ होने पर जो मूढ़ की तरह बैठा रहता है, जो वायु की तरह असक्त रहकर सर्वत्र विचरता है, यही जीवन्मुक्त की दशा है। यह दशा भोगते हुए जीव को चिदानंद धाम में प्रवेश करने का अधिकार है। जो आत्मा शब्दब्रह्म को जान वेद के परले पार पहुँचता है वह ज्ञानवान् बन, परम मोक्ष को पाता है।

हे वत्स! यह अधिकार तुमको संपूर्ण प्राप्त हुआ है। आज जो उपदेश तुमको देता हूं, उसे तुम अपने हृदय में नित्य स्थापन करोगे तो चिदानंद धाम में हम लोग एक ही स्वरूप में, एक ही दृष्टि में और एक ही वाणी में, एक ही वासना में मिलकर आनंदकल्लोल करेंगे। तदर्थ ज्ञानोदय में प्रतिबंधक जो मलिन वासना उसका संग न होने देना, बल्कि अंतर शुद्ध करके वृत्तिशून्य बनना। तथा तब ही निर्विकल्प, अक्षय, अभय, ब्रह्मधाम में प्रवेश किया जा सकता है। कल से तुमको संसार में

जाकर देह का जो भोग भोगना शेष है, उसको भोगकर भी पूर्ण परमात्मा को प्राप्त करने के लिये जो निश्चल मंत्र है उसका सदा मनसा वाचा कर्मणा जप जपते रहना चाहिये। जैसे ॐ परम पवित्र है, सर्व सिद्धिदाता है, वैसा ही और एक मंत्र है। इस मंत्र का नाम प्रेम-भक्ति-श्रद्धा। जगत् के मायिक प्रेम के समान यह प्रेम नहीं, स्वार्थमय या दुराशा वाला नहीं, बल्कि यह प्रेम तो अलौकिक है। यह प्रेम वैखरी वाणी से वर्णित नहीं हो सकता। किसी शास्त्र ने इस प्रेम का वर्णन नहीं किया। यह प्रेम कहीं बिकता नहीं-जहां से खरीद लिया जाय। मांगने से मिल नहीं सकता, करने से भी होता नहीं। यह प्रेम दिव्य है, अद्वितीय प्रेम है, अचल है, नित्य तथा मुक्त है। इस प्रेम में ही परब्रह्म का अलौकिक स्वरूप है। नहीं! यह प्रेम ही ब्रह्म है! साक्षात् ब्रह्म है, अद्वितीय ब्रह्म है। यही परमात्मा की निष्काम अनन्य निर्निमित्त भक्ति है, यही सायुज्यमुक्ति है। यही अक्षरधाम का वास है, यही कैवल्य तथा निर्वाण है। इससे परे कुछ भी नहीं। 'द्रष्टा की दृष्टि जहां तक पहुँचती है, इससे अनंत कोश दूर बसा हुआ चिदानंद घनश्याम सच्चिदानंद परम प्रभु परमात्मा का जो धाम है, वह प्रेमधाम है।' इस धाम में जब हम लोग मिलेंगे-बसेंगे, तब इस स्थूल के परमाणु भी देखने में नहीं आवेगे। वहां देह दृष्टि, वाणी, श्रवण, सब दिव्य तथा अलौकिक ही रहेंगे। इस दिव्य प्रेम धाम में जाने के अनेक मार्ग तुझे श्रवण कराये हैं। अब स्मरण तथा निदिध्यासन नित्य चालू रखने का कर्म शेष है। उसे पूर्ण करके जगत् में विचरो! तुम जीवन्मुक्त हो। इसलिये जगत् में विचरने से तुमको किसी प्रकार की बाधा नहीं होगी।

चिदानंद का प्रेमधाम प्राप्त करने का श्रेष्ठ मार्ग 'प्रेमधाम निवासी सच्चिदानंद स्वरूप का एक लक्ष्य रख, वासना मात्र के बीज को क्षीण कर, मनोनाश कर, निर्विकल्प असंप्रज्ञात समाधि में स्थिर होना और श्रद्धा से सतत् परमात्मा का ध्यान किया करना, संकल्पमात्र का संन्यास करना, राग, द्वेष, मोह, माया, ममता का त्याग करना, अहंता तथा ममता को सदा के लिये भस्म करना, कर्म मात्र निष्काम बुद्धि से करना, अकर्म त्यागकर, परम, स्वरूप का परम प्रेम प्राप्त करने में परम विलीन हो रहना,' यही इस जीव के जन्म, आवर्जन और विसर्जन को सफल करने वाला उत्तम से उत्तम संकल्प है तथा इसकी ही वासना बँधनी चाहिये। इस वासना को जो पूर्ण करता है, वह परम प्रेमी बन जाता है। प्रेमी अर्थात् सच्चिदानंदरूप ही है। उसके अधीन सच्चिदानंद प्रभु सदा ही है। वह और वह (प्रेमी और सच्चिदानंद परमात्मा) एक ही है। "तत्त्वमसि" का ज्ञाता परम प्रेमी ही आत्मस्थ। आत्मस्थ ही परमात्मा की एकरूपता का भोगी है। अवसान काल में वह आत्मस्थ परम प्रेमी ही अपने दिव्य धाम में जा नित्य आनंद को भोगता है, आत्मा को परमात्मा

समान ही बना देता है, अरे! अपने में ही विलीन कर लेता है। परमात्मा के परम प्रेम के समाधि सुख में जो अटल नित्य रमण करता है, वह सर्वकाल ही परितृप्त है और उसके दुःखमात्र टल जाते हैं। जिनके दुःखमात्र टल गये उनको सुख ही सिद्ध है। ऐसे भक्त आत्मस्थ पर परमात्मा की सदा ही कृपा प्रसन्नता है। परमात्मा ऐसा दयालु है कि जो उसका भक्त बनता है, उसकी इच्छा के ही वशवर्ती उसी का होकर रहता है-यहां तक कि भक्त की इच्छा प्रबल गिनी जाती है तथा परमेश्वर भगवान की इच्छा गौण हो जाती है। ऐसी सिद्ध दशा वाले भगवद्भक्त धन, कुटुंब, कीर्ति आदि सब दोषों से मुक्त बन, अत्यन्त शान्त हो, प्रेम में मस्त रहकर, इस लोक में विचरते हैं, प्राणियों पर दया से आर्द्र बनते हैं, वाणी द्वारा ज्ञानामृत प्रकट करते हैं, माया को मूढ़ बनाकर निकाल देते हैं, लोक लज्जा के ताप को निकाल डालते हैं, तथा उनका हृदय कमल परमात्मा के प्रेमामृत से सदा ही प्रफुल्लित रहता है। ऐसे भक्त के अधीन भगवान् हैं। इस भक्त की इच्छा के प्रतिकूल एक पत्ता भी हिलाने को वह सशक्त नहीं है। ऐसी परम-अनन्य भक्ति सिद्ध किये हुए जीव ही परमात्मा की इच्छा से परमात्मा के स्वरूप में ही शोभायमान होते हैं।

महाभारत के युद्ध की नवमी रात्रि को पांडवों के प्रतिपक्षी कौरवों ने सभा की। बन्धु, दुःशासन, गुरुपुत्र अश्वत्थामा, विकर्ण, मित्र कर्ण, हित चिंतक मामा शकुनि आदि राजाओं के साथ प्रतापी राजा दुर्योधन मन्त्रणा करता था। इस दिन युद्ध में नारायण के सखा अर्जुन ने अद्भुत पराक्रम किया था। इससे दुर्योधन खिन्नवदन था।

मन्त्रसभा में युद्ध के विषय में सब राजाओं ने अपने-अपने विचार दर्शाये। तब दुर्योधन बोला—"हे मित्र राजाओ! युद्धारंभ को आज आठ दिन हुए। हमारी असंख्य सेना होने पर भी हम इनको पराजित नहीं कर सके। बंधुओ! आज अर्जुन ने संहार करने में गजब किया है। जो इसी तरह वह संहार करता जायगा, तो मेरा निश्चय है कि 'हम जीत नहीं सकेंगे।' इसकी मुझे बड़ी चिंता होती है और अब कोई भी मार्ग मुझे सूझता नहीं कि जिसको हम अंगीकार करें।"

यह वचन सुनकर परम प्रेम से उत्कंठित बने हुए कर्ण ने कहा—"महाराज दुर्योधन! मैं आपका क्या हित करूं सो मुझसे कहो। जो सेनापति पद पर मैं होता तो इस पृथ्वी को अपाण्डवी कर देता, पर भीष्म पितामह सेनापति होने से मेरी प्रतिज्ञा है कि 'वे जब तक सेनापति रहें तब तक मैं युद्ध करने का नहीं,' इससे मैं निरुपाय हूं। जो भीष्मपितामह सेनापति पद का त्याग करें, अस्त्र शस्त्र छोड़ दें तो फिर मेरा कैसा प्रभाव है, उसे मैं सब जगत् को दिखाऊंगा, भीष्म पितामह पांडवों के पक्षपाती हैं। जैसे आप उनके सगे हो, वैसे ही पांडव भी उनके सगे हैं। और पांडवों के ऊपर प्रीति होने से पितामह

मन लगाकर युद्ध नहीं करते। युद्धारंभ में पितामह ने कहा भी है कि 'मैं पांडवों की सेना को मारूंगा पर पांडवों को नहीं,' इसी से जब उनके सामने अर्जुन खड़ा रहता है तब वे संकुचित मन से बाण मारते हैं। अब तुम भीष्मपितामह से कहो कि 'वे सेनापति पद का त्याग करें' फिर देखो कि मेरे हाथ कैसे हैं! भले ही कृष्ण अर्जुन की सहायता करें, युधिष्ठर की रक्षा करें, भीम की गदा को तेजस्वी बनावें, पर एक सपाटे में मैं अर्जुन का नाश करके विजय प्राप्त न करूं तो मेरा नाम कर्ण नहीं!"

कर्ण के वचन का सबने अनुमोदन किया। फिर कर्ण बोला—"राजा दुर्योधन! तुम भीष्मपितामह से जाकर कहो कि 'आप पांडवों के पक्षपाती हैं इससे पांडवों का पराजय आप नहीं कर सकेंगे, बल्कि आप वृद्ध हैं और पांडव युवक हैं, यह जोड़ा असमान है। वृद्ध जवान का कैसे पराजय कर सके? आप वृद्ध हैं, इससे आप गंगा तट पर निवास करें, मैं आपको सब साहित्य, दास, दासी दूंगा तथा आपकी नित्य सेवा करूंगा।' यह कहने से पितामह बहुत क्रोधित होंगे, इससे या तो वे सेनापति पद छोड़ देंगे अथवा कोई उत्तम नवीन काम करेंगे।"

इस बात का फिर सबने अनुमोदन दिया तथा दुर्योधन उत्साही बन कर अकेला ही भीष्मपितामह के शिविर में गया।

उस समय भीष्मपितामह साक्षात् ब्रह्मरूप नंदनंदन के ध्यान में निमग्न थे। उनको प्रणाम करके दुर्योधन नीचा मुख किये थोड़ी देर बैठा रहा।

पितामह ने पूछा—"राजा दुर्योधन! तुम्हें कुछ कहना है?"

दुर्योधन बोला—"आज अर्जुन ने अपना पराक्रम जिस प्रकार दिखाया है, उसे देखकर हे पितामह! हमको क्या करना चाहिये सो मुझे कुछ सूझता नहीं। हमारी सेना असंख्य होने पर भी अर्जुन तथा भीम नित्य-नित्य उसे इतना घटाते जाते हैं, कि मैं जानता हूं कि दो चार दिन में हमारी सब सेना का संहार हो जायगा!"

भीष्म पितामह बोले—"तात दुर्योधन! मैं अपना कर्तव्य तो यथार्थ रीति से करता जाता हूं उसमें कुछ कच्चाई (कसर) नहीं रखता। रथी, महारथी, पैदल, हयदल (घोड़ेसवार) में से दश हजार योद्धाओं को अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार नित्य संहार करता हूं।"

दुर्योधन ने कहा—"हे नरशार्दूल! आप सत्य कहते हैं, परन्तु आप अब वृद्ध हुए हैं, अर्जुन तरूण है, उग्र तेजस्वी है, आजानुबाहु है, बाण विद्या में निपुण तथा बानैत है। उसकी समानता आप न कर सकेंगे, और आपके मन में पांडवों का पक्ष भी है, इससे मनमाना युद्ध आप कर नहीं सकते, इसमें आपका क्या दोष है? पर आपके स्थान पर जो कर्ण होता तो कब का पांडवों को स्वर्ग का द्वार बता दिया होता! आप सेनापति के पद का त्याग करो तथा गंगा तट में वास करो, तो कर्ण सेना में आकर पांडवों का नाश करे (संहार

करे)। आपके आश्रम में वहां पर मैं सब सामग्री पूर्ण करूंगा। आप वहां रह कर प्रभु भजन करो। हे पितामह! आप जो सेनापति पद का त्याग करो तो मेरा निश्चय है कि कर्ण अर्जुन के लिये पूरा पड़ सकेगा, इतना ही नहीं, बल्कि अर्जुन का पराजय करके अपांडवी पृथ्वी करेगा!"

दुर्योधन के ऐसे वचन सुनते ही भगवद्भक्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी, क्षात्रधर्म का शुद्ध हृदय से सेवन करने वाले गंगापुत्र ने उदासीनता के साथ मंद स्मित किया। 'क्षत्रिय को शस्त्र का त्याग कर संन्यास धारण करना अथवा गंगा तट में वास करने को कहना, यह बड़ा अपमान है।' मर्म के भी मर्म में दुर्योधन ने गंगापुत्र का जो अपमान किया, उसे परम पुरुष के उपासक, मैं और मेरा इसके त्यागी, वैसे ही शान्त, दान्त, राग द्वेषरहित होने पर भी वे इन धर्मभ्रष्ट करने वाले वचनों को न सह सके—तथापि अपने क्रोध को नियम में रखकर बोले—"हे तात दुर्योधन! मैं पूर्ण उल्लास से क्षात्रधर्म के अनुसार युद्ध करता हूं, पर तू अर्जुन का बल जानता नहीं इसी से मुझे दूषण देता है। युद्ध करने में मैंने कमी नहीं रखा। श्रीकृष्ण जी की प्रतिज्ञा छुड़ाई। इसे तू अपने अंहकार में भूल जाता है। अर्जुन कैसा वीर पुरुष है उसका तुझे और तेरे सहायक मित्रों को ज्ञान नहीं। तथा इसी से तू मेरे बलाबल का मूल्य नहीं जान सकता। अब सुन! तेरे कर्ण का पिता भी सामने आवे तो भी 'जिसका सारथी श्रीकृष्ण है उसे कोई जीतने वाला विश्व में नहीं है।' ऐसा होने पर भी, तेरे मन में ऐसी शंका रहती है कि 'मैं पांडवों का पक्ष करता हूं।' तो फिर मेरी प्रतिज्ञा सुन! आगामी कल मैं जो युद्ध करूं सो तू देख। इस युद्ध में 'या तो मैं नहीं या पाण्डव नहीं।' फिर तब मेरे लिये गंगा तट पर सुन्दर मंदिर बनवाने की भी आवश्यकता नहीं तथा मेरी सेवा में सुन्दर दास दासी भेजने की भी तुझे आवश्यकता न रहेगी।"

सत् के उपासक भीष्म पितामह की यह प्रतिज्ञा सुनकर हृदय में प्रसन्न हुए दुर्योधन ने पितामह के चरण छुए और वहां से बिदा हुआ।

तुरंत वह मंत्र गृह में आया। कर्ण, शकुनि आदि अपने आप्तमंडल से भीष्म पितामह की प्रतिज्ञा निवेदन कियी। क्षण भर में सर्वत्र यह वर्तमान फैल गया। कौरवों की छावनी में हर्षनाद फैल गया। बड़े-बड़े महारथियों ने माना कि 'कल जो बचे उसका नया अवतार जानना, क्योंकि भीष्म पितामह अपनी प्रतिज्ञा सफल किये बिना रहेंगे नहीं।' रथी-रथी में, महारथी-महारथी में, पैदल-पैदल में अनेक प्रकार की बातें होने लगी। कोई बोला कि 'कल इस समय तक अर्जुन जीवेगा नहीं।' किसी ने कहा 'अपांडवी पृथ्वी हो जायगी तथा महाराज दुर्योधन एकचक्र राज करेगा।'

संजय ने राजा धृतराष्ट्र से कहा—"अर्जुन का जीतना सरल नहीं। उस

योगीन्द्र श्रीकृष्ण की सहायता है और भीष्म पितामह वृद्ध हैं, इससे उनके रथ के टुकड़े-टुकड़े भीम की गदा कर डालेगी।"

धृतराष्ट्र ने कहा–"हे संजय! तू पांडवों की कीर्ति मत गावे। भीष्म पितामह ऐसे वैसे नहीं। उनकी प्रतिज्ञा कभी खाली नहीं होगी, तो अर्जुन का क्या सामर्थ्य! क्षत्रियरहित पृथ्वी करने वाले परशुराम का·भी उन्होंने पराजय किया है, वे अर्जुन का पराजय करके देखते-देखते उसे धूल चाटने योग्य करेंगे।"

छावनी में के महारथियों ने विचारा कि भीष्म पितामह की प्रतिज्ञा में प्रपंच तो नहीं है?' उन्होंने क्या प्रतिज्ञा की है कि 'या तो मैं नहीं, या पाडंव नहीं' पांडव भी उनके पुत्र ही हैं कि नहीं!' पिता-पुत्र का घात करे' यह तो साक्षात् कलियुग आया ही समझना। पर 'भीष्म पितामह सत्यवादी हैं, दुराधर्ष हैं, अमोघ बाण चलाने वाले हैं, उनकी प्रतिज्ञा निष्फल नहीं जाती' ऐसे सेना में अनेक प्रकार की गपशप उड़ने लगी। हर्ष और वार्ताविनोद में सब सेना ने ऐसी बड़ी हर्षगर्जना किया कि पांडवों की सेना तक खबर हो गयी।

पांडवों की छावनी में-युधिष्ठिर के शिविर में–"दशवें दिन कैसा युद्ध करना,' इसका विचार करने की धृष्टद्युम्न आदि सेनापतियों के साथ पांडव विराजमान थे। वे कौरवों की छावनी में होती हुई आनंदध्वनि को सुनकर उसका कारण जानने को आतुर हो गये। इतने में भीष्म पितामह की छावनी में से पांडवों का दूत आया। उसने भीष्म पितामह की कीयी हुई प्रतिज्ञा सुनायी। यह प्रतिज्ञा सुनते ही पांडव निस्तेज हो गये। उनके शरीर शिथिल हो गये, वे एक दूसरे का मुँह ताकने लगे।

सब मंडल को क्षुब्ध देख, राजा युधिष्ठिर बोले–"भीष्म पितामह सत्यवादी हैं, उनका वचन कभी असत्य न होगा। पितामह ने जो प्रतिज्ञा की है, वह सहज विचार का परिणाम नहीं। बधुंओ! अपने जीवन का विपाक आज ही पूर्ण हुआ है, समझो!"

यह वचन सुन, भीम, अर्जुन, कुछ भी न बोल सके। क्षण भर में पांडव सेना में भी यह समाचार फैलते ही हाहाकार मच गया। भीष्म पितामह के पराक्रम से कोई भी अज्ञात न था। वे अजित थे। उन्होंने दिगंत में दिग्विजय किया था। उनकी प्रतिज्ञा सुनकर छोटे से बड़े तक सब सैनिक चिंतातुर हो गये। कितने एक क्षुद्र मन के सैनिक थर-थर कांपने लगे तथा घोर संहार का विचार करते उनके शरीर पसीने से सन गये (भीग गये)। 'युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम आदि इस पर क्या निश्चय करते हैं' यह जानने कि लिय सारी छावनी तलमला रही थी।

पांडवों की मंत्रसभा में थोड़ी देर में धृष्टद्युम्न बोला–"महाराज! भीष्मपितामह अतुल पराक्रमी हैं, अमोघ बाणों की वृष्टि करने वाले हैं, पर जय

पराजय मनुष्य के हाथ में नहीं, यह कार्य तो प्रारब्ध का है। भीष्म पितामह सत्यप्रतिज्ञ हैं, अजित हैं, अगाध शक्ति वाले हैं, पर वे भी मनुष्य हैं!"

अर्जुन ने कहा—"धृष्टद्युम्न! तू भूलता है। वे गंगापुत्र हैं, दिव्य तेजस्वी हैं, स्वच्छदं मृत्यु पाने वाले हैं। उनकी इच्छा के बिना मृत्यु उनके समीप भी नहीं आ सकती। उनकी वाणी में से कभी किसी समय झूठ नहीं निकला। वे सत्यवादी हैं। उनकी प्रतिज्ञा सफल ही होगी!"

धृष्टद्युम्न ने कहा—"आप सत्य कहते हैं, भीष्मपितामह अजित हैं, दुराधर्ष हैं, तथा नरशार्दूल हैं, पर हे अर्जुन! नियंता ने उनको भी दो हाथ दिये हैं और आपके भी दो हाथ दिये हैं। 'क्षत्रिय को भय से कांपना,' यह उसके क्षात्रधर्म को कलंक लगाने वाला है। सत्यवादी भीष्म पितामह अपनी प्रतिज्ञा सिद्ध करेंगे, यह निःसंशय है, तथापि हम क्षुद्र प्राणियों की तरह पराजय तो नहीं पावेंगे, आपको कुछ युक्ति करनी चाहिये।"

मंत्रसभा में द्रौपदी बैठी थी, वह बोली—"मेरी समझ में यह अति महत्त्व का प्रसंग है, मेरे भाई श्रीकृष्णजी की सलाह बहुत उपयोगी होगी, 'भीष्म पितामह के अक्षय बाणों से मेरे पतियों की मृत्यु हो,' यह कैसे देखा जायगा। मेरे सत्यप्रतिज्ञ स्वामियों ने 'शत्रुओं को पराजित करके मुझे अखंड सौभाग्यवती रखने का जो प्रण किया है' वह मिथ्या न होना चाहिये। श्रीकृष्ण को बुलाओ, उनकी सलाह लो। इस संसार में से उनके सिवाय दूसरा कोई रक्षा नहीं कर सकता।"

बुद्धिमति रानी द्रौपदी की बात सुनकर दूत द्वारा युधिष्ठिर महाराज ने श्रीकृष्णजी को बुला भेजा।

सकल जगत् को उत्पन्न करने वाले, रक्षा करने वाले और संहार करने वाले श्रीकृष्ण बहुत धीरे-धीरे बड़े विचार में लीन हुए पांडवों की मन्त्रसभा में आये और राजा युधिष्ठिर को प्रणाम करके बैठे।

राजा युधिष्ठिर ने पितामह की प्रतिज्ञा का इत्थंभूत वृत्तान्त उनको निवेदन किया।

श्रीकृष्ण क्षणभर मौन धारण किये रहे। फिर केशव ने कहा—"भीष्मपितामह का वचन कभी व्यर्थ न जायगा, उनकी की हुई प्रतिज्ञा कुछ सफल ही होगी और कल यह पृथ्वी बिना पांडवों की होगी। 'क्या युक्ति करें!' यह मेरी समझ में नहीं आता। महाराज युधिष्ठिर! नैष्ठिक ब्रह्मचारी जिसने आत्मतत्त्व प्राप्त किया है, उदासीनपन से जो जगत् में विचरता है, स्वस्वरूप में जिसका अनुसंधान है, अनात्मपदार्थ का जिसको चिंतन ही नहीं, मोह तथा दुःख के कारण भूत सर्व पदार्थों का त्याग करके जो आनन्दरूप में विलास करता है, ऐसे ब्रह्मानन्द के भोगी योगी पुरुष के वचन की निष्फलता करने के लिये कौन समर्थ है? आपके लिये यही

कर्तव्य श्रेष्ठ है कि 'पूर्ण बल से लड़ना।' अर्जुन के समान बाणधारी आपका सहायक है, भीम के समान गदाधारी आपकी सहायता में खड़ा है, धृष्टद्युम्न जैसा समर्थ सेनापति है, 'शिखंडी के हाथ से भीष्म पितामह का मृत्यु निर्माण हुआ है,' ऐसा कहने में आता है तो फिर तुम्हें क्या भय है?

श्रीकृष्ण के ऐसे मर्म वचन सुनकर भीम बोला—"भाई श्रीकृष्ण! भीष्म पितामह के सामने टिकने की हमारी तो जरा भी सामर्थ्य नहीं, अर्जन में शाक्ति हो तो अर्जुन जाने! मैं तो गदा से युद्ध कर सकूं! गदा पेच करने में मैं कुशल हूं, अपनी गदा जहां उछले वहां किसी का आसरा नहीं, परंतु बाण मारने में कुशल भीष्म पितामह के सामने मैं क्षणभर भी टिकने की हिम्मत नहीं रखता, अर्जुन की अर्जुन जाने। अर्जुन को अपने बल पराक्रम पर विश्वास हो तो वह अकेला भले ही टिक सके!"

तत्क्षण अर्जुन बोला—"तुम क्या बात करते हो? भीष्म पितामह के सामने मैं टिक सकूं! आकाश में सर्राटा करते आते उनके बाण मैं पीछे लौटा सकूंगा क्या? अरे! तुम जानते नहीं कि 'पितामह एक हाथ से बाण नहीं फेंकते बल्कि हजार हाथ से बाण फेंकते हैं।' मेरे बाणों का वेग उनके बाणों के वेग के समान नहीं पहुँच सकता। उनके बाण की गति ही दृष्टि नहीं पड़ती तो वह कटे कैसे?"

श्रीकृष्ण ने कहा—"जो अर्जुन हिम्मत हारता है, तो फिर हमारा उपाय ही नहीं, हमारे सैन्य का सर्व बल तथा सर्व विश्वास अकेले अर्जुन के ऊपर ही है, जब अर्जुन ही हताश हो जाय, तब दूसरे किसकी ऐसी गति है कि भीष्म पितामह के आगे क्षण भर भी टिक सके? मुझे तो प्रत्यक्ष दीखता है कि 'कल घोर संहार होगा तथा पृथ्वी अपांडवी होगी! कल महान् अनर्थ होगा! जो जीवे उसका नया अवतार ही गिनना। भीष्मपितामह का बल दिव्य तथा तेजस्वी है। उनके बाण की मार में से कोई भी बच नहीं सकता।"

श्रीकृष्ण के ऐसे वचन सुनकर द्रौपदी बोली—"हे कृष्ण! क्या भीष्म पितामह के संहार में से पांडवों की रक्षा हो सके, ऐसा नहीं हो सकता? पांडवों के संहार से अपनी बहिन द्रौपदी को क्या आप विधवा देखने के लिये उत्सुक हो? हे करुणासिंधो! हे दीनवत्सल! जो आप दया करो तो भीष्म पितामह के बाणों से पांडवों की रक्षा हो ही सके! अनेक संकटों में से आपने हमको बचाया है। आप ही के प्रताप के जलते लाक्षा भवन में से पांडवों की रक्षा हुई थी, भरी सभा में मेरी लज्जा रखने वाले भी आप ही हैं। दुर्वासा के कोप में से मुक्ति देनेवाले भी आप ही हो। मैं आपकी बहिन हूं! अहोरात्र आप ही का भजन करती हूं। पांडव आपके भक्तजन हैं। ये भक्त आपके शरण हैं तथा शरणागत की रक्षा करना आप जो भगवान् क्या उनका कार्य नहीं? मेरा विधवा होना क्या आपको रुचेगा? दया करे! करुणा करो!

भक्तभयभंजन! इस संकटों में से रक्षा करने वाला आपके सिवाय दूसरा कोई समर्थ नहीं, बांह गहे की लाज रखो।

दो.—सींचो तब तरुवर भयो, काटो तब भयो झाज। (जहाज)
तारे पर डूबे नहीं, बांह गहे की लाज॥

जो भीष्म पितामह अपने पुत्रों के ऊपर ही अकृपावन्त होंगे तथा पांडव निर्बीज होंगे, तो जगत् में नीति पर अनीति का जय होगा। दुर्योधन ने हमको जो-जो संकट दिये हैं उन-उन संकटों का उसको जरा भी बदला न मिलेगा? अरे! उसने जो अधर्माचरण किया है, वह अधर्माचरण क्या सफल ही होगा? बड़े भाई की स्त्री जो माता समान है, उसको भरी सभा में लाकर उसने वस्त्र खिंचवा कर जो दुष्टता उस दुष्ट ने दर्शायी है, उसका फल मिले बिना निष्कंटक राज्य का वह स्वामी हो बैठेगा? दुष्टात्मा दुःशासन ने जब वृद्ध जनों के समक्ष निर्लज्जपन से मुझको कहा कि 'तू दुर्योधन की जंघा पर बैठे, उस समय भीम ने प्रतिज्ञा की कि 'दुःशासन के रक्त से तेरी वेणी भिगोऊंगा तब ही ये केशकलाप बँधेंगे,' यह प्रतिज्ञा क्या निष्फल होगी? यह सब आप कैसे सहन करेंगे! हे भगवन्! हे महेश! हे शरणागतवत्सल! आपकी इच्छा बिना एक तृण भी नहीं हिल सकता। आपने ही अर्जुन से कहा है कि—"मयैवैते निहताः"—"मैंने सबको मार दिया है' वह वचन कैसे झूठा किये देते हो? अच्छा! आपकी इच्छा जो मुझे विधवा बनाने की, दुर्योधन को निष्कंटक राज्य प्राप्त कराने की हो तो वैसा हो, पर जगत् क्या कहेगा? 'पांडवों के पक्ष में श्रीकृष्ण जैसा समर्थ जगन्नियंता होते भी, अनीतिमान् कौरवों ने उनका नाश किया,' धर्म पर अधर्म का विजय हुआ!"

श्रीकृष्ण शान्त मन से बोले—"हे कृष्णा! मैं तथा तू एक ही हैं, तू माया है, मैं महेश्वर हूं, तू शक्ति है, मैं सर्वेश्वर हूं; पर मैं भक्ताधीन भगवान् हूं। 'ये पांडव मेरे भक्त है,' यह सत्य है। पर ऐसा ही मेरा परम भक्त भीष्म पितामह भी है। हे द्रौपदी! भक्त की इच्छा के बिना मैं एक पत्ता भी नहीं हिला सकता!"

श्रीकृष्ण के ये वचन सुनकर द्रौपदी विहवल हो रोने लगी, तब करुणासिंधु दीनवत्सल भगवान ने कहा—"रानी द्रौपदी! पांडवों की रक्षा करनी हो तो मेरे साथ चलो, हम कोई युक्ति निकालेंगे।"

द्रौपदी बोली—"आपकी आज्ञापालक तो मैं सदा ही हूं। आप ही पांडवों की रक्षा करने को समर्थ हो, कहो, मैं आपकी क्या आज्ञा पालन करू?"

तुरंत श्रीकृष्ण खड़े हो गये। द्रौपदी भी दोनों हाथ जोड़ खड़ी हो गयी और उसने पतियों को प्रणाम किया। फिर श्रीकृष्ण देवी द्रौपदी को साथ ले युधिष्ठिर के तम्बू में से बाहर निकले। मंत्रसभा का कोई भी कृष्ण के भेद को समझ न सका। सब मन में चिंतातुर ही थे। सबकी शांति का केन्द्र श्रीकृष्ण

ही थे। इस समय सबकी वृत्ति कृष्णमय ही थी।

तम्बू में से बाहर निकल श्रीकृष्ण ने कहा–"द्रौपदी! इस अंधेरी आधी रात में मेरे साथ आओगी! तुमको कोई भय तो नहीं?"

द्रौपदी ने कहा–"जहां सर्वेश्वर हैं वहां भय क्या? चलो, कहां जाना है? मैं सदा आपकी आज्ञानुसार 'सूर्य के पीछे-पीछे जैसे छाया जाती है,' वैसे आपके पीछे-पीछे आऊंगी।"

फिर श्रीकृष्ण तथा द्रौपदी पांड़वसेना की छावनी को लांघते-फांदते अनेक मार्ग तथा तम्बू देखते-देखते आगे-आगे चलने लगे। चलते-चलते द्रौपदी बहुत थक गयी और करुणस्वर से बोली–"हे भगवन्! आप मुझे कहां लिये जाते हैं?"

श्रीकृष्ण ने कहा–"पांडवों को मृत्यु मुख से उबारने के लिये।"

द्रौपदी बोली–"अब तो मैं बिलकुल थक गयी हूं, पीछली रात का मुर्गा भी बोलने लगा है। तो आप मुझे कहां लिये चलते हो सो कहो। अब बहुत आगे चलने की मुझमें शक्ति नहीं रही।" ऐसी बातें करते-करते वे कौरवों की छावनी की सीमा पर आ पहुँचे।

तारागण चमक दमक रहे थे, सर्वत्र शांति का साम्राज्य व्याप रहा था, वे दोनों शांति में लवलीन होते जा रहे हैं, उसमें से अनेक प्रकार के भेद प्रभेद•का आमोद-प्रमोद जान पड़ता है। उस समय माया और महेश्वर सीमा के बाहर आये। दूर से एक चमचमाता प्रकाश करता तम्बू दिखायी देता था। उसे बताकर श्रीकृष्ण ने कहा–"हे सति द्रौपदी! अब बहुत आगे नहीं जाना है, मैं कहता हूं उसे ध्यान पूर्वक सुनो! 'यह सामने जो शिविर दिखाई देता है, वह भीष्म पितामह का है, भीष्म पितामह सदा जाग्रत् ही हैं, उनको जाकर प्रमाण करो तथा आशीर्वाद ग्रहण करो,' यही आशीर्वाद पांडवों को मृत्यु के मुख में से बचावेगा।"

भीष्म पितामह के शिविर के आसपास पहरेदार पहरा देते थे, तंबू के बाहर तथा भीतर दीपक का प्रकाश छा रहा था, कमखाब का तंबू चमाचम चमक रहा था। देवी द्रौपदी दरवाजे के समीप पहुँची। 'भीष्म पितामह के शिविर में किसी स्त्री को जाने की आज्ञा नहीं थी,' परंतु 'देवी द्रौपदी का अलौकिक पातिव्रत्य भीष्म पितामह जानते थे,' इसलिये 'उनको किसी भी जगह और किसी भी समय आने का प्रतिबंध नहीं था,' यह बात सब पहरेदार जानते थे, इससे बिना रोक टोक देवी द्रौपदी पितामह के शिविर में दाखिल हुई।

ज्यों ही देवी द्रौपदी शिविर में पहुँची कि उसी क्षण एक चोबदार का रूप धारण कर श्रीकृष्ण ने भी शिविर में जाने का प्रयत्न किया। पहरेदार ने उनको रोका। श्रीकृष्ण ने एक ओर से हटकर दूसरी ओर से जाने का प्रयत्न किया, पर सब तरफ से रोके गये। अंत में लघु लाघवी करके ऐसी चपलता से

श्रीकृष्ण शिविर में दाखिल हो गये, कि पहरेदार देखते ही रहे। श्रीकृष्ण ने चोबदार का ऐसा रूप धारण किया था कि उनको कोई भी पहचान न सका। तंबू में दाखिल होकर चोबदारों के बैठने के स्टूल (मोढ़ा) पर श्रीकृष्ण बैठ गये और देवी द्रौपदी जहां भीष्म पितामह शय्या पर सोते थे, उस खंड में गयी।

पितामह पलंग पर पड़े हुए लंबे पैर किये सोते थे, श्वेत शाल ओढ़े हुए थे, नेत्र मूंदे हुए थे तथा मन में जिन श्रीकृष्ण परमात्मा ने द्रौपदी को पांडवों को अभय देने को भेजा था, उन्हीं परमात्मा का ध्यान करते थे। नंदनन्दन का जप उनके मुख से हो रहा था। वे महात्मा भीष्म श्रीकृष्ण की अद्भुत लीला का साक्षात्कार करते थे। उसी समय द्रौपदी ने जाकर प्रणाम करके कहा—"ससुरजी! मैं आपको प्रणाम करती हूं?"

नेत्र मूंदे ही भीष्म पितामह ने कहा—"अखंड़ सौभाग्यवती भव!" फिर नेत्र खोलकर कहा—"अहो! कौन! देवी द्रौपदी!!! तुम-तुम इस पीछली रात में यहां कहा?"

द्रौपदी ने भीष्म पितामह की लाज करके कहा—"ससुरजी! आज के दिवस आपकी पुत्रवधु सौभाग्यवती है! इस सौभाग्यसहित आपका अंतिम दर्शन करने आयी हूं! अपने स्वामियों की आज्ञा से आपका दर्शन वंदन करने आयी हूं! आपने प्रतिज्ञा की है कि 'कल सवेरे अपांडवी पृथ्वी करूंगा! आपका वचन कभी मिथ्या नहीं होता। आप सत्यवादी हैं, इससे कल अपांडव पृथ्वी होगी। आपके पुत्रों के अवसान के बाद, आपकी पुत्रवधु 'मैं फिर सौभाग्यसहित आपका दर्शन तथा पूजन नहीं कर सकूंगी,' इससे आपको अन्तिम नमस्कार करने आयी हूं!"

तुरंत ही भीष्म पितामह शय्या पर उठके बैठ गये और द्रौपदी से पूछा—"इस समय तुम किसके साथ आयी हो?"

श्रीकृष्ण के सिखाने के अनुसार द्रौपदी न कहा—"सेवक के साथ!"

भीष्म पितामह बोले—"द्रौपदी! यह सब प्रपंच श्रीकृष्ण का जान पड़ता है। उनके बिना अन्य की बुद्धि ही नहीं। तुम्हारा वह सेवक कहां है। वह अनाथ का नाथ, दीनवत्सल, भक्तरक्षक, पांडवों का प्रिय मित्र, देवकी का जाया, गोपियों का प्राण, लाडिला गोपाल, कन्हैया, तेरा सेवक कहां है?"

भीष्म पितामह की अगाध बुद्धि देख द्रौपदी दिङ्मूढ़ बन गयी। संभ्रम में पड़ गयी।

भीष्म पितामह एकदम खड़े हुए और द्रौपदी से कहा—"वे अनाथ के नाथ कहां है? उनके मुझे दर्शन कराओ!"

द्रौपदी ने कहा—"हे महाराज! वे तो द्वार पर हैं!"

तुरन्त ही दबे पांव भीष्म पितामह तंबू की पहली कनात के बाहर आये।

यहां चोबदार के वेष में श्रीकृष्ण परमात्मा हाथ में छड़ी लिये खड़े थे। उनके दर्शन कर विस्मित मन से हाथ जोड़कर खड़े रहे और उनके चरण कमलों में आनंदाश्रु डालते हुए प्रणाम करके बोले–"हे जगत् के नाथ! हे पांडवों के सखा! आपको इतना परिश्रम करने का क्या प्रयोजन? ऐसा प्रपंच रचने का क्या प्रयोजन? आपका मारा हुआ सब जगत् मरा हुआ ही है। इसी जगत् में मैं भी हूं। यह दास आपकी इच्छा के सदा आधीन है। हे केशव हे परम प्रभो परमात्मन्! हे चिदानंद स्वरूप! आपकी इच्छा बिना एक पत्ता भी हिल नहीं सकता, तो यह आपका दास किस गिनती में है? आपकी इच्छानुसार पवन बहता है, सूर्य तपता है, अग्नि प्रकाशता है, ब्रह्मा सृष्टि रचता है, रुद्र संहार करता है। आपकी इच्छानुसार इस सृष्टि का व्यवहार चलता है। आप ही इस जगत् के जीवों के जन्म, वृद्धि, जरा, मृत्यु के कारण हो। आपकी आज्ञा का कोई भी उल्लंघन कर नहीं सकता। ऐसे आपने इस दास के लिये प्रयास क्यों उठाया। हे देवकीनंदन! हे यशोदा के आनंदवर्धन! हे गोपियो के प्राण! हे प्रेम के सागर! हे सच्चिदानंद! हे महेश्वर! मैं आपकी किसी भी आज्ञा का पालन न करूं, ऐसा कभी हो सकता है? आपका नाम स्मरण ही इस जगत् के शोक में से तथा मोह में से रक्षा करने वाला है। 'हरि' ऐसे दो अक्षर का शब्द ही प्राणियों को संसाररूपी महासागर में से तारकर अक्षय, अभय, सर्व सुख के धामरूप तट पर पहुंचाता है, ऐसे हरिरूप श्रीकृष्णचन्द्र को मेरे लिये इतना श्रम न उठाना चाहिये।"

ऐसा कहते-कहते भीष्म पितामह ऐसे गद्‌गद हो गये कि उनका कंठ रुक गया; फिर वे परमात्मा के चरणों में मस्तक रखकर पड़े ही रहे। तब उनको उठाकर श्रीकृष्ण परमात्मा ने कहा–"हे भीष्म पितामह! आप मेरे स्वामी हो, बड़े हो। आपकी सब आज्ञा पालने को ही मैं इस व्यवहार बन्धन से सदा ही बंधन में हूं। मैं आपका दास हूं। मुझे जो आज्ञा करो उसे उठाने को मैं तत्पर हूं।"

भीष्म पितामह ने कहा–"हे गोपीकांत! हे जनार्दन! हे जगन्नाथ! हे परम पुरुष! हे पुरुषोत्तम! आपके वचन सुनकर मुझे अत्यन्त औदासीन्य प्राप्त हुआ है। क्या आप अब भी मुझे कसौटी पर कसते हैं? मैं क्या आपका स्वरूप जानता नहीं? कौरवों की सभा में दुर्योधन को, रण में अर्जुन को जिस विराट स्वरूप का आपने दर्शन कराया वे आप नहीं? हे प्रभो! आप इस विश्व का कारण हैं, विश्व का पालन करने वाले हैं, अव्यक्त हैं, अविनाशी हैं, दैत्यों का संहार करनेवाले हैं, विगतनिद्र, प्राणवायु का विजय करने वाले, शान्त, दांत तथा जितेंद्रिय हैं, सबके साक्षी हैं, भक्तों को आनंद देनेवाले हैं, भक्तों का पालन करने वाले हैं, अनेक अवतार धारण कर अनेक लीलाएं करने वाले हैं, धर्म की संस्थापना के लिये अनेक अवतारधारी हैं। हे भगवान्! हे कमलनयन! आप इस सेवक के ऊपर-अपने भक्त पर-दया करके उससे छल न करें! कौरवों

की इच्छा तृप्त करने के लिये जब मैंने प्रतिज्ञा की थी, तब मैं जानता था कि 'आपकी इच्छा बिना एक तृण भी नहीं हिल सकता।' आपने अर्जुन से कहा है कि 'सब कौरव योद्धा वीरों का मैंने पहले से हनन किया है,' पर मेरे लिये आपको जो श्रम पड़ा है, इस अपराध के लिये क्षमा करो, क्षमा करो!"

महात्मा, परमात्मा के परम भक्त भीष्म पितामह के दीन वचन सुनकर श्रीकृष्ण भी गद्‌गद हो गये। फिर प्रेमपुरस्सर भीष्म पितामह का हाथ पकड़कर छाती से लगाकर बोले—"हे भीष्म पितामह! हे तत्त्व के तत्त्व को जानने वाले गांगेय! हे परम भक्त! आप कृतार्थ हो, आपके समान तीनों लोक में कोई भी नहीं, आप और मैं एक ही हैं, तथापि मैं आपके अधीन हूं। हे नरशार्दूल! हे नैष्ठिक ब्रह्मचारिन्! हे सत्यप्रतिज्ञ! हे अभेदरूप! आपके वचन का खंडन करने को मैं समर्थ नहीं, 'अपनी की हुई प्रतिज्ञा को आप ही सफल करेंगे,' ऐसा निश्चय होने से तथा जैसे करने से 'धर्म पर अधर्म का विजय हो,' उस अनीति को संसार में फैलने से रोकने के लिये ही मुझे यह श्रम लेना पड़ा है। हे भक्त भीष्म! हे गांगेय! अपनी प्रतिज्ञा को निष्फल करने को आप ही समर्थ हैं, अन्य नहीं। पांडव तो क्या, बल्कि 'इस ब्रह्माण्ड का स्वामी जो मैं हूं,' वह भी यह प्रतिज्ञा अन्यथा करने को समर्थ नहीं। तो फिर और की तो सामर्थ्य ही क्या? यह द्रौपदी मेरी परम भक्त है। वैसे ही आप भी हैं। पाण्डवों से भी आप मुझे परम प्रिय हो। विश्व का अचल नियम यह है कि, 'माता-पिता पुत्रों के रक्षणकर्ता हैं,' इस अचल नियम का भंग न हो, इसलिये इस द्रौपदी को आपके चरणों में वंदना करने के लिये मैंने प्रेरणा की है तथा जनाया है कि 'पांडवों पर आये हुए इस महान संकट में से उनका उद्धार करने के लिये भीष्मपितामह के बिना अन्य समर्थ नहीं, भीष्म पितामह का तू आशीर्वाद प्राप्त कर, इसी से तेरा सौभाग्य बना रहेगा-रक्षित होगा!' हे भक्तशिरोमणि! द्रौपदी की सौभाग्य की कामना आपने सफल की है तथा पांडवों को मृत्यु के मुख से बचाया है। 'आपकी मृत्यु का उपाय क्या है,' आप यही द्रौपदी से कहो, क्योंकि आप स्वच्छंद मृत्यु पाने वाले हो।"

भीष्मपितामह बोले—हे सचराचरव्यापी प्रभो! हे विभो! हे सर्वज्ञ! आपसे क्या बात गुप्त है? 'शिखंडी के बाण से ही मेरी मृत्यु है' सो आप जानते हैं पर मुझे किस लिये पूछते हैं? क्या इतने ही के लिये आपको श्रम लेना पड़ा? हे दीनदयालो! हे भक्तवत्सल! हे करुणासागर! आपके एक निमेषमात्र से ही सारे संसार का प्रलय हो सकता है, तब मैं किस गिनती में?"

श्रीकृष्ण ने कहा—"हे महात्मन्! हे गांगेय! हे स्वच्छंदमृत्युकारक! आपकी इच्छा के बिना आपकी मृत्यु करने को कौन समर्थ हैं? तिस पर भी आप मेरे परम भक्त! फिर आपकी मृत्यु कोई कैसे कर सकता है? 'मैं जो यह सब रचता हूं, पालता हूं, संहार करता हूं, सो समर्थ नहीं!' तो पांडव कैसे समर्थ बनेंगे? पाण्डव आपके पुत्र हैं, इनके कल्याण के लिये आप सदा ही उत्सुक रहो इसमें कुछ आश्चर्य

नहीं, पर आपने प्रतिज्ञा की है कि 'इस रण संग्राम में मैं नहीं या पांडव नहीं,' यह आपकी प्रतिज्ञा सदा आपकी इच्छा के अनुसार ही सफल हो सकती है। आपके बाहुबल के आगे पाण्डवों का पराजय ही है तथा 'पाण्डवों का पराजय-नाश तीनों लोक में आपकी कीर्ति तथा यश को* लांछन लगाने वाला है,' इस भय से ही देवी द्रौपदी को आपके आशीर्वाद के लिये, अखंड सौभाग्य की प्राप्ति के लिये, आप जैसे नित्यब्रह्मचारी के चरणों में शरण लाया हूं। पांडव जो आपके पुत्र हैं उनकी रक्षा आपकी इच्छानुसार हुई है। आपको हराने को पांडव समर्थ नहीं तथा पांडवों को आप मारें तो 'पिता ने संतान का घात किया' इस अधर्म के पातक और अपकीर्ति में से संरक्षण तथा आपकी प्रतिज्ञा 'मैं नहीं या पांड़व नहीं।' इसका सफल कराना इसी कारण से मैंने आपकी भक्ति के अधीन हो, आपके पास द्रौपदी को वरदान दिलाने की प्रेरणा की है। हे भक्त! 'मैं सदा भक्त की ही इच्छा का वशवर्ती हूं।' अपने भक्त की इच्छा से मैं किंचित् भी दूर नहीं जा सकता। जो आपकी इच्छा से विपरीत हो तो मेरे 'भक्तरक्षण का बिरद' जाय, कि जिसे मैं सह नहीं सकता, हे गांगेय! 'जो अपने को अर्पण करता है वह दूसरे को बचाता है,' पर आपको तो अपने को अर्पण कर अपनी आत्मा को बचाना है,' आप 'जीवन का लघुत्व और मरण का भव्यत्व' भली भांति जानते हैं। आपने व्यवहार संबंध से बँधकर अपने दिगन्त पर्यन्त व्याप्त विशाल प्रफुल्लित आत्मा को क्लेश बुलाया है, अर्थ से अपनी तृप्त आत्मा को नीचा नवाया है,' इसे मैं सहन नहीं कर सकता। आप जीवन्मुक्त हो, पर आपसे व्यवहारबंधकी† जो स्वाभाविक वासना थी, उसका आज आपमें क्षय किया है, तथा आप विदेहमुक्त सिद्ध हुए हो, क्योंकि परम अक्षरब्रह्म का आपको साक्षात्कार हुआ है और सदसद्रूप माया को भेदकर परब्रह्म के अनुभवी आत्मस्थ हुए हो। 'इस पृथ्वी पर आपका भावी जीवन क्लेशकारी न हो,' इससे मुझमें समाने के लिये ही आपके सुख से आपका मृत्यु निर्माण कराना आवश्यक देखा और 'परजीवन के समीप स्वजीवन तुच्छ' बलताने के लिये आपको प्रयाण सूचित किया है। हे मम प्राण! परम अभेद भक्त! प्रारब्धकर्म के भोग अज्ञानी तथा ज्ञानी को समान होते हैं, पर ज्ञानी को धैर्य के कारण क्लेश नहीं होता और धैर्यरहित अज्ञानी क्लेश पाता है। मार्ग चलने में दो पुरुष समान रीति से ही स्वपरिश्रम के वश होते हैं, पर जो मार्ग के अन्तर को जानता है वह धैर्य रखकर धीरे-धीरे चलता है तथा अज्ञानी नहीं जाननेवाला व्याकुल बनकर क्लेश भोगता है। गांगेय! आप पूर्ण ज्ञानी हैं, पूर्ण भक्त हैं, मेरे अंतर (हृदय) हो, आपको ही विदित है कि 'आप हैं प्रमुख जिनके ऐसे सब कौरव योद्धा वीर पूर्व से लौकिक दृष्टि में मारे हुए हैं, स्वतः मरे हुए ही हैं' यह सत्य

*यश-दान देने से 'कीर्ति' और वीरता से जो प्राप्त हो वह 'यश'। भीष्मजी में ये दोनों गुण थे। † व्यवहारबंध-संबंधी जनों के स्नेह।

है, तथापि 'जो आप सो मैं ही हूं,' इससे आपकी इच्छा के विरुद्ध मैं कुछ भी नहीं कर सकता। ज्ञानी मेरा हृदय है,'* पर भक्त तो मेरा साक्षात् स्वरूप है। जो मुझमें ही लीन है, अहंकारवृत्ति से रहित है, केवल आत्माराम है, वह कुछ भी इच्छा नहीं करता। वह कामनारहित ही है। हे पितामह! ऐसे ही तुम मेरे परम भक्त हो, सत्स्वरूप का अनुभव करने वाले हो, प्रबुद्ध हो, महात्मा हो, अचल हो, भेद से रहित हो, हे तत्त्व के तत्त्व को जानने वाले! स्वस्वरूप में आनन्द से सदा आनन्द से रमने वाले! आपने मुझे जीता है। आपकी आज्ञा का उल्लंघन करने को मैं समर्थ नहीं। अब कहो मैं आपका क्या प्रिय करूं?

भीष्मपितामह ने गद्गद स्वर से कहा—"हे परब्रह्म! हे परमात्मन्! हे सकल सृष्टि के स्वामिन्! आपके स्वरूप की प्राप्ति में ही मेरी कृतार्थता है। 'आपकी इच्छा पांडवों को विजय प्राप्त कराने की है,' यह आपका एक निमेष मात्र का कर्तव्य है। यह सब जगत् मृत्यु के मुख में ही है। आप काल के भी काल हैं और अक्षर के स्वामी हैं। आपके दर्शन यही मुझको सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य तथा सायुज्य मुक्ति है। इससे अधिक मुझे क्या चाहिये? आपके नित्यमुक्त स्वरूप का मेरे हृदय में दर्शन स्मरण रहे औरः—

"भारत युद्ध समय जो सुन्दर अर्जुन रथ को हांक्यो।
वह श्रीकृष्ण रूप जग सुन्दर मम मनरो रहे झांक्यो॥
सुन्दर अलकावली मध्य है रण की रेणु लिपटायी।
सोहें श्रमजलबिन्दु वदनपर छवि लागे सुखदायी॥
मम तीखे बाणन से घायल छिन्न कवच तन धारयो।
अनुदिन रहो मम लोचन आगे, यह वर मैं निर्धारियो॥
जिन मेरो पण राखन के हित निज पण दीन्हो टारी।
तिहि स्वरूप में लागे लगनी, गति मेरी बनवारी॥
पांडवसेना को लखि मूर्छित, मम सम्मुख धसी आयो।
कोप भरी दृष्टि करि स्वामी, चक्कर फेरि डरायो॥
पग पकड़े पारथ वहां रोके, सृष्टि थरथर कांपै।
करिगणदलन हेतु केहरिसम, करि उछाह बहु आपै॥
सखा विनय को कछू न गिनके, मम वध इच्छा धाया।
टूटि रहो तन कवच मनोहर, शोभि रहा घन छाया॥
पीताम्बर फहराय रह्यो है, यह छवि लागे प्यारी।

* ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

येही रूप वसौ चित मेरे, सदा श्रीगिरिवरधारी ॥"

भीष्म की इस प्रार्थना से श्रीकृष्ण परमात्मा गद्गदकंठ हो भीष्म पितामह को भेटने (छाती से लगाने) लगे। अन्योन्य के शरीर रोमांचित हो गये। भेदभाव मिट गया, परम ज्योतिरूप का दर्शन हो गया! भीष्म नहीं कृष्ण नहीं। बल्कि एक ही अद्वैतात्मरूप परम ज्योति! श्रीकृष्ण ही भीष्म और भीष्म ही श्रीकृष्णरूप हो गये। भीष्म, कृष्ण, द्रौपदी, पहरेदार, सेवक सबको एक ही रूप का अपरोक्ष और परोक्ष दर्शन हुआ। अखंड ऐक्य! परम दर्शन! भीष्म पितामह ने श्रीकृष्ण का अर्घ पाद्य से पूजन किया। 'अपने भक्त का थोड़े काल में इस जगत् में से विरह होने वाला है,' इसकी वेदना से घायल श्रीकृष्ण ने गद्गद कंठ से भीष्मपितामह को अनेक आशीर्वाद देकर बिदा मांगी, उस समय फिर भीष्म ने प्रार्थना कीः—

" प्रिय प्राणनाथ, मनमोहन सुन्दर प्यारे।
क्षण एक भी न रहो मम नयनन से न्यारे ॥
तब दर्शन विन तन, रोम-रोम दुःख जागे।
तब स्मरण बिना यह विश्व, जो विष सम लागे ॥
तव संयोग बिन तन, वियोग दुःख बहु साले।
अकुलाय प्राण जब, तब मूर्ति नहिं भाले ॥
मम दुःखहरण हे जीवन प्राणाधारे।
क्षण एक भी न रहो मम नयनन से न्यारे ॥
इस जीवन का आधार ब्रह्म ॐ तत्सत्।
तुम बिन सब जग का ठाट, भासता तृणवत् ॥
तब दर्शन से सभी रम्य, और नहीं चारू।
तुम बिन इस जग का सुख, लागे नहीं प्यारू ॥
सच्चिदानन्दघनरूप, नयनों के प्यारे।
क्षण एक भी न रहो मम नयनन ने न्यारे ॥
तुम बिन लागे क्षण एक कल्प सम भारी।
तुम बिना स्वर्गसुख, महानरक दुःखकारी ॥
तब संग में वन का सुख, जाऊ मैं वारी।
मेरे मन बस गयो एक, श्रीगिरिवरधारी ॥
रहो सदाकाल मनमांहि, प्राण के प्यारे।
क्षण एक भी न रहो, मम नयनन से न्यारे ॥

द्रौपदी को अखंड सौभाग्य प्राप्त हुआ। पांडव बचे। स्वच्छंद मृत्युकारक ीष्मपितामह ने स्वेच्छा से, 'स्वजीवन से परजीवन श्रेष्ठ' मान, स्वजीवन का ाभुस्वरूप में विलप किया। दशवें दिवस के महाभारत के युद्ध में शिखंडी के नेमित्त, परन्तु सत्य का विजय करके अर्जुन के बाण से पराजय हो प्राप्त हुए ाथा परमात्मा के रूप में ही विलीन होकर उत्तरायण में स्थूल देह का त्याग कर, सूक्ष्म के पार देवयान मार्ग में विचरे। भक्त की इच्छा पूर्ण करने वाले ारमात्मा ने जो अद्भुत लीला इस प्रसंग पर दर्शायी है, उसका वर्णन नहीं हो नकता, अवर्णनीय है, अनिर्वचनीय है।*

योगिन्द्र महात्मा ने सुविचार को संबोधन करके कहा—"हे तात सुविचार!

---

*अद्वैतात्मक दर्शन के इस ग्रंथ में द्वैतभाव दर्शाने वाले इस बिंदु को देख, पाठकों में कसी-किसी को शंका होगी, क्योंकि 'भक्ताधीन भगवान्' नाम का यह बिन्दु है, इससे स्पष्ट द्वैत ी प्रतीति होती है। परंतु ऐसा नहीं, सुक्ष्म दृष्टि से देखने पर तुरंत जान पड़ेगा। कारण कि, इस बन्दु में तो 'अभेदपद कैसे प्राप्त किया जाय,' इसका विवेचन किया गया है, और द्वैत का बोध करके अभेद भाव ही सिद्ध किया गया है। यहां भक्त शब्द से तात्पर्य स्वरूप का जानने वाला ीवात्मा समझना तथा भगवान् शब्द से शुद्ध परब्रह्म परमात्मा समझना। जीवात्मा यद्यपि रमात्मा के स्वरूप में मिल जाता है, तो भी वह परमात्मा का अशरूप (अंशसा) ही गिना जाता । इसमे समुद्र तरगन्याय एक दृष्टान्तभूत है। जेसे तरग समुद्र में से ही उत्पन्न होकर समुद्र में ो फिर मिल जाते हैं, परतु तरंग को कोई समुद्र नहीं कहता, बल्कि तरंग समुद्र के ही कहलाते , ऐसे ही जीव व्यापक ब्रह्म में मिल जाता हे तो भी वह ब्रह्म नहीं बल्कि वह ब्रह्मभूत कहा जाता । इस सिद्धान्त को अद्वैत मत के प्रतिपादन करने वाले श्रीमद्शंकराचार्य ने—

"सत्यपि भेदापन में नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः ॥"

इस श्लोक में अभेद का हार्द, अद्वैत-मत का सारांश, वेदान्तमत का रहस्य जनाया है। सका अर्थ यह हे कि, 'हे नाथ! तुममें और मुझमें भेद नही, अभेद है, यह यद्यपि सत्य है तो भी ं तुम्हारा हूं, तुम मेरे नहीं, जेसे कि समुद्र के तरंग होते हैं, पर तरंगों का समुद्र नही होता।' इसमें ान के साथ भक्तिरस उछल रहा हे। इससे भी अधिक स्पष्ट कथन एक स्थानपर भगवान् ीशंकराचार्यजी ने इस प्रकार किया है ऐसा मुझे स्मरण है।

देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवदृष्ट्या त्वदंशकः।
आत्मबुद्धया त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः ॥

अर्थः-हे प्रभो! देहदृष्टि के देखते तो मैं आपका दास हूं (कारण कि तुम सर्वगुणयुक्त स्वामी हो) जीवभाव से देखते मैं आपका अंशसा प्रकटा हूं तथा शुद्ध आत्मदृष्टि के देखते जो

'परमात्मा सदा ही अपने भक्त के अधीन हैं' जैसी-जैसी भावना से भक्त परमात्मा को भजता है वैसी-वैसी भावना से परमात्मा* उसके अधीन हो रहता है।'' जब कौरव सभा के अन्य जीव श्रीकृष्ण को मनुष्य भाव से देखते थे, तब जीवन्मुक्त भीष्म पितामह श्रीकृष्ण को परमात्मा के शुद्ध स्वरूप में देखते थे। श्रीकृष्ण का यथार्थ अभेद एकरसमय स्वरूप कौरव सभा में केवल भीष्म पितामह तथा विदुर दो ही देख सके थे तथा उन्हीं के परमात्मा अधीन था, और जीवों को तो अपनी-अपनी भावनारूप दर्शन हुए थे। इस सृष्टि का संहार करने में समर्थ ऐसा परमात्मा भीष्म पितामह का काल लाने में असमर्थ न था, परंतु परमात्ममय ही भीष्म पितामह थे। परमात्मा के वे वश न थे, बल्कि परमात्मा उनके वश में था। कारण कि वे परमात्मा के ऐक्य का अनुभव करते थे। भीष्म पितामह परमात्मा के परम भक्त थे। उन्हीं में रात दिन लीन थे। वे उनका प्रत्यक्ष दर्शन जनसमूह में या एकान्त में किया करते थे। ऐसे भक्तजन की प्रतिज्ञा निष्फल न करने के लिये, द्रौपदी को साथ लेकर, भीष्म पितामह का आशीर्वाद दिलाकर उनका ही वचन सफल कर बताया है। श्रीकृष्ण अकेले ही जानते थे कि 'भीष्म दुराधर्ष हैं, अजित हैं, इस लोक में उनकी बराबरी करने वाला कोई भी नहीं।' वैसे ही श्रीकृष्ण परमात्मा के भी वे परम भक्त थे, और श्रीकृष्ण को भी जीते हुए थे! ऐसे परम भक्त की प्रतिज्ञा निष्फल हो, इसे परमात्मा सहन नहीं कर सकता। प्रिय वत्स सुविचार! इसी भक्त की प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिये परमात्मा ने अपनी प्रतिज्ञा छोड़ चक्ररूपी शस्त्र हाथ में लिया था। अपने भक्तों के हित के लिये परमात्मा ने थोड़ा श्रम नहीं उठाया। प्रह्लाद को जब संकट आ पड़ा, तब नृसिंह का अमानुषी रूप धारण करके उसके संकट का निवारण किया था और भक्त तथा प्रिय सखा अर्जुन को रण में तृषा लगी, तब वहीं गंगा उत्पन्न करके उसकी तृषा मेटी थी। परमात्मा ने अनेक भक्तों की अनेक समय कामनाएं पूरी की हैं।

श्रीकृष्ण रूप का रहस्य

हे प्रिय वत्सो! श्रीकृष्ण परमात्मा पूर्ण अवतारी हैं, इनका स्वरूप दिव्य है, इनका ज्ञान भी दिव्य है। इस परम अद्भुत स्वरूप की अवतार लीला का रहस्य भी अद्भुत ही है। 'नंद ब्रह्म है, यशोदा मुक्ति है, वसुदेव वेद है, देवकी ब्रह्मविद्या है, गोपी=गो (पृथ्वी, वाणी, इंद्रिय, गौ) हैं, श्रीकृष्णजी के हाथ की छड़ी योगमंत्र है, वंशी सौम्यरूप है, गोपसखा देवता हैं, वन के वृक्ष तपस्वी हैं तथा वृंदावन यह

* ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

साक्षात् वैकुंठ ही है। बलभद्र थे शेषनाग हैं तथा स्वंय (श्रीकृष्ण) वेद के निरूपण किये हुए परब्रह्म का स्वरूप हैं। श्रीकृष्णजी ने जो अनेक प्रकार की लीलायें की हैं उनमें अपर माता रोहिणी यह ध्यानमूर्ति है, सत्यभामा यह अहिंसा स्वरूप है, अक्रूर यह सत्य है, उद्धव यह इंद्रियनिग्रह है। कंस यह कलह है, अघासुर काम है, चाणूर द्वेष है, मुष्टिक मत्सर है, कुवलयापीड दर्प है, बकासुर गर्व है, तृणावर्त लोभ है, केशी साक्षात् क्रोध की मूर्ति है, श्रीकृष्ण का धारण किया हुआ शंख यह लक्ष्मी है, नंदक खड्ग यह रुद्र का उग्र रूप है, सुदर्शन चक्र यह ज्ञानचिन्ह है, धारण किये हुए बाण काल है, शार्ङ्ग धनुष माया है, पद्म जगत् का बीज है, वैजयंती माला वायु है, तुलसी माला भक्ति है, चामर धर्म है, छत्र आकाश है तथा पटरानी रुक्मिणी यह बुद्धि आदिशक्ति महामाया है।' ऐसे श्रीकृष्ण के परम स्वरूप का स्मरण भीष्म पितामह की दृष्टि के सम्मुख प्रतिक्षण रहता था, श्रीकृष्ण से भिन्न उन्हें कुछ भी दृष्टि नहीं पड़ता था। चराचर में जहां-जहां दृष्टिपात होता वहां-वहां इसी-इसी स्वरूप में विहार करते थे। सर्व कर्म धर्म श्रीकृष्ण को अर्पित कर फलाभिसंधि के त्यागी रहने थे और कामरहित बन, उन्हीं को परब्रह्म, पूर्ण का पूर्ण, तत्त्व का तत्त्व, सार का सार, जानते अनुभव करते थे, ऐसे परम भक्त भीष्म के श्रीकृष्ण अधीन ही थे।

हे जीवन्मुक्तो! परमात्मा का तुम्हें क्षणभर भी ध्यान लक्ष्य न छोड़ना चाहिये। उसी के लक्ष्य में जो जीव निमग्न होता है उसने सब तीर्थो में स्नान किया, सब पृथ्वी का दान किया, सहस्र यज्ञ किये, पितरों का उद्धार किया, देवों का यजन किया,' ऐसा समझना, परमात्मा के लक्ष्य में विहार करता जीव संसारी नहीं, देही नहीं, किन्तु कामना से मुक्त ही है, नित्य कैवल्य को प्राप्त करने वाला है, निर्गुण ब्रह्म है। उसको इंद्रियों के अर्थ के विषे, वैसे ही कर्म के विषे आसक्ति नहीं रहती। जिस पुरुष ने सर्व संकल्पों का नाश किया है, वही चिदानंदरूप परब्रह्म का सखा है, बंधु है, चिदानंदरूप ही है। परमात्मा की सायुज्य मुक्ति प्राप्त करने के लिये 'प्रथम श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण की आवश्यकता है, फिर पादसेवन, अर्चन तथा वदन करते-करते दास्य भाव मन में लाना चाहिये।' इस दास्य भाव में 'मैं उसका हूं,' ऐसा विचार मन में दृढ़ करना चाहिये। यह शरण श्रेष्ठ है, पर मृदु है। इसमें पुरुष को मन में मनसा वाचा कर्मणा यही दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि 'हे दीनवत्सल! हे दयासिंधों! हे करुणासागर! आपका अलौकिक स्वरूप जानने को मैं असमर्थ हूं, पर आपका स्वरूप मैं देखता हूं और आप ही के प्रेम में रमण करता हूं।

हे नाथ! मेरे और आप के बीच बड़ा भेद है, पर मैं तुम्हारा ही हूं, मैं तुम्हारे शरण हूं, मैं आपका परम भक्त हूं। हे नाथ! तुम मेरे नहीं, तथापि मैं तुम्हारा हूं, इसलिये मेरे ऊपर दया करके मुझे अपनी भक्ति का परम अधिकारी करो और अपनी शरण में लो। इस नरकरूप संसार के अपार दुःख में से उबार कर अपनी सेवा का अधिकारी करो। हे नाथ! जैसे समुद्र में से उत्पन्न हुई तरंगें समुद्र की हैं, समुद्र तरंगों का नहीं, वैसे हे दीनवत्सल! मैं तुम्हारा हूं, तुम मेरे नहीं।' यह स्थिति प्राप्त करने के लिये साधनों के अभ्यास का परिपाक होना चाहिये। यह भक्ति की मृदु रीति है। ऐसी दास्य की स्थिति पूर्ण होते ही दास भी सखा होता है, ऐसा इस संसार में अनेक स्थल में देखने में आया है, तो वह परमात्मा एकनिष्ठ भक्त को अपना सखा बनाने में विलंब नहीं करता।

इस स्थिति में जिस परमात्मा का दास स्थिति में भेदभाव से उपासन होता था तथा जिस परमात्मा का अन्य रूप से सेवन होता था, वह परमात्मा सखास्थिति में भक्त के हृदय में ही निवास-स्थिति कर दिन रात रहता है। इस स्थिति में आये हुए जीव के चर्मचक्षु के समाने से परमात्मा चाहे दूर चला जाय, किन्तु 'उसके हृदयचक्षु के समीप से उसका दूर होना,' यह तो अशक्य ही होता है। संसार में रहते हुए अनेक प्रकार के दुःख आ पड़े ऐसे समय पर भी परमात्मा जिनके हृदय से दूर नहीं हो सकता, ऐसे भक्तों को अन्त में परमात्मा अपने हृदय के साथ जेसे गोपियों को लगाया था वैसे (हृदय से)लगाकर उनकी सब कामनाएं सफल करता हे। भक्ति का यह द्वितीय प्रकार मध्यम गिना जाता है, पर भक्ति का श्रेष्ठ प्रकार आत्मनिवेदन है।

इस स्थिति को प्राप्त हुए जीव को सर्वत्र वासुदेव बिना दूसरा कुछ भी दृष्टि नहीं पड़ता। 'जो मैं वह वे और जो वे वह मैं,' ऐसी सात्त्विक भावना हृदय में विलास करती है, ऐसा पुरुष नित्यमुक्त, परमात्मा का परम अनन्य भक्त है। जो अपने से अन्य कुछ देख नहीं सकता, अन्य की उपासना नहीं करता, अन्य की शरण नहीं जाता, सर्वाकार सर्वमय चिदानंद स्वरूप में ही जो विलास करता है, सर्वत्र अभेदमय देखता है वह निःसंशय रहकर संसार की सब कामनाओं का त्याग कर देता है। उसको शत्रु अथवा मित्र, स्वजन या परजन, सुवर्ण या भस्म, पारसमणि या पाषाण, रोग या भोग, तीर्थ या श्वपच का घर, देवांगना या कुबड़ी, श्वानतुल्य या सर्वांगसुदंर, अमृत या विष, यह लोक या परलोक, कीटत्व या विहंगमत्व, सब स्थिति समान हैं, उसमें सुख या दुःख नहीं मानता, किंतु एकरस रहता है। जिसकी स्वर्ग की, इन्द्रपद की कामना नष्ट हुई है, वही सायुज्य मुक्ति का स्वामी है। जैसा श्रीकृष्णपरमात्मा ने

कहा है। 'वैसे कर्मफल की* आसक्ति छोड़, नित्यतृप्त, निराश्रय, ऐसा जो कर्म में अत्यंत प्रवृत्त रहता हुआ भी कुछ नहीं करता, देखने पर भी देखता नहीं, सुनने पर भी सुनता नहीं, कर्तव्यमात्र में जिसकी उदासीनता है वह सदा ही तृप्त है, सदा ही मुक्त है।' इस स्थिति को प्राप्त होने के बाद इस भक्त का पुनर्जन्म नहीं। उसका उदय भी नहीं तथा अस्त भी नहीं। वह सत् से या असत् से विदूर नहीं तथा भिन्न नहीं। जिसका अहंकार नष्ट हो गया है, वह साक्षात् ब्रह्मरूप ही है। स्वरूप के सहजानन्द में सदा विहार करता, स्वच्छंद लीला भोगता, यह भक्त निःसंग, निर्गुण रीति से ऐसे विचरता है कि 'जैसे पानी में मछली की गति और आकाश में उड़ते पक्षी की गति गूढ़ रहती है, तथा उसका पार नहीं मिल सकता,' वैसे आत्मनिष्ठ ऐकान्तिक भक्त को मनुष्य तो क्या देवता भी कष्ट नहीं दे सकते। ऐसी स्थिति को प्राप्त होकर हे तात! तुम जगत् में विचरो। तुमको किसी प्रकार का दोष नहीं लग सकता। 'परमात्मा भक्त का है, भक्त उसका है, भक्त और वह एक ही स्वरूप है।' इस स्थिति को प्राप्त हुआ जीव देही होने पर भी जीवन्मुक्त है, विदेह होने पर भी जीवन्मुक्त है। हरिः ॐ शान्तिः! शान्तिः! शान्ति!"

जोतिरूप का दर्शन

अपने प्रिय शिष्यों को इस प्रकार उपदेश करके योगिन्द्र महात्मा क्षणमात्र मौन रहे। दोनों शिष्य गुरुदेव के मुख दर्शन का पान करते-करते गद्गद कण्ठ हो गये, जाने की इच्छा न होने पर भी निरिच्छा से उठे, मन्द मन्द पग से चलने लगे। गुरुदेव उनका मनोभाव जान गये। उठकर दोनों को हृदय से लगाया, मार्गस्थ किया, थोड़े कदम आगे जा, सुविचार और प्रकटपज्ञा ने योगीन्द्रदेव का पुनः दर्शन करने को मुख फेरा, तो क्या दिखायी दिया? पर्णकुटी-गुहा नहीं थी, सिंह भी न था, केवल योगीन्द्र! समाधिस्थ योगीन्द्र! अवकाश (अन्तरिक्ष) में खड़े थे। धीरे-धीरे वे आकाश में व्याप्त जान पड़ने लगे। सुविचार और प्रकटप्रज्ञा की दृष्टि एकतार हो गयी। फिर धीरे-धीरे क्षणक्षण में उनके स्थूल या सूक्ष्म परमाणु पृथक् होने लगे और देखते-देखते वे ऐसे लुप्त होते गये कि चर्मचक्षु से देखना अशक्य हो पड़ा। दोनों शिष्य योगीन्द्र के इस प्रकार अकस्मात् लुप्त हो जाने से, विश्व में विश्वमय होने से बहुत उदासीन और म्लान हो गये, उनके नेत्रों में से आसुओं की धारा बहने लगी। इतने में चारों ओर एक दिव्य रूप व्यक्त होने लगा। वह सर्वव्यापी स्वरूप, महातेजो राशिका पुंज रूप अलौकिक गान करता था, सर्वत्र छाया हुआ था, जिस दिशा में दृष्टि करें उसी दिशा

* त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि न किंचित्करोति सः॥

में महात्मा का स्वरूप दर्शन देता था। वहां से मधुर गाननाद ऐसा ही निकलता था, कि 'संसार के निष्कामपन से स्वयं प्राप्त हुए भोग भोगकर कुंदनरूप हुए बिना परमात्मा का परम धाम नहीं मिल सकता, परम धाम प्राप्त करने वाले को सब वासनाओं का त्याग करना चाहिये। हे शिष्यो! हे बालकों! अपना शेष आयुष्य मदात्मक करके संसार में विचरण करने से किसी प्रकार का तुमको प्रत्यवाय नहीं लगेगा। जब धर्म की ग्लानि होती है तब मेरा जन्म होता है। यह जन्म भी वही है मेरा रूप होगे, मेरे भक्त होगे, तो तुम्हारी गति है, मोक्ष है।' इस प्रकार घूमते हुए नाद में से एक परम ज्योति प्रकट हुई और देखते-देखते आकाश में विलीन हो गयी।

दोनों दम्पती शुद्ध रूप बनने पर भी गुरु विरह से उदास हो गये। फिर कुछ काल पर्वत पर रहकर, गुरु आज्ञा के अनुसार प्रारब्ध भोगने के लिये इस दिव्य स्थल का त्याग किया। धीरे-धीरे हिमगिरि का सौन्दर्य देखते-देखते अपने स्थान में आ गये। जो उत्तम ज्ञान उन महात्मा के पास से प्राप्त किया था, उसका अनेक लोगों को उपदेश देकर, संचित कर्म के फल भोगकर, निर्वासनिक बन—शुद्ध निगुर्ण बनकर, काल की ही निरीक्षा करते हुए संसार में विचरते थे तथा काल आते ही परमात्मा के परमधाम में जाकर अखंड प्रेमानन्द की लीला का अनुभव करने लगे।

इति श्रीनन्दनन्दनपादारविंदमिलिंदेन देशाइकुलोत्पन्नेन
सूर्यरामसुतेन
इच्छारामेण विरचिते चन्द्रकान्ते पर्णकुटीरहस्यनाम्नि
चतुर्थप्रवाहे हिन्दी-भाषानूदिते तत्त्वानुसन्धा
नोपदेशनामा तृतीयः खण्डः ॥

विलय

कृष्णे रताः कृष्णमनुस्मरन्ति रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये।
ते भिन्नदेहाः प्रविशन्ति कृष्णं हविर्यथा मन्त्रहुतं हुताशे ॥

अर्थः—श्रीकृष्ण परमात्मा में आसक्त, श्रीकृष्ण का क्षणक्षण में स्मरण करनेवाले, रात्रि को सोते समय श्रीकृष्ण का स्मरण करने वाले अर्थात् निद्रा स्वप्न में भी श्रीकृष्ण, उठते बैठते श्रीकृष्ण का जिनको स्मरण होता है, उनका जीवात्मा देह से भिन्न होते ही जैसे मंत्र पढ़कर होम किया हुआ हव्य अग्नि में मिल जाता है वैसे श्रीकृष्ण में मिल जाता है।

संपूर्ण

चौथा भाग ग्रन्थकर्ता ने लिखना शुरू किया था
लेकिन उनका स्वर्गवास होने के कारण
यह भाग अधूरा रहा। अब यह
भाग छपेगा नहीं, ग्रन्थ
तीन भागों में
सम्पूर्ण होता
है।

...पिछले फ्लैप का शेष

हिन्दी भाषा के साहित्य में बड़ी हलचल पैदा कर दी है और बड़ी कमाल की है। सचमुच यह 'वेदान्त का मुख ग्रन्थ है' ऐसा कहने में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं। ग्रन्थ पढ़ते-पढ़ते मन इस विषय में तर-ब-तर हो जाता है और वाचक को यह भी ख्याल नहीं रहता कि वह उस समय किस दुनिया में विचरता है। प्रकरण पीछे प्रकरण पढ़ते ही जाइये, जरा भी समय इसके पढ़ने के सिवा व्यर्थ गँवाना न रुचेगा। संक्षेप में, ग्रन्थ पूरा करने पर 'किसी स्वप्नदृष्टि में से फिर इस दुनिया में किसी ने लाकर डाला हो' इस बात का भान होने पर जीव को यह विचार पैदा होता है कि 'सच क्या है?' इसका उत्तर आप ही आ मिलता है कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या!' इस ग्रन्थ का 'वेदान्त विषय है' और मुमुक्षु इसका 'अधिकारी' है।

॥चन्द्रकान्त॥ प्रथम भाग

प्रथम प्रवाह - पुरुषार्थ : द्वितीय प्रवाह चैतन्य प्रथम प्रवाह में गुरु-शिष्य के प्रश्नोत्तर रूप में शंकासमाधान के विषय हैं और द्वितीय में यज्ञभू राजा के चरित्र के रूप में वेदान्तज्ञान उत्कृष्ट तरीके से दिया गया है।

॥चन्द्रकान्त॥ द्वितीय भाग

तृतीय प्रवाह अच्युत पदारोहण

इस विभाग में बटुक और वरेप्सु राजा के आख्यान में जगन्नगर से लेकर अच्युत पदारोहण नामक तृतीय प्रवाह है। इसमें मुमुक्षु जीव को अपनी मुक्ति के लिये उत्तरोत्तर क्या-क्या करना चाहिये, वह बहुत ही उत्कृष्ट तरीके से समझाया गया है।

॥चन्द्रकान्त॥ तृतीय भाग

चतुर्थ प्रवाह हिमगिरि की पर्णकुटी

इसमें सती का चरित्र, पुरुष का कर्तव्य गुरु का कर्तव्य और उत्तम वेदान्त का उपदेश है। इसके अलावा कर्ता का संक्षिप्त जीवन-चरित्र भी मुद्रित है।

कई लोगों ने इसे पढ़कर अपना जीवन आधार बना लिया।
क्या आप अभी तक वह पढ़े हैं?

वेदांत ज्ञान का अपूर्व ग्रंथ

मूल गुजराती में लेखक इच्छाराम सूर्यरामदेसाई कृत

चन्द्रकान्त भाग-1, 2 और 3 (तीन भागों में सम्पूर्ण)

इसमें प्रमाणपूर्वक प्रामाणिक साधक-बाधक, युक्ति-प्रयुक्ति द्वारा प्रत्येक विषय का ऊहापोह ऐसी उत्तमता से किया गया है कि जिससे बड़े-बड़े गहन और अतिजटिल प्रश्न भी बात की बात में अनायास ही हृदय में उतर जाते हैं और जिसके दुर्बोध तत्त्वों को विचारते-विचारते बड़े-बड़े प्रतिभावान् और मेधावी पण्डितों की भी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। उस वेदान्त जैसे नीरस, कठोर और विषयी जनों के लिए साक्षात् विषकटु विषय को विनोदात्मक भाषा में अनेक अलौकिक दृष्टान्तों से पूर्ण, नाना शंका-समाधान विषयक, नाना प्रश्नोत्तरों से अलंकृत और अद्भुत आदि विविध रसभूषित अतिमनोरंजक कथा का रूप देकर उसके वेदान्त के छिपे हुए गहरे तत्त्वों को इस प्रकार खोला गया है, कि जिससे विषयलोलुप पामरों को भी मनोरंजन के साथ-साथ कौतुक ही कौतुक में यथार्थ तत्त्व ज्ञान प्राप्त होकर अनिर्वचनीय अखण्डानन्द का लाभ हो जाता है।

तीनों भागों का मूल्य 1800 (एक हजार आठ सौ रुपये मात्र)

ISBN [illegible]

ISBN 81-903483-3-7 (VOLUME-3)



आर्यावर्त संस्कृति संस्थान
डी-216, चन्दू नगर, करावल नगर रोड, दिल्ली-110094
मोबाइल : 09868584456